©मोतीलाल बनारसीदास
प्रधान कार्यालय : बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-7
शाखाएं : 1. चौक, वाराणसी (उ०प्र०)
2. अशोक राजपथ, पटना (बिहार)

प्रथम संस्करण
फरवरी 1971

[केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शिक्षा तथा युवक-सेवा-मंत्रालय, द्वारा प्रकाशकों के सहयोग से कार्यान्वित हिन्दी में पुस्तकों के लेखन, अनुवाद और प्रकाशन की योजना के अन्तर्गत प्रकाशित]

श्री सुन्दरलाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-7 द्वारा प्रकाशित तथा श्री शान्तिलाल जैन, श्री जैनेन्द्र प्रेस, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-7 द्वारा मुद्रित।

दो शब्द

हिन्दी के विकास और प्रचार के लिए शिक्षा मंत्रालय के तत्त्वावधान में पुस्तकों के प्रकाशन की विभिन्न योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही है। हिन्दी में अभी तक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में पर्याप्त साहित्य उपलब्ध नहीं है, इसलिए ऐसे साहित्य के प्रकाशन को विशेष प्रोत्साहन दिया जा रहा है। यह तो आवश्यक है ही कि ऐसी पुस्तकें उच्च कोटि की हों, किन्तु यह भी जरूरी है कि वे अधिक महगी न हों ताकि सामान्य हिन्दी पाठक उन्हें खरीदकर पढ़ सकें। इन उद्देश्यों को सामने रखते हुए जो योजनाए बनाई गई हैं, उनमें से एक योजना प्रकाशकों के सहयोग से पुस्तकें प्रकाशित करने की है। इस योजना के अधीन भारत सरकार प्रकाशित पुस्तकों की निश्चित सख्या में प्रतियां खरीद कर उन्हें मदद पहुंचाती है।

मकडानलकृत प्रस्तुत पुस्तक वैदिक व्याकरण इसी योजना के अन्तर्गत प्रकाशित की जा रही है। यह पुस्तक वैदिक भाषा और साहित्य के सम्यक् अध्ययन की दृष्टि से परम उपयोगी है। वर्ण्य विषय को सुगम एव बोधगम्य बनाने के लिए लेखक ने अनुरूप संदर्भों के माध्यम से लौकिक संस्कृत व्याकरण के साथ समानता बनाए रखने का सराहनीय प्रयास किया है। पुस्तक में प्राचीनतम वैदिक ग्रंथ ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य वेदों के व्याकरणिक प्रयोगों को भी नियमेन स्पष्ट किया गया है। अनुवाद में ग्रथ की मौलिकता एव सरलता को सहज रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुवाद और कापीराइट आदि की व्यवस्था प्रकाशक ने स्वयं की है।

हमें विश्वास है कि शासन और प्रकाशकों के सहयोग से प्रकाशित साहित्य हिन्दी को समृद्ध बनाने में सहायक सिद्ध होगा और साथ ही इसके द्वारा ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित अधिकाधिक पुस्तकें हिन्दी के पाठकों को उपलब्ध हो सकेंगी।

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय

प्राक्कथन

व्यावहारिक वैदिक व्याकरण की बहुत समय से आवश्यकता रही है। मैक्समूलर ने इसे त्रयालीस वर्ष पूर्व के ऋग्वेद के अपने संस्करण के प्राक्कथन में वेद के सूक्तों के अध्ययन का प्रमुख सहायक बताया था और कहा था—"मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं कि एक ऐसा समय आयेगा जब कि भारत में कोई भी व्यक्ति प्राचीन ऋषियों की ऋचाओं का अर्थ लगाये बिना अपने को संस्कृत का विद्वान् न कह सकेगा"। मुख्यरूपेण इस प्रकार के ग्रन्थ की कमी के कारण ही वैदिक वाङ्मय का अध्ययन भाषा और धर्म की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण होने पर भी भारत या इंग्लैण्ड में लौकिक संस्कृत के अध्ययन के साथ अपना उचित स्थान न पा सका। ह्विटनी के श्रेष्ठ ग्रन्थ 'संस्कृत ग्रामर' में निस्सन्देह प्राचीन भाषा का अर्वाचीन के साथ ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में निरूपण है पर इसी कारण ही, जैसा कि मुझे बार-बार विश्वास दिलाया गया है, छात्रगण इसकी सहायता से न तो प्राचीन भाषा का और न ही अर्वाचीन भाषा का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि प्रारम्भिक छात्र सीखते समय दोनों भाषाओं को पृथक् नहीं रख सकते। १९१० में मेरे बृहद् वैदिक व्याकरण के प्रकाशन तक किसी भी एक ग्रन्थ में प्राचीन भाषा का सर्वाङ्गीण विवेचन न था। पर वह ग्रन्थ छात्रों की आवश्यकता की दृष्टि से बहुत व्यापक एवं विस्तृत है; उसका तो अधिकतर विद्वानों के लिये निर्देश ग्रन्थ के रूप में ही निबन्धन हुआ है। अतः मुझे बार-बार प्रेरित किया गया कि मैं एक संक्षिप्त व्यावहारिक व्याकरण लिखूं जो कि वैदिक भाषा के लिये वही काम करे जो कि मेरा छात्रोपयोगी संस्कृत व्याकरण (Sanskrit Grammar for Beginners) लौकिक संस्कृत के लिये करता है। उस पुस्तक (छात्रोपयोगी संस्कृत व्याकरण) के द्वितीय संस्करण (१९११) में जितना शीघ्र हो सके इस मांग को पूरा करने की मैंने प्रतिज्ञा की। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी प्रतिज्ञा की पूर्ति है।

इस ग्रन्थ की योजना बनाते समय बहुत सोचने विचारने के बाद मैंने निश्चय किया कि (विषयदृष्ट्या) इसका प्रत्येक सन्दर्भ संस्कृत व्याकरण के सन्दर्भ

के अनुरूप हो क्योंकि यही वह सर्वोत्तम पद्धति है जिससे विद्यार्थी प्राचीन एवं अर्वाचीन भाषा की प्रत्येक घटना की तुलना कर सकता है और उनमें अन्तर देख सकता है । उतने अंश में प्रस्तुत ग्रन्थ पूर्वग्रन्थापेक्षी है पर स्वतन्त्र रूप से भी इसका उपयोग किया जा सकता है । हां, अनेक वर्षों के अध्यापन के अनुभव के कारण मैं प्रारम्भिक छात्रों को प्रस्तुत व्याकरण के द्वारा संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ करने के लिए प्रेरित नहीं कर सकता । मेरे विचार में विद्यार्थियों को सदैव लौकिक संस्कृत से ही (संस्कृताध्ययन) प्रारम्भ करना चाहिये जो कि अपेक्षाकृत अधिक नियमित और सुनिश्चित है, एवञ्च सुप्तिङन्त रूपों की संख्या में कहीं अधिक सीमित है । इसलिये वैदिक व्याकरण प्रारम्भ करने से पूर्व उत्तरवर्ती भाषा (लौकिक संस्कृत) का अच्छा व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये क्योंकि इनसे वह (वैदिक व्याकरण) शीघ्रता से सीखा जा सकता है। प्रस्तुत व्याकरण की अन्य (लौकिक संस्कृत के व्याकरण) के साथ समानता बनाये रखने के कार्य में मुझे अनुरूप सन्दर्भों के सन्तोषजनक रूप से अङ्कन में बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ा है क्योंकि कतिपय विषय—जैसे कि नाना लेट् रूप या अधिक पूर्ण दृष्टान्त के रूप में संस्कृत के एक की तुलना में एक दर्जन तुमर्थ कृदन्त रूप– केवल वैदिक भाषा में ही पाये जाते हैं जबकि कतिपय संस्कृत के रूपों, जैसे कि लुट् का, पहिली (वैदिक) भाषा में अस्तित्व नहीं है । तथापि मै समझता हूं कि मै सन्दर्भों को इस प्रकार रखने में समर्थ हो सका हूँ कि एक के सन्दर्भों की दूसरे के अनुरूप सन्दर्भों के साथ आसानी से तुलना की जा सके । इसमें अपवाद केवल पन्द्रह सन्दर्भों का प्रथम अध्याय है जहां कि 'संस्कृत व्याकरण' में नागरी वर्णमाला का निरूपण किया गया है । चूंकि प्रस्तुत ग्रन्थ में सर्वत्र रोमन लिपि का ही प्रयोग किया गया है इसलिये पूर्व पुस्तक (संस्कृत व्याकरण) में दिये गये वर्णों के निरूपण की आवृत्ति इसमें अनावश्यक समझी गई है। इस कारण मैने इसके स्थान पर वैदिक ध्वनियों का सामान्य ध्वनिशास्त्रीय सर्वेक्षण दिया है । इससे विद्यार्थी संस्कृत भाषा के इतिहास को स्पष्ट रूप से समझने में समर्थ हो सकेगा । रोमन लिपि का प्रयोग आवश्यक था क्योंकि केवल इसी माध्यम से हाइफन् (-) द्वारा विश्लेषण एवञ्च स्वराङ्कन ठीक ढंग से बताया जा सकता था । रोमन के साथ-साथ नागरी लिपि में भी शब्दों को लिखने से ग्रन्थ का कलेवर एवञ्च मूल्य ही बढ़ते जब कि एतदनुरूप कोई लाभ

न होता। "स्वर-निरूपण" के वैदिक व्याकरण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के कारण स्वभावतः उसका स्थान ग्रन्थ के मूल पाठ में ही होना चाहिये था पर "संस्कृत व्याकरण" में इस विषय के सर्वथा अभाव से एवञ्च इसके विस्तृत वर्णन की अपेक्षा से इसका वहां समावेश असम्भव था। इस कारण स्वर को "संस्कृत व्याकरण" के अन्त में आने वाली "वैदिक व्याकरण की प्रमुख विशेषताओं" के स्थान में परिशिष्ट ३ में दे दिया गया है।

"वैदिक" शब्द यहां न केवल सूक्तों की छन्दोबद्ध रचना अपितु ब्राह्मण ग्रन्थों के गद्य एवञ्च अथर्ववेद की और यजुर्वेद की अनेक शाखाओं के ब्राह्मण तुल्य भागों के लिये किया गया है। उत्तरकाल की व्याकरण-विषयक सामग्री अधिकांशतया छोटे टाइप में दी गई है और नियमेन ब्रा० (ब्राह्मण ग्रन्थ) इस अक्षर द्वारा सूचित की गई है। अन्यथा प्राचीन भाषा का जो रूप उपस्थापित किया गया है वह ऋग्वेद का है क्योंकि वह प्राचीनतम ग्रन्थ है और प्राचीनतम सामग्री का समर्पक है पर अन्य वेदों के रूपों को भी, जो ऋग्वेदीय प्रामाणिक रूपों का अनुसरण करते हैं, बिना किसी भेदक चिह्न के उद्धृत किया गया है। पर यदि ये रूप किसी भी रूप में असामान्य होते हैं या यदि उनके विषय में यह सूचित करना अभीष्ट प्रतीत हुआ कि वे ऋग्वेद के नहीं हैं तो उनके आगे कोष्ठकों में अथर्व० (अथर्ववेद) जैसा यह सङ्केत दे दिया गया है। दूसरी ओर यदा कदा ऋ० अथवा ऋग्वेद इस शब्द का प्रयोग किया गया है यह सूचित करने के लिए कि अमुक रूप जिस किसी भी कारण से हो, ऋग्वेद तक ही सीमित है। यह स्वाभाविक है कि किसी व्यावहारिक ग्रन्थ में इस प्रकार इतना अधिक विस्तार में जाना सम्भव नहीं है पर किसी भी विशेष रूप का ठीक ठीक सङ्केत सदैव (बृहद्) वैदिक व्याकरण से लगाया जा सकता है। जब अन्य वेदों के व्याकरण प्रयोग ऋग्वेद से भिन्न होते हैं तो नियमेन उन्हें स्पष्ट किया जाता है। जब वाक्य-रचना के उदाहरण ऋग्वेद से उद्धृत होते हैं तो ठीक-ठीक अङ्कों के साथ उनका सङ्केत दिया जाता है पर जब वे अन्य ग्रन्थों से हों तो उन ग्रन्थों का संक्षेप से उल्लेख भर कर दिया जाता है (यथा तैत्तिरीय संहिता के लिये तै० सं०, शतपथ ब्राह्मण के लिये श० ब्रा०)। वाक्य रचना के उदाहरण छन्दोदृष्ट्या सदैव अविकल नहीं होते क्योंकि व्याख्येय व्यवहार का दृष्टान्त प्रस्तुत करने के लिए जो पद अनावश्यक होते हैं उन्हें छोड़ दिया जाता

है। वैदिक ग्रन्थों में बिना स्वर के पाये जाने वाले क्रियापदों का स्वर असन्दिग्ध होने पर अङ्कित किया जाता है पर यदि उसके बारे में कोई सन्देह हो तो उसे छोड़ दिया जाता है। क्रियापदों की सूची में (परिशिष्ट १) प्र० पु० एक० को प्रायः निदर्शन के रूप में दिया गया है यद्यपि वस्तुतः अन्य पुरुषों के रूप भी उपलब्ध होते हों। अन्यथा (वहां) उन्हीं रूपों का उल्लेख किया गया है जो कि निश्चित रूप से देखने में आये हैं।

मुझे यहां यह विशेषरूप से कहना है कि पदों में प्रत्ययों के अन्तिम स्, र् और द् को उनके ऐतिहासिक रूप में दिया गया है न कि शास्त्रानुसार पदान्त वर्णों के नियम के अनुसार (§ २७)। यथा—दूतस् न कि दूतः; तस्माद् न कि तस्मात्; पितुर् न कि पितुः। पर वाक्य में प्रयुक्त होने पर वे सन्धि के नियमों के अनुसार दिये गये हैं। यथा—देवानां दूतः; वृत्रस्य वधात्।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर्याप्त अंश में मेरे बृहद् वैदिक व्याकरण पर आवृत है पर किसी भी अर्थ में यह उसका संक्षेप मात्र ही नहीं है। क्योंकि संस्कृत व्याकरण के साथ क्रमसाम्य के हेतु इसके विषयानुक्रम के भिन्न प्रकार से होने के अतिरिक्त इसमें ऐसी बहुत-सी सामग्री है जो कि (बृहद्) वैदिक व्याकरण के ब्यूह्लर कृत भारोपीय अनुसंधान विश्वकोष ग्रन्थमाला के एक पुष्प के रूप में प्रकाशित होने से बंधी सीमाओं के कारण उसमें (बृहद्) (वैदिक व्याकरण में) स्थान न पा सकी। इसमें (प्रस्तुत व्याकरण में) वैदिक वाक्य रचना का सविस्तर वर्णन है। वैदिक छन्दों का निरूपण भी इस में है। किञ्च परिशिष्ट १ में (संस्कृत व्याकरण की सूची के समान) वैदिक क्रियापदों की सूची दी गई है जिनके सभी के सभी रूप (बृहद्) वैदिक व्याकरण में मूल पाठ में यथास्थान उपलब्ध हैं पर जिन्हें अकारादिक्रम से पृथक् से वहां नहीं दिया गया जैसा कि प्रारम्भिक छात्र के लाभ के लिये यहां किया गया है। सभी क्रियापदों का पुनः पर्यालोचन कर मैंने कतिपय सन्दिग्ध अथवा अस्पष्ट क्रियापदों का अधिक सन्तोषजनक वर्गीकरण किया है और उन कतिपय क्रियापदों का समावेश भी कर दिया है जो कि अनवधानवश बृहद् ग्रन्थ में छूट गये थे। किञ्च चालीस पृष्ठ की संयोजक एवं क्रिया-विशेषरूप निपातों की अकारादिक्रम से एक सूची, जिसमें उनके वाक्य

में प्रयोग का भी निरूपण है, संस्कृत व्याकरण के § १८० की अनुरूपता के लिये दे दी है। प्रस्तुत व्याकरण इन कारणों से (बृहद्) वैदिक व्याकरण का संक्षेप भी है और परिशिष्ट भी जिसमें बृहद् ग्रन्थ की तुलना में सभी दृष्टियों से विषय का अपेक्षतया संक्षिप्त रूप में अधिक परिपूर्ण निरूपण है। यहां मैं यह और भी कह दूं कि प्रस्तुत व्याकरण के पश्चात् शीघ्र ही एक वैदिक पाठ्यपुस्तिका (A Vedic Reader) आने वाली है जिसमें ऋग्वेद के चुने हुए सूक्त होंगे और जिसमें प्रारम्भिक विद्यार्थी के समझने के लिये प्रत्येक विषय का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन रहेगा। मेरी यह आशा है कि इन ग्रन्थों से वह अल्प समय में ही भारत के धार्मिक वाङ्मय का आत्म-निर्भर विद्यार्थी बन सकेगा।

प्रस्तुत पुस्तक के लिये मैंने मुख्य रूप से अपने वैदिक व्याकरण (१९१०) का उपयोग किया है पर वाक्य रचना की सामग्री के लिये डेल्ब्रुक की अल्त् इन्दिश सिन्टैक्स (Altindische Syntax) (१८८८) एवञ्च ब्राह्मण वाङ्मय के क्रियापदों के लिये ह्विटनी के रूट्स (Roots) (१८८५) का भी मैंने उपयोग किया है। (परिशिष्ट २ में) छन्दों का निरूपण करने में मैंने ओल्डेनबर्ग के दी हिम्नन् देस ऋग्वेद (Die Hymnen des Rigveda, 1888) एवञ्च आरनोल्ड् के वैदिक मीटर् (Vedic Metre, 1905) को बहुत उपयोगी पाया है।

मैं डा० जेम्स् मोरिसन एवञ्च अपने भूतपूर्व शिष्य प्रो० ए० बी० कीथ का अत्यन्त सावधानी पूर्वक प्रूफ संशोधन के लिये कृतज्ञ हूँ जिस कारण मेरी बहुत सी मुद्रणाशुद्धियां बच गईं जो मेरी दृष्टि से छूट जातीं। प्रो० कीथ ने मेरे व्याकरण-विषयक कथनों पर महत्त्वपूर्ण संशोधन भी सुझाये हैं। अन्त में मैं क्लैरेण्डन प्रेस के ओरियण्टल रीडर श्री जे. सी. पेम्ब्री, आनर्स, एम्.ए. को प्रो० एच्. एच्. विल्सन के संस्कृत व्याकरण के प्रूफ संशोधन के पूरे सत्तर वर्ष बाद प्रस्तुत व्याकरण के अन्तिम प्रूफ संशोधन के कार्य की परिसमाप्ति पर बधाई देता हूँ। यह प्राच्य विद्या ग्रन्थों के और बहुत सम्भव है मुद्रणालय के लिये किये गये किसी भी प्रकार के व्यावसायिक प्रूफ-संशोधन के इतिहास में रिकार्ड है।

६, चेर्वेलिग्टन रोड, आक्सफोर्ड — ए. ए. मैकडानल

मार्च ३०, १९१६।

अनुवादकीय वक्तव्य

मैकडानल कृत वैदिक व्याकरण (छात्र-संस्करण) का हिन्दी अनुवाद समस्याएँ और समाधान*

किसी भी देश और राष्ट्र के वाङ्मय को समृद्ध करने में अनुवाद का बहुत बड़ा हाथ होता है। इसी के माध्यम से अन्य भाषाओं की श्रेष्ठतम कृतियों को अपनाया जा सकता है और उन भाषाओं को न जानने वाले अपने पाठकों के लिए सुलभ किया जा सकता है। इस तरह आदान-प्रदान से ज्ञान की सीमा निरन्तर विस्तृत होती चलती है। इसके सिवाय इतर भाषागत ज्ञान को आत्मसात् करने का कोई उपाय नहीं है। किसी भी देश की ज्ञान की दृष्टि से उन्नति का अनुमान उसके अनूदित साहित्य से लगाया जा सकता है। इधर पिछले वर्षों से राष्ट्रभाषा हिन्दी में भी यह प्रवृत्ति दिखाई देने लगी है। यह इसकी उत्तरोत्तर उन्नति और समृद्धि का ही लक्षण है। न केवल वैज्ञानिक और तकनीकी ग्रन्थों का ही अपितु संस्कृत एवं प्राच्यविद्याविषयक नाना आलोचनात्मक अंग्रेजी ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद गत कतिपय वर्षों में प्रकाशित हुआ है। इसी कड़ी में ही मैकडानल कृत वैदिक व्याकरण (छात्र संस्करण) भी आता है। यह ग्रन्थ अपनी जटिलता और दुरूहता के कारण संस्कृत के विद्यार्थी वर्ग के लिए एक समस्या बना हुआ है। ग्रन्थ प्रामाणिक है इसलिए देश भर में इसका पठन-पाठन प्रचलित है। इसका प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद तैयार करने का काम जब दिसम्बर १९६१ में मुझे सौंपा गया तो मैंने माँ भारती की सेवा करने का एक सुअवसर समझ इसे स्वीकार किया यद्यपि इस कार्य में जो कठिनाइयाँ आने वाली थीं उनसे मैं सर्वथा अपरिचित न था। यह अपने ढंग का पहिला प्रयास था। पाश्चात्य लेखक द्वारा लिखित किसी भी व्याकरण का—वैदिक व्याकरण का तो प्रश्न ही नहीं उठता—अब तक अनुवाद न हुआ था। अत: मेरे सामने कोई भी आदर्श अनुवाद न था जिससे मैं लाभ उठा

---

*प्रस्तुत वक्तव्य का बहुत बड़ा अंश इसी शीर्षक से भारतीय अनुवाद परिषद् की पत्रिका "अनुवाद" के मई १९६७ के अङ्क में प्रकाशित हो चुका है।

सकता। एक तो व्याकरण का विषय यूं ही जटिल होता है उस पर मैकडानल की शैली जिसमें एक वाक्य कभी-कभी आठ-आठ दस-दस पंक्तियों तक चलता चला है अनुवाद कार्य को और भी क्लिष्ट बना रहा था। किंच ग्रीक और लैटिन का विद्वान् होने के कारण मैकडानल उन भाषाओं के व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों से सुपरिचित था अतः उसने अपने वैदिक व्याकरण में भी उन्हीं का प्रयोग किया। उन पारिभाषिक शब्दों का हिन्दी समानान्तर रूप ढूंढना कठिन हो गया। केवल इतना ही नहीं, मैकडानल की सम्पूर्ण पद्धति ही अपने यहाँ की स्वर-वैदिकी प्रक्रियादि की पद्धति से भिन्न थी। पहले उस पद्धति को हृदयंगम करना आवश्यक था, उसके भीतर पैठना, उसे आत्मसात् करना आवश्यक था, तभी उस अतुल-ज्ञान-राशि महर्षिकल्प मैकडानल के साथ न्याय करने का साहस किया जा सकता था। जब मैंने अनुवाद कार्य प्रारम्भ किया तो ये सब विघ्न बाधाएँ मेरे सामने मुंह बाये खड़ी थी। मुझे ऐसा लगता था कि मैंने अपने हाथ में एक ऐसे काम को ले लिया है जिसके विषय में मुझे स्वयं सन्देह होने लगा था कि मैं इसे कभी पूरा भी कर पाऊँगा या नहीं। इसी ऊहापोह में कुछ समय बीत गया। समस्याओं की संख्या बढ़ती जा रही थी। इसी बीच विश्वविद्यालय का ग्रीष्मावकाश आ गया जिसे बिताने मैं शिमला गया। साथ में यह उद्देश्य भी था कि वहाँ की शीतल स्वास्थ्यप्रद जलवायु में कार्य की गति कुछ आगे बढ़ सकेगी। वहाँ मेरी भेंट प्रिय मित्र डा० सीताराम सहगल से हुई। उन्होंने वेद पर काम किया था। मैंने अपनी समस्याएँ उनके सामने रखीं। यूं भी मुझे जो कोई मिल जाता था उसके सामने मैं अपनी समस्याएँ रखता ही था। डा० सहगल ने मुझे सुझाव दिया कि अच्छा यही होगा कि मैं अपनी समस्याएँ—विशेषकर पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी रूपान्तरों की समस्याएँ—पत्र में लिखकर वेद एवं भाषा-विज्ञान के प्रमुख विद्वानों को भेजूं। फिर उनसे जो सुझाव प्राप्त हों उन सब पर विचार कर किसी एक को अंगीकार कर लूं। मुझे यह सुझाव पसन्द आया और यहीं से ही मेरे कार्य के दूसरे अध्याय—समस्याओं का समाधान—का प्रारम्भ हुआ।

मैंने भारत में अनेक विद्वानों को पत्र लिखे जिनमें से अधिकांश के उत्तर मेरे पास ये आये कि उन्होंने कभी इन समस्याओं पर विचार नहीं किया। अतः वे

किसी भी प्रकार की सहायता देने में असमर्थ हैं। इनमें वे दिग्गज विद्वान् भी हैं जिनका समस्त जीवन वेद के अध्ययन एवं शोध में बीता है। नीचे निदर्शनार्थ ऐसे दो विद्वानों के पत्र अविकल रूप से उद्धृत किये जा रहे हैं—

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान
संचालक : श्री विश्वबन्धु
एम्.ए. शास्त्री, एम्.ओ.एल्. (पं.) ओ.डी.ए.(फ्रां.) के.टी.सी.टी(इट.)
पो. साधु आश्रम होशिआरपुर (पं.)

क्रमांक १।१।८५६ दिनांक २७.५.६३

प्रियवर, सप्रेम नमस्ते।

आपका १८.५.६३ का पत्र मिला।

यह प्रसन्नता की बात है कि आप मैकडानल वैदिक ग्रामर का हिन्दी अनुवाद करने में लग रहे हैं। उक्त ग्रन्थ में व्यवहृत पारिभाषिक शब्द ग्रीक व लैटिन व्याकरणों से लिए गए हैं। यह खेद की बात है कि भारत सरकार द्वारा प्रकाशित "पारिभाषिक शब्द संग्रह" में व्याकरण संबंधी शब्दों का समावेश अभी तक नहीं हो पाया। मैं स्वयं भी इस ओर अभी तक कुछ नहीं कर सका : अब आपने जो ध्यान दिलाया है, तो बीच-बीच में अवसर पाने पर यत्न करता रहूँगा। परन्तु अभी त्वरित सहायता करना अशक्य सा है। भवदीय

शुभं भवतु विश्वबन्धु

(१९६३ में उपर्युद्धृत पत्र के प्राप्त होने से लेकर आज १९७० तक सात वर्ष बीतने पर भी श्रद्धेय पण्डित जी इस दिशा में कुछ नहीं कर सके हैं—अनुवादक)

Aligarh.
Dear Dr. Satya Vrata, 13.9.63

There is none better suited than you to render that grammar in Hindi and I congratulate you on this venture. These days I am not doing anything serious but settling my house : hence your query should have gone to your father, who is the ultimate authority on grammar. This is my sincere belief.

Yours sincerely,
Suryakanta

अलीगढ़
१३-९-१९६३

प्रिय डा० सत्यव्रत,

आप से अधिक और कोई योग्य व्यक्ति नहीं है जो इस व्याकरण (मैकडानल कृत वैदिक व्याकरण) का हिन्दी अनुवाद कर सके और मैं आप को इस साहस पूर्ण कार्य पर बधाई देता हूं। इन दिनों मैं कुछ भी विशेष काम नहीं कर रहा, घर को जमाने में ही लगा हूं। अतः आप को अपनी जिज्ञासाएं अपने पिता जी के सामने ही रखनी चाहिए थीं जो कि व्याकरण में परम प्रमाण हैं। यह मेरा हार्दिक विश्वास है।

भवदीय
सूर्यकान्त

कुछ विद्वानों ने बाद में समाधान भेजने का वायदा किया जो उन्होंने पूरा नहीं किया। कुछ ने मुझे अपने पितृपाद पं० चारुदेव जी शास्त्री से ही इस विषय में सहायता लेने के लिए कहा। शेष कुछ ने मेरी समस्याओं पर विचार किया और मुझे उत्तर लिख भेजे। इस अन्तिम कोटि के विद्वानों में विशेष उल्लेखनीय हैं प्रातःस्मरणीय विद्वान्, भाषाशास्त्र के अग्रगण्य मनीषी डा० सिद्धेश्वर वर्मा जिन्होंने मुझे पग-पग पर सहायता दी। जब भी मुझे कहीं कोई कठिनाई होती थी, मुझे मार्ग नहीं सूझता था, मैं तत्काल एक पोस्टकार्ड श्रीचरणों को भेज देता था और जितनी शीघ्रता से मैं पत्र भेजता था शायद उससे अधिक शीघ्रता से उनका उत्तर आ जाता था। मेरी शंकाओं का उन्होंने पग-पग पर समाधान किया है, मेरे विघ्नों और मेरी बाधाओं को उन्होंने क्षण-क्षण में दूर किया है। वे दूर रह कर भी मेरे कितने निकट रहे हैं। उनकी सक्रिय सहायता के बिना मैं मैकडानल की आत्मा को ठीक से पहिचान नहीं सकता था। प्रस्तुत ग्रन्थ के कितने ही अंशों में भूल हो सकती थी यदि उनका वरदहस्त मेरे सिर पर न होता। ऐसे उदार, शब्दपाणि, भक्तवत्सल, ऋषि के चरणों में मेरा कोटि-कोटि प्रणाम।

इस कार्य में मुझे पूज्यपाद पितृचरण से भी बहुत सहायता मिली है। मान्य विद्वानों से पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी अनुवाद के विषय में जो-जो सुझाव प्राप्त

हुए उन पर मैं उनसे घण्टों विचार करता रहा हूँ। इस विचार के बाद जो अपनी क्षुद्र बुद्धि को उचिततम जान पड़े उन्हीं को प्रस्तुत ग्रन्थ में मैंने अपनाया है पर इनसे उन सुझावों में किसी प्रकार की कोई कमी है यह नहीं कहा जा सकता। यह रुचि का प्रश्न है। "भिन्नरुचिर्हि लोकः"। वे सभी सुझाव आदर के पात्र हैं और गहनतर विचार के भी। यद्यपि मुझे वे पत्रों द्वारा व्यक्तिगत रूप से प्राप्त हुए हैं अथवा वाचिक रूप से उपलब्ध हुए हैं तो भी उन्हें अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति में नहीं मानता। वे राष्ट्र की निधि हैं। इसीलिए उन्हें नीचे एक तालिका के रूप में उपस्थित कर रहा हूँ जिससे कि भविष्य में जो कोई भी व्यक्ति इस ग्रन्थ का अथवा इस जैसे किसी ग्रन्थ का अनुवाद करना चाहे उसे भी यह सामग्री उपलब्ध हो और अपनी बुद्धि और विवेक से वह इसका उपयोग कर सके। सम्भव है जिन सुझावों को अपनाने में मैं सफल न हो सका उनके मूल्य को और गहराई को वह समझ सके और अपना सके। यह जनता की सम्पत्ति है इसे जनता के पास जाना ही चाहिये।

विद्वानों से प्राप्त अंग्रेजी के हिन्दी रूपों के सुझावों की तालिका

अंग्रेजी शब्द	डा० सिद्धेश्वर वर्मा का सुझाव	डा० मंगलदेव शास्त्री का सुझाव	डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री का सुझाव	पं० चारुदेव शास्त्री का सुझाव
Aorist system	निर्विकरणक रूप	—	—	—
Attributive	पूर्वस्थ	—	—	—
Adjective	विशेषण	—	—	—
Auxiliary verb	सहायक क्रिया	—	—	—
Cognate Accusative	अनुरूपी कर्म	सजाति (सहज कर्म) कर्म क्रिया-भिन्न		समानधातुज कर्म
Cognate verb	—	—	—	समानधातुज क्रियापद

Demonstrative Pronoun	निर्देशक सर्वनाम			निर्देशक सर्वनाम
Enclitic		संश्रित		
Finite	पुरुषी			पुरुषवचनपरिच्छिन्न (क्रियापद)
Gerund	'करता हुआ' कृदन्त	पूर्वकालिक कृदन्त	क्रियानिष्पन्न संज्ञा	क्त्वाद्यन्त
Indicative	निरुपाधिक	कालमात्र वाचक		
Infinite	अपुरुषी	—	—	पुरुषवचनापरिच्छिन्न (क्रियापद)
Infinitive	'करना' कृदन्त या तुम् कृदन्त	भाववाचक	भाववाचक, क्रियासूचक	—
Injunctive	लुङ्मूलक लोट्	लेट् (१)	आज्ञार्थक	—
Is aorist	इष्-लुङ्			
Mood	प्रकारता	क्रियाप्रकार		प्रकार
Multiplicative adverb	वारसूचक क्रियाविशेषण	—	—	
Nominal stem	संज्ञा प्रकृति	—	—	नामप्रकृति
Noun	—	—	—	नामपद
Optative	इच्छाविधिलिङ्	—	—	विधिलिङ्
Participle	काल कृदन्त	कृदन्त कालबोधक	कृदन्त	शत्राद्यन्त
Pausa	विराम	—		
Periphrastic	वाक्यांशी			
Periphrastic tense	—	—	—	आमन्त लिट्
Pluperfect	'किया था' भूत	लिङात्मक या लिट्प्रतिरूपक		लिट्प्रतिरूपक
Possessive compound	स्वामित्व (विशेषण) समास, बहुव्रीहि			बहुव्रीहि
Possessive pronoun	स्वामित्वसूचक सर्वनाम	—		

Predicative Adjective	पश्चस्थ विशेषण	—	—	—
Present system	सविकरणक रूप	—	—	—
Primary suffix	कृदन्त प्रत्यय	—	—	—
Primary verb	गणरूप (गुणात्मक रूप)	—	—	—
Reduplicative aorist	अभ्यास-लुङ	—	—	साभ्यास लुङ
Reflexive Pronoun	स्वामिसूचक सर्वनाम	—	—	—
Rhotacism	रेफीकरण	—	—	—
S-aorist	स्-लुङ	—	—	—
Secondary suffix	तद्धित प्रत्यय	—	—	—
Secondary verb	प्रक्रियारूप (गणेतर रूप)	—	—	—
Siṣ-aorist	सिष्-लुङ			
Sonant nasal	स्वरोन्मुख अनुनासिक	सघोष अनुनासिक	स्वनन्त नासिक्य	—
Spirant	ऊष्म			सङ्घर्षी
Subjunctive	लेट्	लेट् (२)		लेट्
Surd	अघोष	—	—	
Thematic	—	—	—	विकरणबोधक अट् या आट् आगम
Velar	पश्च (जिह्वा-पश्चभाग)		—	—
Vocalic	स्वरी		—	स्वरीय

प्रस्तुत अनुवाद में एक-एक पारिभाषिक शब्द का ठीक-ठीक हिन्दी रूप ढूंढ़ने के लिए कितना प्रयास किया गया इसे स्थालीपुलाकन्यायेन एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा रहा है। मैकडानल ने अपने व्याकरण में Infinitive शब्द का अनेक स्थानों पर प्रयोग किया है। इसका 'भाववाचक कृदन्त' अनुवाद पूज्य पिताजी को जंचा नहीं। 'घञ्' आदि के भी भाववाचक कृदन्त होने के कारण अतिव्याप्ति होने का डर था। 'तुम् कृदन्त' में उन्हें अव्याप्ति का भय था क्योंकि वेद में केवल तुम्

प्रत्यय ही नहीं है, इस अर्थ के अनेक प्रत्यय हैं। खोज जारी रही। खोज करते-करते यह सुना कि आचार्य पाणिनि के सामने भी सम्भवतः यह समस्या आई थी और इसीलिए उन्होंने अपने सूत्र 'तुमर्थे सेसेनसेअसेन्क्सेकसेन्' इत्यादि में 'तुमर्थ' शब्द का प्रयोग किया। तो क्या 'तुमर्थ कृदन्त' उचित रहेगा? आपाततः तो यह रमणीय लगा पर और विचार करने पर एक अन्य समस्या सामने आई और वह यह थी कि मैकडानल इस Infinitive शब्द के साथ अनेक बार Dative, Locative आदि विशेषण शब्दों का प्रयोग करते हैं। तो यदि Infinitive का अनुवाद 'तुमर्थ कृदन्त' किया जाता है तो Dative Infinitive का अनुवाद क्या 'चतुर्थ्यन्त तुमर्थ कृदन्त' किया जाय? पर इस स्थिति में अर्थ शब्द की आवृत्ति के कारण शब्द-सौष्ठव नहीं रहेगा। तो फिर क्या विभक्ति के स्थान पर कारक का प्रयोग किया जाय—'सम्प्रदानवाची तुमर्थ कृदन्त'? कुछ अंशों के लिए यह सुझाव ठीक जँचा पर इस पर आपत्ति यह थी कि मैकडानल को कारक शायद अभीष्ट नहीं था, विभक्ति ही थी। वास्तव में Dative Infinitive से उसका अभिप्राय उस तुमर्थ प्रत्ययान्त रूप से था जो कि चतुर्थ्यन्त रूप के समकक्ष था। शब्दान्तर में 'पराद', 'प्रभ्वै' इत्यादि रूपों में मैकडानल को चतुर्थी विभक्ति की स्मृति हो जाती थी, इसी प्रकार 'नेषणि', 'गृणीषणि' आदि में ('पितरि', 'मातरि' के सादृश्य पर) सप्तमी विभक्ति की। इस परिस्थिति में 'सम्प्रदानवाची तुमर्थ कृदन्त' शब्द बहुत उपयुक्त न होता। सर्वोत्तम शब्द इसके लिए चतुर्थीप्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त (इसी प्रकार द्वितीयाप्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त, पञ्चमीप्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त, षष्ठीप्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त, और सप्तमीप्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त) ही सबसे सुन्दर जँचा और अन्त में इसे ही प्रस्तुत ग्रन्थ में अपना लिया गया। लेखक के भाव को ठीक पकड़ पाने की मेरी इस उत्कट इच्छा ने ही मुझे इस दिशा में सतत यत्नशील रखा और निरन्तर चिन्तन के लिए बाध्य किया। डा० सिद्धेश्वर वर्मा के शब्दों में—Good is the enemy of better, अच्छा अधिक अच्छे का शत्रु है, ही मेरा लक्ष्य रहा है। जिस किसी सुझाव के विषय में मुझे लगा कि इसमें लेखक के भाव की सही पकड़ है वही मुझे सर्वोत्तम जँचा। उदाहरण के रूप में Sonant nasal के 'स्वनन्त नासिक्य', 'सघोष अनुनासिक' आदि हिन्दी रूपों की अपेक्षा डा० सिद्धेश्वर वर्मा का 'स्वरोन्मुख

अनुनासिक' ही मुझे सर्वोत्कृष्ट जँचा और यही मैंने समूचे ग्रन्थमें अपना लिया। इस सुझाव ने वास्तव में मुझे चमत्कृत कर दिया। कितनी सूक्ष्मेक्षिका है डा० साहब की। स्वरोन्मुख अनुनासिक अर्थात् एक ऐसा अनुनासिक जो मूल में तो अनुनासिक था पर जो धीरे-धीरे स्वर की ओर उन्मुख हो रहा था और जो कालान्तर में स्वर में विलीन हो गया। यही वह अनुनासिक था जो पाणिनि को सम्भवतः ज्ञात था पर तदनुयायियों को नहीं, क्योंकि तबतक वह स्वर में विलीन हो चुका था। इसी कारण पाणिनीय सम्प्रदाय में "प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः" यह उक्ति चल पड़ी। Sonant nasal की तरह का इनका एक अन्य सुझाव भी मुझे उत्तम जँचा और वह भी मैंने इस ग्रन्थ में अपना लिया। वह था Injunctive के लिए 'लुङ्मूलक लोट्' का प्रयोग।

प्रस्तुत व्याकरण के लिए मेरा यह दृष्टिकोण रहा है कि जहाँ तक सम्भव हो ऐसे शब्दों का ही इसमें प्रयोग किया जाए जिनसे हम सुपरिचित हों और जिनके माध्यम से लेखक का भाव सुस्पष्ट हो सके। दृष्टान्त के लिए मैकडानल के positionally long के लिए यदि 'संयोगे गुरु' या 'संयोगवशात् गुरु' शब्दों का व्यवहार किया जाए तो उनका भाव जिस प्रकार स्फुट होगा उस प्रकार अन्य किन्हीं शब्दों से नहीं। इसी प्रकार Anaphoric का अर्थ अन्वादेश से जितना स्पष्ट होगा उतना और किसी शब्द से नहीं।

स्वाभिप्रायाविष्करण में सुगमता की इस प्रवृत्ति ने ही मुझे Participle आदि शब्दों के लिए 'कालबोधक कृदन्त' आदि नवनिर्मित शब्दों के साथ साथ प्रकरणानुसार शत्रन्त, शानजन्त, क्वसुकानजन्त, क्तान्त, क्तवत्वन्त आदि शब्दों के प्रयोग के लिए बाध्य किया। जहाँ इन सभी का अभिप्राय था वहाँ आदि शब्द का सहारा लिया गया, जैसे शत्राद्यन्त रूप। इसी प्रकार Gerund के लिए 'क्त्वादि प्रत्यय' शब्दों का व्यवहार किया गया (वेद में क्त्वा के साथ-साथ क्त्वाय, क्त्वीन, ल्यप् आदि अनेक प्रत्यय पाये जाते हैं)। लोक में शतृ, क्त, क्त्वा आदि शब्द सुप्रचलित हैं ही। इनका एवंच एतदर्थक अन्य प्रत्ययों का बोधन यदि कराना हो तो इन्हीं के साथ आदि लगाने से अर्थ विद्यार्थी-वर्ग को सुगमता से समझ आ सकेगा यही मेरा विचार है।

ऐसा समझा गया है कि प्रस्तुत ग्रन्थ उन विद्यार्थियों के हाथ में भी आ सकता है जिन्हें अंग्रेजी का सर्वथा ज्ञान नहीं है पर जो वैदिक व्याकरण का पाश्चात्य

पद्धति से परिचय प्राप्त करना चाहते हैं। इसलिए प्रकरणानुसार प्रत्याहारादि का प्रयोग भी ग्रन्थ में किया गया है—अच्, हल् आदि। अजादि विभक्तियाँ, हलादि विभक्तियाँ, प्रातिपदिक, उपधा आदि शब्द भी इसी कोटि के अन्तर्गत आते हैं। कालेजीय पद्धति के विद्यार्थी भी संस्कृत व्याकरण के इन सामान्य शब्दों से अपरिचित नहीं रहे हैं। अतः इनके प्रयोग में मुझे कोई अनौचित्य नहीं दिखाई दिया। क्योंकि, जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह पुस्तक अंग्रेजी से सर्वथा अनभिज्ञ संस्कृत विद्यार्थियों के हाथ में भी जानी थी इसलिये अनूदित पारिभाषिक शब्दों के साथ-साथ मूल अंग्रेजी शब्दों को रोमन लिपि में कोष्ठकों में देना अनावश्यक समझा गया। पुस्तक के अन्त में मूल अंग्रेजी शब्दों और उनके हिन्दी रूपों की एक सूची दे दी गई है जिस पर दृष्टिपात मात्र से यह पता चल सकता है कि कौन शब्द किसका अनुवाद है। हर बार कोष्ठक में अंग्रेजी रूप देना निःसन्देह अंग्रेजी पठित वर्ग के लिए अधिक सुविधाजनक होता पर एक तो इसमें आवृत्ति दोष था और दूसरे अंग्रेजी से अपरिचित विद्यार्थियों के लिए यह अनावश्यक था। अतः इस पद्धति में विशेष लाभ नहीं दिखाई दिया। इसीलिये इसे नहीं अपनाया गया।

प्रस्तुत व्याकरण में एक नया प्रयोग किया गया है। ग्रीक भाषा के जिन शब्दों को लेखक ने ग्रीक लिपि में ग्रन्थ में दिया था उन्हें प्रस्तुत अनुवाद में देवनागरी लिपि में दे दिया गया है। यह अब तक की पद्धति से भिन्न है जिसके अनुसार अनुवाद में भी ग्रीक शब्दों को या तो ग्रीक लिपि में ही रहने दिया जाता है या रोमन लिपि में उन्हें प्रस्तुत कर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली जाती है। ग्रीक लिपि में ही इन शब्दों को लिखते जाना हिन्दी जानने वाले विद्यार्थियों के लिए स्पष्ट ही व्यर्थ था, रोमन लिपि में लिखना भी केवल संस्कृत जानने वाले विद्यार्थियों के लिए व्यर्थ था। अतः उन्हें देवनागरी में प्रस्तुत करने का प्रयास इस व्याकरण में किया गया है। हो सकता है यह प्रयास त्रुटिपूर्ण हो, कतिपय ग्रीक ध्वनियाँ अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हैं, उनका हिन्दी की समकक्ष ध्वनि द्वारा प्रतिनिधित्व कर पाना सम्भव नहीं, तो भी प्रयास—और वह भी प्रथम प्रयास—की दृष्टि से आशा है विद्वद्गण भ्रान्तियों और त्रुटियों को क्षमा करेंगे। 'अष्ट' के साथ यदि देवनागरी में ही 'होक्तो' लिखा जाए या 'द्वादश' के साथ 'दोदेका' लिखा जाए तो दोनों का साम्य जिस प्रकार विद्यार्थी को स्पष्ट होता

है उस प्रकार अष्ट o'ktw या द्वादश— δwδeka लिखने पर नहीं । इसमें कुछ दुराग्रहियों को अवश्य विप्रतिपत्ति हो सकती है, अन्य लोग सम्भवतः इसका स्वागत ही करेंगे। सर्वत्र मेरी दृष्टि विषय के स्पष्टीकरण की ओर ही रही है।

कथ्य विषय विद्यार्थियों को सरल सुगम भाषा के माध्यम से हृदयंगम हो जाए इसके लिए मैं सदा सर्वदा प्रयत्नशील रहा हूँ । इसमें मैं कहाँ तक सफल हो सका हूँ इसका निर्णय वे स्वयं करेंगे। मेरा अधिकार कर्म में ही है, फल में नहीं ।

पुस्तक को यथासाध्य मैकडानल के ग्रन्थ का प्रतिबिम्ब बनाने का प्रयत्न किया गया है। वैदिक शब्दों, उनके अर्थों, उन पर टिप्पणों सभी को भिन्न-भिन्न टाइप में दिया गया है। यद्यपि इससे मुद्रकों को भारी कठिनाई का सामना करना पड़ा जिस कारण ग्रन्थ के प्रकाशन में बहुत विलम्ब भी हो गया। ३ मई १९६३ को इस अनुवाद की पाण्डुलिपि प्रकाशक को मैंने दी थी। आज १९७० की ३ मई भी बीत चुकी है। सात वर्षों की लम्बी अवधि में भी यह ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हो पाया है। मुद्रण की सुविधा को दृष्टि में रखते हुए मैंने मूल अंग्रेजी ग्रन्थ के बारह विभिन्न टाइपों के स्थान पर अनुवाद में नौ विभिन्न टाइपों के प्रयोग को स्वीकार कर लिया था पर फिर भी मुद्रण अपनी मन्थर गति से ही चलता रहा।

मैंने अनुवाद में भी स्वरांकन की पाश्चात्य पद्धति को ही अपनाया है जिसके अनुसार उदात्त दायीं ओर तिर्यक् चिह्न (´) के द्वारा चिह्नित किया जाता है और स्वरित बायीं ओर तिर्यक् चिह्न (`) द्वारा। अनुदात्त इस पद्धति में अचिह्नित ही रहता है। इसे वैदिक पद्धति पर ढालना एक जटिल काम होता। समूचे ग्रन्थ का स्वरांकन परिवर्तन आवश्यक हो जाता। और फिर वेद में भी तो कोई एक प्रकार की स्वरांकन पद्धति नहीं है। उसमें स्वयं में कम-से-कम छः भिन्न-भिन्न पद्धतियों का प्रचलन है। तो यदि एक नयी पद्धति और प्रचलित हो जाए तो उसमें क्या हानि ?

इसी प्रकार धातु रूपावली में भी मूल ग्रन्थ के उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष, प्रथम पुरुष (First Person, Second Person, Third Person) क्रम को तदवस्थ रखा गया है। यद्यपि यह अभारतीय है—पर अभारतीय तो

समूचा ग्रन्थ ही है—तो भी इसे वैसे ही अपना लिया गया है। बहुमत इसी ओर था। मित्रों का आग्रह था कि संस्कृत के विद्यार्थियों को भी पाश्चात्य क्रम एवं व्यवस्था से परिचित कराना चाहिये। अन्यच्च, इसका एक व्यावहारिक पक्ष भी था। यदि भारतीय पद्धति के अनुसार पुरुष क्रम रखा जाता—प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष, उत्तम पुरुष, तो मूल पाठ में क्रिया रूपों के ऊपर नीचे हो जाने से सैंकड़ों पाद टिप्पणों के क्रम में परिवर्तन करना पड़ता जो कि किसी भी अनुवादक के लिए यदि असाध्य नहीं तो सुतरां कठिन अवश्य होता। और फिर भेद तो क्रम में ही है, इससे रूपों में तो कोई अन्तर नहीं आता। प्रथम पुरुष के रूप प्रथम पुरुष के ही रहेंगे और उत्तम पुरुष के उत्तम पुरुष के ही। इस दृष्टि से सारे ग्रन्थ में व्याप्त क्रम में परिवर्तन करना महाभाष्यकार के शब्दों में महान् वंश-स्तम्भ से लट्वानुकर्षण के समान होता (सेयं महतो वंशस्तम्बाल्लट्वानुकृष्यते, आह्निक २)।

इस महान् यज्ञ में जिन-जिन विद्वानों ने अपनी-अपनी आहुतियाँ डाली हैं उनका मैं हृदय से आभारी हूँ। उनकी, विशेषकर डा० सिद्धेश्वर वर्मा और पूज्यपाद पिता जी की, सहायता के बिना यह ग्रन्थ पूरा न हो सकता था। मैं उनके प्रति नत-मस्तक हूँ। अन्त में केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि इस अनुवाद में जो कुछ भूलें या त्रुटियाँ हैं वे सब मेरी हैं, जो जो अच्छाइयाँ हैं वे सब उनकी हैं—

"यदत्र सौष्ठवं किंचित्तद् गुरोरेव मे नहि।
यदत्रासौष्ठवं किंचित्तन्ममैव गुरोर्नहि॥"

—:०:—

विषयसूची

पञ्चम अध्याय : अव्यय शब्द

षष्ठ अध्याय : नामरूप प्रकृतियों की रचना और समास

सप्तम अध्याय : वाक्यविन्यास की रूपरेखा

सङ्केतिका

अतिशय०	—	अतिशयवाची
अथर्व०	—	अथर्ववेद
अनिय०	—	अनियमितताएं
अनि०	—	अनियमित
अवि०	—	अविकृत
आत्मने०	—	आत्मनेपद
आम्रे०	—	आम्रेडित
उप०	—	उपसर्ग
उ० पु०	—	उत्तम पुरुष
ऋ०	—	ऋग्वेद
एक०	—	एकवचन
ऐ० आ०	—	ऐतरेय आरण्यक
ऐ० ब्रा०	—	ऐतरेय ब्राह्मण
कर्मधा०	—	कर्मधारय
क० वा०	—	कर्मवाच्य
का० कृ०	—	काल कृदन्त
का० सं०	—	काठक संहिता
कृत्य०	—	कृत्यप्रत्ययान्त
क्त्वा०	—	क्त्वार्थक अथवा क्त्वाद्यन्त
क्रि० वि० प्र०	—	क्रियाविशेषण प्रत्यय
क्रि० विशे०	—	क्रियाविशेषण
च०	—	चतुर्थी
च० तुम०	—	चतुर्थीप्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त

चतुर्थ्य०	—	चतुर्थ्यन्त
टि०	—	टिप्पणी
तत्पु०	—	तत्पुरुष
तुम०, तुमर्थ०	—	तुमर्थ कृदन्त
तुलना०	—	तुलनावाची
तृ०	—	तृतीया
तृतीया०	—	तृतीयान्त
तै० सं०	—	तैत्तिरीय संहिता
द्वि०	—	द्वितीया
द्वितीया०	—	द्वितीयान्त
नपुं०	—	नपुंसकलिङ्ग
नाम०	—	नामधातु
निज०	—	निजवाचक
निर्दे०	—	निर्देशक
निषेध०	—	निषेधवाचक
प०	—	पञ्चमी
पञ्चम्य०	—	पञ्चम्यन्त
परस्मै०	—	परस्मैपद
पा० टि०	—	पाद टिप्पणी
पुरुष० सर्व० पुरुषवा० सर्व०	—	पुरुषवाचक सर्वनाम
पूरण०	—	पूरण प्रत्ययान्त
पृ०	—	पृष्ठ
प्र०	—	प्रत्यय
प्रथमा० विशे०	—	प्रथमान्त विशेषण
प्र० द्विव०	—	प्रथमा द्विवचन
प्रश्न०	—	प्रश्नवाचक

प्रश्न० सर्व० विशे०	—	प्रश्नवाचक सर्वनाम विशेषण
प्राति०	—	प्रातिपदिक
प्रो०	—	प्रोफेसर
ब० व्री० बहुव्री०	—	बहुव्रीहि
ब्रा०	—	ब्राह्मणग्रन्थ
भूतका० कृ०	—	भूतकाल कृदन्त
भ्वादि०	—	भ्वादिगण
म० पु०	—	मध्यम पुरुष
मै० सं०	—	मैत्रायणी संहिता
यजु०	—	यजुर्वेद
रूप०	—	रूपनिदर्शन
लिट्प्र०	—	लिट्प्रतिरूपक
लु० लो०	—	लुङ्मूलक लोट्
लै०	—	लैटिन
वाक्यर०	—	वाक्यरचनानिर्भर
वा० सं०	—	वाजसनेयि संहिता
वि०	—	विकृत
वि० लि०	—	विधिलिङ्ग
विशे०	—	विशेषण
विसर्ज०	—	विसर्जनीय
विस्मया०	—	विस्मयादिबोधक
व्यक्ति०	—	व्यक्तिवाचक
श० ब्रा०	—	शतपथ ब्राह्मण
शत्र०	—	शत्रन्त
शत्रा०	—	शत्राद्यन्त
शान०	—	शानजन्त

ष०	—	षष्ठी
षष्ठीप्रति०	—	षष्ठीप्रतिरूपक
स०	—	सप्तमी
सप्तमी०	—	सप्तमीप्रतिरूपक
सम्बो०	—	सम्बोधन
सर्व०	—	सर्वनाम
सवि०	—	सविकरणक
संख्या०	—	संख्यावाची
संयोज०	—	संयोजक
सा० वे० साम०	—	सामवेद
सर्व०	—	सर्वनाम
सार्व० (धातु)	—	सार्वनामिक (धातु)
स्त्री०	—	स्त्रीलिङ्ग
स्वामि०	—	स्वामित्वसूचक

प्रथम अध्याय

ध्वनि-परिचय

१. वैदिकी अथवा वैदिक वाङ्मय की भाषा का प्रतिनिधित्व दो मुख्य स्तर करते हैं जिनमें स्वयं में भी पूर्ववर्ती और पश्चाद्वर्ती का भेद देखा जा सकता है। पूर्ववर्ती युग उन मन्त्रों, ऋचाओं और जादू-टोने आदि का है जिनमें देवताओं को सम्बोधित किया गया है और जो भिन्न-भिन्न संहिताओं में पाये जाते हैं। इनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ऋग्वेद है जो कि प्राचीनतम स्थिति का प्रतिनिधित्व करता है। उत्तरवर्ती युग उन गद्यलिखित कर्मकाण्ड-विषयक ब्राह्मण-ग्रन्थों का है। भाषा की दृष्टि से उन (ब्राह्मण-ग्रन्थों) में प्राचीनतम ब्राह्मण भी संहिताओं के अनेक अर्वाचीन भागों के पश्चाद्वर्ती हैं—लगभग लौकिक संस्कृत के समय के ही। फिर भी इनमें अभी तक भी लेट् लकार एवञ्च अनेक तुमर्थक प्रत्ययों का प्रयोग पाया जाता है जबकि लौकिक संस्कृत में लेट् लकार का सर्वथा लोप हो चुका है और तुमर्थक प्रत्ययों में भी केवल एक ही (तुमुन्) शेष रह गया है। तो भी इन ग्रन्थों (ब्राह्मणों) का गद्य कुछ सीमा तक मन्त्रों की भाषा की अपेक्षा वैदिक वाक्य-विन्यास की साधारण विशेषताओं को अधिक अपनाये हुए है जिसका कि मन्त्रों में छन्दोऽनुरोधात् किञ्चिन्मात्र भी पालन नहीं किया गया।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के परिशिष्टों अर्थात् आरण्यकों व उपनिषदों की भाषा का परिवर्तित रूप ही सूत्रकालीन भाषा है जिसके स्वरूप में लौकिक संस्कृत के स्वरूप से तादात्म्य सा ही है।

ऋग्वेद की भाषात्मक सामग्री जो कि अन्य संहिताओं, जिन्होंने पर्याप्त मात्रा में ऋग्वेद से ही मन्त्र ले लिये हैं, की अपेक्षा अधिक प्राचीन, अधिक विस्तृत एवञ्च अधिक प्रामाणिक है, प्रस्तुत व्याकरण का आधार है। हाँ अन्य संहिताओं

की सहायता से इसे काफी बढ़ा दिया गया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों के उन व्याकरण के रूपों का, जहाँ कहीं भी वे लौकिक संस्कृत के रूपों से भिन्न हैं, टिप्पणों में संकेत कर दिया गया है जब कि इनकी वाक्य-रचना का सविस्तार निरूपण किया गया है क्योंकि इस प्रकार वेदों की छन्दोबद्ध ऋचाओं की अपेक्षा वाक्य-विन्यास ठीक ढंग से समझ में आ जाता है।

२. वैदिक ऋचाओं की रचना भारत में लेखनकला के प्रादुर्भाव से, जोकि ६०० ई० पू० से बहुत पहले शायद ही हुआ हो, शताब्दियों पूर्व हुई होगी। सम्भवतः उस घटना के बहुत समय बाद तक भी वाचिक परम्परा के द्वारा उन्हें हस्तान्तरित किया जाता रहा जो कि पद्धति आज तक भी चली आई है। इस परम्परा के *अतिरिक्त संहिता-ग्रन्थ हस्तलिखित रूप में भी सुरक्षित रखे गये।* भारत की प्रतिकूल जलवायु के कारण इन हस्तलिखित ग्रन्थों में प्राचीनतम भी शायद ही पाँच शताब्दी पूर्व का हो। यह निर्णय करने के लिए कि अधिक से अधिक कितने समय पूर्व इनको लिपिबद्ध किया गया और क्या लेखन-कला की सहायता से ऋग्वेद की ऋचाओं का संहिता-पाठ एवं पद-पाठ इन रूपों में सम्पादन किया गया, प्रमाण अपर्याप्त प्रतीत होते हैं। परन्तु यह तो सर्वथा विचारातीत है कि ब्राह्मणग्रन्थों जैसे विशालकाय ग्रन्थ, और इनमें भी विशेषकर शतपथब्राह्मण, बिना इस सहायता के रचे एवं सुरक्षित रखे जा सके।[1]

वैदिक भाषा की ध्वनियाँ—कुल मिला कर (वैदिक भाषा में) बावन ध्वनियाँ हैं जिनमें तेरह स्वर हैं और उन्तालीस व्यञ्जन।

वे निम्नलिखित हैं—

(क) नौ साधारण स्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ।

---

१. वेदों का मूल पाठ ऋग्वेद और तैत्तिरीयसंहिता के आफ्रेश्तकृत रोमनलिपिबद्ध संस्करणों के सिवाय सदैव देवनागरीलिपि में मुद्रित किया जाता है। इस देवनागरी का सविस्तर वर्णन मेरे प्रारम्भिक छात्रों के उपयोगी संस्कृत व्याकरण (Sanskrit Grammar for Beginners) में किया जा चुका है। इसलिए वहाँ कही हुई बात को यहाँ दोहराना अनावश्यक है। यहाँ पर वैदिक भाषा की ध्वनियों का संक्षिप्त वर्णन ही पर्याप्त रहेगा।

चार सन्ध्यक्षर—ए, ओ, ऐ, औ।

(ख) बाईस स्पर्श, जिन्हें पाँच वर्गों में बाँटा गया है। प्रत्येक वर्ग का एक अपना अनुनासिक है। कुल मिलाकर यह सत्ताईस वर्णों का एक समुदाय है।

(अ) पाँच कण्ठ्य—(पञ्चकण्ठ्य) : क्, ख्, ग्, घ्, ङ।

(आ) पाँच तालव्य—च्, छ्, ज्, झ्[1], ञ्।

(इ) सात मूर्धन्य[2]—ट्, ठ्, ड्, और ळ्,[3] ढ्, और ळ्ह्[3], ण।

(ई) पाँच दन्त्य—त्, थ्, द्, ध्, न्।

(उ) पाँच ओष्ठ्य—प्, फ्, ब्, भ्, म्।

(ग) चार अन्तःस्थ—य् (तालव्य), र् (मूर्धन्य), ल् (दन्त्य), व (ओष्ठ्य)।

(घ) तीन ऊष्म—श् (तालव्य), ष् (मूर्धन्य), स् (दन्त्य)।

(ङ) एक महाप्राण—ह्।

(च) एक शुद्ध नासिका-ध्वनि—जिसे अनुस्वार (ं) कहा जाता है (अनुस्वार=स्वर के बाद)

(छ) तीन अघोष ऊष्म—विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय।

४. (क) साधारण स्वर :

अ सामान्यतया एक मूल ह्रस्व स्वर (भारो० अँ, एँ, ओँ) का प्रतिनिधित्व करता है पर साथ ही साथ यह बहुत बार एक मूल स्वरोन्मुख अनुनासिक का

---

१. यह ध्वनि अति विरल है। ऋग्वेद में यह केवल एक बार पाई गई है और अथर्ववेद में तो इसका सर्वथा अभाव है।

२. यह स्पर्शों की अति विरलतया उपलभ्यमान श्रेणी है। इसका प्रयोग शायद ही तालव्यों जितना भी प्रचुर हो।

३. ऋग्वेद में स्वरों के बीच आने पर ड् और ढ् के स्थान पर ये दो ध्वनियाँ आ जाती हैं। उदाहरणार्थ—'ईळे' (प्रत्युदाहरण—ईड्य), मीळ्हुषे (प्रत्युदाहरण-मीढ्वान्)।

स्थानापन्न भी होता है जोकि अनुदात्त अन और अम् के अपकृष्ट रूप का प्रतिनिधित्व करता है जैसेकि सत्+आ, दूसरा रूप सन्त्-अम्, *होना*, ग-त्त *गया*, दूसरा रूप अ-गम्-अत् चला गया है।

आ एक साधारण दीर्घ स्वर (भारो० आँ, एँ, ओँ) और मातर् (लैटिन मातेर्) *माता*, आसम्=अ-अस्-अम्, *मैं था* का प्रतिनिधित्व करता है। बहुत बार यह अनुदात्त अक्षर अन् का प्रतिनिधित्व भी करता है जैसे *खोदना* इस अर्थ की खन् धातु से बना रूप खार्त=*खोदा गया*।

इ साधारण रूप से एक मूल स्वर है। उदाहरण के रूप में—दिवि (ग्रीक दिवि) स्वर्ग में। बहुत बार यह ए और य की निर्बल श्रेणी के रूप का भी होता है जैसे विद्म (ग्रीक>हिद्मेन्) *हम जानते हैं*; दूसरा रूप वेद (ओइद) *मैं जानता हूँ*। नविष्ठ *नवीनतम*; दूसरा रूप नव्यस् *नवीनतर*। बहुत बार यह धात्वाकार की निम्न श्रेणी का प्रतिनिधित्व भी करता है। यथा शिष्टं *शिक्षित*, दूसरा रूप, शास्ति *सिखाता है*।

ई एक मूल स्वर है जैसे जीवं, *जीवित*। पर यह बहुत बार या तो या की निम्न श्रेणी का प्रतिनिधित्व भी करता है, जैसे—अशीमहि, *हम प्राप्त करेंगे*; दूसरा रूप अश्याम्, *मैं प्राप्त करूँगा*; या एकादेश का, जैसे—ईषु र्, वे *द्रुतगति से चले गये हैं* (=इ-इष्-उर, इष् धातु का लिट् में प्रथम पुरुष, बहुवचन का रूप) मतीं *विचारपूर्वक* (=मतिआ)।

उ एक मूल स्वर है; उदाहरण के रूप में मधु (ग्रीक मेथु) *शब्द*: यह ओ और व् की निम्न श्रेणी (अपकर्ष गति) भी होता है। जैसे युगं—(नपुं०) *जुआ*; दूसरा रूप यो ग्-अ (पुं०) *जोतना*। सुप्तं *सोया हुआ*; दूसरा रूप स्वप्न (पुं०) *निद्रा*।

ऊ एक मौलिक स्वर है। उदाहरण के रूप में भ्रू ं (होध्रु स्) स्त्री० *भवें*। यह औ और वा की निम्न्न श्रेणी भी है। जैसे धूर्त, *हिलाया गया*, दूसरा रूप धौर्तरी (स्त्री०) *हिलाना*; सूद् *मीठा बनाना*, दूसरा रूप स्वाद् *आस्वाद लेना*। यह प्रायः एकादेश का प्रतिनिधित्व करता है। उदाहरण के

रूप में—अव्-उर्=उ-उव्-उर् वे बोल चुके हैं, (वच् का लिट्, प्र० पु० बहु० का रूप); बाहू, दो बाहें=बाहु-आ।

ऋ र् का ही स्वरीय रूप है (अर् और र का निम्न श्रेणी-रूप होने के कारण)। यथा कृतं, दूसरा रूप च-कर, *किया गया*; गृभीतं *पकड़ा गया*, दूसरा रूप ग्रभ पुं० पकड़ना।

ॠ अरन्त शब्दों के पुंलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग में द्वितीया और षष्ठी बहुवचन में पाया जाता है (जहाँ कि यह दीर्घीभूत निम्नश्रेणी ही है)। यथा—पितॄन्; मातॄन्; पितॄणाम्; स्वसॄणाम्।

ऌ अल् की निम्नश्रेणी होने के कारण ल् का ही स्वरीय रूप है। यह क्लृप्, (कल्प्, *व्यवस्था से होना*) धातु के कतिपय रूपों में और उससे बने शब्दों में पाया जाता है: चाक्लृप्रे (लिट् प्र० पु० बहु०) चीक्लृपाति (लुङ्-लेट्, प्र० पु०, एक०), क्लृप्ति (वा० सं०) स्त्री० *व्यवस्था*। इनके साथ ही साथ प्रयुक्त होने वाले अन्य रूप हैं कल्पस्व (आत्मने० लोट् म० पु० एक०); कल्प पुं० *पुण्य कार्य*।

(ख) सन्ध्यक्षर:

ए और ओ मूलभूत वास्तविक सन्ध्यक्षर ऐ (अॅइ) और औ (अॅउ) के ही स्थानापन्न हैं। वे या तो (१) निम्नश्रेणी के इ और उ से मिलती-जुलती उच्च श्रेणी का प्रतिनिधित्व करते हैं, यथा सेचति *सींचता है*; दूसरा रूप, सिक्तं *सींचा गया*। उपभोगार्थक भुज् धातु के लुङ का रूप भोजम्, दूसरा रूप भुजम्, या (२) अ आ की इ ई और उ ऊ के साथ सन्धि के परिणाम हैं। यथा एन्द्र=आ इन्द्र; ओ चित्=आ उ चित्, पदे=पदई (नपुं० द्वि०) दो *कदम*; भवेत=भवईत (विधिलिङ् प्र० पु० एक०) *हो सकता है*; मघोन् (=मघ उन्) जो कि उदारार्थक मघवन् की निर्बल प्रकृति है; (३) कतिपय शब्दों में द्, ध्, और ह् से पूर्व ए अज़् का ही स्थानापन्न होता है, सत्तार्थक अस् का लोट् म० पु० एक० का रूप एधि—*होओ*; अन्य रूप अस्ति; विभक्तियों के भ् से और गौण प्रत्ययों के य् और व् से पूर्व ओ अज़् का स्थानापन्न होता

है यथा द्वेषोभिः घृणार्थक नामपद द्वेषस् का तृतीया बहु० का रूप; दुवोर्य् देना चाहता हुआ, दूसरा रूप दुवस्य्); संहोवन् *अतिशक्तिशाली*, दूसरा रूप संहस्वन्त् ।

व्युत्पत्ति के आधार पर ऐ और औ आ इ और आ उ का प्रतिनिधित्व करते हैं जैसा कि सन्धि में उनके रूप के आय् और आव् होने से पता चलता है । गावस्, *गाय का*, दूसरा रूप गौः; अ की ए (=अइ) और ओ (=अउ) के साथ क्रमशः ऐ और औ इस सन्धि के होने के कारण भी यही बात सिद्ध होती है ।

५. अपिश्रुति—कृदन्तों एवञ्च क्रिया और नामरूपों में साधारण स्वर और पूर्ण-अक्षर एक दूसरे का स्थान ग्रहण करते देखे जाते हैं। यदि वे ह्रस्व हों तो दीर्घ स्वरों का स्थान भी ग्रहण कर लेते हैं। यह परिवर्तन स्वर के परिवर्तन पर निर्भर है । सम्पूर्ण अथवा दीर्घ अक्षरों में स्वर के तदवस्थ रहने पर किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता, पर वही स्वर के हट जाने पर साधारण अथवा ह्रस्व स्वर में परिवर्तित कर दिया जाता है। इस प्रकार का स्वरविपर्यय अपिश्रुति कहलाता है। इस प्रकार के श्रेणीय बन्ध के पाँच क्रम पाये जा सकते हैं ।

(क) *गुणश्रेणियाँ*

इनमें उच्चश्रेणी के उदात्त अक्षर ए, ओ, अर्, अल्—ये अक्षर जो कि मूलभूत स्थिति-रूप हैं और जिन्हें भारतीय वैयाकरणों ने गुण संज्ञा दी है निम्नश्रेणी के अनुदात्त इ, उ, ऋ, लृ इन अक्षरों के रूप में परिवर्तित होते देखे जाते हैं। गुण अक्षरों के साथ अन्य अक्षर ऐ, औ और आर् भी पाये जाते हैं, आल् नहीं पाया जाता, यद्यपि इनका प्रयोग उतनी बार उपलब्ध नहीं होता जितनी बार कि उन गुण अक्षरों का जिन्हें कि उन्हीं आचार्यों ने वृद्धि संज्ञा दी है और जिन्हें कि गुण का दीर्घीभूत रूप ही माना जा सकता है। इनके उदाहरण हैं—दिदेश—*बताया* ; दिष्ट *बताया गया* ; एमि *मैं जाता हूँ* ; इमः हम

जाते हैं ; आप्नो'मि मैं प्राप्त करता हूँ ; आप्नुर्मः हम प्राप्त करते हैं ; वर्धाय बढ़ाना ; वृधाय, बढ़ाना ।

(अ) गुण और वृद्धि का निम्न श्रेणी का रूप—ई, ऊ, इर्, ईर्, उर्, ऊर् भी हो सकता है। उदाहरण के रूप में—विर्भय मुझे डर लगा और विर्भाय वह डरा; भीत डरा हुआ, जुहाव उसने आवाहन किया; हूत आवाहन किया गया : ततार उसने पार किया : तिरते पार करता है और तीर्ण पार किया गया ।

(ख) *सम्प्रसारण श्रेणियाँ*

इनमें उच्चश्रेणी के सस्वर अक्षर य, व एवञ्च ए, ओ और अर् (जोकि इस गुण-स्थिति से मिलते-जुलते हैं) स्वर-रहित निम्नश्रेणी के स्वर इ, उ और ऋ का रूप ग्रहण करते देखे जाते हैं। यथा इयज मैंने *यज्ञ किया है ;* ईजे *यज्ञ किया गया ;* वष्टि *वह चाहता है ;* उश्मसि *हम चाहते हैं ;* जग्रह मैंने पकड़ा *है ;* जगृहुः उन्होंने पकड़ा *है ।*

(अ) इसी प्रकार या, वा और रा वे दीर्घ अक्षर ई, ऊ, इर् या ईर् में परिवर्तित कर दिये जाते हैं। यथा ज्या स्त्री० शक्ति ; जीयते पराजित किया जाता है; प्रवृांत् कहेगा : प्रुवीत कहेगा, स्वादु मधुर ; सूदयति मधुर बनाता है; द्राघीयस् अधिक लम्बा : दीर्घ लम्बा ।

(ग) *अ और आ श्रेणियाँ*

१. निम्नश्रेणी की दशा में अ का स्वभावतः लोप हो जाना चाहिए पर यह नियमेन तदवस्थ ही रहता है। कारण, इसके लोप से ऐसे शब्द बन जायेंगे जिन्हें उच्चारण करना या तो सम्भव न होगा या वे अप्रचलित होंगे। यथा अस्ति है, सन्ति वे हैं ; जगम मैं गया, जग्मुः *वे गये ;* पद्यते *वह जाता है,* पिस्पर्न दृढ़ता *से खड़ा हुआ ;* हन्ति *मारता है;* घ्नन्ति वे *मारते हैं ।*

२. वृद्धि स्वर आ की निम्नश्रेणी या तो अ होती है, या सर्वथा लोप ही। यथा पाद् पुं० पाँव ; पदा पाँव से ; दधाति *रखता है ;* दध्मसि *हम रखते*

हैं ; पुनीति पवित्र करता है : पुनन्ति वे पवित्र करते हैं ; ददाति देता है : देवत्त देवताओं के द्वारा दिया गया।

३. जब आ गुणस्थिति का प्रतिनिधित्व करता है तो इसकी निम्नश्रेणी इ होती है। यथा स्थाः तुम खड़े हुए : स्थित खड़ा हुआ।

(अ) कभी-कभी सादृश्यवशात् यह (दुर्बलतम) ई भी होती है। यथा— पुनाति पवित्र करता है : पुनीहि पवित्र करो। कभी-कभी, विशेषकर तब जब कि निम्न श्रेणी में अक्षर पर गौण स्वर रहता है, यह अ भी होती है। यथा— गाहते अवगाहन करता है : गहन नपुं० गहराई।

(ब) ऐ और औ श्रेणियाँ

ऐ की निम्नश्रेणी (जो कि स्वरों से पूर्व आय् और व्यञ्जनों से पूर्व आ रूप में पाया जाता है) ई है यथा गायति गाता है, गाथ पुं० गाना : गीत गाया गया।

औ की (जोकि वा का समरूप है: ५ (ब) अ) निम्नश्रेणी ऊ है। यथा, धावति धोता है : धूत धोया गया, धौतरी स्त्री० हिलाना : धूति पुं० हिलाने वाला, धूम पुं० धुआँ।

(स) ई, ऊ और ॠ का पुनः ह्रस्वीकरण

ई, ऊ, इर्, ईर्, उर् और ऊर् (=ॠ) इन निम्नश्रेणी के वर्णों को पुनः ह्रस्व कर इ, उ और ऋ रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है। इसमें कारण है समासों, साभ्यास शब्द-रूपों एवम् सम्बोधनों में स्वर का अपने स्वाभाविक स्थान से हट जाना। इसके उदाहरण हैं : आहुति आवाहन :—हूति बुलाना, दीदिवि चमकता हुआ : दीदिहि प्रज्वलित करो; चर्कृषे तुम बार-बार स्मरण करते हो : कीर्ति स्त्री० प्रशंसा (कृ धातु से) : पिपृतम्; प्र० पु० द्वि० : पूर्त, पूर्ण (√पृ) ; देवि सम्बो० : देवी प्र०; श्वश्रु सम्बो०. श्वश्रूः प्र० सास।

व्यञ्जन

६. कण्ठ्य स्पर्श व्यञ्जन भारोपीय कण्ठ्य-वर्णों (अर्थात् क् ध्वनियों का) प्रतिनिधित्व करते हैं। क् इन वर्णों में से पूर्व का तालव्य ध्वनिपरिवर्तन के

कारण नियमेन कण्ठ्य रूप को अपना लेता है। यथा, दृश् *देखना* : लुङ् अदृक्षत; वच् *बोलना* : लृट् वक्ष्यति।

७. तालव्यों की दो श्रेणियाँ हैं: पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती।

(क) छ् और श् और कुछ अंश में ज् और ह् आदि तालव्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

१. महाप्राण छ् का जन्म, स् और महाप्राण तालव्य स्पर्श, इन दोनों ध्वनियों के सम्मिश्रण से हुआ था। यथा, छिद् *काटना*=ग्रीक स्खिद्; परन्तु छ् इस अर्वाचीन प्रत्यय में ऐसा प्रतीत होता है कि यह स् के साथ अल्पप्राण तालव्य स्पर्श का प्रतिनिधित्व करता है। यथा गच्छामि=ग्रीक वॅस्को।

२. ऊष्म श् भारोपीय तालव्य का प्रतिनिधित्व करता है (ऐसा प्रतीत होता है कि यह विभाषा-भेद के कारण महाप्राण संघर्षी की तरह अथवा स्पर्श की तरह उच्चारित किया जाता था)। यथा शतम् १००=लै० कॅंटुम्, ग्रीक हेकतोॅन्।

३. पुराना तालव्य ज् (जो कि मूल में श् का मृदु अथवा संघोष रूप था=भारतीय-ईरानी z´ और फ़ारसी ज़्) अन्त में अथवा स्पर्शों से पूर्व मूर्धन्य रूप में पाये जाने के कारण पहचान में आ सकता है। यथा, यजति *यज्ञ करता है*; अन्य रूप अयाड् लुङ्, *यज्ञ किया है*; यष्टृ *यज्ञ करने वाला*, इष्ट *यज्ञ किया*।

४. श्वासरूप ह् प्राचीन तालव्य महाप्राण भारतीय-ईरानी z´h का प्रतिनिधित्व करता है। इसकी प्राचीन तालव्यता की पहिचान हमें इससे हो जाती है कि यह अन्त में अथवा त् से पूर्व मूर्धन्यरूप में परिवर्तित हो जाता है। यथा वहति *ले जाता है*। अन्य प्रयोग, अवाट् *ले गया है*।

(ख) नये तालव्य हैं च् और कुछ अंश में ज् और ह्। कण्ठ्यों (पश्चकण्ठ्यों) से इनका उद्भव हुआ है। बहुत-सी धातुओं और उनसे बने रूपों में कण्ठ्य रूपों में इनका परिवर्तन हो जाता है। यथा, शोॅचति *चमकता है*: अन्य रूप: शोक पुं॰ *अर्चि*, शुक्वन् *अर्चिष्मान्*, शुक्र *चमकता हुआ*। युजे

में जोतता हूँ ; अन्य रूप : युगं जुआ, योग पुं० जोतना, युक्त जुता हुआ, युग्वन् जोतते हुए । इसी प्रकार द्रुह् का एक रूप है द्रुह्रोह हानि पहुँचाई और दूसरा रूप है द्रोघ हानिकारक ।

(अ) मूल कण्ठ्यव्यञ्जनों को अव्यवहित अनन्तर आने वाली तालव्य इ, ई और य् ध्वनियों के कारण तालव्यरूप में परिवर्तित कर दिया जाता है । यथा—संधानार्थक चित् धातु से बना चित्त, इसी धातु का एक अन्य रूप-केत; ओजीयस् दृढ़ता । अन्यरूप, उग्र दृढ़; द्रुह्यु; अन्य रूप, द्रोघ हानिकारक ।

मूर्धन्य व्यञ्जन सर्वथा उत्तरकालीन हैं । ये विशेषतः भारत की देन हैं । भारतीय-ईरानी काल में इनका ज्ञान न था । उनका उद्भव आदिम जातियों, विशेषकर द्रविड़ों, के प्रभाव के कारण हुआ । ऋग्वेद तक में भी उनका प्रयोग विरल ही है । वहां वे पद के मध्य में और अन्त में ही पाये जाते हैं, न कि आदि में । सामान्यतः उनका उद्भव दन्त्य व्यञ्जनों के अव्यवहित अनन्तर मूर्धन्य षकार (मूल में स्, श्, ज् और ह्) अथवा रेफध्वनियों (र्, ऋ और ॠ) के आ जाने के कारण हुआ है । उदाहरण के रूप में—दुष्टर (=दुस्तर) अजेय; वष्टि (=वश्ति) चाहता है; मृष्ट (=मृज् त) साफ किया गया; नीड (=निज् द) घोंसला; दूढी (=दुज् धि) अननुकूल; दृढ (=दृह् त); नृणाम् (=नृ नाम्) पुरुषों का ।

पदान्त मूर्धन्य स्पर्श प्राचीन तालव्य ज्, श् और ह् का प्रतिनिधित्व करते हैं । यथा राट् (=राज्) पुं० शासक, प्र० एक० ; विपाट् (=विपाश्) नदी-विशेष की संज्ञा ; षाट् (=साह्) अभिभव करते हुए ; अवाट् (=अवाह् त्) पहुँचा दिया है (वह् धातु का प्र० पु० एक० का रूप) ।

९. (क) दन्त्य व्यञ्जन मूल ध्वनियां हैं जोकि स्वसमकक्ष भारोपीय दन्त्य ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करती हैं । पर त् और द् ये स्पर्श व्यञ्जन कभी-कभी क्रमशः स् और भ् से पूर्व मूल स् का स्थान भी ग्रहण कर लेते हैं । यथा अवात्सीः, (अथर्व०) निवासार्थक वस् धातु का लुङ् का रूप; माद्भिः, मास् का तृ० बहु० का रूप ।

(ज) ओष्ठ्य व्यञ्जन नियमेन स्वनमकक्ष भारोपीय ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, परन्तु ब् को बहुत ही कम अपनाया गया है। हाँ, जिन शब्दों में यह पाया जाता है उनकी संख्या अनेक विधियों से बहुत बढ़ा दी गई है। इसीलिए सन्धि में यह बहुत बार प् और भ् का स्थान ले लेता है और द्वित्व में भ् का। यथा पद् (*स्थान*) अन्य रूप पिब्दर्न (*दृढ*); रभन्ते. वे *लेते हैं*; अन्य रूप रब्ध *किया गया*। इसी तरह सत्तार्थक भू का (लिट् का) रूप है बभूव (*हुआ*)। ब् वाले बहुत से अन्य शब्द भी हैं जिनका उद्भव विदेशी प्रतीत होता है।

१०. अनुनासिक—पाँच वर्गों के अपने-अपने अनुनासिकों में से केवल दन्त्य न् और ओष्ठ्य म् ही ऐसे हैं जोकि स्वतन्त्र रूप से एवञ्च पद के आदि, मध्य या अन्त में पाये जाते हैं। यथा मातृ मां; नामन् *नाम*। शेष तीन सदैव आसपास की ध्वनि पर निर्भर रहते हैं। कण्ठ्य ङ, तालव्य ञ् और मूर्धन्य ण् कभी भी (पद के) आदि में नहीं पाये जाते और ञ् और ण् तो अन्त में भी नहीं। कण्ठ्य ङ अन्त में भी तभी पाया जाता है जबकि उत्तरवर्ती क् और ग् का लोप हो चुका हो जैसा कि उन प्रकृतियों से पता चलता है जिनके अन्त में ञ्च् और ञ्ज् आते हैं अथवा जिनका समास दृश् के साथ होता है। यथा—प्रत्यङ, प्रत्यञ्च् (*सामने स्थित*) का प्र० एक० का रूप; कीदृङ, कीदृश् (*किस प्रकार का*) का प्र० एक० का रूप।

(क) पद के मध्य में ङ नियमित रूप से कण्ठ्य व्यञ्जनों से पूर्व ही आता है। यथा अङ्कु पुं० *काँटा*; अङ्ग्ध *आलिंगन* करो; अङ्ग नपुं० *अवयव*; जङ्घा स्त्री० *टाँग*। अन्य व्यञ्जनों से पूर्व यह तभी आता है जब क् और ग् का लोप हो चुका हो। उदाहरण स्वरूप युङ्ग्धि के स्थान पर युङ्धि (=युञ्ज् धि), *जुड़ना* इस अर्थ की युज् धातु का लोट् म० पु० एक० का रूप।

(ख) तालव्य अनुनासिक (ञ्) च् या ज् से पूर्व या पश्चात्, एवञ्च, छ् से पूर्व पाया जाता है। यथा—पञ्च *पाँच*, यज्ञ पुं०, वाञ्छन्तु *उन्हें चाहने दो*।

(ग) मूर्धन्य ण् पद के मध्य में ही पाया जाता है, या तो मूर्धन्य अल्प प्राण व्यञ्जनों से पूर्व या ऋ, र् और ष् के बाद आने वाले दन्त्य न् के स्थान पर (ये ऋ, र् और ष् या तो न् से अव्यवहितपूर्व हों या इनमें और न् में कतिपय वर्णों [अट्, कु, पु, आङ् और नुम्] का व्यवधान हो। यथा—दण्ड पुं० डण्डा, नृणाम् *आदमियों का*; वर्ण पुं० *रंग*; उष्ण *गर्म*; क्रमण नपुं० कदम।

(घ) अनुनासिकों में दन्त्य न् का प्रयोग सबसे अधिक है—म् से भी अधिक। शेष तीन अनुनासिकों के कुल मिलाकर जितने प्रयोग हैं, उनसे तीन गुना इस अकेले न् के ही हैं। सामान्यतया यह भारोपीय न् का ही प्रतिनिधित्व करता है पर कतिपय प्रत्ययों से पूर्व दन्त्य द् या त् और ओष्ठ्य म् का स्थान भी ले लेता है। न इस प्रत्यय से पूर्व यह द् का आदेश होता है और तद्धित प्रत्ययों से पूर्व द् या त् का। यथा अन्न नपुं० (अद् *खाना*), विद्युन्मन्त् चमकते हुए (विद्युत् स्त्री० *बिजली*); मृन्मय *मिट्टी का* (मृद् स्त्री० मिट्टी)। त् से पूर्व, और प्रत्ययों के म् या व् अथ च पदान्त में आने के कारण लुप्त हुए प्रत्ययों के स् या त् से पूर्व म् के स्थान पर न् हो जाता है। यथा—यन्त्र नपुं० बागडोर (यम् *नियन्त्रित करना*); अगन्म, गन्वहि (गमनार्थक गम् धातु का लुङ का रूप); अगन् (अगम् त्, अगम् स्) गमनार्थक गम् धातु के प्र० और म० पु० एक० के रूप; अयान् (=अयम् स् त्) नियमनार्थक यम् का लुङ का प्र० पु० एक० का रूप; दन्, दम् (घर) का षष्ठी विभक्ति का रूप (=दम् स्)।

(ङ) ओष्ठ्य म् सामान्यतः भारोपीय म् का प्रतिनिधित्व करता है; यथा नामन्, लै० नोमेन्। यह कहीं अधिक प्रचुरतया प्रयोग में आने वाली ओष्ठ्य ध्वनि है जिसके प्रयोगों की संख्या शेष चार ओष्ठ्य स्पर्शों के कुल मिलाकर जितने प्रयोग हैं उन सब से अधिक है।

(च) शुद्ध *अनुनासिक*

शुद्ध अनुनासिक, वर्गों के पाँचों अनुनासिकों से भिन्न है। इसे, अनुस्वार और

अनुनासिक इन भिन्न-भिन्न शब्दों से कहा जाता है। यह अनुस्वार और अनुनासिक सदैव स्वर के बाद आते हैं और इनकी उत्पत्ति किसी भी व्यञ्जन के साथ सम्पर्क न होने के कारण श्वास के नासिकाद्वार से निकलने से होती है। अनुस्वार प्रायः व्यंजनों से पूर्व बिन्दु के रूप में लिखा जाता है जबकि अनुनासिक स्वरों से पूर्व ँ इस रूप में। अनुस्वार का समुचित प्रयोग स्पर्शों से पूर्व न होकर ऊष्मों और ह् से पूर्व होता है (जिनका अपने वर्ग का कोई अनुनासिक नहीं है)। अन्त में आने पर अनुस्वार प्रायः म् का और कभी कभी न् का प्रतिनिधित्व करता है (६६ ग २)। मध्य में आने पर अनुस्वार नियमित रूप से ऊष्मों और ह् से पूर्व पाया जाता है। यथा—वंश पुं० बाँस; हवींषि *आहुतियाँ*; मांस नपुं०, सिंह पुं० *शेर*। यह प्रायः स् से पूर्व पाया जाता है जहाँ कि यह सदैव म् या न् का प्रतिनिधित्व करता है। यथा मंसते विचारार्थक मन् धातु का लेट्-लुङ् का प्र० पु० एक० का रूप; पिंषन्ति, अन्य रूप, पिनष्टि, पीसना इस अर्थ की पिष् धातु से बने रूप; क्रंस्यते, पाद-विहरणार्थक क्रम् धातु का लृट् का रूप। जब अनुस्वार श् या ह् (=भारोपीय कण्ठ्य अथवा तालव्य) से पूर्व आता है तो यह तत्तद्वर्गीय अनुनासिक का प्रतिनिधित्व करता है।

११. अन्तःस्थ—य्, र्, ल्, और व् इन अन्तःस्थों की यह विशेषता है कि इनमें से प्रत्येक का अपना-अपना एक स्वर होता है जो कि इनका स्व-सदृश एक रूप होता है; अर्थात् क्रमशः इ, ऋ, ऌ और उ। उन्हें प्रातिशाख्यों ने अन्तःस्थ कहा जाता है चूंकि वे व्यञ्जन और स्वर की बीच की स्थिति हैं।

(क) स्वयं ऋग्वेद में ही अन्य स्वरों से पूर्व इ के स्थान पर निरन्तर अन्तःस्थ य् लिखा जाता है। व्युत्पत्त्यौचित्य के बिना भी यह कभी-कभी पाया जाता है विशेषकर अच्-प्रत्ययों से पूर्व और आकारान्त धातुओं के पश्चात्; यथा—दायि, दानार्थक दा धातु का कर्मवाच्य लुङ् का प्र० पु० एक० का रूप। अन्यथा यह या तो भारोपीय इ (=ग्रीक Spiritus asper=काकल से उच्चरित एक विशेष अघोष संघर्षी ध्वनि) या सघोष महाप्राण तालव्य

संघर्षी य् (ग्रीक ज़्) पर आधारित होता है। यथा—एक ओर रूप हैं **यस्** (ग्रीक हो'स्) ; **यज्**—*यज्ञ करना* (ग्रीक ह'गिओस्) ; दूसरी ओर हैं **यस्** *उबालना* (ग्रीक ज़ें'ओ) ; **युज्** *जोतना* (ग्रीक ज़ुग्)। सम्भवतः उत्पत्ति के इस भेद के कारण ही *उबालना* इस अर्थ की **यस्** धातु और नियमनार्थक **यम्** धातु के अभ्यास में य् पाया जाता है और यज्ञार्थक **यज्** धातु के अभ्यास में इ।

(ख) स्वयं वेद में ही अन्य स्वरों से पूर्व उ के स्थान पर निरन्तर अन्तःस्थ व् लिखा जाता है। अन्यथा यह सदैव भारोपीय व् अर्थात् व्, जो उ के रूप में परिवर्तित हो जाता है, पर आधारित है, पर कभी भी उस भारोपीय महाप्राण व् पर नहीं जो कि उ रूप में परिणत नहीं हो सकता।

(ग) र् यह अन्तःस्थ सामान्यतः भारोपीय र् से मिलता-जुलता है पर प्रायः भारतीय-ईरानी र् से भी इसका साम्य है। चूँकि पुरानी ईरानी में दोनों के स्थान पर नित्य र् ही मिलता है इससे ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय-ईरानी काल में उच्चारण-दोष के कारण र् को ड् की तरह उच्चारण करने की प्रवृत्ति हो गई थी। वेद में र् और ल् के परस्पर सम्बन्ध का कारण ढूँढ़ने के लिए तीन विभाषाओं के सम्मिश्रण की कल्पना आवश्यक प्रतीत होती है: एक तो वह जिसमें भारोपीय र् और ल् पृथक् रखे गये ; दूसरी वह जिसमें भारोपीय ल् र् बन गया (वैदिक विभाषा); और तीसरी वह जिसमें सर्वत्र भारोपीय र् ल् बन गया (उत्तर-मागधी)।

जब भकारादि विभक्तियों से पूर्व इसन्त और उसन्त प्रकृतियों के अन्त में ध्वनिपरिवर्तन से बने ड् (=ज़्) के स्थान पर र् हो जाता है तो उस र् को आदेशरकार या द्वितीयावस्थापन्न कहा जाता है। यथा **हविर्भिः** और **वपुर्भिः**। यह आदेश बाह्य सन्धि का परिणाम है जहाँ कि इस् और उस् इर् और उर् बन जाते हैं।

(अ) जब अर् अथवा आर् के बाद ष्, या ह, एवं च कोई व्यंजन आये तो र् का आद्यन्तविपर्यय हो जाता है। यह दृश् देखना और सृज् भेजना इन धातुओं के रूपों में पाया जाता है। यथा **द्रष्टुम्** *देखने के लिए* ; **सं'सृष्ट्** *मठभेड़ करने वाला*। इसके अतिरिक्त ब्रह्मन् पुं० याजक; ब्रह्मन् नपुं० भक्ति; बर्हिस् यज्ञ का

आसन (वृह्, अथवा वर्ह्, धातु से, जिसका अर्थ है बड़ा करना) और कुछ अन्य शब्दों में भी ऐसा ही पाया जाता है।

(घ) अन्तःस्थ ल् भारोपीय ल् का एवञ्च कतिपय स्थलों में भारोपीय र् का प्रतिनिधित्व करता है। स्वभाषा-परिवार की किसी भी अन्य भाषा की अपेक्षा इसका प्रयोग बहुत ही कम है सिवाय प्राचीन ईरानी के जिसमें कि इसका सर्वथा अभाव है। र् की अपेक्षा इसका प्रयोग बहुत कम है। र् ल् की अपेक्षा सात-गुना अधिक बार पाया जाता है। ऋग्वेद में ल् के प्रयोग में क्रमिक वृद्धि स्पष्ट है। उदाहरण के रूप में, दशम मण्डल में म्लुच् और लभ् इन क्रिया पदों का और लोमन् और लोहित इन नाम पदों का प्रयोग पाया जाता है जबकि इससे पूर्व के मण्डलों में इन्हीं के स्थान पर म्रुच् *(डूबना)*, रभ् *(पकड़ना)* रोमन् *(रोयें)* और रोहित *(लाल)* का प्रयोग उपलब्ध होता है। यह वर्ण ऋग्वेद के प्राचीनतम भागों की तुलना में, अर्वाचीनतम भागों में आठ गुना से भी अधिक बार पाया जाता है। अथर्ववेद में यह ऋग्वेद की अपेक्षा सात गुना अधिक बार पाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि लिपिबद्ध वैदिक विभाषा का जन्म भारतीय-ईरानी भाषा से हुआ था जिसमें कि र् के ड् की तरह के उच्चारण ने प्रत्येक ल् को हटा दिया था। परन्तु एक और भी वैदिक विभाषा रही होगी जिसमें कि भारोपीय रेफ और लकार को (एक-दूसरे से) सर्वथा पृथक् रखा गया होगा। तीसरी एक वह विभाषा होगी जिसमें सर्वत्र भारोपीय र् को ल् में बदल दिया गया। इन बाद की दो विभाषाओं से ल् अधिकाधिक मात्रा में साहित्यिक भाषा में प्रवेश पा गया होगा। ऋग्वेद के प्राचीनतम भागों में इस प्रकार के कोई क्रिया-रूप उपलब्ध नहीं होते जिनमें भारोपीय ल् सुरक्षित हो। केवल कतिपय नामपदों में ही वह पाया जाता है। यथा (ड) लोकं पुं० *अन्तरिक्ष*, श्लोक पुं० *कुलाहट* और मिश्ल *मिश्रित*।

(अ) बाद की संहिताओं में कभी-कभी ल् ड् के स्थान पर मध्य में अथवा अन्त में पाया जाता है। यथा ईले (वा० सं० काण्व)=ईडे (ऋ० ईळे); वाल् इति, (अ० वे०) तुलना कीजिये ऋ० के वळ् इत्थं। बहुत-से शब्दों में ल् का आविर्भाव सम्भवतः विदेशी प्रभाव के कारण हुआ है।

१२. सभी के सभी ऊष्म अल्पप्राण हैं। तो भी महाप्राण ऊष्मों की पूर्वसत्ता के बहुत-से संकेत उपलब्ध हो जाते हैं (देखिये ७ क ३ ; ८ ; १५, २. ट) ऊष्म पर्याप्त मात्रा में एक-दूसरे का स्थान ले लेते हैं मुख्यतया समीकरण प्रक्रिया के कारण।

(क) तालव्य ऊष्म श् भारोपीय तालव्य स्पर्श संघर्षी का प्रतिनिधित्व करता है। बाह्य सन्धि में नियमित रूप से अघोष तालव्यों से पहले दन्त्य स् का आदेश होने के साथ (यथा इन्द्रश्च) यह कादाचित्कतया समीकरण प्रक्रिया के द्वारा शब्दों के मध्य में उस ऊष्म का प्रतिनिधित्व करता है। (यथा श्वशुर (लैटिन सोकेर्) ; शश (भा० रो० कसो´) पुं० *खरगोश*। कभी-कभी यह आदेश बिना समीकरण के भी हो जाता है जैसा कि केश पुं० (*बाल*) इस शब्द में पाया जाता है। केसर (लैटिन कीज़रीज़) शब्द में ऐसा नहीं होता। संहिताओं में यह कुछ मात्रा में अन्य दो ऊष्मों के रूप को ग्रहण कर लेता है, पर यहाँ भी यह ष् की अपेक्षा स् के स्वरूप को बहुत अधिक बार ग्रहण करता देखा जाता है। स् से पूर्व तालव्य श् पद के मध्य में आने पर नियमित रूप से क् बन जाता है, कभी-कभी पदान्त में भी ऐसा ही होता है, यथा दृक्षसे आत्मनेपद का लुङ्-लेट् का म० पु० एक० का रूप और दृक् (स्) दर्शनार्थक दृश् का प्र० एक० का रूप।

(ख) मूर्धन्य ष् मूर्धन्य स्पर्शों के समान ही सर्वथा तद्भव होता है चूँकि यह मूल तालव्य मूल दन्त्य-ऊष्म का प्रतिनिधित्व करता है। मध्य में आने पर मूर्धन्य अघोष ट् ठ् से पूर्व, (जोकि स्वयं इस ष् के द्वारा दन्त्य अघोष से उत्पन्न होते हैं), यह तालव्य श् (भारतीय-ईरानी श्) और ज् (=भारतीय-ईरानी ज़् श्) अथ च संयुक्त अक्षर क्ष् का प्रतिनिधित्व करता है। उदाहरण के रूप, में *अदर्शनार्थक नश् से नष्ट यह रूप* ; *सम्मार्जनार्थक मृज् से लङ्* प्र० पु० एक० का मृष्टः यह रूप; *छीलना या काटना* इस अर्थ की तक्ष् धातु से तष्ट यह रूप। अ और आ इन स्वरों से अतिरिक्त अन्य किसी भी स्वर के बाद एवञ्च क्, र्, ष् इन व्यञ्जनों के बाद यह मध्य में नियमित रूप से और आदि में अनेक बार दन्त्य स् के आदेश के रूप में आ जाता है। यथा,

गतिनिवृत्त्यर्थक स्था ने तिष्ठति यह रूप, *निद्रार्थक* स्वप् धातु से लिट् प्र० बहु० का रूप सुषुपुर्; ऋषभ पु० *अनड्वान्*; उक्षन्, पु० *सांड*; वर्ष, नपुं० *वृष्टि* हविष्षु, *आहुतिओं में;* अनुष्टुवन्ति *वे स्तुति करते हैं;* गोषणि *पशु प्राप्त करते हुए;* दिविषन् *स्वर्ग में होना।*

कभी-कभी ष् समीकरण के फलस्वरूप दन्त्य स् का प्रतिनिधित्व करता है। यथा षष् *छः* (लै० सेक्स्); षाड् *विजयी*, अभिभवार्थक सह् का प्र० एक० का रूप।

(घ) दन्त्य स् नियमितरूप से भारोपीय स् का प्रतिनिधित्व करता है। यथा अश्वस् *घोड़ा* लै० एकुओस्; अस्ति, ग्रीक हेस्ति। सन्धि में इसके स्थान पर बहुधा तालव्य श् हो जाया करता है, पर उससे भी अधिक बार मूर्धन्य ष् हो जाता है।

१३. श्वासरूप ह् एक तद्भव ध्वनि है जो कि सामान्यतः मूल कण्ठ्य और तालव्य महाप्राण वर्णों के उत्तरार्ध का, पर कभी-कभी दन्त्य ध् और ओष्ठ्य भ् के उत्तरार्ध का प्रतिनिधित्व करती है। प्रायः यह तालव्यीभूत घ् का स्थान ग्रहण कर लेती है। इसका इस प्रकार का उद्भव एक ही धातु के रूपों में कण्ठ्य व्यञ्जनों के प्रादुर्भाव से पहचाना जा सकता है। यथा—हन्ति *मारता है*, अन्य रूप : घ्नन्ति, जघान; द्रुह्यो *हानि पहुँचाई*, अन्य रूप द्रोघ *हानिकारक।* कभी-कभी यह प्राचीन तालव्य महाप्राण व्यञ्जन (भारतीय-ईरानी ज़्ह्) का भी प्रतिनिधित्व करता है जैसा कि इसके अन्त में अथवा त् से पूर्व आने पर मूर्धन्य होने से पता चलता है। यथा वहति *ले जाता है*; अन्य रूप, अवाट् *ले गया*, ऊढ (=भारतीय-ईरानी उज़्-ढ), अन्य रूप वह्, र्त। गाहते (*डुबकी लगाता है*) में यह घ् का स्थानापन्न है जो कि एक अन्य रूप गाध नपुं० (*पार करना*) में पाया जाता है। धारणार्थक धा धातु के धित से बने हित में भी यही हुआ है। ग्रह् (*पकड़ना*) इस क्रियापद में यह भ् का प्रतिनिधित्व करता है। इस (ग्रह्) का एक अन्य रूप ग्रभ् भी पाया जाता है। ह् का उद्भव नाना प्रकार से होने के कारण इस ह् ध्वनि वाली नाना धातुओं से बने रूप-समुदायों में कुछ अंशों में अव्यवस्था पाई जाती है। इसीलिए एक
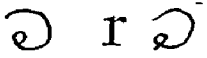
ओर तो मोहार्थक मुह्, का क्त का रूप बना मुग्ध और दूसरी ओर मूढ (अथर्व०)।

१४. अघोष संघर्षी—इस प्रकार के तीन अघोष सङ्घर्षी हैं जो कि मूलभूत अन्तिम स् या र् का प्रतिनिधित्व करते हैं। विसर्जनीय का समुचित स्थान विराम में है। जिह्वामूलीय (जो कि जिह्वा के मूल भाग से उच्चारित होता है) एक कण्ठ्य सङ्घर्षी ध्वनि है और आदि के अघोष कण्ठ्य (क्, ख्) से पूर्व इनका प्रयोग उचित है। उपध्मानीय (श्वास लेने पर) ओष्ठ्यपुट की एक संघर्षी फ् ध्वनि है और अघोष ओष्ठ्य (प् और फ्) से पूर्व पाई जाती है। विसर्जनीय इन दोनों का स्थान ले सकता है और ऋग्वेद के मुद्रित पाठ में तो सदैव लेता ही है।

१५. पुरातन उच्चारण—५०० शताब्दी ईसा-पूर्व के आसपास प्रचलित उच्चारण के विषय में हमारे पर्याप्त यथार्थ ज्ञान का आधार है विदेशी भाषाओं, विशेषकर ग्रीक, में संस्कृत शब्दों का रूपान्तर; प्राचीन वैयाकरण पाणिनि एवञ्च उनके सम्प्रदाय में विद्यमान सामग्री और इन सब से अधिक प्राचीन ध्वनि-प्रतिपादक प्रातिशाख्य ग्रन्थों के विस्तृत कथन। स्वयं ग्रन्थों की भाषा में पाये जाने वाले ध्वनि परिवर्तन रूप आन्तरिक प्रमाण एवञ्च तुलनात्मक भाषा विज्ञान के बाह्य प्रमाण हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए बाध्य करते हैं कि संहिताओं के समय का उच्चारण बहुत कुछ वही था जोकि पाणिनि के समय में पाया जाता है (यदि इसके कोई अपवाद पाये जा सकते हैं तो वे कुछेक सन्दिग्ध स्थल ही हैं)। अतः निम्नलिखित कुछेक शब्द उच्चारण के विषय में पर्याप्त रहेंगे।

१. (क) स्वर—सामान्य स्वर इ, ई, उ, ऊ, और आ का उच्चारण ठीक वैसे ही होता था जैसे कि इटालियन भाषा में। पर प्रातिशाख्यों के समय तक पहुँचते-पहुँचते अ का उच्चारण अंग्रेजी के बट् (but) के अ (u) की तरह एक अतिसंवृत उदासीन स्वर की तरह होने लगा था। यह सम्भावना इन तथ्यों पर आधारित है कि ऋग्वेद में छन्दोऽनुरोधात् ए और ओ के

बाद आने वाले अ का शायद ही कभी लोप होता है यद्यपि लिखित पाठ में लगभग ७५ प्रतिशत स्थलों में ऐसा ही पाया जाता है। जिस समय ऋचाओं की रचना हुई उस समय तक अ का उच्चारण विवृत ही था, परन्तु जब संहितापा बना तब अ का संवृत उच्चारण सामान्यरूपेण सभी द्वारा अपनाया जा चुका था।

ऋ, जिसका उच्चारण आजकल प्रायः रि की तरह किया जाता है, (एक बहुत ही पुराना उच्चारण जिसका कि पुरातन अभिलेखों और हस्तलिखित ग्रन्थों में पाये जाने वाले ऋ और रि के अभेद से पता चलता है) का उच्चारण संहिताओं में स्वरीय रेफ की तरह होता था, बहुत कुछ फ्रांसी भाषा के शब्द चेम्ब्र (Chambre) के अन्तिम खण्ड की ध्वनि की तरह। इसके विषय में ऋक्प्रातिशाख्य में कहा गया है कि इसके मध्य में र् ध्वनि रहती है। यह प्राचीन ईरानी भाषा के शब्द ईर (ә r ә) से मिलता-जुलता है।

अतिविरलतया प्रयुक्त ऌ, जिसका आजकल का उच्चारण लृ की तरह है, संहिताओं में स्वरीय ल् ही था जिसके विषय में ऋक्प्रातिशाख्य का कहना है कि यह मूल र् का प्रतिनिधित्व करने वाले ल् से मिलता-जुलता है।

(ख) ए और ओ इन सन्ध्यक्षरों का उच्चारण पहले से ही प्रातिशाख्यों के समय में सामान्य दीर्घ स्वर ए और ओ की तरह किया जाता था। संहिताओं के समय में भी यही स्थिति थी। इसका ज्ञान हमें इस तथ्य से होता है कि अ से पूर्व उनकी सन्धि अय् और अव् नहीं होती थी, एवञ्च ए और ओ के पश्चात् अ का लोप होने लगा था। परन्तु वे मूलभूत वास्तविक सन्ध्यक्षरों अइ और अउ का प्रतिनिधित्व करते हैं यह ज्ञान हमें इससे होता है कि अ के, सन्धि के द्वारा इ और उ में मिल जाने से, उनकी उत्पत्ति होती है।

ऐ और औ इन सन्ध्यक्षरों का आजकल का उच्चारण अँइ और अँउ है। इनका यही उच्चारण प्रातिशाख्यों के समय में भी था। परन्तु वे व्युत्पत्तिरूप में आइ और आउ का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसमें उनकी सन्धि प्रमाण है।

(ग) *दीर्घीभूत स्वर*—प्रत्यय के य् से पूर्व इ और उ इन स्वरों को प्राय: दीर्घ उच्चारित किया जाता था; दृष्टान्त रूप में : सूयते, *दबाया जाता है*, (√सु); जनीयन्त् *पत्नी का इच्छुक* (जनि); र् के पूर्व भी यही स्थिति थी जबकि वह हल्परक हो जैसे गीर्भिस् (प्रत्युदाहरण—गिर्-अस्) ; व् से पूर्व अ, इ और उ प्राय: दीर्घ हो जाते हैं जैसे आ+विव्+यत् *उसने घायल किया* ; (आगम है अ) ; जि+गी+वांस् *जीत लेने के बाद* (√जि) ; ऋतां+वन् *ऋत का पालन करते हुए* (ऋत); यां+वन्त्, *कितना महान्*। उत्तरवर्ती व्यञ्जन के लोप की क्षति-पूर्ति के कारण भी ये स्वर दीर्घ हो जाते हैं जैसे, गुह्+त के स्थान पर गूढ (१५, २ ट) ; छन्दोऽनुरोध के कारण भी इनका उच्चारण प्राय: दीर्घ किया जाता है; जैसे श्रुधी हवम् *हमारी प्रार्थना को सुनो*।

(घ) *स्वर-भक्ति*[1]—जब किसी व्यञ्जन का र् अथवा किसी अनुनासिक के साथ संयोग होता है तो छन्दोऽनुरोधात् बहुत बार उनके बीच एक अति ह्रस्व स्वर[2] का उच्चारण आवश्यक हो जाता है। जैसे इन्द्र=इन्द् *अ* र; यज्ञ=यज् *अ* न ; ग्ना=ग् *अ* ना स्त्री।

(ङ) *स्वर-लोप*—आदि का अ ही एक ऐसा स्वर है जिसका लोप पाया जाता है। इसके अपवाद बहुत ही कम हैं। सन्धि में ए और ओ के बाद इसका लोप ऋग्वेद के १ प्रतिशत स्थलों में, अथर्ववेद के २० प्रतिशत स्थलों में एवञ्च यजुर्वेद के पद्यस्थलों में पाया जाता है। कुछेक स्थलों में ही आदि अकार का लोप प्रागैतिहासिक है। जैसे, वि *पक्षी* (लै० अविस्); सन्ति, *वे हैं* (लैटिन सुन्त्)।

(च) *सन्ध्यभाव अथवा प्रकृति-भाव*—संहिताओं के लिपिबद्ध पाठ में सन्धि में प्रकृतिभाव पाया जाता है

---

१. प्रातिशाख्यों में प्रयुक्त एक पारिभाषिक शब्द जिसका अर्थ है स्वर-भाग।

२. जिसकी लम्बाई प्रातिशाख्यों में $\frac{1}{2}$, $\frac{1}{4}$ अथवा $\frac{1}{2}$ मात्रा बताई गई है और जो सामान्यतः उच्चारण में अ से मिलता-जुलता है।

(i) जबकि अन्तिम व्यंजन स्, य्, व्, का किसी उत्तरवर्ती स्वर से पूर्व लोप हो जाता हो

(ii) जबकि द्विवचन प्रत्ययों के अन्तिम ई, ऊ, ए, के परे कोई अच् हो

(iii) और जब कि अन्त्य ए और ओ के बाद अ बच रहता हो

यद्यपि नियमित रूप से सन्ध्यक्षरों में ही इसे सहन किया जाता है।

लिखने में न आने पर भी प्रकृति-भाव संहिताओं में (उपर्युक्त स्थलों से) अन्यत्र भी पर्याप्त है: बहुत बार य् और व् का उच्चारण इ और उ अथवा सन्ध्यक्षरों का या दीर्घ अच् का उच्चारण दो स्वरों की तरह होता है। इसमें कारण है, एक ही शब्द में अथवा सन्धि में एकादेश के मूलभूत स्वरों को पूर्ववत् उच्चारित करना : जैसे ज्येष्ठ, *सब से अधिक शक्तिशाली* का उच्चारण होगा ज्य-इष्ठ (=ज्याइष्ठ); ज्या से बना रूप जिसका अर्थ है *शक्तिशाली होना*।

२. *व्यञ्जन*—(क) महाप्राण व्यञ्जन दो ध्वनियाँ हैं जो कि अल्पप्राण स्पर्श एवञ्च तदुत्तरवर्ती ह् से बनती थीं। इस कारण ख् (क्—ह्) का उच्चारण वही है जो कि इन्क्-हार्न् (ink horn) शब्द में, थ् (त्—ह्) का उच्चारण वही है जो कि पॉट्-हाउस् (pot house) इस शब्द में, ध् का उच्चारण वही है जोकि मैड् हाउस् (mad house) इस शब्द में, घ् (ग्-ह्) का उच्चारण वही है जोकि लॉग् हाउस् (log house) इस शब्द में, फ् (प्-ह्) का उच्चारण वही है जोकि टॉप्-हेवी (top heavy) इस शब्द में और भ् (ब्-ह्) का उच्चारण वही है जो कि हॉब् हाउस् (Hob house) इस शब्द में।

(ख) कण्ठ्य व्यञ्जन निस्सन्देह एक ऐसी कण्ठ्य ध्वनियाँ हैं जो कि जिह्वा के पीछे के भाग के मृदु तालु से टकराने से पैदा होती हैं। प्रातिशाख्यों में ये जिह्वा के मूल भाग से अथवा जबड़े के मूल भाग से पदा होने वाली बताई जाती हैं।

(ग) तालव्य च्, ज्, छ्, का उच्चारण चर्च (Church) के च् की तरह, जायन् (join) के ज् की तरह और चर्छिल के द्वितीय भाग के छ् (Ch) की तरह होता है।

(घ) मूर्धन्यों का उच्चारण बहुत कुछ इंग्लिश भाषा के तथाकथित दन्त्य

त्, द्, न् की तरह होता था परन्तु (इनमें) जिह्वाग्र बहुत अधिक पीछे की ओर मूर्धा से टकराता था। इनमें मूर्धन्य ळ् और ळ्ह् का भी समावेश है जोकि ऋग्वेदीय ग्रन्थों में स्वरों के बीच आने वाले ड् और ढ् के स्थान पर पाये जाते हैं। ळ्ह् केवल मध्य में ही पाया जाता है जबकि ळ् अन्त में भी मिलता है। उदाहरण हैं—*ईळा आमोद प्रमोद, तुराषाळभिभूत्योजाः; अषाळ्ह, अजेय।*

(ङ) प्रातिशाख्यों के समय जिह्वा के द्वारा उत्पन्न होने के कारण दन्त्य पश्चाद्दन्तीय थे जैसा कि इनके वर्णन से पता चलता है–दन्तमूल, दाँतों के मूल में।

(च) अनुनासिक उच्चारणस्थानों की उसी स्थिति से उत्पन्न होते हैं जिनसे तत्तद्वर्गीय स्पर्श; अन्तर केवल इतना ही है कि इनमें श्वास नालिका से होकर जाता है। नासिक्य कहा जाने वाला शुद्ध अनुनासिक पूर्ववर्ती स्वर से मिलकर एक ध्वनि-विशेष की रचना करता है—एक अनुनासिक स्वर, जैसा कि फ्रांसी भाषा के शब्द बॉन (bon) में। जब इसे अनुस्वार कहा जाता है (पश्चादुभव ध्वनि) तो पूर्ववर्ती स्वर के साथ मिल कर इसकी एक-दूसरे के बाद आने वाली दो ध्वनियाँ बनती हैं—एक शुद्ध स्वर, दूसरा शुद्ध अनुनासिक (जो कि शुद्ध स्वर के अव्यवहित अनन्तर आता है) यद्यपि प्रतीति एक ही ध्वनि की होती है। जैसे कि इंग्लिश के बैंग (bang) में (जिसमें अनुनासिक कण्ठ्य न होकर शुद्ध रूप में है)।

(छ) अन्तःस्थ य् एक सघोष तालव्य संघर्षी ध्वनि है जोकि ठीक उसी उच्चारण-स्थान से उच्चारित की जाती है जिससे कि तालव्य स्वर इ। अन्तःस्थ व् को प्रातिशाख्यों में सघोष दन्त्यौष्ठ्य संघर्षी कहा जाता है। यह अंग्रेजी के व् (v) अथवा जर्मन् के वॅ (w) की तरह होता है। अन्तःस्थ र् मूल में अवश्य ही मूर्धन्य रहा होगा जैसा कि उत्तरवर्ती न् पर पड़ने वाले इसके ध्वनि-प्रभाव से पता चलता है। इसका उच्चारण अन्य स्थानों से भी होने लगा था। अतएव ऋक्प्राति० में इसे पश्चाद्दन्तीय अथवा बहुत पीछे से उच्चरित होने वाला बताया गया है (न कि मूर्धन्य)।

अन्तःस्थ ल् के विषय में प्रातिशाख्यों में कहा गया है कि इसका उच्चारण ठीक उन्हीं स्थानों से होता है जिनसे दन्त्यों का, जिसका अर्थ है कि

यह पश्चाद्दन्त्य था ।

(ज) सभी के सभी ऊष्म अघोष हैं। दन्त्य स् की ध्वनि सिन् (sin) के स् की तरह है, मूर्धन्य ष् की षन् (shun) के ष् की तरह (परन्तु इसमें जिह्वाग्र बहुत पीछे की ओर जाता है); तालव्य श् इन दोनों के बीच की स्थिति में उच्चारित किया जाता है। यह एक इस प्रकार का ऊष्म है जोकि जर्मन के इश् (ich) के संघर्षी के समान उच्चारित किया जाता है। यद्यपि सघोष ऊष्म Z, Z´ (तालव्य=फ्रांसी ज्) और Ẓ, Ẓh अब सर्वथा लुप्त हो चुके हैं तो भी सामान्य रूप से तन्निमित्तक जो ध्वनिपरिवर्तन हुए हैं उनके रूप में उन्होंने अपनी पूर्वसत्ता के चिह्न छोड़ दिये हैं।

(झ) संहिताओं में ह् ध्वनि का उच्चारण निस्सन्देह सघोष श्वास के रूप में होता था। प्रातिशाख्यों में इसे सघोष एवञ्च सघोष महाप्राण वर्णों का उत्तरवर्ती भाग बताया गया है (ग्-ह्, द्-ह्, ब्-ह्) इसकी पुष्टि ळ् (=ड्) के साथ-साथ पाये जाने वाले ळ्-ह् (=ढ्) इस रूप से हो जाती है।

(ञ) तीन अघोष संघर्षी व्यञ्जन इस प्रकार के है कि वे पदों के अन्त में ही दिखाई देते हैं। इनमें प्रायिक रूप से प्रयुक्त वह है जिसे प्रातिशाख्यों में **विसर्जनीय** कहा गया है। तै०प्रातिशाख्य के अनुसार यह उन्हीं उच्चारण स्थानों से उच्चरित होता है जिनसे कि उसके पूर्ववर्ती अन्तिम स्वर। पद के आदि में आने वाले अघोष क् और ख् से पूर्व इसका स्थान **जिह्वामूलीय** भी ले सकता है। किञ्च पदादि अघोष ओष्ठ्य प् और फ् से पूर्व इसके स्थान पर **उपध्मानीय** का प्रयोग भी हो सकता है। ऋक्प्रातिशाख्य में इन दोनों के विषय में यह कहा है कि ये क्रमशः अघोष महाप्राण ख् और फ् के उत्तर भाग हैं (उसी प्रकार जैसे कि ह्, घ् और भ् आदि का उत्तर भाग है)। अतः वे क्रमशः कण्ठ्य सङ्घर्षी (ग्रीक) ख् और ओष्ठ्यपुटीय संघर्षी फ् ही हैं।

(ट) *व्यञ्जनलोप*—यह लगभग पूर्णतया व्यञ्जन समुदायों तक ही सीमित है। समुदाय के अन्त में आने पर विराम और सन्धि में नियमेन पूर्वातिरिक्त भाग का लोप हो जाता है। आदि के व्यञ्जन समुदायों में स्पर्शों

से पूर्व ऊष्म व्यञ्जनों का लोप प्रायिक है। जैसे—चन्द्र, दूसरा रूप श्चन्द्र *चमकता हुआ* ; तनयित्नु, दूसरा रूप स्तनयित्नु *मेघगर्जन*: तायु दूसरा रूप स्तायु (पुं०) *चोर* ; तृ, दूसरा रूप स्तृ पुं० *तारा* ; पश्यति, *वह देखता है*, दूसरा रूप स्पश् पुं० *गुप्तचर* । मध्यवर्ती व्यञ्जन समुदाय में स् और ष् लोप नियमेन पाया जाता है। जैसे अभक्षत के स्थान पर अभक्त, लुङ् प्र० एक०। अनुनासिक और स्पर्श के बीच में आने वाले स्पर्श का लोप भी सम्भव है। जैसे युङ्ग् ग्धि के स्थान पर केवल युङ्धि ।

(ख) पद के मध्य में आने वाले सघोष ऊष्म दन्त्य ज् (z), मूर्धन्य ज़्ष् (ẓ) और तालव्य ज़्श् (ʹ) का सघोष दन्त्य द्, घ् और ह् से पूर्व लोप हो जाता है परन्तु वे लगभग सदैव अपनी पूर्वसत्ता के चिह्न छोड़ जाते हैं। केवल दो धातुओं में, जिनमें कि आ पाया जाता है यथा आस् *बैठना*; शास् *आज्ञा देना*, में ऊष्म का कोई भी चिह्न बाकी नहीं रहा है: आध्वम्, शशाधि। परन्तु जब ज् (z) से पूर्व अ आता था तो अज् (az) के स्थान पर होने वाले ए के द्वारा ऊष्मवर्ण के लोप का सङ्केत मिल जाता था। यथा—सत्तार्थक अस् धातु से एधि (अज् धि के स्थान पर); *बैठना* इस अर्थ की सद् धातु से (सज़्द् इस रूप के स्थान पर) लिट् का सेद्, यह रूप। इसी तरह दद् हि के स्थान पर देहि (*दो*) यह रूप (दज् हि का स्थानापन्न रूप)। अन्य स्वरों के अ या आ से पूर्व आने पर ज् को मूर्धन्य बना दिया गया, जोकि उत्तरवर्ती दन्त्य वर्णों को मूर्धन्य बनाकर एवञ्च पूर्ववर्ती लघु स्वर को दीर्घ बनाकर स्वयं लुप्त हो गया। यथा अस्तोढ्वम् (=अस्तोज्-ढ्वम्=अस्तोस्ध्वम्) लुङ् म० पु० बहु०, अन्य रूप अस्तोध्व। इसी प्रकार मीढ नपुं० *पारितोषिक* (ग्रीक मिओस्थोस्)। इसी प्रकार ही पुराना सघोष तालव्य ज़्श् (ź) उत्तरवर्ती द् और ध् को मूर्धन्य बनाकर एवञ्च पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को दीर्घ बनाकर स्वयं लुप्त हो गया। यथा—*छीलना* इस अर्थ की तक्ष् धातु से तक्ष् धि के स्थान पर ताढि (=तज़्र्ढि) यह रूप और षष्ठ के साथ-साथ प्रयुक्त होने वाला षष् धा (=सक्ष् धा के स्थान पर) का स्थानापन्न षोढा यह रूप। इससे भी अधिक प्राचुर्येण उस पुराने z'h का लोप हुआ जिसका कि प्रतिनिधित्व अब

ह्, करता है और जिसका लोप उत्तरवर्ती त् को मूर्धन्य बनाने के बाद अथच पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को दीर्घ करने के बाद कर दिया गया। यथा सह्, धातु से सह्, तृ के स्थान पर बना सोढृ (*विजेता*) यह रूप ; गुह्, त के स्थान पर गूढ (*छिपा हुआ*) (गुज़्, त से) यह रूप।

(ठ) समाक्षर-लोप

जब दो समान या एक दूसरे से मिलती-जुलती ध्वनियाँ एक साथ आती हैं तो उनमें एक का कभी-कभी लोप हो जाता है। यथा—तुवीर (व) वान् बहुत *अधिक गर्जन करते हुए*, अन्य रूप तुवीरव, इरव् (*जीतने का प्रयत्न करना*) का तुन० रूप इर् (अव्) अध्यै ; मधुघ पुं० *मधुर दुहने वाली वनस्पति*, दूसरा रूप मधुदुघ *मधुर दुहते हुए*, शीर्ष (स) क्ति, *शिरोवेदना*।

द्वितीय अध्याय

सन्धि के नियम

यद्यपि स्वाभाविक रूप से भाषा का खण्ड कृतसन्धिक वर्णों का अविच्छिन्न परम्परात्मक वाक्य ही है (तो भी) नियमित रूप से ऐसा अथर्ववेद और यजुर्वेद के गद्य-भागों में ही पाया जाता है। परन्तु चूँकि वेदों का बहुत बड़ा भाग पद्यों में ही है, अतः संहिता-पाठ के सम्पादक श्लोकार्ध (जिसमें प्रायः दो पाद अथवा दो पद्य होते हैं) को सन्धि के लिए एक खण्ड मानते हैं। वे श्लोकार्धों में सन्धि के नियमों का बड़ी कठोरता से पालन करते हैं। परन्तु छन्द के और स्वर के प्रमाण से यही पता चलता है कि वास्तव में सन्धि की दृष्टि से पाद को ही एक खण्ड माना जाता है। किसी भी पद के अन्त्य रूप में पादान्त में होने के कारण अथवा पाद में अन्य पद से सम्बद्ध होने के कारण भेद देखा जा सकता है। पादान्त नियमों का विराम होने के कारण पहले से सम्बन्ध है और सन्धि का दूसरे से। सन्ध्यभाव का परिहार एवञ्च समीकरण ही वे मुख्य सिद्धान्त हैं जिन पर सन्धि के नियम आधारित हैं।

यद्यपि दोनों ही सामान्यतः ध्वनि-सम्बन्धी नियमों पर आधारित हैं तो

भी कतिपय भेदों के आधार पर बाह्य सन्धि का, जिसके कारण पदों के अन्तिम और आदि के वर्णों में सन्धि होती है, आन्तरिक सन्धि से, जिसका कि धातुओं या नामपदों के अन्तिम वर्णों एवञ्च तदुत्तरवर्ती प्रत्ययों से सम्बन्ध है, भेद करना ही होगा।

(क) बहुत ही कम अपवादों (जो बाह्य सन्धि की पहली स्थिति के अवशेष हैं) के साथ बाह्य सन्धि के नियम उन शब्दों में लागू होते हैं जिनसे समास बनते हैं। हलादि विभक्ति-प्रत्ययों (भ्याम्, भिस्, भ्यस्, सु) से पूर्व नाम-प्रकृतियों के अन्तिम वर्णों या य् से अतिरिक्त हल् से आरम्भ होने वाले कृदन्त या तद्धित प्रत्ययों से पूर्व उनकी प्रवृत्ति देखी जाती है।

(ख) बाह्य सन्धि

स्वर-विभाग

१७. स्वरों को इन भागों में विभक्त किया जाता है—

(अ) १. साधारण स्वर : अ, आ; इ, ई; उ, ऊ; ऋ, ॠ; ऌ।

२. गुण-स्वर : अ, आ ; ए, ओ, अर्, अल्।

३. वृद्धि-स्वर : आ, ऐ, औ, आर्[1]।

(क) गुण (द्वितीय अवस्था की विशेषता) का स्वरूप उस साधारण अच् का है जो कि बाह्य सन्धि के नियम १९ (क) के अनुसार पूर्ववर्ती अ के साथ मिलकर सबल हो जाता है (सिवाय इसके कि अ स्वयं में अपरिवर्तित रहता है)। वृद्धि का स्वरूप है—गुण-स्वर का किसी अन्य अ[2] के साथ मिल जाने के कारण सबल होना।

---

१. ऌ का वृद्धि रूप जो कि आल् होना चाहिए कहीं भी नहीं पाया जाता।

२. इस अभिश्रुति में, जैसा कि तुलनात्मक भाषाशास्त्र बताता है, गुण-स्वर मूलस्थिति का प्रतिनिधित्व करता है। यही (गुण-स्वर) बलाघात के हट जाने के कारण साधारण स्वर में परिवर्तित हो जाता है। वृद्धि गुण का दीर्घीभूत रूप है। (५ क)। य, व, र (जो कि गुण-स्थिति के समकक्ष हैं) का इ, उ, ऋ के रूप में परिवर्तन ही सम्प्रसारण कहा जाता है।

(र) १. निम्नलिखित स्वरों का अन्तःस्थों में परिवर्तन हो सकता है : इ, ई, उ, ऊ, ऋ[1] और सन्ध्यक्षर ए, ऐ, ओ, औ (जिनका उत्तर भाग इ या उ है) : व्यञ्जन-रूप स्वर।

२. निम्नलिखित स्वरों का अन्तःस्थ रूप में परिवर्तन नहीं हो सकता (उनका केवल एकादेश हो सकता है) : अ, आ : अव्यञ्जन-रूप स्वर।

अन्त के और आदि के स्वरों की सन्धि

१८. लिपिबद्ध संहिताओं में यह नियम है कि यदि कोई साधारण स्वर (ह्रस्व या दीर्घ) एक पद के अन्त में हो और वही साधारण स्वर एक अन्य पद के आदि में हो तो **सवर्ण दीर्घ एकादेश**[2] हो जाता है। यथा इहा॑स्ति=इह॑ अस्ति। इन्द्रा॑=इन्द्र आ॑; त्वाग्ने=त्वा अग्ने; वी॑दम्=वि॑ इदम्; सूक्तम्=सु उक्तम्।

(क) कभी-कभी ऋग्वेद के लिखित ग्रन्थ में भी श्लोकार्ध के पादों में अथवा एक पाद में ही आ+अ, उ, ऊ+उ, ऊ में सवर्ण दीर्घ एकादेश नहीं होता। यथा—**मनीषा अग्निः, मनीषा अर्भि, वीळू॑ उत ; सु॑ ऊर्ध्वः** और समास में **सु ऊतयः**।

(ख) दूसरी ओर छन्दोऽनुरोध के कारण लिखित ग्रन्थ के एकादेश को उच्चारण में पूर्ववत् दो स्वरों की स्थिति में लाना पड़ता है। ऐसे अवसरों पर पूर्वावस्था को प्रापित आदि स्वर स्वभाव से दीर्घ या संयोगवशात् गुरु होता है जब कि पूर्ववर्ती अन्तिम (स्वर) को, यदि वह दीर्घ हो तो, अवश्यमेव ह्रस्व कर दिया जाता है।[3] उदाहरण के रूप में **चासीत्** को **च आसीत्**, **चार्चत** को **च**

---

१. ऋ कभी भी उन स्थितियों में नहीं पाई जाती जिनके कारण यह कभी र् में परिवर्तित हो सके (४ क)।

२. ॠ उपलब्ध नहीं होती क्योंकि ऋ और ऋ का सन्निकर्ष संहिताओं में कभी पाया ही नहीं जाता और अन्त में तो ऋ ऋग्वेद में सर्वथैव अनुपलब्ध है।

३. छन्द के उस नियम के कारण, जिसके अनुसार दीर्घ स्वर को किसी अन्य स्वर से पूर्व आने पर सदैव ह्रस्व कर दिया जाता है। देखिये टिप्पण ५।

अर्चत ; मांपेः को मं आपेः। (मां आपेः के स्थान पर), मृळतीदृशे को मृळति ईदृशे ; यंन्तींन्दवः को यंन्ति इंन्दवः; भवन्तूक्षणः को भवन्तु उक्षणः की तरह उच्चारित किया जाता है। यदि प्रथम शब्द एकाक्षर हो (विशेषकर विं या हिं) तो लिखित एकादेश ई और ऊ को सन्ध्यभाव के साथ उच्चारण किया जाता है। यथा—हींन्द्र का उच्चारण होता है हिं इन्द्र।

१३. *अ और आ*

(क) साधारण स्वर, इ, ई,[1] और उ, ऊ, के साथ मिलकर क्रमशः ए और ओ[2] इन गुण स्वरों में परिवर्तित हो जाते हैं। यथा—इहेह=इहं इह; पितेंव=पितां इव; एंम्=आं ईम् ; ओर्मा=आं उर्मा।[3]

ऋग्वेद के लिखित ग्रन्थ में अथवा वा० सं०[4] में उनका सङ्कोच कभी भी अद् रूप में नहीं होता, परन्तु छन्द से पता चलता है कि इस सन्धि को कभी-कभी अद् की तरह उच्चारण करना होता है। यथा सप्त ऋषयः *सात-ऋषि*= सप्तर्षयः।

(ख) अ और आ गुण-स्वरों से मिलकर वृद्धि-सन्धि में परिवर्तित हो जाते

---

१. कभी-कभी ऋग्वेद के लिखित पाठ में आ+इ में सन्धि नहीं देखी जाती। यथा—स्यां इयंम्; पिबा इमंम्; रणया इहं।

२. यह सन्धि मूल स्थिति का अवशेष है क्योंकि ए और ओ साधारण दीर्घ स्वर हैं परन्तु मूलतः वे थे अइ और अउ।

३. परन्तु बहुत से स्थलों में, जहाँ कि सन्धि लिखने में आती है, मूलभूत साधारण स्वरों को सन्ध्यभाव के साथ पूर्वावस्था में अवस्थित कर दिया जाता है यथा— सुभंगोर्पाः=सुभंगा उर्पाः।

४. लिखित पाठ में आ ऋ से पूर्व सदैव ह्रस्व कर दिया जाता है या सानुनासिक बना दिया जाता है। यथा—तंथ ऋतुंः; (तंथा के स्थान पर) विपन्यँ ऋतंस्य (विपन्यां के स्थान पर)।

हैं। यथा ऐ॑भिः=आ॑ एभिः[1]।

(ग) अ और आ का वृद्धि-स्वरों में अन्तर्भाव हो जाता है। यथा सो॑मस्यौ-शिर्जः=सो॑मस्य औशिर्जः।

२०. साधारण व्यञ्जन स्वर इ, ई और उ, ऊ असवर्ण अच् से पूर्व अथवा सन्ध्यक्षरों से पूर्व नियमित रूप से संहिताओं के लिखित पाठ में क्रमशः य् और व् इन अन्तःस्थों में बदल जाते हैं। यथा—प्रत्यायम्=प्रति आयम्; जनित्र्यजीजनत्=जनित्री अजीजनत्; आत्वे॑ता=आ तु॑ एता। परन्तु छन्द के प्रमाण से यह पता चलता है कि य् और व् का वर्ण की दृष्टि से मूल्य लगभग सदैव इ और उ[2] होता है। इस दृष्टि से व्यु॑षाः का एवञ्च विदथेष्वञ्जन् का उच्चारण अवश्य ही वि॑ उषाः और विदथेषु अञ्जन् होना चाहिए।

(क) अन्तिम ॠ (जो कि ऋग्वेद में उपलब्ध नहीं होता) असवर्ण अच् से पूर्व र् में परिवर्तित हो जाता है। उदाहरण—विज्ञात्रे॑तत्=विज्ञातृ॑ एतत् (श० ब्रा०)।

२१. (क) गुण-स्वर ए और ओ अ[3] से पूर्व अपरिवर्तित रहते हैं। इस अ का संहिताओं के लिखित पाठ में सामान्यतया[4] लोप कर दिया जाता है, परन्तु

---

१. अ और आ की ए के साथ सन्धि करने की अपेक्षा कभी-कभी इन्हें ए से पूर्व सानुनासिक बना दिया जाता है: अभिनन्तँ एधैः (अ और ए के स्थान पर): उपस्थाँ एका (आ और ए के स्थान पर)। किन्तु ए और ओ से पूर्व अ का कभी-कभी लोप कर दिया जाता है। यथा—उ॑पेषत् (अ+ए के स्थान पर); यथोहिषे (आ+ओ के स्थान पर)।

२. चूंकि ई और ऊ को उत्तरवर्ती अच् से पूर्व छन्दोऽनुरोधात् ह्रस्व कर दिया जाता है।

३. स्वो॑तवे अम्ब्येम् के स्थान पर स्वो॑तव अम्ब्येम् में ए का जो विशिष्ट सन्धि-रूप बना है वह यह सूचित करता है कि यह उस समय का अवशेष है जब अ से पूर्व, ए और ओ की सन्धि वही थी जो कि अन्य स्वरों से पूर्व।

४. ऋग्वेद के ७५ प्रतिशत एवं च अथर्ववेद के लगभग ६६ प्रतिशत स्थलों पर, जहाँ कि यह पाया जाता है, इसका लोप कर दिया जाता है।

छन्दः-प्रमाण के अनुसार ऋग्वेद में लगभग नित्य ही और अथर्व० एवं यजु० में सामान्यतः इसका उच्चारण किया ही जाता[1] है चाहे वे लिखित हों अथवा नहीं ।[2] देवांसो अप्तु॑रः (१.३.८) में अ लिखा भी जाता है और उच्चारित भी किया जाता है; सूनवे॑ऽग्ने (१.१.९) में लुप्त अ को पूर्वस्थिति में ले आया जाता है। यथा—सूनवे । अग्ने ।

(ख) ए और ओ अन्य किसी भी स्वर (अथवा सन्ध्यक्षर) से पूर्व स्वभावत[3] अय् और अव् इस रूप में परिवर्तित हो जाते हैं, (वही रूप, जो वे शब्द के अन्दर आने पर अपनाते हैं) परन्तु अय् में य् का सदैव लोप हो जाता है जबकि अव् में व् का लोप उ और ऊ से पूर्व ही पाया जाता है। यथा, अग्न इह (अग्नय् के स्थान पर), वाय उक्थे॑भिः (वायव् के स्थान पर); परन्तु (आ के उत्तरवर्ती होने पर व् लोप नहीं होगा) यथा—वायवायाहि ।

२२. वृद्धि-स्वर ऐ और औ की भी अन्य किसी स्वर (इसमें अ भी शामिल है) अथवा सन्ध्यक्षरों से पूर्व वही सन्धि होगी जो कि अ के अतिरिक्त अन्य किसी स्वर से पूर्व ए और ओ की। इस दृष्टि से ऐ निरन्तर आ बन जाता है (आय् के माध्यम से), परन्तु औ केवल उ और ऊ[4] से पर्व ही आ रूप में परिवर्तित होता है (आव् के माध्यम से)। यथा—तस्मा अक्षी॑ (तस्माय् के

---

१. ऋग्वेद में ९९ प्रतिशत स्थलों में एवञ्च अथर्ववेद और यजुर्वेद के पद्यात्मक भागों के लगभग ८० प्रतिशत स्थलों में, जहाँ कि यह पाया जाता है, इसका उच्चारण किया जाता है।

२. लिखित पाठ में अ के बहुत बार लोप की, ऋग्वेद के मूल पाठ में लगभग नित्यरूप से, तदवस्थिति के साथ तुलना करने से यह पता चलता है कि अ के लोप न होने में और उत्तर वैदिक काल के सर्वथा अ लोप में एक ऐसा समय रहा होगा जिसे सन्धि-काल कहा जा सकता है।

३. चूंकि ए और ओ मूल रूप में अइ और अउ ही थे।

४. ऐ० ब्रा० और कौ० ब्रा० में भी यही सन्धि पाई जाती है।

स्थान पर) ; तंस्मा इंन्द्राय; सुजिह्वा उंप (सुजिह्वाव् के स्थान पर) परन्तु अन्य अच् से पूर्व रूप होंगे तांवा ; तांविन्द्राग्नी ।

(क) उपरिनिर्दिष्ट स्थलों में (२१ ख और २२) गौण प्रकृति-भाव, जो कि य् और व् के लुप्त होने से बनता है, नियमित रूप से तदवस्थ रहता है। परन्तु इनमें पुनः एकादेश भी कभी-कभी संहिताओं में सचमुच लिखा मिलता है। यथा—सर्तवा आजौं के स्थान पर संर्तवाजौं (संर्तवै इस रूप के स्थान पर सर्तवाय् इस रूप के माध्यम से) वा असौं के स्थान पर वासौं (वैं इस रूप के स्थान् पर वाय् इस रूप के माध्यम से)। कभी-कभी एकादेश लिखने में नहीं आता पर छन्द के कारण इसकी अपेक्षा अवश्य रहती है। यथा—त इन्द्र; गोष्ठं उंप को तेन्द्र एवञ्च गोष्ठोंप इस प्रकार उच्चारण किया जाता है।

अनियमित स्वर-सन्धि

२३ (क) आं इस उपसर्ग की उत्तरवर्ती (अथर्व० और वा० सं० में) शब्द के आदि ऋ के साथ गुण के बजाय वृद्धि सन्धि होती है। यथा—आंर्ति=आं ऋति ; आंर्छतु=आं ऋछतु। ऋछ् धातु के साथ तै० सं० इस सन्धि के लिए अकारान्त उपसर्गों को भी समाविष्ट कर लेती है। उंपार्छति=उंप ऋछति और अवार्छंति=अव ऋछंति ।

(ख) प्र इस उपसर्ग की (ऋग्वेद में) आदि इ के साथ वृद्धि-सन्धि होती है। प्रैंषयुंर्=प्रं इषयुंर् ।

(ग) अडागम की आरम्भिक स्वर इ, उ, ऋ के साथ भी वृद्धि-सन्धि होती है।[1] यथा—ऐंच्छस् इच्छार्थक इष् धातु का लङ् लकार, म० पु०,

---

१. सम्भवतः यह प्रागैतिहासिककालीन आ (आगम का मूल स्वरूप) की इ, उ, ऋ के साथ सन्धि होने के कारण बने ऐ, औ और आर् का अवशेष है।

द्विवचन का रूप; औं॑नत् क्लेदनार्थक उद् धातु का लङ्, प्र० पु०, एकवचन का रूप; आ॑र्त, गमनार्थक ऋ धातु का लुङ्, प्र० पु०, एकवचन का रूप ।

स्वर-सन्धि का अभाव

स्वरों से पूर्व उच्चारण किये जाने पर भी उ इस निपात में कोई अन्तर नहीं आता[1] यद्यपि व्यञ्जन के बाद इसे नियमित रूप से व् लिखा जाता है।[2] यथा—भा॑ उ अंश॑वे। परन्तु (व्यञ्जन के बाद) अ॑वे॑द्विन्द्र। जब किसी निपात के अन्तिम अ, आ से सन्धि होने के कारण यह ओ बन जाता है यथा ओ॑=आ॑ उ; अ॑थो=अ॑थ उ; उतो॑=उत॑ उ; मो॑=मा॑ उ तो लिखे जाने पर भी इसमें कोई परिवर्तन नहीं आता। यथा—अ॑थो इ॑न्द्राय।

२५. (क) प्रथमा और द्वितीया विभक्ति में द्विवचन के ई और ऊ, य् और व् रूप में परिवर्तित नहीं होते। द्विवचन का ई कभी भी ह्रस्व उच्चारित नहीं किया जा सकता, जबकि ऊ के विषय में कभी-कभी ऐसा हो सकता है। यथा ह॑री (◡—) ऋ॒तस्य, परन्तु (ऊ के विषय में) साधू॑ (—◡) अस्मै॑। इ से पूर्व ई तदवस्थ रह सकती है; यथा ह॑री इव; परन्तु बहुत से स्थलों में इन दोनों में एकादेश लिखने में भी आ जाता है यथा—रो॑दसीमे॑=रो॑दसी इमे॑ जबकि बहुत से अन्य स्थलों में यद्यपि यह लिखने में नहीं आता पर उच्चारित अवश्य किया जाता है।

(ख) सप्तमी विभक्ति के ईकारान्त और ऊकारान्त रूप, जो कभी विरले ही प्रयोग में आते हैं, नियमित रूप से ऋग्वेद में अपरिवर्तित लिखे जाते हैं,[3]

---

१. अपरिवर्तित स्वरों को भारतीय ध्वनिविशेषज्ञों ने प्रगृह्य (=पृथक्कृत) संज्ञा दी है। पदपाठ में इन स्वरों को बाद में आने वाले इति के साथ संकेतित किया है। उ को वहाँ सदैव दीर्घ और सानुनासिक रूप में लिखा जाता है। यथा—ऊँ इति।

२. कभी-कभी इसे व्यञ्जन के बाद आने पर भी अपने अपरिवर्तित दीर्घ रूप में लिखा जाता है। यथा त॑म् ऊ अकृण्वन्।

३. वे॑द्यस्यांम् के अतिरिक्त, जिसका उच्चारण होगा वे॑दि अस्यांम्

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि छन्द की दृष्टि से उन्हें सदैव ह्रस्व ही समझा जाता है।

(ग) (असौ´ इस सर्वनाम के) पुंलिङ्ग प्रथमा विभक्ति के बहुवचन अमी´ के ई को पद-पाठ में सदैव अपरिवर्तित रूप से उल्लिखित किया जाता है (अमी´ इति) यद्यपि ऋग्वेद में स्वर से पूर्व कहीं भी ऐसा देखने में नहीं आता।

(अ) स्वरों से पूर्व पृथिवी´, पृथुज्र´यी, सम्रा´ज्ञी इन शब्दों में प्रथमा विभक्ति के एकवचन की ई कभी-कभी, तृतीयान्त पद सुशर्मी की एक बार, तृतीयान्त पद ऊती´ की अनेक बार अपरिवर्तित रहती है[1]। यथा—सम्रा´ज्ञी अ´धि, सुशर्मी अभूवन्।

२६. सन्ध्यक्षर ए बहुत से नामपदों और क्रियारूपों में अपरिवर्तित रहता है।

(क) अकारान्त स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग प्रातिपदिकों के प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के द्वि० के ए (=अ+ई) को सन्धि में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।[2] यथा रो´दसी उभे´ ऋघायमाणम्।

(ख) आत्मनेपद में लट् और लिट् के म० और प्र० पुरुष में क्रियापदों के द्विवचन के ए[3] की कभी भी सन्धि नहीं होती, यद्यपि इसे लगभग सदैव छन्दोऽनुरोधात् ह्रस्व कर दिया जाता है। यथा—परिमम्ना´थे अस्मा´न्।

(ग) सर्वनामों के सप्तम्यन्त रूपों त्वे´, (तुझ में) अस्मे´[4] (हम में), और युष्मे´, (तुम में) के ए में कोई परिवर्तन नहीं आता।[5] यथा—त्वे´ इत्; अस्मे´ आयुः; युष्मे´ इत्था´।

---

१. यहाँ पदपाठ में इति से यह पता नहीं चलता कि स्वर की अपरिवर्त्यता केवल कादाचित्क ही है।

२. धिष´ण्ये इमे´ के स्थान पर धिष्ण्येमे´ के सिवाय जिसका उच्चारण सम्भवतः वही (धिष्ण्ये इमे´) होगा।

३. नामपदों के द्विवचन के ए के प्रभाव के कारण; चूँकि मूल रूप में इस द्विवचन ए में और आत्मनेपद के रूपों में किसी अन्य प्रकार के ए में यथा द्वि० ब्रहे, एक० ते और बहु० अन्ते में कोई अन्तर नहीं है।

४. ऋग्वेद में यह चतुर्थ्यन्त रूप में भी प्रयुक्त होता है।

५. पदपाठ में सदैव उन्हें इति के साथ लिखा जाता है।

अन्त और आदि के व्यञ्जनों में सन्धि

२७. बाह्य व्यञ्जन सन्धि का विषय मुख्यरूपेण अथ च लगभग अनन्य-रूपेण अन्त की ध्वनि का उत्तरवर्ती आदि ध्वनि के साथ समीकरण ही है। चूँकि अन्तिम व्यञ्जनों की सन्धि सामान्यतया उस रूप से प्रारम्भ होती है जो कि वे विराम[1] में अपनाते हैं इसलिये प्रारम्भ में ही उस नियम को बता देना आवश्यक है जिसके अनुसार अन्त्य व्यञ्जनों को तदवस्थ रहने दिया जा सकता है। वह नियम निम्ननिर्दिष्ट प्रकार से बताया जा सकता है—अन्त में केवल अल्पप्राण कठोर स्पर्श, अनुनासिक और विसर्जनीय ही रह सकते हैं, तालव्य नहीं।

इस नियम के अनुसार जहाँ तक पदान्त में आने वाले व्यञ्जनों का सम्बन्ध है वहाँ जिन ३९ व्यञ्जनों का § ३ में वर्गीकरण किया था, उनकी संख्या कम हो कर आठ ही रह जाती है। ये निम्नलिखित आठ व्यञ्जन ही पदान्त में आ सकते हैं—क्, ङ्; ट्; त्, न्; प्, म्; विसर्जनीय।

महाप्राण और मृदु स्पर्शों (३ ख) का लोप कर दिया जाता है। केवल कठोर अघोष स्पर्श ही उनका प्रतिनिधित्व करने को बच रहते हैं। तालव्यों के स्थान पर (३ ख, आ) जिनमें श् (३ घ) और ह् (३ ङ) भी समाविष्ट हैं क् अथवा ट् (ञ् के स्थान पर ङ) यह आदेश हो जाता है।

ष् (३ घ) के स्थान पर ट् और स् (३ घ) हो जाता है और विसर्जनीय के स्थान पर र् (३ ग)।

अनुनासिक ण् (३ ख, इ) और तीन अन्तःस्थ य् ल् और व् (३ ग) उपलब्ध नहीं होते।

२८. नियम यह है कि केवल एक ही व्यञ्जन अन्त में आ सकता है। अतः व्यञ्जन-समुदाय के प्रथम व्यञ्जन के सिवाय शेष सभी व्यञ्जनों का लोप आवश्यक है। यथा (अभवन्त् के स्थान पर) अभवन् थे, लङ् के प्र० पु०

---

१. अन्तिम न् और र् को तो पर्याप्त मात्रा में उनके विराम रूप के आधार पर व्यवहृत नहीं किया जाता, अपि तु निर्वचन के।

बहु० का रूप; (तांस् के स्थान पर) द्वितीया बहु० का रूप तान् वे; (दुर्वन्त्स् के स्थान पर) दुर्वन् दुमौते हुए यह रूप; (प्राञ्च् त् से बना) प्राङ् आगे यह रूप (नभ्यस्थित प्राङ् क्); (अंछन्त्स्त् के स्थान पर) लुङ प्र० एक० का अंछान् प्रसन्न किया है यह रूप।

(क) र् के बाद आने वाले धातु सम्बन्धी क्, ट् और त् को तदवस्थ रहने दिया जाता है।[1] यथा (वर्क् त् के स्थान पर) कौटिल्यार्थक वृज् के लुङ प्र० एक० का रूप वर्क्; शक्त्यर्थक ऊर्ज् का प्रथमा एक० का रूप ऊर्क्; शोधनार्थक मृज् का लङ् प्र० एक० का रूप अमार्ट्; वर्तनार्थक वृत् का लुङ प्र० एक० का रूप आवर्त्; सुहार्द् का प्रथमा विभक्ति एक० का रूप सुहार्त् 'मित्र'।

(ख) संहिताओं में इस प्रकार के सात उदाहरण हैं जिनमें कि पूर्ववर्ती धातु-व्यञ्जन का लोप, प्रत्यय के सकार और तकार को तदवस्थ रहने दिया जाता है (१) इस प्रकार स् प्रथमा विभक्ति के एक० के इन निम्नलिखित चार रूपों में पाया जाता है— (सधमाद्स् के स्थान पर) सधमास्, अन्य रूप सधमात्, सहभोज का साथी; (अवयाज् स् के स्थान पर) अवयास्, स्त्री०, यज्ञभाग; (श्वेतयाज् स् के स्थान पर) श्वेतयास्, पुं०, एक प्रकार का पुरोहित; (पुरोडाश् स्[2] के स्थान पर) पुरोडास्, पुरोडाश। (२) इसी प्रकार स् अथवा त् इन निम्नलिखित चार एक० के क्रियापदों में पाये जाते हैं—यज्ञार्थक यज् के लङ् म० पु० एक० का अयास् (अयज्स् का स्थानापन्न), दूसरा रूप अयाट्; विसर्गार्थक सृज् का (असृज् स् का स्थानापन्न) लुङ् म० एक० का रूप अस्रास्; त्रोटनार्थक भञ्ज् का लङ् म० एक० (अभनक्स् का स्थानापन्न) रूप अभनस् और गिरना इस अर्थ की स्रस् का

---

१. र् के बाद प्रत्यय के बच रहने का एकमात्र उदाहरण पाया जाता है दर्त्, विदारणार्थक दृ का लुङ् प्र० एक० का रूप, अन्य रूप अदर् म० पु० एक० (अदर्स् के स्थान पर)।

२. स् सम्भवतः प्रथमान्त रूपों के सादृश्य के कारण है जैसे मास्, चन्द्रमा; द्रविणोदास्, धन देने वाला, इत्यादि।

(असस् त् का स्थानापन्न)[१] लुङ् प्र० एक० का रूप अ॑सत ।

व्यञ्जनों का वर्गीकरण

२९. व्यंजन सन्धि के नियमों की प्रवृत्ति ही समीकरण है । यह दो प्रकार का है । इसका सम्बन्ध या तो उस ध्वनि-स्थिति के परिवर्तन से है जिसमें कि व्यञ्जन को उच्चारित किया जाता है या व्यञ्जन के स्वरूप के परिवर्तन से । इसलिये इन दोनों पहलुओं से व्यञ्जनों के वर्गीकरण को पूरी तरह समझना आवश्यक है । २ ख, ग, घ में (देखिये १५, २ ख—ज) उच्चारण-स्थान के अनुसार सभी व्यञ्जनों का क्रमबद्ध रूप निर्दिष्ट किया गया है सिवाय इन चार के—श्वासात्मक ह् और तीन अघोष सङ्घर्षी जिनका ध्वनिविषयक वर्णन १५, २ झ, ञ में दिया गया है ।

(क) जिह्वा के कण्ठ के साथ सम्बन्ध होने से कण्ठ्यों का उद्भव होता है, तालु से तालव्यों का, मूर्धा से मूर्धन्यों का, दन्तों से दन्त्यों का, ओष्ठों से ओष्ठ्यों का ।

(ख) पाँचों वर्गों के अनुनासिकों की बनावट के लिये श्वास आंशिक रूप से नासिका में से गुजरता है जब कि जिह्वा अथवा ओंठ उस स्थिति में रहते हैं जिसमें कि वे तत्तद्वर्गीय प्रथमाक्षरों को उच्चरित कर सकें । शुद्ध अनुस्वार केवल नासिका में ही बन सकता है जब कि जिह्वा उस स्थिति में रहती है जिससे कि अनुस्वार का साथ देने वाले स्वर का उच्चारण किया जा सकता है ।

(ग) अन्तःस्थ य्, र्, ल्, व् क्रमशः तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य और ओष्ठ्य व्यञ्जन हैं जिन्हें कि ठीक उन्हीं उच्चारण स्थानों से उच्चारित किया जाता

---

१. यहाँ स् और त् का प्रादुर्भाव प्रत्ययों को सुव्यवस्थित रूप देने की उस प्रवृत्ति के प्रारम्भ हो जाने के कारण से हुआ जिससे कि म० एक० के लिये स् और प्र० एक० के लिये त् स्थिर हो गया । ब्राह्मण-ग्रन्थों में इसके आधा दर्जन के लगभग उदाहरण पाये जाते हैं । यथा ज्ञानार्थक विद् धातु का लङ् म० एक० का रूप अ॑वेस् (=अ॑वेद्स्) ।

है जिनसे कि स्वसमकक्ष स्वरों इ, ऋ, ऌ और उ का। पहिले तीन में तो जिह्वा तत्तदुच्चारण-स्थान का आंशिक रूप से स्पर्श करती है जब कि चौथे में ओठों का आंशिक स्पर्श रहता है।

(घ) तीनों ऊष्म कठोर सङ्घर्षी व्यञ्जन हैं। इनका उद्भव जिह्वा के क्रमशः तालु, मूर्धा और दन्तों के साथ आंशिक स्पर्श से होता है। इनसे मिलते-जुलते मृदु ऊष्मों (अंग्रेजी ज़् फ़ारसी ज़्) की सत्ता नहीं है परन्तु प्रागैतिहासिक काल में उनकी सत्ता का अनुमान अनेक प्रकार की सन्धि से लग जाता है। (देखिये १५, २ ट, अ)।

(ङ) ह् और विसर्ग क्रमशः मृदु एवं कठोर सङ्घर्षी व्यञ्जन हैं जिनकी उत्पत्ति बिना किसी सम्पर्क के होती है और इनका उच्चारण भी उसी स्थिति में ही किया जाता है जिसमें पूर्ववर्ती या उत्तरवर्ती स्वर का। ह् केवल मृदु वर्णों के पूर्व पाया जाता है और विसर्ग केवल स्वरों के और कतिपय कठोर वर्णों के बाद पाया जाता है।

३०. *व्यञ्जनों का स्वरूप*

व्यञ्जन

१. या तो कठोर (अघोष) होते हैं : क्, ख्, च्, छ्, ट्, ठ्, त्, थ्, प्, फ्; श्, ष्, स्; :, ⌣⌣, ⌣ (३)। या मृदु (स्वरोन्मुख अनुनासिक, सघोष) : शेष सभी (३) (इनके अतिरिक्त सभी स्वर और सन्ध्यक्षर)

२. या महाप्राण : ख्, घ्, छ्, झ्, ठ्, ढ्, ळ्ह्, थ्, ध्, फ्, भ्, ह्, :, ⌣, ⌣⌣, श्, ष्, स्।

या अल्पप्राण : शेष सभी। अतः च् का क् रूप में परिवर्तन उच्चारण-स्थान का (तालव्य से कण्ठ्य) परिवर्तन है और च् का ज् में परिवर्तन स्वरूप में (कठोर से मृदु) परिवर्तन है। च् का ग् में परिवर्तन (कठोर तालव्य के

स्थान पर मृदु कण्ठ्य) या त् का ज् (कठोर दन्त्य से मृदु तालव्य) में परिवर्तन स्थान और स्वरूप दोनों का परिवर्तन है।

३१. यह स्मरण रखना आवश्यक है कि व्यञ्जन-सन्धि तब तक हो ही नहीं सकती जब तक कि अन्त में व्यञ्जनों की संख्या कम करके उन आठ तक न पहुँचा दी जाय जो कि अन्त में पाये जा सकते हैं (२७)। इन आठों को इनके निर्वचन-स्वरूप पर ध्यान दिये बिना ही (आंशिक रूप से न् और विसर्जनीय के सिवाय) परिवर्तित कर दिया जाता है। अन्त में आ सकने वाले इन व्यञ्जनों में केवल छः का ही बहुत बार प्रयोग देखा जाता है, अर्थात् क्, त्, न्, प्, म् और विसर्जनीय; जब कि मूर्धन्य ट् और कण्ठ्य ङ का प्रयोग विरले ही मिलता है।

I. स्वरूप में परिवर्तन

३२. अन्त्य व्यञ्जन (अर्थात् स्पर्श अथवा विसर्जनीय) उत्तरवर्ती आदि व्यञ्जन के स्वरूप को अपना लेता है। वह मृदु आदि व्यञ्जनों से पूर्व मृदु बन जाता है और कठोर आदि व्यञ्जनों से पूर्व कठोर ही रहता है।

इसलिये अन्त के क्, ट्, त्, प् स्वरों और मृदु व्यञ्जनों से पूर्व क्रमशः ग्, ड्, द् और ब् बन जाते हैं। यथा—अर्वा॑ग्रा॒धः (अर्वा॑च् के स्थान पर, मध्यस्थिति अर्वा॑क्); हव्य॒वाड् जु॒ह्वास्यः (-वा॑ह् के स्थान पर, मध्यस्थिति -वा॑ट्); षळ् उ॒र्वीः (षष् के स्थान पर, मध्यस्थिति षट्: देखिये ३ ख ३); गम॑द् वाजे॑भिः (गम॑त् के स्थान पर); अ॒ग्निर्द् ऋ॒तायतः (अ॒ग्नि॑ध् के स्थान पर, मध्यस्थिति अ॒ग्नि॑त्); त्रि॒ष्टुब् गा॑य॒त्री (त्रि॒ष्टु॑भ् के स्थान पर, मध्यस्थिति त्रि॒ष्टु॑प्); अब्जा (अप्जा के स्थान पर)।

३३. न् और म् से पूर्व अन्त के क्, ट्, त् और प् अपने-अपने वर्ग के अनुनासिक के रूप में न केवल परिवर्तित हो सकते हैं; अपितु व्यवहार-दशा में नियमित रूप से होते ही हैं। यथा प्र॒णङ् मर्त्य॑स्य (प्र॒णक् के स्थान पर मध्यस्थिति प्र॒णग्); वि॒राण् मि॒त्रावरु॑णयोः, (वि॒राट् के स्थान पर, मध्यस्थिति

विराड्); षण्णवति (तै० सं०) षट् नवति के स्थान पर, मध्यस्थिति षड् नवति) आर्णान्नो (आर्णात्, मध्यस्थिति आर्णाद्): तन्मित्रस्य (तद् के स्थान पर); त्रिककुम् निवर्तीत् (त्रिककुभ्, मध्यस्थिति त्रिककुब्) ।

३४. अन्तिम त्, द् की स्थिति में ल् होने पर ल् बन जाता है। यथा—अङ्गाल्लोम्नः (अङ्गात् के स्थान पर) ।

३५. चूँकि अनुनासिकों की समकक्ष कोई कठोर ध्वनि नहीं होती इसलिये आदि के कठोर व्यञ्जनों से पूर्व वे अपरिवर्तित रहते हैं। कण्ठ्य ङ्,[1] जिसका प्रयोग विरले ही उपलब्ध होता है, अपरिवर्तित ही रहता है (देखिये ५८) पर ऊष्मों से पूर्व इसके बाद एक संक्रामी क् का आगम हो जाता है। यथा प्रत्यङ्क् स, तुलना कर, प्रत्यङ् स। सभी व्यंजनों से पूर्व अन्त्य म् में स्थान-परिवर्तन हो सकता है (४२)। अन्तिम दन्त्य न् स्वरों, (४२,५०) तालव्यों, दन्त्यों, अन्तःस्थ ल् और कभी-कभी ष् से पूर्व परिवर्तित हो जाता है (४०)।

३६. दन्त्य अनुनासिक न् निम्नलिखित वर्णों से पूर्व आने पर अपरिवर्तित रहता है—(१) कण्ठ्य क्, ख्, ग्, घ्; (२) ओष्ठ्य प्,[2] फ्, ब्, भ्, म्; (३) शुद्ध दन्त्य द्, ध्, न्, सामान्यतः त् से पूर्व भी (४०, २); (४) अन्तःस्थ य्, र्, व् और ऊष्मवर्ण ह्; (५) मूर्धन्य और दन्त्य ऊष्म ष् और स्।

(क) ष् और स् से पूर्व एक संक्रामी त् का आगम भी हो सकता है। यथा—अहन्त्सहसा; तान्त्सम् ।

II. स्थान-परिवर्तन

३७. केवल चार व्यंजन ऐसे हैं जिनमें स्थान परिवर्तन हो सकता है—दन्त्य द् और न्, ओष्ठ्य म् और विसर्जनीय ।

---

१. तालव्य और मूर्धन्य अनुनासिक, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अन्त में नहीं आते।

२. प् से पूर्व यह कभी-कभी ः बन जाता है। देखिये ४०, ५.

(क) दोनों दन्त्यों का तालव्यों से पूर्व तालव्यीकरण हो जाता है।[1]

(ख) विसर्जनीय और म् अपने को उत्तरवर्ती व्यंजन की ध्वनि-स्थिति के के अनुसार ढाल लेते हैं।

१. अन्त्य तकार

३८. अन्त्य त् तालव्यों (च्, ज्, छ्, श्,) से पूर्व तालव्य (च् या ज्) रूप में परिणत हो जाता है। यथा तत् चक्षुः के स्थान पर तच्चक्षुः; यातयत् जन के स्थान पर यातयज्जन; रोहित् श्यावा[2] के स्थान पर रोहिच्छ्यावा।

२. अन्त्य नकार

३९. अन्त्य न् में स्वरों से पूर्व परिवर्तन हो जाता है। दीर्घस्वर से परे आने पर इसे अनुस्वार हो जाता है। यदि पूर्ववर्ती स्वर आ हो तो इसे अनुनासिक हो जाता है। यदि वह ई, ऊ, ऋ इनमें से कोई हो तो ँर्[3] हो जाता है। यथा सर्गान् के स्थान पर सर्गाँ इव, विद्वान् के स्थान पर विद्वाँ अग्ने; परिधीन् के स्थान पर परिधीँर् अति; अभीशून् के स्थान पर अभीशूँरिव; नॄन् के स्थान पर नॄँर्भि।[4]

४०. १. अन्त्य न् सभी तालव्यों से पूर्व तालव्य ञ् बन जाता है। यथा—ऊर्ध्वान् के स्थान पर ऊर्ध्वाञ् चरथाय; तान् के स्थान पर ताञ्

---

१. संहिताओं में अन्तिम दन्त्य व्यञ्जनों का कभी भी आदि के मूर्धन्यों के साथ सम्बन्ध नहीं होता। ऋग्वेद में कहीं भी आदि में मूर्धन्य स्पर्श नहीं पाया जाता। मूर्धन्य ऊष्म ष् भी केवल षष् ठः में अथवा इसको लेकर बने समस्त पदों में ही पाया जाता है। केवल एक बार यह सौह् के सोट् के स्थानापन्न षाट् में भी पाया जाता है।

२. च् के बाद श् के छ् में परिवर्तित होने पर देखिये ५३।

३. यहाँ ँ और ँर्, ँः के माध्यम से मूलभूत न्स् का प्रतिनिधित्व करते हैं। यहाँ ः की वही सन्धि है जो कि स्वरों से पूर्व आः, ईः, ऊः और ऋः की। पादान्त में स्वर से पूर्व आँन्, ईन् और ऊन् में परिवर्तन नहीं होता (विराम में होने के कारण); यथा देवयानान्। अतन्द्रः (१.७७)।

४. ऋँर् केवल एक ही बार पाया जाता है। अन्यथा यह अपरिवर्तित रहता है —ऋन्; कारण, एक ही अक्षर में दो र् ध्वनियाँ नहीं रह सकतीं [देखिये वैदिक व्याकरण §७६].

जुह्रेयान्; वज्रिन् के स्थान पर वज्रिञ् श्नथिहि। पर चूँकि श् से पूर्व एक संक्रामी त् का आगम भी हो सकता है इसलिये वज्रिन्त् श्नथिहि (मध्यस्थिति वज्रिञ्च्[1] श्नथिहि) वज्रिञ्छ्नथिहि[2] भी बन सकता है।

(क) ऋग्वेद में च् से पूर्व कभी-कभी तालव्य ऊष्म का आगम हो जाता है।[3] उस समय पूर्ववर्ती न् को अनुस्वार हो जाता है। यह आगम तभी होता है जब कि ऊष्म का व्युत्पत्ति की दृष्टि से औचित्य हो।[4] यह लगभग अनन्यरूपेण च और चिद् से पूर्व हो आता है (यद्यपि वहाँ भी यह सर्वथा अपवादरहित नहीं है[5])। यथा अनुयाजांश्च, अनेनांश्चित्। बाद की संहिताओं में इस ऊष्म आगम (स्) का प्रयोग बहुलतर होता जाता है यहाँ तक कि व्युत्पत्त्यौचित्य न होने पर भी यह पाया जाता है।[6]

२. दन्त्य त् से पूर्व अन्तिम न् प्रायः अपरिवर्तित रहता है[7]। यथा—स्वावान् त्मना; परन्तु ऋग्वेद में कभी-कभी दन्त्य ऊष्म का आगम भी हो जाता है। उस समय पूर्ववर्ती न् को अनुस्वार हो जाता है। यह आगम तभी होता है जबकि ऊष्म वर्ण का ऐतिहासिक दृष्टि से औचित्य[8] हो। यथा—आवर्वंस्त्वम् (आर्वन् के स्थान पर)। बाद की संहिताओं में इस ऊष्म आगम का प्रयोग बहुलतर होता जाता है और वहाँ भी दिखाई देने लगता है जहाँ कि व्युत्पत्ति की दृष्टि से इसका औचित्य न हो।[9]

---

१. अर्थात् श् से पूर्व त् को च् हो जाता है (३८)।

२. अर्थात् च् के बाद आदि श् को छ् हो सकता है (५३)।

३. संहिताओं में छ् से पूर्व ऊष्म व्यञ्जनों के आगम के कोई उदाहरण नहीं मिलते।

४. अर्थात् प्रथमा एक० और द्वितीया बहु० पुं० में जिनके अन्त में मूल रूप में न्स् आता था।

५. यथा पश्यञ्च स्यात् स्वर्यम् (१.७२.१)।

६. जैसे कि लङ् के प्र० बहु० में, यथा—अभवन् (मूल में अभवन्त्) और नकारान्त प्रातिपदिकों के सम्बोधन और सप्तमी के रूपों में; यथा—राजन् (जिसके अन्त में कभी भी स् नहीं था)।

७. वेद में कभी भी आदि में थ नहीं पाया जाता।

३. अन्त्य न् को आदि के ल् से पूर्व सदैव अनुनासिक बना दिया जाता है—ल्ँ। यथा जिगीवाँल्लक्षम् ।

४. यद्यपि अन्त्य नकार य्, र्, व्, और ह् से पूर्व (३६,४) सामान्यतः अपरिवर्तित रहता है तो भी आन्, ईन्, ऊन् को, जैसे स्वरों से पूर्व, वैसे ही इनसे पूर्व भी आँ, ईँर्, और ऊँर् हो जाता है (३९)। यथा—देवाँन् हवामहे पर स्वँवाँ यातु (स्ववान् के स्थान पर); दद्वाँ वा (दद्वान् के स्थान पर); पीवो-अन्नाँ रयिवृधः (अन्नान् के स्थान पर); पणीँर् हतम् (पणीन् के स्थान पर); दस्यूँर् योनौ (दस्यून् के स्थान पर)।

अन्त्य न् जब निर्वचन की दृष्टि से न्स् का प्रतिनिधित्व करता है तो उसे प् से पूर्व कभी-कभी ँः हो जाता है (३६, २)। यथा नॄँः पाहि (नॄन् के स्थान पर), नॄँः पात्रम्, स्वतवाँः पायुः (स्वतवान् के स्थान पर)।

३. अन्त्य मकार

४१. स्वरों से पूर्व अन्त्य म् अपरिवर्तित रहता है। यथा—अग्निम् ईळे *मैं अग्नि की स्तुति करता हूँ।*

(अ) अत्यल्प स्थलों में म् का लोप कर दिया जाता है जिस पर स्वरों में एकादेश हो जाता है। सन्धि का ज्ञान बहुत बार छन्द से ही होता है। यथा—राष्ट्रम् इह को राष्ट्रेह की तरह ही उच्चारण करना होगा। लिखने में यह बहुत कम ही आता है जैसे 'दुर्गहम् एतत्' के स्थान पर दुर्गहैतत्। परन्तु पदपाठ न तो यहाँ (दुर्गहा एतत्) और न ही अन्यत्र कहीं इस एकादेश का इस प्रकार का छेदन करता है।

४२. व्यंजनों से पूर्व अन्त्य म् इन-इन अवस्थाओं में परिवर्तित हो जाता है—

(१) अन्तस्थ र्, ऊष्म श्, ष्, स् और स्वासजन्य ह् से पूर्व इसे अनुस्वार हो जाता है। यथा—होतारं रत्नधातमम् (होतारम् के स्थान पर); वर्धमानं स्वे (वर्धमानम् के स्थान पर); मित्रं हुवे (मित्रम् के स्थान पर)[१]।

---

१. ऐसा प्रतीत होता है कि अनुस्वार का मूलरूप में प्रयोग ऊष्मों और ह् से पूर्व ही होता था। सम्राज् जैसे समासों से पता चलता है कि म् मूलरूप में र् से पूर्व आने पर अपरिवर्तित ही रहता था (४९ ख)।

(२) य्, ल्, व्, से पूर्व इसका यँ, लँ, वँ के रूप में अनुनासिकीकरण हो जाता है। परन्तु मुद्रित ग्रन्थों में इसके स्थान पर सर्वत्र अनुस्वार का ही प्रयोग किया गया है।[1] यथा—सं युधि; यज्ञं वष्टु।[2]

(३) स्पर्शों से पूर्व यह तत्तद्वर्गीय अनुनासिक बन जाता है[3] और न् से पूर्व न्।[4] यथा भद्रङ् करिष्यसि; त्यञ्चमसम्; नवन् त्वष्टुः; भद्रन्नः। बहुत से हस्तलिखित एवं मुद्रित ग्रन्थ इस समीकृत म् का प्रतिनिधित्व अनुस्वार से करते हैं।[5] यथा—भद्रं करिष्यसि; त्यं चमसम्; नवं त्वष्टुः; भद्रं नः।

(अ) यह सन्धि तालव्य च्, ज्, छ् (४०) और मृदु दन्त्य द्, ध्, न् (३६, ३) से पूर्व न् की और न् से पूर्व त् (३३) की सन्धि के समान ही है।

अन्त्य विसर्जनीय

४३. विसर्जनीय वह सङ्घर्षी ध्वनि है जिसके रूप में विराम में कठोर स् और उससे मिलता-जुलता मृदु र् परिवर्तित कर दिये जाते हैं। यदि इसके बाद—

१. तालव्य (च्, छ्) एवञ्च दन्त्य (त्) स्पर्श जैसी कोई कठोर ध्वनि आये तो इसे अपने से मिलता-जुलता ऊष्म आदेश हो जाता है। यथा—

---

१. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य इन अन्तःस्थों से पूर्व अनुस्वार के वैकल्पिक प्रयोग की अनुमति देता है।

२. अन्तर्वर्ती मकार वाले प्रयोग जैसे यम्यमान और अंपम्लुक्त यह सूचित करते हैं कि म् मूलरूप में वाक्यसन्धि में य् और ल् से पूर्व अपरिवर्तित ही रहता था। जगन्वान् (गमनार्थक गम् धातु से) जैसे रूपों से यह संकेत मिलता है कि यह (म्) एक समय में सन्धि के कारण व् से पूर्व न् बन गया था।

३. ओष्ठ्यों से पूर्व तो यह रहता ही है।

४. न् से पूर्व इस समीकरण की द् के समीकरण के साथ समानता ने कुछ स्थलों में सन्दिग्धता को जन्म दे दिया जिसके परिणामस्वरूप पदपाठ में अशुद्ध विश्लेषण दे दिया गया।

५. मैक्समूलर अपने संस्करणों में लगातार अनुस्वार ही मुद्रित करते हैं। ओष्ठ्यों से पूर्व भी आफ्रेश्त, सिवाय ओष्ठ्यों के पूर्व, जहाँ कि वे म् रहने देते हैं, अनुस्वार ही अपनाते हैं।

देवांश्चकर्म (देवांस् के स्थान पर, मध्यस्थिति देवाः) पूंश्च (पूंर् च के स्थान पर, मध्यस्थिति पूंः च); यंस्ते (यः के स्थान पर); अंग्वीभिस्तना (अंग्वीभिः के स्थान पर)।

(अ) इ, ई और उ, ऊ से परे विसर्जनीय को त् से पूर्व आने पर बहुत बार मूर्धन्य ष् हो जाता है जोकि अपने से उत्तरवर्ती आदि त् को ट् रूप में परिवर्तित कर देता है। ऋग्वेद में मुख्य रूप से एवञ्च उत्तरवर्ती वेदों में केवल सर्वनामों से पूर्व ही ऐसा होता है। यथा—अग्निंष्टे; क्रंतुष्टम्, किन्च नंकिष्टनूंषु। समासों में यह परिवर्तन सभी संहिताओं में उपलब्ध होता है। यथा—दुंष्टर, कठिनाई से पार करने योग्य।[2]

२. कण्ठ्य (क्, ख्) या ओष्ठ्य (प्, फ्) स्पर्श जैसी कोई कठोर ध्वनि आये तो यह या तो तदवस्थ रहता है या कण्ठ्यों से पूर्व जिह्वामूलीय और ओष्ठ्यों से पूर्व उपध्मानीय रूप में परिवर्तित हो जाता है यथा (विंष्णोस् के स्थान पर) विंष्णोः कर्माणि; (इन्द्रस् के स्थान पर) इंन्द्रः पञ्च; (पुंनर् के स्थान पर) पुंनःपुनः; द्यौंः पृथिवीं।

(अ) अ और आ के बाद आने पर ऋग्वेद में इसे प्रायः स् हो जाता है एवञ्च इ, ई, उ, ऊ, और ऋ[3] के बाद आने पर ष्। यथा—दिवंस् परि; पत्नीवतस्कृधि; द्यौंष्पिता। समासों में यह परिवर्तन सभी संहिताओं में नियमित रूप से पाया जाता है। यथा—परस्पा, दूर तक रक्षा करने वाला; हविष्पा, हवि का पान करने वाला; दुष्कृंत्, कुकर्म करने वाला; दुष्पंद्, बुरे पाँओं वाला।

३. साधारण ऊष्म आने पर या तो यह तदवस्थ रहता है या इसका समीकरण हो जाता है। यथा—वः शिवंतमः या वश् शिवंतमः; देवीः षंट्

---

१. यह सन्धि, जिसमें विसर्जनीय मूल र् का प्रतिनिधित्व करता है, निर्वचन विरुद्ध है, पर वाक्य-सन्धि में यह सार्वत्रिक है; केवल समासों में इसके दो अपवाद मिलते हैं: स्वंर्-चक्षस् और स्वंर्चनस्।

२. ऋग्वेद में एकमात्र अपवाद है—चंतुस्त्रिंशत्, चौंतीस।

३. कण्ठ्यों और ओष्ठ्यों से पूर्व यह सन्धि त् से पूर्व की सन्धि के समान है (१ क)। निस्सन्देह यह वाक्य-सन्धि में मौलिक थी।

या दे॑वीष्षंट्; नः सर्पत्नाः या नस्सर्पत्नाः; पु॑नः सम् या पु॑नस्सम् ।[1] मूलसन्धि निःसन्देह समीकरण (ही) है परन्तु पाण्डुलिपियों में प्रायः विसर्जनीय का ही प्रयोग है और योरुपीय संस्करण तो नियमित रूप से ऐसा ही करते हैं ।

(अ) उस ऊष्म से पूर्व जिसके अव्यवहित अनन्तर कोई कठोर स्पर्श आ रहा हो, अन्त में आने वाले विसर्जनीय का लोप हो जाता है । यथा—मन्द्रि॑भि स्तो॑मेभिः (मन्द्रि॑भिस् के स्थान पर, मध्यस्थिति मन्द्रि॑भिः): दुष्टुति॑ (स्त्री०) कुख्याति (दुष् ष्टुति॑ के स्थान पर) । इस लोप का विधान ऋग्वेद प्रतिशाख्यों, वा० सं० और तै० सं० ने किया है और आफ्रेक्ट ने ऋग्वेद के अपने संस्करण में इसका उपयोग किया है ।

(आ) उस ऊष्म से पूर्व, जिसके अव्यवहित अनन्तर अनुनासिक अथवा अन्तःस्थ आते हों, अन्तिम विसर्जनीय का विकल्प से लोप हो जाता है । यथा—कृत श्रवः (कृतः के स्थान पर); निस्वर॑म् (निस् के स्थान पर, मध्यस्थिति निः) ।

४४. मृदु ध्वनि (स्वर अथवा व्यंजन) से पूर्व आने पर विसर्जनीय को (सिवाय अ या आ के बाद आने पर) र् हो जाता है । यथा—ऋ॑षिभिरी॑ड्यः (ऋ॑षिभिस् के स्थान पर, मध्यस्थिति ऋ॑षिभिः); अग्निर् हो॑ता (अग्निस् के स्थान पर, मध्यस्थिति अग्निः); परिभू॑र् असि (-भू॑स् के स्थान पर, मध्यस्थिति —भू॑ः) ।

४५. (१) स्वरों और मृदु व्यंजनों से पूर्व अन्तिम अक्षर आः (=आस्) के विसर्जनीय का लोप हो जाता है । यथा—सुता॑ इमे॑ (सुता॑स् के स्थान पर, मध्यस्थिति सुता॑ः); वि॑श्वा वि॑ (वि॑श्वास् के स्थान पर, मध्यस्थिति वि॑श्वाः ।

(२) अन्तिम अक्षर अः (= अस्) ।

(क) के विसर्जनीय का अ से भिन्न स्वरों से पूर्व लोप हो जाता है । यथा—ह्य आ (ह्यस् के स्थान पर, मध्यस्थिति ह्यः) ।

---

१. यह सन्धि, जिसमें विसर्जनीय मूल र् का प्रतिनिधित्व करता है, यद्यपि निर्वचन-विरुद्ध है तथापि वाह्य सन्धि में सार्वत्रिक है, पर समासों में मूल र् बहुत बार तदवस्थ रहता है । यथा—वनर्ष॑द्; धूर्ष॑द् इत्यादि । यह तादवस्थ्य यह सूचित करता है कि वाक्यसन्धि में र् मूल रूप में ऊष्मों से पूर्व तदवस्थ रहता था ।

(ख) के विसर्जनीय को मृदु व्यंजनों और अ से पूर्व ओ हो जाता है जिसके बाद अ का लोप हो सकता है (२१ क)। यथा—ईन्दवो वाम् (ईन्दवस् के स्थान पर, मध्यस्थिति ईन्दवः); नो अंति (नस् के स्थान पर, मध्यस्थिति नः) अथवा नो'ति।

४६. अन्तिम अक्षर अः (=अर्) और आः (=आर्) को उन अपेक्षाकृत कम स्थलों में[1], जहाँ कि विसर्जनीय व्युत्पत्ति-जन्य र् का प्रतिनिधित्व करता है, सामान्य नियम (४४) का अपवाद (४५) नहीं कहा जा सकता। यथा—प्रातर् अग्निः; पुनर्नः; स्वर्दृहः; वार् अवायती[2]।

४७. र् का र् परे रहने पर सदैव लोप हो जाता है जबकि उसके पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को दीर्घ हो जाता है यथा—(पुनर् के स्थान पर) पुना रूपाणि।[3]

४८. तीनों सर्वनाम (पुं० प्रथमा विभक्ति एक०) सः वह, स्यः वह और एषः यह, के विसर्जनीय का सभी व्यंजनों[4] से पूर्व लोप हो जाता है। यथा—स वनानि; स्य दूतः; एष ताम्। वैसे विसर्जनीय के विषय में यहाँ एक नियमितता सी है[4]; पदान्त में यथा—पदीष्ट सः। चक्र एषः। स्वरों से पूर्व—यथा

---

१. निम्ननिर्दिष्ट स्थलों में र् अपने मूल रूप में पाया जाता है—द्वार्, दरवाजा; वार्, रक्षक; वार्, जल; अहर्, दिन; उषर्, उषःकाल; ऊधर्, स्तन; वधर्, शस्त्र; वनर्, जङ्गल; स्वर्, प्रकाश; अन्तर्, भीतर; अवर् नीचे; पुनर्, फिर; प्रातर्, सुबह; ऋकारान्त प्रातिपदिकों के सम्बोधन रूप—यथा भ्रातर्; ऋकारान्त धातुओं के भूतकाल के मध्यम और प्रथम पुरुष के एकवचन के रूप, यथा—आवरणार्थक वृ धातु का रूप आवर्।

२. कतिपय उदाहरणों में अः के प्रभाव में आने के कारण असन्त नपुं० शब्दों के विरान-रूपों में आ (=अर्) के स्थान पर ओ आ जाता है। यथा—ऊधो रोमशम् [ऊधा (=ऊधर्) के स्थान पर]। एवमेव समास में भी—यथा (अहा—के स्थान पर) अहोरात्र।

३. पर सः दो बार ऋग्वेद में इसे अपनाये रहता है; सः पलिक्नीः (५.२[४]) और संस्तव (८.३३[१६]) (सः के स्थान पर)।

४. स्यः ऋग्वेद में कभी भी अच् से पूर्व या पादान्त में नहीं पाया जाता है।

सो॑ सर्पः; एषो॑ असुर; एषो॑ऽ मन्दन् (अमन्दन् के स्थान पर); स॑ ओ॑षधीः; एष॑ इन्द्रः।

(अ) पर स॑ को ऋग्वेद में उत्तरवर्ती स्वर के साथ प्रायः सन्धि हो जाती है। यथा—स॑ अस्मै के स्थान पर सा॑स्मै; स॑ इद् के स्थान पर से॑द्; स॑ ओ॑षधीः के स्थान पर सौ॑षधीः।

समासों में सन्धि

४९. समासान्तर्वर्त्ती पदों के एक दूसरे से मिलने पर होने वाली सन्धि में सामान्यता वाह्य सन्धि के नियम ही लगते हैं। एवमेव छन्दःप्रमाण से यह पता चलता है कि एकादेश स्वरों का उच्चारण वहुत वार सन्धि के विना ही करना होता है विशेषकर तव जवकि उत्तरपद का आदिस्वर छन्दोऽनुरोधात् दीर्घ हो (देखिये १८ ख)। यथा (युक्ता॑श्व के स्थान पर) युक्त॑ अश्व *जिसने घोड़े जोत दिये हैं*; (देवे॑द्ध के स्थान पर) देव॑ इद्ध, *देवताओं से प्रदीप्त किया गया*; (अ॑छोक्ति के स्थान पर) अ॑छ उक्ति, *निमन्त्रण*।

समासों में सन्धि के वहुत से ऐसे प्राचीन रूप भी सुरक्षित रह गये हैं जिनका वाक्य सन्धि में लोप हो गया है।

(अ) विश्प॑ति, गृहपति और विश्प॑त्नी, (गृहपत्नी) में श् तदवस्थ रहता है, जवकि वाह्य सन्धि के नियमों के अनुसार इसके स्थान पर ट्[1] होना चाहिए था।

(आ) पुं० सम्रा॑ज् (सम्राट्) में म् दिखाई देता है जवकि इसके स्थान पर र् से पूर्व आने के कारण (४२,१) अनुस्वार उचित था। यथा—संरा॑जन्वम्।

(इ) उन वहुत से समासों में जिनमें कि दुस् (वुरा, खराव) पूर्वपद रहता है उस-क्रियाविशेषण (दुस्) की उत्तरवर्ती द् और न् से सन्धि हो जाती है जिसके कारण दुर्, द् और दुर्ण[2] के स्थान पर दूड् (=दुज़् प्-द्) और दूण् (=दुज़् प्ण-न्) ये रूप वन

---

१. विश्प॑ति उत्तर वैदिक काल में विट्पति वन गया है।

२. परन्तु दुर्—वह रूप जो कि वाद की वाह्य सन्धि को अभीष्ट है, ऋग्वेद-काल में पहिले ही वहुत अधिक प्रचलित है। यथा—दुर्द॑शीक; दूर्णा॑सन्।

जाते हैं : (दुस्दभ के स्थान पर) दूडभ, वह जिसे आसानी से धोखा नहीं दिया जा सकता ; (दुस् दाश् के स्थान पर) दूडाश् पूजा न करने वाला; (दुस् धी के स्थान पर) दूढी अशुभ-चिन्तक; (दुर्नश के स्थान पर) दूणश, वह जिसे कठिनाई से प्राप्त किया जा सके और दुस् नाश के स्थान पर दूणाश, वह जिसे कठिनाई से नष्ट किया जा सके।

(इ) ऋग्वेद में पूर्व पद का (निर्वचन सिद्ध) अन्तिम र् कठोर ध्वनियों से पूर्व तदवस्थ रहता है जबकि बाह्य सन्धि के नियमों के अनुसार वह विसर्जनीय या ऊष्म होना चाहिये था (४३) : वार्कार्य, जल उत्पन्न करता हुआ; स्वर्चक्षस्, प्रकाश के समान चमकता हुआ; पूर्पति, दुर्गाधिपति; स्वर्पति, स्वर्गाधिपति; वनर्सद् और वनर्षद्, जङ्गल में आसीन; धूर्षद्, जुता हुआ; स्वर्षा, प्रकाश को प्राप्त करता हुआ; स्वर्पाति, प्रकाश की प्राप्ति[1]। वा० सं० में : अहर्पति, दिन का स्वामी और धूर्षाः, जुए को वहन करने वाला।[2]

(उ) व्यञ्जनों से पूर्व उन धातुरूप प्रातिपदिकों में, जिनके अन्त में इर् या उर् आता है, प्रायः स्वर को दीर्घ हो जाता है (ठीक उसी प्रकार जैसाकि साधारण शब्दों में देखा जाता है)। यथा धूर्षद्, जुता हुआ; पूर्याण किले की ओर ले जाने वाला।[3]

५०. किंच; समासों में वे प्राचीनतर रूप भी उपलब्ध होते हैं जोकि बाह्य सन्धि में विद्यमान होने पर भी प्रयोग में नहीं आते। भाषा के उत्तरकाल में उनका प्रयोग सर्वथा लुप्त हो गया।

(क) छः समासों में श्चन्द्र *(चमकता हुआ)* उत्तरपद में आने पर आदि शकार को लिये रहता है। यथा—अश्वश्चन्द्र *घोड़ों के साथ चमकने वाला;* पुरुश्चन्द्र *बहुत चमकदार*। ऋग्वेद के तीन स्थलों के सिवाय स्वतन्त्र शब्द के

---

१. उन नाम पदों में जिनके अन्त में धातु का र् आता है सप्तमी विभक्ति के प्रत्यय सु से पूर्व र् तदवस्थ रहता है : गीर्षु, धूर्षु, पूर्षु।

२. बाद की संहिताओं में बाह्य सन्धि धीमे धीमे इसका स्थान ग्रहण करने लगती है। यथा—सा० वे० में स्वःपति।

३. परन्तु गिर् का अपना ह्रस्व स्वर गिर्वणस्, स्तुति पसन्द करने वाला और गिर्वाहस् गीत, प्रशंसित, में तद्वस्थ रहता है।

रूप में यह नियमन चन्द्र[1] रूप में ही पाया जाता है।

(ख) पूर्वपद के अन्त्य स् या उत्तरपद के आदि स् को मूर्धन्य हो जाता है। यथा—दुष्टर, *कठिनाई से पार करने योग्य*[2]; दुष्षह, *बहुत कठिनाई से सहने योग्य*।

(ग) पूर्वपद में ऋ, र्, ष् के आने पर उत्तरपद के दन्त्य नकार के स्थान पर मूर्धन्य हो जाता है :

(अ) कृदन्त पद के रेफवान् उपसर्ग के साथ समास होने पर धातु के आदि, मध्य और अन्त के नकार को लगभग नियमित रूप से ण् हो जाता है। यथा—निर्णिज् (स्त्री०) उजला वस्त्र; परिह्वृत, इन्कार किया गया, प्राण (पुं०) श्वास। प्रत्ययों में भी इसी प्रकार होता है। यथा प्रयाण (नपुं०) आगे बढ़ना (गमनार्थक या धातु का रूप)।

(आ) उत्तरपद में धातुज नामपद होने पर एवञ्च पूर्वपद में ऋ, र्, ष् आने पर णत्व समासान्तरों में प्रचुर है। यथा—ग्रामणी, गाँव का मुखिया; दुर्गाणि, खतरे; पितृयाण, जिसमें पितर गये हों; रक्षोहण, राक्षसों को मारने वाला। परन्तु पुरोयावन्, सुबह जाने वाला, में णत्व नहीं मिलता जबकि प्रातर्यावण में वह उपलब्ध है। हिंसार्थक हन् धातु के उपधा-लोप से बने घ्न् और निम्नलिखित शब्दों में मूर्धन्य (ण्) कभी नहीं होता—अक्षानह्, अक्ष से बँधा हुआ; क्रव्यवाहन, शव ले जाने वाला; चर्मम्न, चमार; युष्मानीत, तुम से ले जाया गया।

(इ) यदि उत्तरपद एक साधारण (अधातुज) संज्ञा-पद हो तो यह णत्व उतनी नियमितता से नहीं पाया जाता। यथा—उरूणस, चपटी नाक वाला; प्रणपात्, प्रपौत्र; परन्तु चन्द्रनिर्णिज्, चमकते हुए वस्त्र वाला और पुनर्नव, फिर से नया बनाया गया में णत्व होता भी है और नहीं भी होता।

---

१. स्वतन्त्र शब्द के रूप में श्चन्द्र किस प्रकार लगभग समाप्त सा हो गया, इसका पता चलता है इसके छः समासों के विग्रहों से जहां कि पद-पाठ में यह सदैव चन्द्र रूप में पाया जाता है।

२. उत्तर वैदिक संस्कृत में केवल दुस्तर, दुःसह।

(घ) पूर्वपद के अन्तिम अच् को बहुत वार दीर्घ कर दिया जाता है विशेपकर व् से पूर्व । यथा–अन्नावृध् *अन्न से वृद्धि को प्राप्त होने वाला* । बहुत वार यह दीर्घत्व पुरानी छन्दःप्रवृत्ति के कारण से भी होता है (जो कि वाक्य में भी पाई जाती है) जिससे कि दो ह्रस्व अक्षरों के बीच आने वाले असंयुक्त व्यंजन के पूर्व के स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है। यथा रथासः *रथ खींचने में समर्थ* ।

(ङ) पूर्वपद के अन्तिम आ और ई को किसी व्यंजन-समुदाय अथवा गुरु अक्षर से पूर्व प्राय. ह्रस्व कर दिया जाता है। यथा ऊर्णम्रदस् *ऊन के (ऊर्णा) समान मुलायम*; पृथिवि॒ष्ठा, *पृथिवी पर स्थित*; अमीवचा॑तन *रोग (अमीवा) को भगाने वाला* ।

व्यंजनों में द्वित्व

५१. तालव्य छ् व्युत्पत्ति की दृष्टि से दो ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करता है और छन्दोऽनुरोधात् पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को दीर्घ करता है। इस दूसरे कारण से ही ऋग्वेद प्रातिशाख्य ह्रस्व स्वर से परे छ् के द्वित्व (च्छ् के रूप में) का विधान करता है। पर जहाँ तक दीर्घ स्वरों का सम्बन्ध है केवल आ से परे ही ऐसा विधान है जबकि उसके बाद कोई स्वर आ रहा हो।[१] मैक्समूलर ने ऋग्वेद के अपने संस्करणों में इस नियम का पालन किया है। यथा—उर्तच्छर्दिः, आच्छद्-विधान; परन्तु (आ से अतिरिक्त) अन्य किसी दीर्घ स्वर के परे द्वित्व नहीं होता। यथा—मे छन्त्सत् ।

५२. ह्रस्व स्वर के पूर्व आने वाले अन्तिम ङ और न् को द्वित्व हो जाता है यदि उनके पूर्व भी ह्रस्व स्वर हो। यथा—कीदृ॑ङ्ङिन्द्रः; अहन्निन्द्रः । यद्यपि लिखने में दो अनुनासिक ही आते हैं तो भी छन्द से पता चलता है कि इस नियम का ऋग्वेद में उच्चारण की दृष्टि से आंशिक रूप से ही पालन किया जाता है।

---

१. वैदिक पाण्डुलिपियों में नियमित रूप से सामान्य छ् ही लिखा गयाहै । आफ़ेरत (Aufrecht) ने ऋग्वेद के अपने संस्करण में इसी पद्धति को अपनाया है । यही ल० व० श्रोडर (Schroeder) ने पाण्डुलिपि के अपने संस्करण में किया है । प्रस्तुत ग्रन्थ में भी इसे ही अपनाया गया है।

(ऋ) वृषणश्व, लंगड़ा घोड़ा (ण्—न्) यह समास (उपरिनिर्दिष्ट नियम का) अपवाद है।

आदि महाप्राणता

५३. अन्त्य च् से परे आदि श् को नियमित रूप से छ् हो जाता है। यथा यद् शवर्नवाम के स्थान पर यच्छवर्नवाम।

(क) यही परिवर्तन कभी-कभी द् के बाद भी देखा जाता है। यथा—विपाट् छुतुद्री (शुतुद्री के स्थान पर); तुराषाट् छुष्मी (शुष्मी के स्थान पर)।

५४. आदि ह् पूर्ववर्ती क्, ट्, त्, प् को मृदु बनाने के बाद उसी स्पर्श के मृदु महाप्राण व्यंजन में परिवर्तित हो जाता है। यथा—सम्यग्घिता (हिता के स्थान पर); अवाड् ढव्यानि। (अवाट् हव्यानि के स्थान पर); सीदद् धोता (सीदत् होता के स्थान पर)।

५५. यदि ग्, द्, और ब् से प्रारम्भ होने वाले (धातु के) अन्त में घ्, ध्, भ् या ह् आयें और अन्त में आने पर अथवा किसी अन्य कारण से महाप्राण न रहें तो आदि के व्यंजन क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त से महाप्राण हो जाते हैं।[१] यथा—दघ् पहुँचना का लुं० लो० में प्र० पु० एक० का रूप धक् (दघ् त के स्थान पर) बनता है। बुध्, जागना और दुह्, दुहना के रूप क्रमशः भुत् और धुक् बनते हैं।

(२) आन्तरिक सन्धि

५६. आन्तरिक सन्धि के नियम धातुओं के अन्त्य वर्णों, सभी विभक्ति-प्रत्ययों से पूर्व के नामपदों (सिवाय उनके जिनके आदि में मध्यम कोटि के प्रातिपदिक का हल् रहता है ७३ क), धातुरूपों में अविकृत तिङ् प्रत्ययों

---

१. वास्तव में यह क्षतिपूर्ति नहीं है अपितु उन धातुओं के आदि के मूल महाप्राणत्व का अवशेष है जोकि एक ही अक्षर के आदि और अन्त में महाप्राणता को हटाने के कारण से लुप्त हो गया था। अतएव जब अन्तिम महाप्राण लुप्त हो गया तो आदि का महाप्राण लौट आया।

(१८२,२) एवञ्च अच् से या य् से प्रारम्भ होने वाले विकृत प्रत्ययों (१८२,२) से पूर्व लगते हैं। इन नियमों में बहुत से बाह्य सन्धि के नियमों से मिलते-जुलते हैं। जो बाह्य सन्धि से भिन्न हैं उनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निम्नलिखित हैं:

अन्तिम स्वर

५७. बहुत से स्थलों में अच् से पूर्व ई को इय् हो जाता है और उ और ऊ को उव्। यथा—धी+ए=धियें; च० एक० *विचारने के लिये;* भू+इ= भुवि, *पृथ्वी पर;* युयुवें, *मिल गया है* (यु धातु)।

५८. अन्तिम ऋ को य् से पूर्व रि हो जाता है (१५४,३) यथा—कृ बनाना: क्रियते, कर्मवाच्य लट् प्र० एक०, *किया जाता है*। अन्तिम ॠ को हलादि प्रत्ययों से पूर्व ईर् हो जाता है और ओष्ठ्यों के पश्चात् ऊर्। यथा—गॄ, *निगलना* गीर्यते, *निगला जाता है;* गीर्ण, निगला गया। पॄ *भरना,* पूर्यते, भरा जाता है; पूर्ण *भरा हुआ*।

५९. अजादि या यकारादि प्रत्ययों से पूर्व ए, ऐ और ओ, औ के स्थान पर क्रमशः अय्, आय् और अव्, आव् ये आदेश हो जाते हैं। यथा—शे+उ= शयु *लेटा हुआ;* रै+ए=रायें, *धन के लिये;* गो+ए=गवे, *गाय के लिये;* नौ+इ=नावि, *नाव में;* गो+य=गव्य, *गो-सम्बन्धी*।

अन्तिम व्यंजन

६०. आन्तरिक सन्धि का बाह्य सन्धि से सबसे उल्लेखनीय भेद है स्वरों, अन्तःस्थों और अनुनासिकों से प्रारम्भ होने वाले प्रत्ययों से पूर्व के संज्ञा और धातुज प्रातिपदिकों एवंच धातुओं के अन्तिम व्यंजनों का अपरिवर्तित रहना (देखिये ३२) [जबकि अन्य वर्णों से पूर्व वे प्रायः बाह्य सन्धि के नियमों का पालन करते हैं।] यथा—वाच्य, *बोलने योग्य;* दुरस्यु, *पूजा करता हुआ;* यशस्वत्, *यशस्वी;* वच्मि *मैं बोलता हूँ,* (प्रत्युदाहरण—वक्ति *वह बोलता है*) वोचम् *मैं बोलूँगा;* पपृच्यात् *मिलेगा;* प्राञ्चः प्र० बहु०, *आगे*।

(अ) न इस अविकृत प्रत्यय से पूर्व के द् का समीकरण हो जाता है। यथा—अन्न, नपुं० (अद् न के स्थान पर); छिन्न, काटा गया (छिद् न के स्थान पर)।

विकृत प्रत्ययों मन्त् और मय से पूर्व त् और द् को भी ऐसा ही होता है। यथा—
विद्युन्मन्त्, बिजली वाला (विद्युत्) और मृन्मय, मिट्टी का बना (मृद्)।
नाम पद षण्णाम् (षट् नाम् के स्थान पर) छहों का (षष्) में अन्तिम ट् का
समीकरण हुआ है।

६१. उन हलन्त संज्ञा और धातुज प्रातिपदिकों में, जिनसे परे अपृक्त
हल् प्रत्यय आते हैं, प्रत्ययों का सर्वथा लोप हो जाता है क्योंकि पदान्त
में दो व्यंजन एक साथ नहीं रह सकते (२८)। जो अन्तिम व्यंजन बच रहता
है, उसमें बाह्य सन्धि के नियमों के अनुसार परिवर्तन होते हैं। इसीलिये
प्राञ्च् स् प्रथमा एक० *आगे* प्राङ् बन जाता है (पहले स् का लोप होता है,
फिर नियम २७ के द्वारा तालव्यों के स्थान पर कण्ठ्य हो जाते हैं और तदनन्तर
नियम २८ के द्वारा क् का लोप कर दिया जाता है)। इसी प्रकार अ+दोह्+
त् अधोक् *(उसने दुहा)* (५५) बन जाता है।

६२. महाप्राणों से परे यदि स्वर, अन्तःस्थ और अनुनासिकों (६०) से अति-
रिक्त अन्य कोई ध्वनि आये तो उनका महाप्राणत्व दूर हो जाता है। यथा—
रुन्ध्+धि=रुन्द्धि[1], लुङ्-लोट् म० एक० बनाओ; लभ्+स्य+ते=लप्स्यते
(ब्रा०) लृट् प्र० एक० *प्राप्त करेगा;* परन्तु युधि (युद्ध में) और
आरभ्य *(पकड़कर)* में ऐसा नहीं होता (ध् और भ् के बाद इ और य् आ जाने
के कारण)।

(क) यदि सम्भव हो सके तो ध्, भ् और स् से पूर्व की लुप्त मृदु महा
प्राणता अपने से पूर्व की ध्वनि में प्रवेश कर जाती है। यथा—इन्ध् *प्रदीप्त*

---

१. चूंकि वैदिक भाषा दो महाप्राणों को न तो एक ही अक्षर के आदि और अन्त
में और नहीं एक अक्षर के अन्त में और दूसरे के आदि में सहन करती है। इसके
विपरीत धातु से महाप्राणता हटती नहीं यदि उसके बाद कोई प्रत्यय का, अथवा
उत्तरपद का महाप्राण वर्ण (स्वर के पश्चात्) आता है। यथा—विभुंभिस्, विभुओं
के साथ; गर्भधि पुं० पैदा होने का स्थान। (लोट् के दो रूपों बोधि (होओ)
जो कि भोधि का स्थानापन्न है एवञ्च जहि जो कि झहि का स्थानापन्न है,
में सामान्य नियम का ही अनुसरण किया जाता है)।

करना का लोट् म० बहु० का रूप इन्द्ध्वम् होता है; तृतीया बहु० का रूप भुद्भिस् होता है; सप्तमी बहु० का रूप भुत्सु होता है; परन्तु स् से पूर्व इस नियम की प्रवृत्ति आंशिक रूप में ही होती है। इसीलिये हिंसार्थक दभ् का सन्नन्त रूप बनता है दिप्सति, *हानि पहुँचाना चाहता है*; दिप्सु, *हानि पहुँचाना चाहता हुआ*; भस् *चबाना* का रूप बनता है बप्सति, गुह् *छिपाना* का सन् में रूप बनता है जुगुक्षतस्, अन्य रूप, अघुक्षत्; दह् *जलाना* का शत्रन्त रूप बनता है दक्षत्, अन्य रूप, धक्षत्; दुह् *दुहना* का लुङ् में रूप बनता है अदुक्षत्, अन्य रूप, अधुक्षत्।

(ख) परन्तु आगे त् और थ्[1] आने पर इसे उन पर डाल दिया जाता है। उस स्थिति में उन्हें मृदु बना दिया जाता है। यथा—रभ्+त=रब्ध *पकड़ा गया*; रुणध्+ति=रुणद्धि; रुन्ध्+ताम्=रुन्द्धाम्, लोट् का प्र० एक० का रूप, *उसे रोकने दो*।

६३. *तालव्य*

(क) च् व्यञ्जनों से पूर्व नियमित रूप से (देखिये ६१; २७; ७ ख) एवञ्च ज् कतिपय स्थलों में (बाहुल्येन) कण्ठ्य (क् या ग्)[2] बन जाते हैं। अन्य स्थलों में ज् को मूर्धन्य (ट्, ड् और ष्) हो जाता है। यथा—उक्त *बोला गया* (√वच्); युक्त *जुड़ा हुआ* (√युज्); रुग्ण *त्रुटित* (√रुज् : देखिये ६५); (अन्यत्र ज् के स्थान पर मूर्धन्य होने के कारण रूप पाये जाते हैं) राट् प्रथमा विभक्ति एक० *राजा* (राज्+स् के स्थान पर); मृड्ढि लोट् म० पु० एक० *झाड़ो* (मृज् धि के स्थान पर); राष्ट्र, *राज्य* (राज् त्र के स्थान पर, देखिये ६४)।

(ख) तालव्य श् को भ् से पूर्व (७२ क) (सामान्यतया) ड्[3], स् से पूर्व

---

१ सिवाय (*रखना* इस अर्थ की) धा धातु के जिसका दुर्बल प्रातिपदिक दध् (६२ क की समानता पर) त् और थ् से पूर्व धत् बन जाता है [देखिये १३४, र (ख)]।

२. धातु-रूपों के स् से पूर्व के ज् को सदैव क् हो जाता है (देखिये १४४; ४) यथा—मृक्ष्व शोधनार्थक मृज् धातु के लोट् म० पु० का एक०।

३. दिश् और दृश् के विषय में ग : दिग्भ्यस्, दृग्भिस्।

क्,[1] और त् और थ् से पूर्व सदैव ष् हो जाता है (देखिये ६४)। यथा—षड्भिस्, हड्डियों के साथ(षट्), विड्भिस् कपोतों के साथ (विश्); वेक्ष्यसि प्रवेशार्थक विश् का लृट् का रूप; विक्षु,[2] सप्तमी बहु० (विश्); दिक्, दिशावाची दिश् का प्रथमा विभक्ति एक० का रूप; नक्, रात्रिवाची नश् का प्रथमा विभक्ति एक० का रूप; विष्ट *प्रविष्ट हुआ* (√विश्)।

(ग) च् और ज् (न कि श्) उत्तरवर्ती न् को तालव्य रूप में परिवर्तित कर देते हैं। यथा—यज्+न=यज्ञ। प्रश्न में (श् के कारण) यह तालव्यीकरण नहीं होता।

(घ) प्रश्नार्थक प्रछ् धातु के छ् को भी श् की तरह ही समझा जाता है: अप्राक्षीत्, सिप् लुङ् का प्र० पु० एक का रूप; अप्राट् स्-लुङ् का प्र० पु० एक० का रूप (=अप्रछ् स् त्); पृष्ट *पूछा गया*; प्रष्टुम्, तुमुन्नन्त रूप, पूछने के लिये।

६४. मूर्धन्य

उत्तरवर्ती दन्त्यों को मूर्धन्य रूप में परिवर्तित कर देते हैं (३९)। यथा—इष्+त=इष्ट; अविष्+धि=अविड्ढि, अव् धातु का लोट्-इष् लुङ् का म० पु० एक० का रूप; षण्+नाम् (षट्+नाम् के स्थान पर)=षण्णाम् (देखिये ३३, ६० क)।

(क) जबकि मूर्धन्य ऊष्म ष् नामरूपों में सदैव मूर्धन्य स्पर्श (ट् या ड्) रूप में परिणत होता देखा जाता है और तिङ रूपों में इसे ड् हो जाता है; स् से पूर्व आने पर तिङ रूपों में यह नियमित रूप से क् बन जाता

---

१. परन्तु प्रथमा विभक्ति के रूपों विट् (विश्) विपाट् (विपाश्) और स्पट् गुप्तचर (स्पश्) में क् उन शब्द-रूपों के, जिनमें कि मूर्धन्य ध्वनि की दृष्टि से समीचीन है, प्रभाव के कारण मूर्धन्य हो गया है यद्यपि ध्वन्यौचित्य की दृष्टि से वहाँ भी क् ही होना चाहिये था।

२. सप्तमी विभक्ति के बहुवचन सु से पूर्व इस ध्वनि का कोई उदाहरण नहीं मिलता।

है (देखिये ६३ ख और ६७)। यथा—द्विष्+स्=द्विट् प्रथमा विभक्ति एक०, घृणा करता हुआ; विप्रु॑ष्+स्=विप्रु॑ट् बूँद, विप्रु॑ड्भिस् तृतीया बहु०; अविष्+धि=अविड्ढि, आनुकूल्यार्थक अव् का लोट् इष् लुङ् का म० पु० एक० का रूप; द्विष्+स्—त्=द्विक्षत्, घृणार्थक द्विष् का लु० लो०—स्—लुङ का प्र० पु० एक० का रूप।

६५. दन्त्य न् के स्थान पर मूर्धन्य ण्

ऋ, ॠ, र् और ष् के बाद आने वाले न् को ण् हो जाता है (स्वरों, कण्ठ्य या ओष्ठ्य स्पर्शो या अनुनासिकों एवं य्, व् और ह् का व्यवधान रहने पर भी) यथा—नृ+नाम्=नृणाम् *आदमियों का;* पितृ+नाम्=पितृणाम्, *पितरों का;* वर्+न=वर्ण (पुं०) *रंग;* उष्+न=उष्ण *गरम;* क्र्मण नपुं० *कदम* गृभ्णाति *पकड़ता है,* (ओष्ठ्य स्पर्श का व्यवधान रहने पर) ब्रह्मण्या *भक्ति* (स्वर; ह्, ओष्ठ्य अनुनासिक और स्वर का व्यवधान रहने पर; एवञ्च न् से परे य् आने पर)।[1]

समान पद में इस नियम का सर्वत्र पालन किया जाता है भले ही इसमें आने वाला ष् सन्धि से ही बना हो। यथा—उषुवार्णः (उ सुवार्नः के स्थान पर)।

(अ) जितनी नियमितता से प्र॑ (सामने), प॑रा (दूर), प॑रि (चारों ओर) नि॑र् (निस् के स्थान पर) (बाहर) इन उपसर्गों के साथ समस्यमान क्रियापदों में न् को मूर्धन्य (ण्) होता है उतनी ही नियमितता से यह उन सोपसर्गक कृदन्त रूपों में भी पाया जाता है। यथा—पराणु॑दे (नुद् प्रेरितकरना); प्रणेतृ॑ नेता, मार्गदर्शक (√नी अगवाई करना); प॑रिहृ॒त इन्कार किया गया; प्रा॑णिति श्वास लेता है (√अन्) निर्हण्यात् (हन् प्रहार करना)। पर घ्न् वाले रूपों में ऐसा नहीं होता (यथा अभिप्रघ्नन्ति)। हिनोमि में प्र उपसर्ग के साथ णत्व होता है : प्र॑हिणोमि; पर परि के साथ नहीं, परिहिनो॑मि (हि प्रेरित करना)।

---

१. ऋग्वेद में इस नियम के दो अपवाद हैं, षष्ठी बहुवचन के रूप उ॑ष्ट्रानाम और राष्ट्र॑ानाम्।

(आ) नामपदों से बने समासों में न् को प्राय मूर्धन्य कर दिया जाता है जब कि यह (न्) ऋग्वेद में उत्तरपद के आदि में आये। यथा—दुर्णामन् बदनाम; प्रणपात्, प्रपौत्र। प्रत्युदाहरण—त्रिनार्क नपुं० तीसरा स्वर्ग। इसमें णत्व नहीं पाया जाता। न् के पद के मध्य में आने पर णत्व इतना प्रायिक नहीं है। यथा—पूर्वाह्णं; वृषमणस् पौरुष युक्त। (णत्वाभाव का रूप) ऋषिमनस्, वह जिसका मन दूरदर्शी है। (इसी प्रकार) नृपाण, लोगों को पिलाने वाला (में तो णत्व होता है) पर परिपान नपुं० पेय (में नहीं) (देखिये ५० इ, ई)।

(इ) मूर्धन्यीकरण का बाह्य सन्धि में भी अतिदेश कर दिया जाता है—अतिसन्निकृष्ट उत्तरवर्ती पद में। यह बहुत बार नस् (हम), कभी-कभी अन्य एकाध शब्दों जैसे नु (अब), नं (सदृश), एवञ्च यदा-कदा शब्दान्तरों के आदि में पाया जाता है।[1] यथा—सहो षु णः; परि णेता .... विशत्। पद के मध्य में आने पर भी यह कभी-कभी देखा जाता है। पर सबसे अधिक यह गौण सर्वनाम एन (यह) में पाया जाता है। यथा—इन्द्र एणम्। कभी-कभी यह अन्तिम र् के बाद आने वाले सस्वर पदों में पाया जाता है। यथा—गोर् ओहेण।

न् को ण् कब होता है, यह बताने वाली तालिका

ऋ ॠ र् ष्	स्वरों, कण्ठ्य व्यञ्जनों (जिनमें ह् भी शामिल है) ओष्ठ्य व्यञ्जनों (जिनमें व् भी शामिल है) और य् का व्यवधान होने पर भी	न् को ण् में परिवर्तित कर देते हैं	यदि उनके बाद स्वर, न्, म्, य् या व् आयें।

६६. (य) दन्त्य न्

१. य् और व् से पूर्व अपरिवर्तित रहता है। यथा—हन्यते, *मारा जाता है*; तन्वानं, *फैलता हुआ*; इन्धन्वन् *ईंधनयुक्त (इन्धनं)*; आसन्वन्त्, *मुंह वाला।*

---

१. जब षट् (छः इस अर्थ के षष् के स्थान पर) के अन्तिम मूर्धन्य ट् के बाद जिसका कि उत्तरवर्ती न् में समीकरण हो जाता है (३३) आदि दन्त्य न् आये तो उसको मूर्धन्य हो जाता है। यथा—षण्णवति छियानबे (तै० सं०) और षण्णिरमिमीत (ब्रा०)।

२. को धातु के अन्त में आने पर स् से पूर्व अनुस्वार हो जाता है। यथा **जिंघांसति**, *मारना चाहता है* (√हन्)। नपुं० बहुवचन में जब अन्तिम **स्** और **ष्** से पूर्व इसका आगम हो, तो भी यही स्थिति होती है (७१ ग; ८३)। यथा—**एंनांसि**, पापार्थक **एंनस्** का नपुं० बहु० का रूप; **हवींषि**, आहुत्यर्थक **हविंस्** का नपुं० बहु० का रूप (८३)।

(२) दन्त्य स्

१. को धातु के अथवा प्रातिपदिक के अन्त में आने पर दन्त्य त् हो जाता है।

(क) वस् (*रहना*), (वस्) *चमकना*, घस् (*खाना*) इन तीन धातुओं से आने वाले प्रत्ययों (लृट्, लुङ्, सन्) के स् से पूर्व भी यही स्थिति होती है। यथा—**अवात्सीस्**, *तुम रहे हो*; **वत्स्यति**, *चमकेगा*; **जिघत्सति**, *खाना चाहता है* (१७१,५) और **जिघत्सु** *खाने का इच्छुक*।[१]

(ख) क्वसुप्रत्ययान्त कृदन्त रूपों एवञ्च अन्य चार शब्दों में भकारादि विभक्ति प्रत्ययों से पूर्व भी यही स्थिति होती है। यथा—**जागृवद्भिस्**, तृतीया बहु० *जागे हुए*; स्त्री० **उषस्** शब्द से **उषद्भिस्**, *उषःकाल*; पुं० **मास्** शब्द से **माद्भिस्**, **माद्भ्यस्**; *अपने में दृढ़* इस अर्थ के **स्वतवस्** से **स्वतवद्भ्यः**। ऋग्वेद में यह परिवर्तन ध्वन्यौचित्य के विना भी[२] नपुं० प्रथमा और द्वितीया विभक्ति एकवचन के रूपों में अतिदिष्ट कर दिया गया। यथा—**ततन्वत्**, *दूर तक फैला हुआ*।

२. (क) स्पर्शों के बीच में आने पर दन्त्य स् का लोप हो जाता है। यथा **अभक् स् त** के स्थान पर भागार्थक **भज्** का **अभक्त**, स् लुङ् का प्र० पु० एक० का

---

१. भूतकाल के प्र० एक० के प्रत्यय **त्** से पूर्व के **स्** के स्थान पर **त्** का होना; यथा—**व्यवात्**, विवस् का रूप, चमका। यह सम्भवतः ध्वनिपरिवर्तन नहीं है। बहुत सम्भावना यही है कि यह **त्** वाले प्र० पु० एक० के अन्य भूतकालिक प्रत्ययों के प्रभाव के कारण ही है जिसके कारण कि ***अवास् त**, ***अवास्** के स्थान पर, **अवात्** बन गया।

२. यहाँ **स्** विभक्ति के न रहे होने के कारण। **वत्सु** वाले सप्तमी बहु० रूपों का कोई भी उदाहरण ऋग्वेद और अथर्ववेद में नहीं मिलता।

रूप, अन्य रूप, अभक्षि ; चक्ष् टे (=मूल में चश् स् ते) के स्थान पर चष्टे, चक्ष् (बोलना) का लट् के प्र० पु० एक० का रूप; खादनार्थक घस् का अघ् स् त् के स्थान पर बना अग्ध (न खाया गया) रूप।

इसी प्रकार का लोप उद् इस उपसर्ग और गतिनिवृत्त्यर्थक स्था और धारणार्थक स्तम्भ् धातुओं से बने तिङ् समासों में भी पाया जाता है। यथा—उ॑त्थित और उ॑त्तभित, उठाया गया।

(ख) घ् से पूर्व भी स् का लोप होता है। यथा—शास् धि के स्थान पर बना शास् धातु का लोट् म० पु० एक० का रूप शाधि; बैठना इस अर्थ की आस् का लोट् आत्मने० म० पु० बहु० का रूप आध्वम्। ष् रूप में परिवर्तित होने एवञ्च उत्तरवर्ती दन्त्य के मूर्धन्यीकरण के बाद भी स् का लोप देखा जाता है। यथा—अस्तोढ्वम् (अस्तोष् ध्वम् के स्थान पर), स्तुत्यर्थक स्तु धातु का लुङ् म० पु० बहु० का रूप।

६७. दन्त्य स् का मूर्धन्य ष् में परिवर्तन

अ और आ के सिवाय अन्य स्वर (अनुस्वार का व्यवधान होने पर भी[1]) एवञ्च क्, र् और ष् के बाद आने पर दन्त्य स् को (यदि उसके बाद कोई स्वर, स्, त्, थ्, न्, म्, य् या व् आये) मूर्धन्य ष् हो जाता है।[2] यथा—ह॒विस् ह॒विषा, तृतीया एक० का रूप; ह॒वीं॑षि, प्रथमा बहु० का रूप; च॑क्षुस् नपुं० आँख : च॑क्षुषा, तृतीया एक० का रूप; च॑क्षूं॑षि प्रथमा बहु० का रूप; ह॒वि॑ष्षु सप्तमी बहु० का रूप; स्र॑ज् स्त्री० माला: स्रक्षु॑, सप्तमी बहु० का रूप; गि॑र् स्त्री० स्तुति: गी॑र्षु, सप्तमी बहु० का रूप; ति॑ष्ठति गतिनिवृत्त्यर्थक स्था धातु का रूप; च॑क्षुष्मन्त् आँखों वाला; भवि॒ष्य॑ति होगा, सत्तार्थक भू धातु का रूप; सुष्वा॑प,

---

१. पर हिंस्, हानि पहुँचाना, निंस् चूमना और पुं॑स् पुरुष के रूपों में स् तदवस्थ रहता है, सम्भवतः हि॒न॑स्ति, पुं॑मांसम् इत्यादि सबल रूपों के प्रभाव के कारण ही।

२. जिन शब्दों में स्, र् अथवा अ और आ से अतिरिक्त अन्य किसी स्वर के बाद आता है उनका उद्भव अवश्य विदेशी रहा होगा। यथा—बृ॑सय, असुर, बि॑स, नपुं० जड़ का रेशा; बु॑स, नपुं० वाष्प।

सोया। प्रत्युदाहरण—सर्पिः (स् के अन्त में होने के कारण), मनसा (न के पूर्व आने के कारण), उस्रं[1] प्रातःकाल का (र् परे आने के कारण)।

(अ) ऋग्वेद में तिङ् समासों में इकारान्त और उकारान्त उपसर्गों के बाद आदि में एवम् इस प्रकार के समस्यमान कृदन्त रूपों में और निस् (बाहर) इस उपसर्ग के बाद स् को नियमित रूप से मूर्धन्य कर दिया जाता है। यथा—नि षीद बैठो; अनु ष्टुवन्ति वे स्तुति करते हैं; निः षहमाणः जीतता हुआ।[2]

(आ) नामपदों के बने समासों में स् को मूर्धन्य न करने की अपेक्षा मूर्धन्य कर देने की ही प्रवृत्ति अधिक है जब कि उत्तरपद के आदि के स् से पूर्व अ या आ से अतिरिक्त कोई अच् आये। यथा—सुषोम, जिसके पास सोम प्रचुर मात्रा में है। परन्तु ऋग्वेद में स् को बहुत बार वैसे ही रहने दिया जाता है न केवल तभी जब कि ऋ या र् उसके परे हों जैसे हृदिस्पृश्, हृदयस्पर्शी; ऋषिस्वर, ऋषियों से गाया गया, अपितु वहाँ भी जहाँ कि इस परिवर्तन को रोकने का कोई कारण नहीं होता। यथा—गोसखि, जिसके पास पशु हैं, अन्य रूप, गोषखि। र् के बाद आने वाले स् को स्वर्षा (प्रकाश को प्राप्त करने वाला) और स्वर्षाति (प्रकाश की उपलब्धि) इन शब्दों में ष् हो जाता है।

(इ) ऋग्वेद में मूर्धन्यता के क्षेत्र का विस्तार वाक्य सन्धि तक भी कर दिया जाता है जब कि वाक्य में परस्पर अन्वित दो शब्दों में एक के अन्तिम इ या उ के बाद दूसरे के आदि का स् आ रहा हो। यह परिवर्तन मुख्य रूप से प्रायः सर्वनामों और निपातों में पाया जाता है जैसे स, स्य, सीम्, स्म, स्विद् और विशेष रूप से सु: यथा—ऊ षु। अनेक क्रियापदों और शतृ-शानजन्त रूपों में भी यह पाया जाता है। यथा हि ष्ठ, क्योंकि तुम हो; दिवि षन्, स्वर्ग में होना। अन्य शब्दों में परिवर्तन

---

१. स् के अव्यवहित अनन्तर र और ऋ आयें तो स् तदवस्थ रहता है। यथा त्रि (तीन) के रूप, तिस्रस्, तिसृभिस्, तिसृणाम् (स्त्री०); षष्ठी का रूप उस्रस्, सप्तमी का रूप उस्रि और उस्राम्। अन्य रूप उषस् : उस्र्, स्त्री०।

२. यदि स् से परे ऋ (ट् का व्यवधान होने पर भी) अथवा र् [अ का स्वर् (याद कर), स्वर् (ध्वनि) में अतिरिक्त म् और व् के साथ व्यवधान होने पर भी] आवे तो स अपरिवर्तित रहता है।

कहीं-कहीं ही पाया जाता है। यथा—त्रीषधस्था।[1] बाद की संहिताओं में इस प्रकार की बाह्य सन्धि सिवाय उ षु या ऊ षु के बहुत ही कम उपलब्ध होती हैं।

स् को ष् कब होता है, यह बताने वाली तालिका

अ, आ से अतिरिक्त स्वरों के (अनुस्वार का व्यवधान होने पर भी) एवञ्च क्, र्, ष् के बाद आने वाले	स् को ष् हो जाता है	यदि उसके बाद कोई स्वर, या त्, थ्, न्, म्, य् या व् आयें।

६८. ओष्ठ्य म्, य्, र्, ल्, से पूर्व अपरिवर्तित रहता है। (देखिये ६० और ४२, (र) १) यथा—यम् यंमान *निर्देशित किया जाता हुआ;* वम्र पुं० *चींटी;* अंपम्लुक्त, *छुपाया हुआ।* परन्तु वकारादि प्रत्ययों से पूर्व इसे न् हो जाता है। यथा—जगन्वान् *जा चुकने के बाद* (गमनार्थक गम् धातु से)।

६९. (क) श्वास रूप ह् को सभी धातुओं में स् से पूर्व क् हो जाता है। यथा—धक्षि, दहनार्थक दह् का लट् म० पु० एक० का रूप; सक्षि अभिभवार्थक सह् का लट् म० पु० एक० का रूप।

(ख) दकारादि धातुओं में इसे त्, थ् और ध् से पूर्व घ् मान लिया जाता है। यथा दह्+त=दग्ध *जला हुआ* (६२ ख); दुह्+ताम्=दुग्धाम् लट् प्र० पु० द्वि० का रूप। इसी प्रकार का एक अन्य शब्द है, मुग्ध, जो कि मुह् का प्राचीनतम क्त प्रत्ययान्त रूप है।

(ग) शेष सब धातुओं में इसे (ह् को) महाप्राण मूर्धन्य मान लिया जाता है जोकि उत्तरवर्ती त्, थ्, ध् को ढ् में परिवर्तित करने के बाद और पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को दीर्घ करने के बाद लुप्त हो जाता है। यथा—सह्+त=

---

१. ऋग्वेद में सन्धि पाई जाती है यंजुः ष्कन्नंम् (स्कन्नंम् के स्थान पर) जिसमें कि न्न् का मूर्धन्यत्व नहीं पाया जाता। (देखिये ६५)।

साढ[1]; *अभिभूत;* रिह्+त=रीढ, चाटा गया; मुह्+त=मूढ (अथर्व०); वह्+त=ऊढ[2]; वह्+ध्वम्=वोढ्वम् (वा० सं०)।[3]

(घ) (ग) का अपवाद नह् (*बाँधना*) है जहाँ कि ह् को घ् मान लिया जाता है: नद्ध *बाँधा हुआ।* (ख) और (ग) इन दोनों का अपवाद है दृह् धातु: दृढ *मज़बूत* (यह द् से प्रारम्भ होती है और इसमें ह्रस्व स्वर भी है)।[4]

तृतीय अध्याय

नामरूप

७०. नामरूप अथवा प्रातिपदिकों के तत्तद्विभक्तियों में बने रूपों पर जोकि वाक्य के विभक्तियों द्वारा अभिहित अनेक सम्बन्धों को अभिव्यक्त करते हैं बहुत ही सुविधापूर्वक विचार किया जा सकता है। कारण, (१) नाम शब्दों (जिनमें विशेषण भी शामिल हैं) (२) सङ्ख्यावाची शब्दों (३) और सर्वनामों में आकार, अर्थ और प्रयोग के विषय में नैसर्गिक भेद है।

वैदिक भाषा में :

(क) तीन लिङ्ग हैं: पुंल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग।

(ख) तीन वचन हैं: एकवचन, द्विवचन, बहुवचन।

---

१. इन सभी क्त प्रत्ययान्त रूपों में ढ् को ऋग्वेद में ळ्ह् की तरह लिखा जाता है।

२. सम्प्रसारण के साथ।

३. व ज़् ष् ह्—ध्वम् के माध्यम से अज़् ष् ह् यहाँ ओ बन जाता है ठीक उसी प्रकार जैसे कि अस् (अज़् के माध्यम से) ओ बन जाता है (देखिये ४५ ख)।

४. इस ढ् से पूर्व ऋ कभी-कभी दीर्घीभूत रूप में नहीं दिखाई देता, पर यह छन्दोनुरोधात् दीर्घ हो जाता है (देखिये ८, टिप्पण २)।

(ग) आठ विभक्तियाँ हैं : प्रथमा, सम्बोधन, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी ।[1]

७१. सामान्य रूप से प्रातिपदिक से जो विभक्तियाँ आती हैं वे ये हैं—

	एकवचन			द्विवचन			बहुवचन		
	पुं०	स्त्री०	नपुं०	पुं०	स्त्री०	नपुं०	पुं०	स्त्री०	नपुं०
प्रथमा		स्	—(ख)						
सम्बोधन	—(क)			औ		ई	अस्		इ (ग)
द्वितीया		अम्							
तृतीया		आ							
चतुर्थी		ए			भ्याम्			भिस्	
पञ्चमी		अस्						भ्यस्	
षष्ठी								आम्	
सप्तमी		इ			ओस्			सु	

(क) सभी वचनों में सम्बोधन के रूप वही होते हैं, (केवल स्वर में पार्थक्य रहता है) जोकि प्रथमा विभक्ति के । इनमें अपवाद हैं सामान्यतया अजन्त प्रातिपदिकों के पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग के एक० रूप एवञ्च हलन्त प्रातिपदिकों, जिनके अन्त में अन्, मन्, वन्, मन्त्, वन्त्, इन्, अस्, यांस्, वांस् और तर् आता है, के पुंलिङ्ग एकवचन के रूप।

(ख) प्रथमा और द्वितीया के एकवचन में केवल प्रातिपदिक ही पाया जाता है सिवाय अकारान्त शब्दों के जिनसे म् लगता है।

(ग) नपुंसकलिङ्ग के प्रथमा, सम्बोधन और द्वितीया विभक्तियों के बहुवचन में अजन्त प्रातिपदिकों के विभक्ति-प्रत्यय इ से एवञ्च हलन्त प्राति-

---

१. संस्कृत वैयाकरणों की दृष्टि में विभक्तियों का यही क्रम है, सिवाय सम्बोधन के, जिसे कि वे विभक्ति नहीं मानते। सुविधा की दृष्टि से केवल यही एक क्रम अपनाया जा सकता है जिसके द्वारा वे विभक्तियाँ जोकि एकवचन, द्विवचन अथवा बहुवचन में समानाकार हैं, एक साथ एक वर्ग में रखी जा सकती हैं।

पदिकों के अन्तिम असंयुक्त स्पर्श या ऊष्म व्यञ्जन से पूर्व न् का आगम हो जाता है (व्यञ्जन का जो रूप हो वही न् का हो जाता है ६६ य २)।

७२. सुबन्त रूपों में मुख्य भेद पाया जाता है प्रातिपदिकों के सबल और दुर्बल रूप में। इसका पूरा विकास तो इन प्रत्ययों से बने हलन्त धातुज प्रातिपदिकों में पाया जाता है—अञ्च्, अन्, मन्, वन्, अन्त्, मन्त्, वन्त्, तर्, यांस्, वांस्। पहले चार और अन्तिम में दुर्बल प्रातिपदिक को अजादि विभक्तियों से पूर्व और सङ्कुचित बना दिया जाता है। यहाँ प्रातिपदिक के तीन रूप होते हैं जिन्हें सबल, मध्यम और दुर्बलतम रूप में विभक्त किया जा सकता है।

(क) स्वर की स्वस्थान प्रच्युति इस भेद का कारण थी। सबल रूपों में प्रातिपदिक के स्वरयुक्त होने के कारण वहाँ तो स्वाभाविक रूप में प्रातिपदिक ने अपने को पूरे रूप में सुरक्षित रखा, परन्तु दुर्बल रूपों में इसका सङ्कोच हो गया चूँकि स्वर प्रातिपदिक से हट कर विभक्तियों पर चला गया। इस कारण ही सबल प्रातिपदिक का अन्तिम अच् दीर्घ होने पर सम्बोधन में नियमित रूप से ह्रस्व कर दिया जाता है क्योंकि उस स्थिति में स्वर सदैव आदि अच् पर आ जाता है।

७३. सबल प्रातिपदिक निम्ननिर्दिष्ट विभक्तियों में पाया जाता है—

प्रथमा सम्बोधन,	द्वितीया	एक०	पुंल्लिङ्ग संज्ञा-शब्दों के[1]
,, ,,	,,	द्वि०	
,, ,,	(न कि द्वितीया)	बहु०	

प्रथमा सम्बोधन और द्वितीया बहुवचन—केवल नपुंसकलिङ्ग संज्ञाशब्दों के।

(क) यदि प्रातिपदिक के तीन रूप हों तो हलादि प्रत्ययों (भ्याम्, भिस्, भ्यस्, सु) से पूर्व मध्यम प्रातिपदिक आता है।[2] शेष दुर्बल स्थलों में अजादि

---

१. तर् अन्त सम्बन्धवाचक पदों के सिवाय (१०१) लगभग सभी परिवर्त्य प्रातिपदिकों के नामपदों का स्त्रीलिङ्ग रूप ई प्रत्यय से बनता है (१००)।

२. इस व्याकरण में परिवर्त्य प्रातिपदिकों का नाम उनके सबल और मूल रूप में ग्रहण किया गया है, यद्यपि मध्यमरूप अधिक व्यवहारानुकूल होगा, कारण, कि इसी रूप में ही परिवर्त्य प्रातिपदिक समासों में पूर्वपद रूप में पाये जाते हैं।

प्रत्ययों से पूर्व वह दुर्वलतम हो जाता है। यथा—प्रत्यञ्चौ, प्रथमा द्विव०; प्रत्यग्भिस् तृतीया बहु०; प्रतीचोस्, षष्ठी द्विव० (९३)।

(ख) नपुंसक लिङ्ग में तीन तरह के प्रातिपदिक होने पर प्रथमा, सम्बोधन और द्वितीया के एक० के रूप मध्यम होते हैं और प्रथमा, सम्बोधन और द्वितीया द्विवचन के रूप दुर्वलतम। यथा—प्रत्यक् एक०; प्रतीची द्विव०; प्रत्यञ्चि बहु० (९३)। शेष विभक्तिरूप वैसे ही होते हैं जैसे कि पुल्लिङ्ग में।

नामपद

७४. विभक्ति रूपों के भेद के कारण प्रातिपदिकों का सर्वोत्तम प्रविभाजन अजन्त और हलन्त रूप में किया जा सकता है।

I. हलन्त प्रातिपदिकों[1] को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(य) अपरिवर्त्य (अव्यय); (र) परिवर्त्य।

II. अजन्त प्रातिपदिकों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। (य) अकारान्त और आकारान्त; (र) इकारान्त और उकारान्त; (ल) ईकारान्त और ऊकारान्त।

I. *(य) अपरिवर्त्य प्रातिपदिक*

७५. ये प्रातिपदिक मुख्यतया अविकृत अथवा धातुरूप होते हैं पर इनमें वे शब्द भी शामिल हैं जो विकृत या धातुज हैं। सिवाय कण्ठ्यों के (इन के सदैव तालव्य बन चुके होने के कारण; इनमें तालव्य कतिपय स्थलों में अपनी मूल ध्वनि में वापस भी आ जाते हैं) सभी वर्गों के व्यञ्जन इनके अन्त में आते हैं। हलादि प्रत्ययों से पूर्व सन्धि के नियमों के अनुसार जो परिवर्तन समुचित हों केवल वे ही इनमें हो सकते हैं (देखिये १६ क)। अगर एक ही व्यञ्जन पुल्लिङ्ग और

---

१. कतिपय संस्कृत व्याकरण अजन्त शब्दों में अकारान्त शब्दों की रूपसिद्धि से प्रारम्भ होते हैं (२ य) क्योंकि भाषा में प्रातिपदिकों की रूपावली में उनकी ही सङ्ख्या सर्वाधिक है। पर हलन्त प्रातिपदिकों के रूपों से प्रारम्भ करना सम्भवतः अधिक अच्छा रहेगा क्योंकि इन से आने वाले सामान्य प्रत्ययों में (७१) किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं पाया जाता।

स्त्रीलिङ्ग शब्दों के अन्त में आये तो उनके रूप ठीक एक जैसे ही बनते हैं। नपुं० के शब्दों में केवल द्वितीया एक० और प्रथमा, सम्बोधन और द्वितीया विभक्तियों के द्वि० और बहु० के रूपों में भेद पाया जाता है।

७६. अजादि प्रत्ययों से पूर्व प्रातिपदिक के अन्त में आने वाले व्यञ्जन तदवस्थ रहते है (७१) पर प्रत्यय न रहने पर (अर्थात् प्रथमा के एक० में जहां पुं० और स्त्री० के स् का लोप हो जाता है) एवञ्च सप्तमी विभक्ति के बहु० प्रत्यय सु से पूर्व उनके स्थान पर क्, ट्, त्, प् और विसर्जनीय में से कोई सा वर्ण आ जाता है (२७)। भकारादि प्रत्ययों से पूर्व इन (क्, ट्, त्, प् और विसर्जनीय) को क्रमशः ग्, ड्, द्, ब् या र् हो जाता है।

(क) असन्त (धातुज) प्रातिपदिकों के सिवाय पुं० और स्त्री० शब्दों के सम्बो० के एक० का रूप वही होता है जोकि प्रथमा विभक्ति के एक० का।

(ख) ऐसा दीखता है कि संहिताओं में नपुं० के प्रथमा, सम्बो० और द्वितीया बहु० के रूप नहीं हैं[1] सिवाय उन असन्त, इसन्त और उसन्त धातुज प्रातिपदिकों के जिनकी कि उपलब्धि उनमें बाहुल्येन पाई जाती है। यथा—अ॑पांसि, अ॒र्चींषि, च॒क्षूं॑षि।

दन्त्यान्त प्रातिपदिक

७७. त्रिवृ॑त् *(तिगुना)* के पुं० स्त्री० और नपुं० में रूप—

		एक०	
प्र०	पुं० स्त्री०	त्रिवृ॑त्	नपुं० त्रिवृ॑त्
द्वि०	पुं० स्त्री०	त्रिवृ॑तम्	नपुं० त्रिवृ॑त्
तृ०		त्रिवृ॑ता	
च०		त्रिवृ॑ते	
पं० और ष०		त्रिवृ॑तस्	
स०		त्रिवृ॑ति	

१. परन्तु ब्राह्मणग्रंथों में—भृत् (धारण करता हुआ),—वृत् (लौटाता हुआ), —हुत् (यज्ञ करता हुआ) से नपुं० प्रथमा विभक्ति बहु० के रूप पाये जाते हैं— —भृ॑न्ति,—वृन्ति,—हुन्ति।

द्विव०			बहु०		
प्र० पुं० स्त्री०	त्रिवृ॑ता		प्र० पुं० स्त्री०	त्रिवृ॑तस्
द्वि०	त्रिवृ॑ती		द्वि० पुं० स्त्री०	त्रिवृ॑तस्
तृ० च० पं०	(त्रिवृद्भ्याम्)		तृ०	त्रिवृ॑द्भिस्
			च० पं०	त्रिवृ॑द्भ्यस्
			ष०	त्रिवृ॑ताम्
ष०	(त्रिवृ॑तोस्)		स०	त्रिवृ॑त्सु
स०	त्रिवृ॑तोस्		सं० पुं० स्त्री०	त्रि॑वृतस्

१. तकारान्त प्रातिपदिकों में बहुत से धातुरूप हैं; उनमें से लगभग तीस इकारान्त, उकारान्त और ऋकारान्त धातुओं से तत्स्वरूपापादक त् लगने से बने हैं। यथा जि॑त् *जीतता हुआ*; श्रु॑त् *सुनता हुआ*; कृ॑त् *बनाता हुआ*। सिवाय चि॑त् स्त्री० *(विचार)*, द्यु॑त् स्त्री० *(चमक)*, नृ॑त् स्त्री० *(नाच)*; वृ॑त् स्त्री० *(मेहमाननवाज़)* के लगभग सभी समासों के उत्तरपद के रूप में प्रयुक्त होते हैं। ऐ० ब्रा० में सर्वहुत् *(सब कुछ होम करने वाला)* के नपुं० प्रथमा विभक्ति बहु० में रूप पाया जाता है सर्वहुन्ति। इनके अतिरिक्त कतिपय धातुज प्रातिपदिक भी हैं जोकि वत्, तात्, इत्, उत् इन प्रत्ययों एवञ्च विकृतिजन्य त् लगकर बनते हैं। यथा—प्रव॑त् स्त्री० *ऊंचाई*; देव॑तात् स्त्री० *देवतार्चा*; सरि॑त् स्त्री० *नदी*; मरु॑त् पुं० *आँधी का देवता*; यकृ॑त् नपुं० *जिगर*; शकृ॑त् नपुं० *विष्ठा*।

२. थकारान्त प्रातिपदिकों में ये तीन ही उपलब्ध होते हैं—कपृ॑थ् नपुं० *शिश्न*; प॑थ् पुं० *मार्ग*; अभिश्नथ् विशे० *चुभता हुआ*।

३. (क) लगभग १०० प्रातिपदिकों के अन्त में धातु का द् आता है। इनमें से कुछेक के सिवाय सभी धातुरूप हैं जो कि समासों के उत्तरपद के रूप में प्रयुक्त होते हैं। यथा, प्रथमा विभक्ति का रूप अद्रिभि॑द् *पहाड़ तोड़ने वाला*. एकाच् नामपद केवल आठ ही मिलते हैं: नि॑द् स्त्री० *घृणा*; भि॑द् स्त्री० *नाशक*; वि॑द् स्त्री० *ज्ञान*; उ॑द् स्त्री० *तरङ्ग*; मु॑द् स्त्री० *हर्ष*; मृ॑द् स्त्री० *मिट्टी*; हृ॑द् नपुं० *हृदय*; (इसका प्रयोग केवल दुर्बल विभक्तियों में ही पाया जाता है);

और पद् पुं० पाँव। इस पद् के स्वर को सबल विभक्तियों में दीर्घ हो जाता है।

	एक०	द्विव०	बहु०
प्र०	पात्	पादा	पादस्
द्वि०	पादम्	पादा	पदस्
तृ०	पदा	पद्भ्याम्	पद्भिस्
च०	पदे		पद्भ्यस्
पं०	पदस्	पद्भ्याम्	
ष०	पदस्	पदोस्	पदाम्
स०	पदि	पदोस्	पत्सु

(ख) विकृतिजन्य द् से बने हुए (प्रत्यय रूप—अद् और उद्) छः प्रातिपदिक हैं जो कि सभी स्त्रीलिङ्ग प्रतीत होते हैं : दृषद् और धृषद् *पाताल की चक्की*, भसद् *पीछे का स्थान*; वसद् *उत्कण्ठा*; शरद् *शरद्ऋतु*; ककुद् *शिखर*; काकुद् *तालु*।

लगभग पचास धकारान्त धातुरूप प्रातिपदिक स्वतन्त्र रूप से अथवा समासों में पाये जाते हैं। उनका प्रयोग लगभग पुं० और स्त्री० तक ही सीमित है, पृथक् से कोई नपुं० के रूप (प्र० और द्वि० के द्विव० और बहु०) नहीं पाये जाते; केवल चार रूप ष० और स० एक० में नपुं० में पाये गये हैं। सात प्रातिपदिक एकाच् नामपदों की तरह प्रयुक्त हुए हैं : वृध् *वृद्धि करता हुआ*; एक पुं० विशेषण शब्द; शेष सभी स्त्रीलिङ्ग नामपदों की तरह प्रयुक्त हुए हैं— नध् *बन्धन*; स्रिध् *शत्रु*; क्षुध् *भूख*; युध् *युद्ध*; मृध् *संघर्ष*; वृध् *समृद्धि* स्पृध् *युद्ध*।

५. नकारान्त धातुरूप प्रातिपदिक आधी दर्जन धातुओं से बनते हैं। इनमें से चार एकाच् संज्ञा शब्द हैं : तन् स्त्री० *परम्परा*; रन् पुं० *आनन्द*; वन् पुं० *जङ्गल*; स्वन् विशे० *ध्वनि*[१]। इनके अतिरिक्त समस्त विशेषण भी पाये जाते

---

१. इन प्रकृतियों का स्वर धात्वक्षर पर तदवस्थ रहने के कारण अनियमित है सिवाय वना, (अन्य रूप वना) और वनाम् के।

हैं—तुविर्ष्वन् *उच्च स्वर से गर्जन* करने वाला; गोर्षन् *गायें प्राप्त करने वाला;* हिंसार्थक हन् कम से कम पैंतीस समासों के उत्तरपद के रूप में पाया जाता है पर चूँकि यह बहुत-कुछ अन्नन्त प्रातिपदिकों के सादृश्य का अनुसरण करता है इसलिए इस पर उन्हीं के अन्तर्गत विचार किया जायगा (९२)।

ओष्ठ्यान्त प्रातिपदिक

७८. पकारान्त, भकारान्त और मकारान्त प्रातिपदिकों की संख्या बहुत अधिक नहीं है। पहिले दो में तो नपुं० के कोई भी शब्द उपलब्ध नहीं होते। अन्तिम में भी केवल एक या दो ही ऐसे शब्द मिलते हैं।

१. सब के सब एकाच् पकारान्त प्रातिपदिक स्त्री० संज्ञा शब्द हैं। वे हैं—अ॑प् *जल;* कृ॑प् *सौन्दर्य;* क्ष॑प् *रात्रि;* क्षि॑प् *उँगली;* रि॑प् *धोखा;* रु॑प् *भूमि* वि॑प् *दण्ड।* इसके अतिरिक्त लगभग एक दर्जन ऐसे समास भी उपलब्ध होते हैं जो कि सिवाय विर्ष्टप् स्त्री० *शिखर,* के सभी के सभी विशेषण रूप में प्रयुक्त होते हैं। इन विशेषणों में तीन स्त्री० में पाये जाते हैं, और शेष पुं० में। यथा—पशुतृ॑प् पुं० *पशुओं में आनन्द लेने वाला।*

(क) प्र० और सम्बो० विभक्तियों के बहु० में अ॑प् का अ दीर्घ हो जाता है, यथा—आ॑पस् जो कि कभी-कभी द्वि० में भी प्रयुक्त होता देखा जाता है। जो रूप मिलते हैं वे हैं: एक० तृ० अपा॑; पं० ष० अपः॑स्; द्विव० प्र० आ॑पा; बहु० प्र० सम्बो० आ॑पस्; द्वि० अपः॑स्; तृ० अद्भि॑स्; च० पं०, अद्भ्य॑स्; ष० अपा॑म्; स० अप्सु॑।

२. सभी के सभी छः असमस्त भकारान्त प्रातिपदिक स्त्री० संज्ञा शब्द हैं: क्षु॑भ् *धकेलना;* गृ॑भ् *पकड़ना;* न॑भ् *नाशक;* शु॑भ् *शोभा;* स्तु॑भ् *स्तुति;* (विशेषण रूप भी, *स्तुति करता हुआ)* और ककु॑भ् *चोटी।* इसके अतिरिक्त एक दर्जन से अधिक समास हैं जिनमें संज्ञा शब्द सभी के सभी स्त्री० हैं, शेष पुं० या स्त्री० विशेषण रूप हैं, नपुं० शब्दों का सर्वथा अभाव है। त्रिष्टु॑भ् स्त्री० *तीन प्रकार की स्तुति* (एक छन्द का नाम) के विभक्ति रूप इस

प्रकार हैं—

	एक०	बहु०
प्र०	त्रिष्टुप्	
द्वि०	त्रिष्टुभम्	त्रिष्टुभस्
तृ०	त्रिष्टुभा	
च०	त्रिष्टुभे	
पं०	त्रिष्टुभस्	
सं०	त्रिष्टुभि	

(क) प्र० बहु० में नभ् के अच् को दीर्घ हो जाता है : नाभस् । द्वि० बहु० : नभस् ।

२. मकारान्तों में पाँच या छः एकाच् प्रातिपदिक एवञ्च एक समास पाये जाते हैं : शम् नपुं० *आनन्द, सुख;* दम् नपुं० (?) *घर;* क्षम्, गम्, जम् स्त्री० *भूमि;* हिम् पुं० (?) *ठंड;* संनम् स्त्री० *पक्षपात ।*

(क) गम् और जम् का तृ०, पं० और ष० एक० में उपधालोप हो जाता है : ग्मा; ज्मा; ग्मस्; ज्मस्; क्षम् का पं० और ष० एक० में उपधालोप हो जाता है और प्र० के द्वि० और बहु० में इसके अच् को दीर्घ हो जाता है : क्ष्मस्; क्षामा; क्षामस् । दम् का पतिर्दन् और पतीर्दन्=दम्पतिस् और दम्पती, *गृहस्वामी* और *गृहस्वामिनी* जैसे शब्दों में ष० एक० में दन् (दमस् के स्थान पर) यह आदेश हो जाता है ।

तालव्यान्त प्रातिपदिक

७९. अन्त में अथवा हलादि प्रत्ययों से पूर्व (देखिये ६३) तालव्यों (च्, ज्, श्) का स्थान परिवर्तन हो जाता है । च् सदैव कण्ठ्य (क् या ग्) बन जाता है, ज् और श् लगभग सदैव कण्ठ्य बन जाते हैं, परन्तु कभी-कभी इन्हें मूर्धन्य (ट् या ड्) भी हो जाता है ।

१. चकारान्त[1] अपरिवर्त्य प्रातिपदिक असमस्त अवस्था में एकाच्

---

[1] अञ्च् से बने प्रातिपदिक परिवर्त्य हैं (९३) ।

एवञ्च लगभग अनन्य रूपेण स्त्री० संज्ञा शब्द होते हैं। हाँ; त्वच् (त्वचा) दो बार पुं० में पाया जाता है और कुञ्च् (घुँघुराला) तो है ही पुं० शब्द। समास, विशेषणों के रूप में प्रयुक्त होने पर, प्रायः पुं० में ही पाये जाते हैं केवल एक ही रूप नपुं० में पाया जाता है और वह है क्रियाविशेषण आपृक् मिश्रित रूप में। वाच् (वाणी) के रूप इस प्रकार चलेंगे—

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	वाक्	वाचा, वाचौ	वाचस्
संबो०	,,	,, ,,	,,
द्वि०	वाचम् (लौ० वोचेम्)	,, ,,	वाचस् (कभी विरले ही वाचस्)
तृ०	वाचा	वाग्भ्याम्	वाग्भिस्
च०	वाचे		वाग्भ्यस्
पं०	वाचस्		,,
ष०	,,		वाचाम्
स०	वाचि		

इसी प्रकार के रूपों वाले अन्य शब्द हैं:—त्वच् त्वचा[1]; सिच् आँचल; रुच् चमक; शुच् ज्वाला; स्रुच् स्रुचा (करछुल); ऋच् ऋचा; मृच् क्षति; निम्रुच् सूर्यास्तमय; और अन्य समास। कुञ्च् का प्र० एक० में रूप बनता है कुङ् और द्वि० में कुञ्चौ।

२. केवल एक ही छकारान्त प्रातिपदिक पाया जाता है जो कि प्रश्नार्थक पृछ् धातु से बनता है: पुं० में प्र० द्वि० का रूप बन्धुपृच्छा बन्धुओं के विषय में (कुशल) प्रश्न पूछते हुए। इसके अतिरिक्त पाये जाते हैं च० और द्वि० प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त रूप: पृच्छे पूछने के लिये; सम्पृच्छे, स्वागत करने के लिए; विपृच्छम् और सम्पृच्छम् पूछने के लिये।

---

१. विस्तारार्थ व्यच् धातु का सबल रूप पाया जाता है उरुव्यञ्चम्, दूर तक फैला हुआ और समवायार्थक सच् के केवल मात्र सबल रूप मिलते हैं: द्वि०—साचम् और प्र० बहु०—साचस्।

३. (क) असमस्त जकारान्त धातु रूप प्रातिपदिक प्रायः स्त्री० संज्ञा शब्द हैं; परन्तु अंज् *सारथि*; विज् *पंण*; पुं० हैं और युंज्[1], राज् और भ्राज् पुं० और स्त्री० दोनों ही हैं। नपुं० के रूप समस्त विशेषणों में पाये जाते हैं पर प्र० द्वि० और संबो० के द्वि० और बहु०[2] में नपुं० के प्रत्यय उनमें स्पष्टतया उपलब्ध नहीं होते। जब (१) ज् किसी कण्ठ्य का ही परिवर्तित रूप हो तो प्र० एक० में और हलादि प्रत्ययों से पूर्व वह कण्ठ्य रूप में परिवर्तित हो जाता है। (२) यदि यह पुराने तालव्य का परिवर्तित रूप हो तो प्र० एक०[3] में और व्यञ्जनों से पूर्व यह मूर्धन्य हो जाता है; पर (३) स० बहु० के सु से पूर्व इसे क् हो जाता है। उदाहरण हैं—प्र० के रूप (१) ऊर्क् (ऊर्ज्) *बल*; निर्णिक् (निर्णिज्) *उजला वस्त्र* (२) भ्राट् पुं० *चमकता हुआ* (भ्राज्); राट् पुं० *राजा* स्त्री० *स्वामिनी*। (३) स० बहु० स्रक्षु, *मालाएँ* (स्रज्); प्रयक्षु *आहुतियाँ* (प्रयज्)।

(अ) स्त्री० अवयाज् (आहुतियों का भाग) और पुं० अवयाज् (आहुति देने वाला पुरोहित) के प्र० के रूप इस दृष्टि से नियमविरुद्ध हैं कि इनमें ज् का लोप हो जाता है और इनके अन्त में प्र० का स् आ जाता है: अवयास्, अवयास् (देखिये २८ अ)।

(ख) अज् और इज् इन प्रत्ययों से बने सात पुं० और स्त्री० विशेषण या संज्ञा शब्द मिलते हैं: अस्वप्नज् *निद्राहीन*; तृष्णज् *प्यासा*; धृषज् *साहसी*; सनज् *पुरातन*; उशिज् *इच्छुक*; भुरिज् स्त्री० *बाहु*; वणिज्

१. साथी इस अर्थ के इस शब्द का प्र० और द्वि० एक० और द्वि० में सानुनासिक रूप भी मिलता है: युङ् (युङ्क् के स्थान पर), युञ्जम्, युञ्जा।

२. परन्तु एक ब्राह्मण-ग्रन्थ में—भाज् (भाग) का नपुं० में प्र० बहु० का रूप बनता है—भाञ्जि।

३. सिवाय (यज्ञार्थक यज् के) पुं० ऋतुइज् शब्द से बने ऋत्विक् (उचित ऋतु में यज्ञ करने वाला) पुरोहित के।

पुं० *वनिया।* इसके अतिरिक्त नपुं० का अंसृज्[1] (*रक्त*) शब्द भी पाया जाता है।

पुं० और स्त्री० के उशिज् के रूप इस प्रकार चलेंगे—

एक०		द्विव०		बहु०	
प्र०	उशिक्	प्र०	उशिजा	प्र०	उशिजस्
द्वि०	उशिजम्	ष०, स०	उशिजोस्	द्वि०	"
तृ०	उशिजा			तृ०	उशिग्भिस्
च०	उशिजे			च०	उशिग्भ्यस्
प०	उशिजस्			ष०	उशिजाम्

४. लगभग साठ एकाच् और समस्त शकारान्त प्रातिपदिक उपलब्ध होते हैं जो कि लगभग एक दर्जन धातुओं से बनते हैं। नौ एकाच् प्रातिपदिक स्त्रीलिङ्ग हैं: दाश्, *पूजा;* दिश्, *दिशा;* दृश्, *दृष्टि;* नश् *रात्रि;* पंश् *दृष्टि* पिश् *आभूषण;* प्राश् *झगड़ा;* विश् *बस्ती;* व्रिश् *उँगली*। दो पुंलिङ्ग हैं: ईश्, *स्वामी;* स्पश्, *गुप्तचर*। शेष सभी समास हैं (उनमें से लगभग बीस दृश् से बनते हैं)। इन समासों के लगभग आधी दर्जन प्रयोग नपुंसक लिङ्ग में पाये जाते हैं पर सर्वथा स्पष्ट रूप से उनके नपुं० के कोई भी रूप उपलब्ध नहीं होते (प्र० द्वि० द्विव० बहु०)।

श् को पुरातन तालव्य का प्रतिनिधित्व करने की स्थिति में भ् से पूर्व मूर्धन्य ड् हो जाता है पर दिश् और दृश् में यह कण्ठ्य रूप में परिणत हो जाता है। स० बहु० के सु से पूर्व इसे उच्चारण-सौकर्य की दृष्टि से नियमित रूपेण क् हो जाता है। प्र० एक० में भी प्रायः इसे क् हो जाता है (जिसके अन्त में मूल अवस्था में स् आता था) यथा—दिक्, नक्; परन्तु स्पश् विस्पश् *गुप्तचर* एवञ्च विश् और विपाश् (*एक नदी का नाम*) में इसे ट् हो जाता है।

---

१. इस शब्द का उद्भव अस्पष्ट है पर ज् सम्भवतः अपकृष्ट प्रत्यय का प्रतिनिधित्व करता है।

साधारण रूप से *वस्ती* इस अर्थ के विंश् शब्द के रूप इस प्रकार बनेंगे :

	एक०	द्विव०	बहु०
प्र०	विंट्	प्र० विंशा; विंशौ	प्र० विंशस्
सं०	,,		
द्वि०	विंशम्	द्वि० ,, ,,	द्वि० ,,
तृ०	विशा		तृ० विड्भिंस्
च०	विशे		च० विड्भ्यस्
पं०	विशस्		ष० विशाम्
ष०	,,		स० विक्षु
स०	विशि		

(अ) दृश् से बने कतिपय समासों में प्र० में अनुनासिक आ जाता है। यथा—कीदृङ् (कीदृक् के स्थान पर) किस प्रकार का पर तादृक् (वैसा) में ऐसा नहीं होता।

पुरोडाश् पुं० में प्र० एक० अनियमित रूप से अन्तिम तालव्य का प्रतिनिधित्व करता है : प्र० पुरोडास्; पुरोडाशम्।

मूर्धन्यान्त प्रातिपदिक

८०. जो भी मूर्धन्यान्त प्रातिपदिक उपलब्ध हुए हैं वे या तो डकारान्त हैं या षकारान्त। डकारान्तों में केवल दो ही हैं : ईड् स्त्री० *स्तुति* (जो केवल तृ० एक० में ही पाया जाता है : ईडा) और ईड् स्त्री० *दिलवहलाव* (जो केवल तृ० और प० एक० में ही पाया जाता है : इडा, इडस्)।

लगभग एक दर्जन धातुओं से बने ऐसे अनेक षकारान्त प्रातिपदिक हैं जहाँ ष् से पूर्व इ, उ, ऋ या क् आता है। इनमें से सात असमस्त हैं : ईष् स्त्री० दिलवहलाव; त्विष् स्त्री० *उत्तेजना*; द्विष् स्त्री० *घृणा*; रिष् स्त्री० *हिंसा*; उष् स्त्री० *उषःकाल*; पृक्ष् स्त्री० *सन्तुष्टि*; दधृष् *साहसी*। शेष या तो उपरिनिर्दिष्ट या निम्ननिर्दिष्ट शब्दों के समास हैं : मिष् *आँख झपकना*; त्रिष् *झुकना*; उक्ष् *प्रोक्षण*; मुष् *चौर्य*; प्रुष् *बूँद-बूँद गिरना*; धृष् *साहस करना*; वृष् *वृष्टि*; अक्ष् नेत्र। प्र० में ष् को ट् हो जाता है और भ् से पूर्व ड्; पर क् के इससे

पूर्व आने पर इसका लोप हो जाता है। यथा प्र० हृदिद्, विप्रुद्, स्त्री० वृदँ; अर्नक् नेत्रहीन, *अन्धा*; तृ० वहु० विप्रु ड्भिस्।

(अ) नपुं० के क्रियाविशेषण दधृक् साहसपूर्वक में अन्तिम वर्ण को क् हो जाता है।

हकारान्त प्रातिपदिक

८१. लगभग एक दर्जन धातुओं से बने कोई अस्सी प्रातिपदिक ऐसे हैं जिनके अन्त में ह् आता है। उनकी रूपावली में तीनों ही लिङ्ग मिलते हैं पर नपुं० विरल है—केवल दो प्रातिपदिकों में ही वह मिलता है और वहु० में तो वह उपलब्ध होता ही नहीं। एकाच् प्रातिपदिकों में र्निह्, *विध्वंसक*; र्मिह्, धुंध; गुह्, *छिपने का स्थान*; र्वह्, *अङ्कुर* स्त्रीलिङ्ग हैं; द्रुह्, *पिशाच* पुं० है, या स्त्री०; र्सह्, *विजेता* पुं० है और र्मह्, *महान्* पुं० भी है और नपुं० भी। शेष सभी समास हैं जिनमें से पचास से भी अधिक इन तीन धातुओं से बनते हैं—द्रुह्, *घृणा करना*; वह्, *ले जाना*; सह्, *अभिभव करना*। इनमें भी—३० से अधिक सह् से ही बनते हैं।[१] उष्णिह्, स्त्री० (*एक छन्दविशेष का नाम*) और सर्रः (*भँवरा*) इन शब्दों की उत्पत्ति अस्पष्ट है।

(क) चूँकि ह् पुराने कण्ठ्य घ् और पुराने तालव्य झ् इन दोनों का प्रतिनिधित्व करता है, अतः उच्चारण-सौकर्य (=मुखसुख) की दृष्टि से इसे भ् से पूर्व ग् या ड् हो जाना चाहिये, परन्तु भकारादि प्रत्ययों से पूर्व पाये जाने वाले केवल मात्र दो रूपों में दोनों का प्रतिनिधित्व मूर्धन्य ही करता है। स० वहु०

१. उपानह् स्त्री० (जूता) केवल स० वहु० रूप उपार्नहि में ही पाया जाता है। लौकिक संस्कृत में इस शब्द के रूपों का अवलोकन करने पर पता चलता है कि ह्, प्र० एक० में और हलादि प्रत्ययों से पूर्व दन्त्य रूप में परिणत हो जाता है।

के एक मात्र उपलब्ध रूप अनडु́त्सु (अनड्वह् से) में ह् उच्चारण-सौकर्य के सिद्धान्त के विपरीत द् बन गया जो कि विषमीकरण प्रक्रिया के कारण त् रूप में परिणत हो गया। प्र० में उच्चारण-सौकर्यार्थक (मुखसुखार्थक) क् इन छः रूपों में पाया जाता है धक्,—धुक्,—ध्रुक्,—रुक्,—स्पृक्, उष्णिक्। इन तीन रूपों में उच्चारण-सौकर्य के सिद्धान्त के विपरीत ट् पाया जाता है—वाट्, षाट्, सरट्।

(ख) वह्[1] और सह् से बने प्रातिपदिकों में सबल विभक्तियों में धात्व अ को दीर्घ हो जाता है; पहली (वह्) में सदैव और दूसरी (सह्) में सामान्यतया।

वास्तव में उपलभ्यमान रूप यदि विजेता इस अर्थ के सह् से बनाये जायें तो इस प्रकार होंगे :

एक०			द्वि०			बहु०		
पुं० स्त्री०	प्र०	षा́ट्[2]	पुं० स्त्री०	प्र०	सा́हा, सा́हौ	पुं० स्त्री०	प्र०	सा́हस्
	सं०	,,	,,	सं०	,, ,,		द्वि०	,,
,,	द्वि०	सा́हम्	,,	द्वि०	,, ,,		सं०	,,
	तृ०	सहा́	नपुं०	प्र०	सही́	पुं०	द्वि०	स́हस् और सहस्
	च०	सहे́	,,	द्वि०	,,	स्त्री०	द्वि०	स́हम्
	पं० ष०	सहस्					च०	षड्भ्यस्
	स०	सहि́				पुं०	ष०	सहा́म्
						पुं०	स०	षट्सु́

1. अनड्वह् के परिवर्त्य प्रातिपदिक होने के कारण इसके तीन रूप उपलब्ध होते हैं। इस कारण अनियमित परिवर्त्य प्रातिपदिकों (६८) के अन्तर्गत इस पर विचार क्या गया है।
2. जब ह् को ढ् हो जाता है तो आदि के स् को मूर्धन्य हो जाता है।

रकारान्त प्रातिपदिक[1]

८२. धातु रकारवान् प्रातिपदिकों की सङ्ख्या पचास से ऊपर है। (इनमें) पूववर्ती स्वर लगभग सदैव इ या उ होता है। केवल दो प्रातिपदिकों में आ रहता है और तीन में अ। वारह प्रातिपदिक एकाच् (सात स्त्री०[3], तीन पुं०[4], दो नपुं०[5]) हैं। शेष समास हैं। स० वहु० के सु से पूर्व र् वच रहता है और धातु के स्वर को प्र० एक० और हलादि प्रत्ययों से पूर्व दीर्घ हो जाता है। जो रूप उपलव्ध होते हैं वे यदि पु॑र् से वने हों तो इस प्रकार होंगे :

एक०	द्वि०	वहु०
प्र० पू॑र्	प्र० पु॑रा, पु॑रौ	प्र० पु॑रस्
द्वि० पु॑रम्	द्वि० „ „	सं० „
च० पुरे॑		द्वि० „
पं० } पुर॑स्		तृ० पू॒र्भिस्
ष० } पुर॑स्		च० पू॒र्भ्यस्
स० पुरि॑		ष० पुरा॑म्
		स० पू॒र्षु॑

(अ) द्वा॑र् का दुर्वलीभूत द्वि० वहु० का रूप पाया जाता है दु॑रस् (अथ च केवल

---

१. लकारान्त प्रातिपदिकों का सर्वथा अभाव है; जवकि उन पांच को, जिनके अन्त में अन्तःस्थ य् और व् आते हैं, आगे (१०२) ऐकारान्त, ओकारान्त और औकारान्त प्रातिपदिक मान कर विचार किया गया है।

२. उन अर् और तर् प्रत्ययान्त प्रतिपदिकों को, जिनमें र् विकृतिजन्य है, और अ से परे आता है, नीचे (१०१) ऋकारान्त प्रातिपदिक मान कर विचार किया गया है।

३. गि॑र् स्तुति, द्वा॑र् दरवाजा, धु॑र् वोझ, पु॑र् किला, त॑र् सितारा, प्सु॑र् रसद, स्त॑र् सितारा।

४. गि॑र् स्तुति, वा॑र् रक्षक, मु॑र् नाशक।

५. वा॑र् जल, स्व॑र् प्रकाश।

एक वार दुर्रस् और एक ही वार द्वांरस्) जो कि उपलब्ध रूपों में एकमात्र दुर्वल रूप है।

(आ) त॑र् केवल एक रूप (सवल) में ही पाया जाता है; प्र० वहु० ता॑रस्। स्त॑र् भी एक ही रूप (दुर्वल) में पाया जाता है: त० वहु० स्तृ॑भिस्[1]।

(इ) स्व॑र् नपुं० प्रकाश के दो सङ्कुचित (सम्प्रसारणसहित) रूप उपलब्ध होते हैं: च० सूरे॑; प० सू॑रस्।[2] इसमें स० एक०[1] में विभक्ति प्रत्यय का लोप हो जाता है: सु॑अर्।

सकारान्त प्रातिपदिक

८३.१ सकारान्त धातुरूप प्रातिपदिकों की संख्या लगभग चालीस है। एक दर्जन एकाच् हैं जिनमें पांच पुं० हैं: ज्ञा॑स् *सम्बन्धी;* मा॑स् *महीना;* व॑स्[4] *गृह;* पुं॑स्[5] *पुरुष;* शा॑स् *शासक;* दो स्त्री० हैं: का॑स् *खाँसी;* ना॑स् *नासिका;* पाँच नपुं० हैं: आ॑स् *मुँह;* भा॑स् *चमक;* मा॑स् *मांस;* दो॑स् *वाँह;* यो॑स् *क्षेम, कल्याण।* शेष समास हैं। यथा—सुदा॑स् *पर्याप्त देने वाला, उदार।*

(अ) इन दो रूपों में भ् से पूर्व स् को द् हो जाता है: तृ० मादि्भ॑स और च० माद्भ्य॑स् पर एक मात्र अन्य उपलब्ध रूप में इसे र् हो जाता है: दो॑र्भ्याम्।

(आ) मा॑सस् और ज्ञा॑सस् इन रूपों में द्वि० वहु० में दुर्वल रूपों का स्वर आ जाता है

२. सकारान्त धातुज प्रातिपदिक—अस्, इस्, उस् इन प्रत्ययों से वनते हैं और कतिपय अपवादों के अतिरिक्त नपुं० संज्ञा शब्द होते हैं। प्र०, सं० और द्वि० विभक्तियों में नपुं० वहु० में इन सबके अन्तिम अच् को दीर्घ हो जाता है। यथा—म॑नांसि, ज्यो॑तींषि, च॑क्षूंषि। पुं० और स्त्री० रूप अधिकतर समास होते हैं जिनमें ये प्रातिपदिक उत्तरपद के रूप में पाये जाते हैं।

---

१. अनियमित स्वर के साथ।

२. द्व्यच् शब्दों के स्वर के साथ।

३. अन्नन्त प्रातिपदिकों की तरह (९०, २)।

४. हो सकता है कि यह शब्द स्त्री० हो।

५. परिवर्त्य प्रातिपदिक के अनियमित रूप में. इस शब्द पर वाद में (९६, ३) विचार किया जायगा।

(क) लगभग सभी के सभी असन्त प्रातिपदिक नपुं० में पाये जाते हैं और स्वर इनके धातु भाग पर रहता है। यथा—*मॅनस् मन*; परन्तु विशेषणीभूत समासों के उत्तरपद के रूप में इनके रूप तीनों लिङ्गों में चल सकते हैं। इनके अतिरिक्त कतिपय अविकृत पुं० शब्द भी हैं जिनमें स्वर प्रत्यय पर आता है। वे या तो संज्ञा शब्द होते है, जैसे **रक्षॅस् पुं०** *राक्षस*; या विशेषण (जिनमें से कुछ स्त्री० और नपुं० में पाये जाते हैं) जैसे **अपॅस्** *चुस्त*। एक अविकृत स्त्री० शब्द भी है—**उषॅस्** उषःकाल।

पुं० और स्त्री० के प्र० के एक० में प्रत्यय के अच् को दीर्घ हो जाता है। यथा—*अॅङ्गिरास् पुं०; उषास्*[1] *स्त्री०; सुमॅनास् पुं० और स्त्री०*। लगभग एक दर्जन समासों में दीर्घ स्वर (पुं० के प्रभाव के कारण) नपुं० में भी पाया जाता है। यथा—**ऊॅर्णम्रदास्** *ऊन की तरह मृदु*।

भकारादि प्रत्ययों से पूर्व अस् इस प्रत्यय को ओ हो जाता है (४५ ख)। जो रूप वास्तव में उपलब्ध होते हैं वे यदि कर्मार्थक **अॅपस्** नपुं० (लै० ओपुस्) एवञ्च *चुस्त* इस अर्थ के **अपॅस्** पुं० स्त्री० से बनाये जायें तो इस प्रकार होंगे :

एक०		द्वि०		बहु०
प्र०	अॅपस्, अपॅास्	प्र०, द्वि०, सं०	अॅपसी, अपॅसा अपॅसौ[2]	अॅपांसि, अपॅसस्
द्वि०	अॅपस्, अपॅसम्			
तृ०	अॅपसा, अपॅसा			
च०	अॅपसे, अपॅसे	च०	अपोॅभ्याम्	तृ० अॅपोभिस्, अपोॅभिस्
पं०	अॅपसस्, अपॅसस्	प०	अॅपसोस्	च० अॅपोभ्यस्, अपोॅभ्यस्
स०	अॅपसि, अपॅसि			प० अॅपसाम्, अपॅसाम्
सम्बो०	अॅपस्			स० अॅपस्सु, अपॅस्सु

---

१. द्वि० एक०, प्र० द्वि० द्विव० और प्र० सं० बहु० में इस शब्द के अच् को वैकल्पिक रूप से दीर्घ हो जाता है : **उषासम्**, दूसरा रूप **उषॅसम्** इत्यादि।

२. यहाँ औ यह प्रत्यय विरल है और मुख्यरूपेण बाद की संहिताओं में उपलब्ध होता है।

इसी प्रकार नपुं० प्र० यशस्, पुं० स्त्री० यशास् यशस्वी; स्त्री० अप्सरास् *अप्सरा* (के रूप चलेंगे)।

(अ) ऐसा प्रतीत होता है कि द्वि० एक० और प्र० द्वि० बहु० पुं० स्त्री० में बहुत से रूपों में संकोच हुआ है: आन्=असन् और आस्=असस्। यथा महाम् महान्, वेधाम् विधाता; उषाम् उषःकाल; जराम् वृद्धावस्था; मेधाम् बुद्धिमत्ता; वयाम् ऊर्जस्विता; अनागाम् निरपराध; अप्सराम्। प्र० बहु० पुं० अङ्गिरास्, अनागास्; नवेदास् समझता हुआ, सजोषास् संयुक्त; स्त्री० मेधास्, अजोषास् जो कभी तृप्त नहीं हो सकता; नवेदास्, सुराधास् उदार। द्वि० पुं० अनागास्, सुमेधास् (?) बुद्धिमान्, स्त्री० उषास्।

इसन्त प्रातिपदिक, जिनकी संख्या लगभग एक दर्जन है, मुख्य रूप से नपुं० में ही पाये जाते हैं। जब वे समासों के उत्तरपद के रूप में प्रयुक्त होते हैं तब पुंलिङ्ग में इनके रूप विकृत रूप में चलते हैं। केवल एक ही इस प्रकार का रूप—पुं० एक० स्वशोचिस् *स्वप्रकाश*—ही स्त्री० में पाया जाता है।

अन्तिम स् को अजन्त प्रत्ययों और स० बहु० के सु से पूर्व ष् हो जाता है और भ् से पूर्व र्। नपुं० के रूपों में द्वि० एक०, प्र० द्वि० द्वि और बहु० में पुं० के रूपों से भेद पाया जाता है। जो रूप वास्तव में उपलब्ध होते हैं वे यदि शोचिस् *प्रकाश, रोशनी,* नपुं० और—शोचिस् पुं० (जब कि नपुं० से यह भिन्न हो जाता है) से बने हों तो इस प्रकार होंगे:

	एक०		बहु०
प्र०	शोचिस्	प्र०	शोचींषि पुं० शोचिषस्
द्वि०	,, पुं० शोचिषम्	द्वि०	,, ,,
तृ०	शोचिषा	तृ०	शोचिर्भिस्
च०	शोचिषे	च०	शोचिर्भ्यस्
पं०	शोचिषस्	प०	शोचिषाम्
ष०	,,	स०	शोचिष्षु (६७)
स०	शोचिषि		
सं०	शोचिस्		

(ऋ) स्त्री० आशिस् (प्रार्थना), जो कि मूल में आ+शिस् (शास् धातु का अनकृष्ट रूप) होने के कारण वास्तव में इसन्त प्रातिपादक नहीं है, के रूप इस प्रकार बनते हैं : प्र० आशीस्; द्वि० आशिषम्; तृ० आशिषा प्र० द्वि० बहु० आशिषस् ।

(ग) उसन्त प्रातिपदिकों की सङ्ख्या समासों के अतिरिक्त कम से कम सोलह है। इनमें अनेक अविकृत पुं० और नपुं० शब्द हैं। नपुं० शब्दों में भी तीन इस प्रकार के हैं कि समस्त होने पर उनके रूप स्त्री० की तरह भी चलने लगते हैं। उसन्त प्रातिपदिकों में ग्यारह नपुं० संज्ञा शब्द हैं जिनमें सिवाय एक के (जनुस्=जन्म) स्वर धात्वंश पर पाया जाता है। इनमें से चार (अंरुस्, चक्षुस्, तपुस्, वपुस्) का प्रयोग पुं० विशेषण शब्दों की तरह भी होता है। नित्य पुं० तीन उसन्त प्रातिपदिक विशेषण हैं जिनमें स्वर प्रत्यय पर पाया जाता है जबकि दो (नहुस्, मनुस्) ऐसे संज्ञा शब्द हैं जिनमें स्वर धातु पर रहता है।

अन्त्य स् को अजादि प्रत्ययों से पूर्व ष् हो जाता है और भ् से पूर्व र्। नपुं० के रूप वैसे ही बनते हैं जैसे कि पुं० के सिवाय द्वि० एक० और प्र० और द्वि० के द्विव० और बहु० के। स्त्री० के जो रूप उपलब्ध होते हैं (आधी दर्जन के लगभग) वे प्र० और द्वि० में ही पाये जाते हैं। यथा प्र० चक्षुस् देखना; द्वि० द्विव० तपुषा गर्म। जो रूप वास्तव में उपलब्ध होते हैं वे यदि चक्षुस् आँख नपुं० और देखना पुं० से बनाये जायें तो इस प्रकार होंगे :

	एक०		द्विव०		बहु०
प्र०	चक्षुस्	प्र०	चक्षुषी	प्र०	चक्षूंषि,
			पुं० चक्षुषा		पुं० चक्षुषस्
द्वि०	चक्षुस्	द्वि०	चक्षुषी	द्वि०	चक्षूंषि
	पुं० चक्षुषम्		पुं० चक्षुषा		पुं० चक्षुषस्
तृ०	चक्षुषा	च०	चक्षुर्भ्याम्	तृ०	चक्षुर्भिस्
च०	चक्षुषे			च०	चक्षुर्भ्यस्
पं०	चक्षुषस्			ष०	चक्षुषाम्
ष०	चक्षुषस्				
स०	चक्षुषि				

१ (२) परिवर्त्य प्रातिपदिक

८४. नियमित परिवर्त्य प्रातिपदिक केवल धातुज नामपदों में ही पाये जाते हैं, जोकि तकारान्त, नकारान्त, सकारान्त या चकारान्त प्रत्ययों के लगने से बनते हैं। तकारान्त प्रातिपदिक इन प्रत्ययों से बनते हैं: अन्त्, मन्त्, वन्त्। नकारान्त प्रातिपदिक इन प्रत्ययों से बनते हैं: अन्, मन्, वन् और इन्, मिन्, विन्। सकारान्त प्रातिप्रदिक इन प्रत्ययों से बनते हैं: यांस् और वांस्। चकरान्त प्रातिपदिक इस प्रत्यय से बनते हैं: अञ्च् (जो कि वास्तव में एक धातु है जिस का अर्थ है *झुकाना*)। जिन प्रातिपादिकों के अन्त में अन्त् (८५–८६), इन् (८७) यांस् (८८) आते हैं उनके दो रूप बनते हैं— सबल और दुर्बल और जिनके अन्त में अन् (९०–९२) वांस् (८९) और अञ्च् (९३) आते हैं उनके तीन रूप बनते हैं: सबल, मध्यम और दुर्बलतम (७३)।

द्विप्रकृतिक नाम शब्द

८५. जिन प्रातिपदिकों के अन्त में अन्त् आता है वे (पुं० और नपुं०)[1] लट्[2], लृट् और लुङ के शतृ प्रत्यय के रूप हैं। सबल प्रातिपदिक के अन्त में अन्त् आता है और दुर्बल के अत्[3], यथा—*अदन्त्* और *अदत् खाता हुआ;* भक्षणार्थक अद् धातु का रूप। इन शत्रन्त शब्दों के रूप केवल पुं० और नपुं० में ही चलते हैं चूंकि स्त्री० में अपने निजी ईकारान्त प्रातिपदिक हैं। नपुं० के रूपों में पुं० के रूपों से प्र० सं० और द्वि० के एक० द्वि० और बहु० में भेद पाया जाता है। स्वर यदि प्रत्यय पर हो तो दुर्बल स्थलों में अजादि विभक्तियों पर चला जाता है।

---

१. स्त्री० प्रातिपदिकों की रचना पर देखिये ९५।

२. सिवाय उन क्रियापदों के जिनमें द्वित्व होता है और कुछ अन्यों के जोकि उनके सादृश्य का अनुसरण करते हैं (८५ ख)।

३. ग्रीक और लेटिन में व्यवस्थापन प्रक्रिया के कारण यह भेद समाप्त कर दिया गया: प० (लै०) एदेन्तिस् (ग्रीक) हेदोन्तो।

पुंलिङ्ग

एक०	द्वि०	बहु०
प्र० अदन्[1] (ग्रीक हेंदोन्)	अदन्ता, अदन्तौ	अदन्तस् (ग्रीक हेंदोन्तेस्)
सं० अदन्	अदन्ता, अदन्तौ	अदन्तस्
द्वि० अदन्तम् (लै० एदेन्तेम्)	अदन्ता, अदन्तौ	अदतस्
तृ० अदता	च० अदद्भ्याम्	तृ० अदद्भिस्
च० अदते		च० पं० अदद्भ्यस्
पं० ष० अदतस्	ष० अदतोस्	ष० अदताम्
स० अदति		स० अदत्सु

नपुंसकलिङ्ग

प्र० द्वि० अदत्	अदती	अदन्ति

अन्य उदाहरण हैं :—अर्चन्त् *गाते हुए*; सीदन्त् (सद् *बैठना*), घ्नन्त् (हन् *मारना*), यन्त् (इ *जाना*), सन्त् (अस् *होना*), पश्यन्त् *देखते हुए*; इच्छन्त् *चाहते हुए*; कृण्वन्त् *करते हुए*; सुन्वन्त् *अभिषव करते हुए*; भञ्जन्त् *तोड़ते हुए*; जानन्त् *जानते हुए*; जनयन्त् *उत्पन्न करते हुए*; युयुत्सन्त् *युद्ध करने की इच्छा रखते हुए*; लृट् करिष्यन्त्, *किया चाहते हुए*; लुङ् सक्षन्त् (सह् *अभिभव करना*)।

(क) इन शत्रन्त प्रातिपदिकों के सादृश्य का अनुसरण वे कतिपय विशेषण भी करते हैं जो अपना पुराना शतृप्रत्ययार्थ खो बैठे हैं : ऋहन्त्, *दुर्बल, कृश*; पृषन्त् *चितकबरा*; बृहन्त् *बड़ा*; रुशन्त् *चमकीला*; किन्च संज्ञा शब्द दन्त्[2] *दाँत* भी। विशेषण शब्द महन्त् *बड़ा* भी यद्यपि मूल में शत्रन्त

---

१. मूल अर्दन्त्स् के लिए तुलना कीजिये लैटिन एदेन्स् से।

२. सम्भवतः भक्षणार्थक अद् का पुराना शत्रन्त रूप जिसमें सत्तार्थक अस् के सन्त् की तरह प्रागैतिहासिक काल में ही आदि अ का लोप हो गया।

ही था[1] तो भी इसके रूप शत्रन्त शब्दों के रूपों से भिन्न हैं क्योंकि इसके सबल रूपों में प्रत्यय के अच् को दीर्घ हो जाता है :

एक० प्र० पुं० महान्; नपुं० महत्, द्वि० महान्तम् तृ० महता।

द्वि० प्र० द्वि० महान्ता, महान्तौ च० महद्भ्याम्।

बहु० प्र० महान्तस् द्वि० महतस् तृ० महद्भिस् स० महत्सु।

(ख) उन धातुओं के शत्रन्त रूपों में जिनमें कि लट् में धातु को द्वित्व होता है, अर्थात् जुहोत्यादिगण (१२७,२) और यङ्लुगन्त प्रक्रिया (१७२) में सबल रूप[2] पृथक् से नहीं पाया जाता, दूसरे शब्दों में, उनसे सभी जगह अत् ही आता है : यथा—बिभ्यत् *डरता हुआ;* घनिघ्नत् *बार-बार मारता हुआ* (√हन्)। इन शत्रन्त रूपों के सादृश्य का अनुसरण किया है उन कतिपय रूपों ने जो कि अनभ्यस्त धातुओं से बनते हैं : दाशत् *पूजन करते हुए;* शासत् *उपदेश देते हुए;* एवञ्च दक्षत् और धक्षत् जो कि दाहार्थक दह् धातु के लुट् के शत्रन्त रूप हैं। किञ्च, कुछ और ऐसे शब्द भी हैं जो मूल रूप में शत्रन्त थे पर जो स्वर की स्वस्थानप्रच्युति के कारण प्रत्यय पर आ जाने से संज्ञा शब्दों की तरह प्रयुक्त होने लगे हैं। इनमें से तीन स्त्री० हैं और दो पुं० वहत्[3]; स्रवत्[4] स्त्री० *धारा;* वेहत्[5] स्त्री० *वत्सहीन गाय;* वाघत् पुं० *याजक;* सश्चत्[6] पुं० *पीछा करने वाला।* अभी-अभी उल्लिखित इन तीन संज्ञा शब्दों के अतिरिक्त स्त्री० शब्दों का अभाव है सिवाय विशेषण शब्द

---

१. मह् धातु से (जो कि मूल रूप में मघ् थी)। तुलना कीजिये लैटिन मग्नुस् से।

२. जिसे कि दुर्बल बना दिया गया है क्योंकि यहाँ स्वर नियमित रूप से अभ्यास पर रहता है।

३. पर शत्रन्त रूप में वहन्त् ले जाता हुआ।

४. पर स्रवन्त्, बहता हुआ।

५. इस शब्द की व्युत्पत्ति अनिश्चित है।

६. पर शत्रन्त रूप में सश्चत् (साथ जाना इस अर्थ की सच् धातु से)।

असश्चत् (*जिसकी तुलना नहीं की जा सकती*[1]) के जिसका कि यह रूप स्त्री० में प्रयुक्त किये जाने पर ही बनता है। शायद ही कोई नपुं० के रूप पाये जाते हों सिवाय पुराने साभ्यास शत्रन्त रूप: जगत् *जाता हुआ, रहता हुआ;* (गा जाना) के जिसका प्रयोग मुख्य रूप से एक संज्ञा शब्द की तरह किया जाता है जिसका अर्थ है *संसार*। इन साभ्यास शत्रन्त प्रातिपदिकों के अन्त में अत् आता है। इनके रूप समस्त तकारान्त धातुरूप प्रातिपदिकों (७७) के समान बनते हैं जिनमें स्वर कभी भी हट कर विभक्तियों पर नहीं आता।

जो रूप उपलब्ध होते हैं वे यदि ददत् *देता हुआ* (√दा) से बनाये जायें तो इस प्रकार होंगे:—

एक० प्र० पुं० नपुं० ददत् द्वि० पुं० ददतम् तृ० ददता।
च० ददते प० ददतस् स० ददति।
बहु० प्र० द्वि० ददतस् तृ० ददद्भिस् प० ददताम्।

८६. अपने पास होना (तदस्यास्ति) इस अर्थ के मन्त् और वन्त् वाले विशेषण-प्रातिपदिकों के रूप ठीक एक से चलते हैं और अन्त् वाले प्रातिपदिकों के रूपों से केवल इस अंश में ही भिन्न हैं कि इनमें पुं० में प्र० एक० में प्रत्ययों के अच् को दीर्घ हो जाता है।[2] इन प्रातिपदिकों से सम्बोधन के रूप नियमित रूप[3] से मस् और वस्[4] लगने से बनते हैं; यथा हविष्मन्त् से हविष्मस् भगवन्त् से भगवस्।

---

१. अक्षरार्थ है जिसके बराबर और कोई नहीं; परन्तु शत्रन्त रूप सश्चत् का स्त्री० का रूप होगा असश्चन्ती।

२. दुर्बल प्रातिपदिक के साथ ई लगाकर स्त्री० रूप बन जाता है: मती, वती (९५)।

३. ऋग्वेद में वस् के १६ रूप हैं और वन् के केवल तीन ही (अथर्व० में वन् के आठ और हैं)। ऋग्वेद में मस् वाले सम्बोधन रूप आठ हैं पर मन् वाले रूप का कोई उदाहरण नहीं मिलता।

४. वन् और वांस् वाले प्रातिपदिकों के सं० में वस् पाया जाता है (तुलना कीजिये यांस् वाले प्रातिपदिकों के सम्बोधन के यस के साथ)।

गायों वाला इस अर्थ के गो´मन्त् शब्द के रूप इस प्रकार बनगे :

एक० प्र० पुं० गो´मान्   नपुं० गो´मत्   द्वि० पुं० गो´मन्तम्
स० गो´मति   सं० पुं० गो´मस् ।
बहु० प्र० पुं० गो´मन्तस्   नपुं० गो´मान्ति[1]   द्वि० पुं० गो´मतस्
स० गो´मत्सु ।

८७. विशेषण प्रातिपदिक इन्, मिन्, विन् ये प्रत्यय लगकर बनते हैं जिनका अर्थ है *अपने पास होना* (तदस्यास्ति)। इन्नन्त प्रातिपदिकों की संख्या बहुत अधिक है, विन्नन्तों की संख्या लगभग बीस है पर मिन्नन्त केवल एक ही है : ऋग्मिन् *स्तुति करता हुआ*। उनके रूप केवल पुं० और नपुं० में ही चलते हैं पर नपुं० के रूप विरल हैं; केवल प्र०, तृ० और प० के एक० में ही वे पाये जाते हैं। कभी-कभी ये प्रातिपदिक पुं० संज्ञा शब्दों की तरह भी प्रयुक्त होने लगते हैं, यथा—गार्थिन् *गायक*। सभी नकारान्त धातुज प्रातिपदिकों की तरह यहाँ भी पुं० में प्र० एक० में प्रत्यय के अच् को दीर्घ हो जाता है और उस स्थिति में (नपुं० में भी) एवञ्च हलादि प्रत्ययों से पूर्व न् का लोप हो जाता है।

जो रूप वास्तव में उपलब्ध होते हैं वे यदि हस्तिन् *हाथों वाला* से बने हों तो इस प्रकार होंगे।

एक० पुं० प्र० हस्ती´   द्वि० हस्ति´नम्   तृ० हस्ति´ना   च० हस्ति´ने,
पं० प० हस्ति´नस्   स० हस्ति´नि   सं० ह´स्तिन् ।
द्वि० पुं० प्र० द्वि० हस्ति´ना, हस्ति´नौ   तृ० च० हस्ति´न्याम्
प० स० हस्ति´नोस् ।

---

१. केवल दो रूप जो पाये जाते हैं वे हैं अर्वन्वान्ति और पशुमान्ति। पद-पाठ में इन रूपों में वन्ति और मन्ति यह पाठ दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहां स्वर का दीर्घत्व छन्द के कारण हुआ है।

२. स्त्री० प्रातिपदिक ई लगने से बनता है : अश्विन् घोड़ों वाला, स्त्री० अश्विनी।

बहु० पुं० प्र० हस्तिनस्, तृ० हस्तिभिस् च० हस्तिभ्यस् प० हस्तिनाम् स० हस्तिषु ।

एक० नपुं० प्र० हस्ती तृ० हस्तिना प० हस्तिनस् ।

८८.३. तुलनार्थक प्रातिपदिक यांस् प्रत्यय लगने से बनते हैं जो कि लगभग सदैव सम्बन्धक अच् ई से पूर्व की स्वरयुक्त धातु से सम्पृक्त कर दिया जाता है। पृथक् से यांस् वाले केवल दो रूप उपलब्ध होते हैं : ज्यायांस् *बड़ा* और सन्यांस् *उम्रमें बड़ा*। छः अन्य रूप यांस् और ईयांस् लगकर बनते हैं। यथा—भूयांस् और भवीयांस् *अधिक*। दुर्बल स्थलों में सबल प्रातिपदिकों को न् का लोप कर एवञ्च स्वर को ह्रस्व कर यस् इस रूप में अपकृष्ट कर दिया जाता है। इन प्रातिपदिकों के रूप केवल पुं० और नपुं० में ही चलते हैं।[1] द्वि० के कोई भी रूप उपलब्ध नहीं होते और बहु० में केवल प्र० द्वि० और प० ही पाई जाती हैं। सं० एक० के अन्त में यस् आता है।[2] जो रूप वास्तव में उपलब्ध होते हैं वे यदि कनीयांस् से बने हों तो इस प्रकार होंगे :

पुंलिङ्ग

	एक०	बहु०
प्र०	कनीयान्	कनीयांसस्
द्वि०	कनीयांसम्	कनीयसस्
तृ०	कनीयसा	
च०	कनीयसे	

---

१. स्त्री० रूप दुर्बल प्रातिपदिक के साथ ई लगने से बनता है। यथा—प्रेयसी *प्रियवरा*।

२. तुलना कीजिये मन्त्, वन्त् (८६) और वांस् (८६) वाले प्रातिपदिकों से।

पं० ष० कनीयसस् ष० कनीयसाम्
स० कनीयसि
सं० कनीयस्

नपुंसकलिङ्ग

प्र० द्वि० कनीयस् कनीयांसि

नपुं० में तृ०, च०, पं० और ष० एक० के रूप, जोकि पुं० रूपों के समान हैं, भी पाये जाते हैं।

त्रिप्रकृतिक नामपद

८९.१ परस्मैपद में भूतकालिक प्रातिपदिक वांस् प्रत्यय लगने से बनते हैं। दुर्बल स्थलों में दो प्रकार से इसका अपकर्ष हो जाता है: हलादि प्रत्ययों से पूर्व (अनुनासिक का लोप एवं स्वर को ह्रस्व कर) वांस् को वस् बना देने से, जो कि वत् रूप में परिणत हो जाता है[1]; और अजादि प्रत्ययों से पूर्व (अनुनासिक के लोप एवं सम्प्रसारण द्वारा) उस् कर देने से, जो कि उष् रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार तीन तरह के प्रातिपदिक बनते हैं वांस् वाले, वत् वाले और उष् वाले। असमस्त रूपों में स्वर सदैव प्रत्यय पर रहता है। इनके रूप पुं० और नपुं० तक ही सीमित हैं[2]। एकमात्र नपुं० का जो स्पष्ट रूप उपलब्ध होता है वह है द्वि० का एक०। सं० एक० नियमित रूप से वस्[3] लगने से बनता है। जो रूप वास्तव में पाये जाते हैं वे यदि चकृवांस् (कर चुकने पर) से बने हों तो इस प्रकार होंगे:

---

१. स् के त् में परिवर्तन पर देखिये ६६ र १ ख।

२. स्त्री० रूप दुर्बलतम प्रातिपदिक के साथ ई लगने से बनता है। यथा—चक्रुषी।

३. तुलना कीजिये मन्त्, वन्त् (=६) और यांस् वाले (==) प्रातिपदिकों के साथ।

पुंलिङ्ग

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	चकृवान्	चकृवांसा	चकृवांसस्
द्वि०	चकृवांसम्	चकृवांसा	चक्रुषस्
तृ०	चक्रुषा		चकृवद्भिस्
च०	चक्रुषे		
पं० ष०	चक्रुषस्		ष० चक्रुषाम्
सं०	चकृवस्		

नपुंसकलिङ्ग

प्र० द्वि०	चकृवत्

(क) इन कृत् रूपों में लगभग एक दर्जन ऐसे हैं जिनमें वांस् प्रत्यय से पूर्व इ पाया जाता है जो कि या तो अन्तिम धात्वाकार का अपकृष्ट रूप होता है या सम्बन्धक अच् ।

जज्ञिवान् (ज्ञानार्थक ज्ञा धातु से) तस्थिवान् गतिनिवृत्यर्थक स्था धातु से) पपिवान् (पानार्थक पा धातु से) यायिवान् (गत्यर्थक या धातु से) ररिवान् (दानार्थक रा धातु से) ईयिवान् (गमनार्थक इ धातु से) जग्मिवान् (अन्य रूप जगन्वान्[1]; गमनार्थक गम् धातु से); पप्तिवान् (*उड्डयनार्थक* पत् धातु से), प्रोषिवान् (प्रोपसर्गक निवासार्थक वस् धातु से), विविशिवान् (प्रवेशार्थक विश् धातु से); ओकिवान् (*अभ्यस्तीभावार्थक* उच् धातु से)। इस इ का उष् से पूर्व लोप हो जाता है। यथा—तस्थुषा, ईयुषस्, जग्मुषे ।

---

१. म् के न् रूप में परिवर्तन पर देखिये ६८ ।

२. पुनः कण्ठ्यरूपापत्ति, द्वित्वाभाव, और सवलीभूत धात्वच् के कारण ।

९०.२ शब्दों की काफ़ी बड़ी संख्या अन्नन्त, मन्नन्त और वन्नन्त नामपदों की है। वन्नन्त शब्दों का प्रयोग कहीं अधिक है और अन्नन्त शब्दों का कहीं कम। ये प्रातिपदिक लगभग पुं० और नपुं० लिङ्गों तक ही सीमित हैं[1] परन्तु विशेषण प्रातिपदिकों के कुछ रूप स्त्री० की तरह प्रयुक्त होते हैं और स्पष्ट रूप से एक स्त्री० प्रातिपदिक पाया भी जाता है : योंषन् *स्त्री*।

सबल स्थलों में प्रत्ययों के अ को प्रायः दीर्घ कर दिया जाता है। यथा—अध्वानम्, पर आधी दर्जन अन्नन्त और मन्नन्त प्रातिपदिकों में यह अपरिवर्तित ही रहता है। यथा—अर्यमणम्। दुर्बल स्थलों में (१) अजादि प्रत्ययों से पूर्व उपधालोप की पद्धति से इस अ का प्रायः लोप हो जाता है। यदि (२) मन् और वन् से पूर्व कोई व्यञ्जन आए तो यह अकारलोप कभी नहीं होता। (१) का उदाहरण तृ० एक० ग्राव्णा, ग्रावन् का रूप, अर्थ है—*अभिषव के लिये पत्थर* (२) का उदाहरण—अश्मना। हलादि प्रत्ययों से पूर्व अन्तिम न् का लोप हो जाता है।[2] यथा—राजभिः। ऋग्वेद में यह उपधालोप नपुं० में प्र० और द्वि० के द्विव० में और सिवाय एक अपवाद (शतदाव्नि) के स० एक० में कभी भी नहीं होता।

अन्य सभी नकारान्त प्रातिपदिकों की तरह (यहाँ भी) प्र० एक० में अनुनासिक का लोप हो जाता है। यथा—पुं० अध्वा, नपुं० कर्म। पर रूपों की दो विशेषताएँ ऐसी हैं जो इन तीनों वर्गों में समान रूप से पाई जाती हैं। इस कारण वे हलन्त शब्दों के रूपों में अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होतीं। स० एक० के प्रत्यय का ऋग्वेद में बहुत बार लोप कर दिया जाता है। यथा—मूर्धन्, अन्य रूप मूर्धनि *सिर पर*। प्र० और द्वि० विभक्तियों के नपुं० के बहु० में प्रातिपदिक के न् एवञ्च प्रत्यय के इ का ऋग्वेद में उन्नीस बार

---

१. अन्नन्त और मन्नन्त प्रातिपदिकों के स्त्री० के रूप ई लगने से बनते हैं जो कि उनके दुर्बलतम रूपों के साथ सम्पृक्त कर दिया जाता है। वन्नन्त प्रातिपदिकों में वन् के स्थान पर वरी आ जाता है।

२. अर्थात् अ मूल स्वरोन्मुख अनुनासिक का प्रतिनिधित्व करता है।

लोप कर दिया जाता है। यथा—कर्मं; जबकि अट्ठारह बार उन्हें तदवस्थ ही रहने दिया जाता है। यथा—कर्माणि।

१. अन्नन्त प्रातिपदिकों की, जो कि पुं० और नपुं० दोनों में ही पाये जाते हैं, (एकमात्र स्त्री० रूप योषन् भी उपलब्ध है) संख्या बहुत अधिक नहीं है। सबल रूपों में ऋभुक्षन् *ऋभुओं का मुखिया*; पूषन् *देवताविशेष का नाम*; और योषन् *स्त्री* में ह्रस्व अ वैसा का वैसा ही रहता है; उक्षन् *सांड* और वृषन् *बैल* में कभी अ पाया जाता है तो कभी आ। इन प्रातिपदिकों के रूपों में (मन्नन्त और वन्नन्त प्रातिपदिकों के प्रतिकूल) तीन व्यञ्जनों के सहप्रयोग का परिहार नहीं किया जाता। यथा—शीर्ष्णा, शीर्षन् का तृ० का रूप।

(अ) व्युत्पत्ति की दृष्टि से छः प्रातिपदिक इसी वर्ग के हैं यद्यपि प्रतीति इस प्रकार की होती है कि वे अन्य दो वर्गों में से किसी एक के हैं। वे हैं: युवन्[३] पुं० जवान; श्वन्[३] पुं० कुत्ता; ऋजिश्वन्[४] पुं० आदमी; मातरिश्वन्[४] पुं० एक अर्ध देवता; विभ्वन्[५] दूर तक पहुँचने वाला; परिज्मन्[६] चारों ओर चक्कर काटने वाला; शीर्षन् नपुं० शिरस् (सिर)—शिर् (अ) सन् का ही परिवृद्ध रूप है।

राजार्थक राजन् शब्द के रूप सामान्यतया इस प्रकार चलेंगे—

एक०	द्विव०	बहु०
प्र० राजा	प्र०द्वि० राजाना, राजानौ	प्र० राजानस्
द्वि० राजानम्		
सं० राजन्[७]		द्वि० राज्ञस्

१. इनमें से सात में संहितापाठ में आ है पर पद-पाठ में शेष रूपों की तरह अ है। अवेस्ता के प्रमाण से यह पता चला है कि संहिता पाठ का आ वाला रूप प्राचीनतर है।

२. छः या सात विशेषण स्त्री० रूप में प्रयुक्त होते हैं।

३. देखिये नीचे ९१, ३, ४।

४. सम्भवतः वृद्ध्यर्थक सू धातु से।

५. सत्तार्थक भू धातु से।

६. गमनार्थक गम् धातु से।

तृ० राज्ञा	तृ० च० राजभ्याम्	तृ० राजभिस्
च० राज्ञे		च० राजभ्यस्
पं० ष० राज्ञस्	ष० राज्ञोस्	ष० राज्ञाम्
स० राजनि		स० राजसु
राजन्		

नपुं० में प्र० और द्वि० में ही भेद है। प्र० द्वि० एक० का कोई उदाहरण नहीं मिलता (पृ० ९४ टि० १)। पर अहन् (दिन) का द्विव० रूप बनता है अह्नी और बहु० रूप अहानि।

२. मन्नन्त प्रातिपदिकों की संख्या पुं० और नपुं० में लगभग बराबर-बराबर हैं। पुं० अधिकतर कर्तृवाची हैं और नपुं० भाववाची। इन प्रादिपदिकों के एक दर्जन के लगभग रूप समासों में उत्तरपद के रूप में आने पर स्त्री० मान कर प्रयुक्त किये जाते हैं[१]। सबल रूपों में अर्यमन् देवता *विशेष का नाम*; त्मन् पुं० *आत्मा*; जेमन् *विजेता* में प्रत्यय का ह्रस्व अच् तदवस्थ रहता है। दुर्बल रूपों में लगभग एक दर्जन स्थलों में प्रत्यय से पूर्व स्वर के आने पर भी उपधा अ का लोप नहीं होता। यथा—भूमना ; दामने। तृ० एक० में सात प्रातिपदिकों में न केवल उपधालोप ही होता है अपितु म् और न् का लोप भी हो जाता है : प्रथिना; प्रेणा ; भूना; महिना ; वरिणा ; द्राघ्मा; रश्मा।

अश्मन् पत्थर (ग्रीक हेक्मोन्) शब्द के रूप सामान्यतया इस प्रकार चलेंगे :—

---

७. मातरिश्वन् का सम्बोधन में रूप है मातरिश्वस्, मानों यह वन्नन्त प्रातिपदिक का रूप हो।

१. मन्नन्त प्रातिपदिकों के ई प्रत्यय लगने से बने स्त्रीलिङ्ग के ऐसे उदाहरण ऋग्वेद में उपलब्ध नहीं होते जिनके विषय में निश्चित रूप से यह कहा जा सके कि वे स्त्री० के हैं यद्यपि अथर्ववेद में समासों के अन्त में इस प्रकार के पांच रूप मिलते हैं।

एक० प्र० अश्मा; द्वि० अश्मानम् तृ० अश्मना[1] च० अश्मने[1] पं० ष० अश्मनस् स० अश्मनि और अश्मन् सं० अश्मन्।

द्विव० प्र० द्वि० सं० अश्माना ष० अश्मनोस्

बहु० प्र० सं० अश्मानस् द्वि० अश्मनस् तृ० अश्मभिस् च० अश्मभ्यस् ष० अश्मनाम् स० अश्मसु।

नपुं० में प्र० और द्वि० में ही भेद है। इन विभक्तियों में कर्मन् (काम) के रूप इस प्रकार हैं—

एक० कर्म द्विव० कर्मणी बहु० कर्माणि, कर्मा, कर्म।

३. वन्नन्त प्रातिपदिक मुख्यरूपेण क्रियाविशेषण शब्द हैं और उनके रूप लगभग अनन्यवादरूपेण पुंलिङ्ग में ही चलते हैं। उनमें से कदाचित् ही एक दर्जन के रूप नपुं० में चलते हों, और स्त्री० में तो केवल पाँच या छः रूप ही प्रयुक्त होते हैं।[2] सबल स्थलों में अ के ह्रस्व बने रहने का केवल एक ही उदाहरण है। वह है—अनर्वाणम्। दुर्बल स्थलों में प्रत्यय से पूर्व अच् आने पर अ का संहिता-पाठ में सदैव लोप हो जाता है सिवाय इन रूपों के—दावने, वसुवने और ऋतावनि। सम्बोधन में प्रायः वन् लगता है पर चार रूप ऐसे हैं जिनमें वस् लगता है: ऋतावस्, एवयावस्, प्रातरित्वस्, विभावस्।[3]

सामान्यतया जो रूप मिलते हैं वे यदि ग्रावन् पुं० पीसने वाला पत्थर से

---

१. प्रत्यय से पूर्व अच् आने पर अ का सामान्यतया लोप हो जाता है। यथा—महिम्ना; अन्य रूप महिना आदि।

२. वैसे इन प्रातिपदिकों के स्त्री० के रूप ई लगकर बनते हैं जो कि कभी भी वन् के बदले आ कर नियमित रूप से तत्स्थानी प्रत्यय वर के बाद आता है। ऋग्वेद में इस प्रकार के वरी वाले पच्चीस रूप पाये जाते हैं।

३. तुलना कीजिये—मन्त्, वन्त्, यांस्, वांस् वाले प्रातिपदिकों से।

चने हों तो इस प्रकार होंगे—

एक० प्र० ग्रावा द्वि० ग्रावाणम् तृ० ग्राव्णा च० ग्राव्णे
पं० ष० ग्राव्णस् स० ग्रावणि और ग्रावन् सं० ग्रावन्
द्विव० प्र० द्वि० सं० ग्रावाणा, ग्रावाणौ तृ०ग्रावभ्याम् प० ग्राव्णोस्
बहु० प्र० सं०, ग्रावाणस् द्वि० ग्राव्णस् तृ० ग्रावभिस्
च० ग्रावभ्यस् प० ग्राव्णाम् स० ग्रावसु

नपुं० में प्र० और द्वि० में ही भेद है। इन विभक्तियों में (द्विव० उपलब्ध नहीं होता) धन्वन् (धनुष) के रूप इस प्रकार बनेंगे—एक० धन्व। बहु० धन्वानि, धन्वा, धन्व।

अनियमित अन्नन्त प्रातिपदिक

९१.१ पन्थन् पुं० (*मार्ग*) जिसका सबल प्रातिपदिक रूप पन्थान् है पर धात्वाकारन्त (९७ य २ क) अनियमित प्रातिपदिकों के अन्तर्गत विचार करना सर्वोत्तम रहेगा।

२. अहन् नपुं० (*दिन*), जो कि वैसे तो नियमित है, का प्र० एक० में एक और रूप अहर् भी पाया जाता है।[1]

३. वैसे तो श्वन् पुं० (कुत्ता) के रूप राजन् की तरह बनते हैं पर दुर्बलतम रूप शुन्[2] में इसे सम्प्रसारण हो जाता है जिसमें कि मूलद्व्यचक[3] प्रातिपदिक का प्रतिनिधित्व होने के कारण स्वर तदवस्थ रहता है।

	एक०	द्विव०	बहु०
प्र०	श्वा (कुंओन्)	श्वाना, श्वानौ	श्वानस्
द्वि०	श्वानम्	,, ,,	शुनस्

१. ऐसा प्रतीत होता है कि अन्नन्त प्रातिपदिकों में अ वाले प्र० के सामान्य रूपों का परिहार किया गया। इस स्थिति में इनसे मिलते-जुलते प्रातिपदिकों ने इनका स्थान ग्रहण कर लिया। यथा—अक्षन् (आँख) इत्यादि के स्थान पर अक्षि।

२. ग्रीक में भी देखिये : कुनोंस्=शुनस्।

३. तुलना कीजिये ग्रीक कुंओन् से।

तृ० शु॑ना	तृ० श्वभिस्
च० शु॑नस् (कुनोस्)	च० श्वभ्यस्
	ष० शु॑नाम्

४ यु॑वन् पुं० नवयुवक का, जो कि वैसे तो नियमित ही है, दुर्बलतम प्राति-पदिक रूप यू॑न् सम्प्रसारण और एकादेश[1] (यु॑ उन्) से बनता है।

एक०	द्वि०	बहु०
प्र० यु॑वा	प्र० द्वि० यु॑वाना	प्र० सं० यु॑वानस्
सं० यु॑वन्		द्वि० यू॑नस्
द्वि० यु॑वानम्		
च० यू॑ने[2]		तृ० यु॑वभिस्
ष० यू॑नस्		च० यु॑वभ्यस्

५. मघवन्[3] (समृद्धि देने वाला) का, जो कि इन्द्र का एक नाम है, दुर्बलतम प्रातिपदिक रूप मघो॑न् सम्प्रसारण और एकादेश (मघ उन्) से बनता है :

एक०	द्वि०	बहु०
प्र० मघवा	मघवाना	मघवानस्
सं० मघवन्		मघो॑नस्
द्वि० मघवानम्		
ष० मघो॑नस्	मघो॑नोस्	मघो॑नाम्

६. नपुं० ऊधन् के प्र० एक० में ऊधर् और ऊधस् ये अतिरिक्त रूप

---

१. तुलना कीजिये लैटिन जुवेनिस् और जूनियर् से।

२. इस प्रातिपदिक में स्वर तदवस्थ रहता है क्योंकि यह एक द्व्यच् शब्द का प्रतिनिधित्व करता है। तुलना कीजिये श्वन् से।

३. एक अन्य प्रातिपदिक रूप मघवन्त् भी निम्नलिखित स्थलों में पाया जाता है—प्र० मघवान बहु० तृ० मघवद्भिस् च० मघवद्भ्यस् स० मघवत्सु।

पाये जाते है। ऊधस् रूप हलादि प्रत्ययों से पूर्व भी पाया जाता है: स० वहु० ऊधस्सु।

९२. ऋग्वेद में पैंतीस समासों के उत्तरपद के रूप में पाई जाने वाली हन् धातु पर्याप्त मात्रा में अन्नन्त धातुज प्रातिपदिकों के सादृश्य का अनुसरण करती है। (इसका) सबल रूप है—हन् (जिसमें कि दीर्घ स्वर प्र० के एक० में ही पाया जाता है) मध्यम रूप है ह॑ और दुर्बलतम रूप घ्न्[1]। वृत्रह॑न् (*वृत्र को मारने वाला*) इस समास के जो विभक्त-रूप उपलब्ध होते हैं वे इस प्रकार हैं—

एक०	द्वि०	बहु०
प्र० वृत्रहा	प्र० द्वि० वृत्रहणा, वृत्रहणौ	प्र० वृत्रह॑णस्
सं० वृ॑त्रहन्		
द्वि० वृत्रह॑णम्		द्वि० वृत्रघ्नस्
तृ० वृत्रघ्ना		तृ० वृत्रह॑भिस्
च० वृत्रघ्ने		
प० वृत्रघ्नस्		
स० वृत्रघ्नि		

२. *अञ्च्-युक्त विशेषण-शब्द*

९३. इन शब्दों में प्रत्यय[2] सामान्यतः *ओर* इस अर्थ को कहता है। इनका सबल रूप अञ्च् और मध्यम रूप ईच् या ऊच्[3] (अच् से पूर्व य् आये तो ईच्, व् आये तो ऊच्) लग कर बनता है। लगभग चौदह प्रातिपदिकों का

---

१. यहां ह् अपने मूल कण्ठ्य महाप्राण रूप को अपना लेता है। इस संयोग में न् को कभी भी मूर्धन्य नहीं होता।

२. इसे झुकाना इस अर्थ की अञ्च् धातु कहना अधिक उपयुक्त होगा पर इसने लगभग प्रत्यय के स्वरूप को ही अपना लिया है।

३. यहां य और व अनियमित रूप से ई और ऊ बन जाते हैं न कि इ या उ।

दुर्वलतम रूप ईच् से वनता है और लगभग छः का ऊच् से, यदि उनमें सस्वर अक्षरों में एकादेश हो तो स्वर हट कर प्रत्ययों पर चला जाता है।[१] इनके रूप पुंलिङ्ग और नपुं० में ही चलते हैं। स्त्री० के रूप दुर्वलतम प्रातिपदिक के साथ ई लगने से वनते हैं। वहु० में जो रूप पाये जाते हैं वे प्र० और द्वि० में ही मिलते हैं एवञ्च द्विव० में प्र० द्वि० और सं० में उपलब्ध होते हैं।

जो रूप वास्तव में उपलब्ध होते हैं वे यदि प्रत्यञ्च् (*सामने की ओर*) से वने हों तो इस प्रकार होंगे—

पुंलिङ्ग

	एक०	द्विव०	वहु०
प्र०	प्रत्यङ् (६१)	प्र० द्वि० प्रत्यञ्चा प्रत्यञ्चौ	प्र० प्रत्यञ्चस्
द्वि०	प्रत्यञ्चम्		द्वि० प्रतीचॅस्
तृ०	प्रतीचा´		
च०	प्रतीचे´		
पं० ष०	प्रतीच´स्		
स०	प्रतीचि´	स० प्रतीचो´स्	

नपुंसकलिङ्ग

प्र० द्वि० प्रत्यक्	प्रतीची´

(क) एतद्विध रूपावली के अन्य शब्द नीचे दिये जा रहे हैं:—

सवल प्रातिपदिक	मध्यम प्रातिपदिक	दुर्वलतम प्रातिपदिक
न्यञ्च् (*नीचे की ओर*)	न्यक्	नीच्[२]

१. ऋग्वेद में तो सामान्यतः यही नियम है पर अथर्ववेद में नहीं। इस लिये द्वि० वहु० में ऋग्वेद में रूप है प्रतीचॅस् और अथर्ववेद में प्रती´चस्।

२. ऐसा प्रतीत होता है कि नीच् इस प्रकृति में स्वर तदवस्थ रहा है चूंकि इसका स्त्री० का रूप है नी´ची (नकि नीची´)। किन्च नीचा´ इस तृतीया के रूप

सम्यंञ्च्[1] (संयुक्त)	सम्यक्	समीच्
तिर्यञ्च्[2] (तिरछा)	तिर्यक्	तिरश्च्
उदञ्च् (ऊपर की ओर)	उदक्	उदीच्[3]
अन्वञ्च् (उत्तरवर्ती)	अन्वक्	अनूच्
विष्वञ्च् (सर्वव्यापी)	विष्वक्	विषूच्

(ख) एक दर्जन के लगभग ऐसे प्रातिपदिकों का, जिनमें कि अञ्च् से पूर्व एक अकारान्त शब्द आता है, दुर्बलतम रूप नहीं पाया जाता है। वे शब्द हैं:—अपाञ्च् *पीछे की ओर*, अर्वाञ्च् *अब से*, अवाञ्च् *नीचे की ओर*, देवाञ्च् *देवताओं की ओर*, पराञ्च् *परास्त* प्राञ्च् *सामने की ओर*। केवल मात्र वे विभक्तियाँ जिनमें द्वि० और बहु० के रूप पाये जाते हैं पुंलिङ्ग की प्र० और द्वि० ही हैं। इन शब्दों के रूपों का निदर्शन अपाञ्च् शब्द के रूप करा सकेंगे—

एक० पुं० प्र० अपाङ् (६१) द्वि० अपाञ्चम् तृ० अपाचा स० अपाचि

द्वि० प्र० द्वि० अपाञ्चा, अपाञ्चौ।

बहु० प्र० अपाञ्चस् द्वि० अपाचस्

पृथक् से जो केवल मात्र नपुंसकलिङ्ग का रूप है वह है प्र० और द्वि० का एक० प्राक्[4]। स्त्री० रूप दुर्बल प्रातिपदिक से ई लगने से बनता है। यथा प्राची।

में क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त होने के कारण क्रियाविशेषण-निमित्तक स्वर-परिवर्तन हो गया है। देवताओं की ओर इस अर्थ के देवद्र्यञ्च् इस शब्द में भी स्वर पूर्ववत् प्रत्यय पर ही रहता है। तृ० देवद्रीचा।

1. यहाँ बीच में य् के आने में सादृश्य हेतु है।

2. यहाँ तिरछा इस अर्थ के तिरस् को तिरि हो जाता है जिससे कि दुर्बलतम रूप तिरश्च् (तिरस्+अच्) बनता है।

3. तत्पाधार से पूर्व य् न आने पर भी ई की उपलब्धि में सादृश्य कारण है।

4. ब्राह्मणग्रन्थों में कोई आधी दर्जन के लगभग नपुं० के प्र० और द्वि० के बहु० के रूप उपलब्ध होते हैं। यथा—प्राञ्चि, अर्वाञ्चि, प्रत्यञ्चि, सम्यञ्चि; सध्र्यञ्चि, अन्वञ्चि।

९४. परिवर्त्य प्रातिपदिकों के विषय में निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं :—

१. पुं० में प्र० एक० में प्रत्यय के अच् को दीर्घ हो जाता है सिवाय उन प्रातिपदिकों के जिनके अन्त में अञ्च् और अन्त् आते हैं : **गोमान्, अग्निर्वान्, कनीयान्, चक्रवान्, राजा, अश्मा, ग्रावा, युवा, हस्ती, ऋग्मी, तरस्वी**, पर (अन्त् और अञ्च् वाले शब्दों के रूप होंगे) **अर्दन्, प्रत्यङ्**।

२. प्र० के एक० में सभी परिवर्त्य प्रातिपदिकों के अन्त में अनुनासिक आता है सिवाय नकारान्त प्रकृतियों के जिनमें कि इसका लोप हो जाता है।

३. सभी परिवर्त्य प्रातिपदिकों के पुं० प्र० एक० में अच् को दीर्घ हो जाता है पर संबोधन के रूपों में उसे ह्रस्व कर दिया जाता है। प्र० के जिन रूपों में न् का लोप होता है उन्हीं के सं० के रूपों में वह तदवस्थ रहता है। पर जिनमें प्र० में (आ के पश्चात्) न् पाया जाता है उनमें सं० में उसका (न्) लोप हो जाता है और स् लग जाता है। यथा : **राजन्** (प्र० **राजा**)[1] **अश्मन्** (प्र० **अश्मा**); **ग्रावन्** (प्र० **ग्रावा**); **युवन्** (प्र० **युवा**);[2] **हस्तिन्** (प्र० **हस्ती**); **हविष्मस्** (प्र० **हविष्मान्**), **मरुत्वस्**[3] (प्र० **मरुत्वान्**); **कनीयस्** (प्र० **कनीयान्**); **चक्रवस्** (प्र० **चक्रवान्**)।

(अ) ऐसे परिवर्त्य प्रातिपदिक जिनमें कि रूप की दृष्टि से प्र० और सं० विभक्तियों में भेद नहीं पाया जाता हैं (यद्यपि इनमें स्वरभेद तो होता ही है : **अर्दन्** (प्र० **अर्दन्**); **प्रत्यङ्** (प्र० **प्रत्यङ्**)।

९५. परिवर्त्य प्रातिपदिकों वाले नामपदों के स्त्रीलिङ्ग रूप दुर्बल प्रातिपदिक को (जब कि दो प्रातिपदिक रूप हों) या दुर्बलतम प्रातिपदिक को (जब

---

१. एक अन्नन्त प्रातिपदिक का सं० रूप अस् लग कर बनता है। यथा—**मातरिश्वस्** (पृ० ६२, टि० ७)।

२. चार वन्नन्त प्रातिपदिकों के सम्बोधन के रूप **वस्** लग कर बनते हैं। यथा—**ऋतावस्, एवयावस्, मातरिश्वस्, विभावस्**।

३. ऋग्वेद में तीन वन्नन्त सम्बोधन शब्द उपलब्ध होते हैं। यथा—**अर्वन्, शतावन्, शवसावन्**। अथर्ववेद में पांच और हैं पर उनमें से एक के अन्त में भी **वस्** नहीं आता।

कि तीन हों) ई लगाने से बनते हैं। यथा—अदती́,(पुं० अर्दन्त्), धेनुमती(पुं० धेनुमन्त्), अ́मवती (पुं० अ́मवन्त्), अर्किनी (पुं० अर्किन्), नव्यसी (पुं० नवीयांस्), जग्मुषी (पुं० जग्मिवांस्), सम्राज्ञी (पुं० राजन्), मघोनी (पुं० मघवन्),—घ्नी (पुं० हन्), प्रतीची́ (पुं० प्रत्यञ्च्), अवित्री́ (पुं० अवितार्)।

(अ) भ्वादिगणी (१२५) धातुओं के शत्रन्त पदों का स्त्री० रूप पुं० के अन्त् वाले सबल प्रातिपदिक से बनता है (देखिये १५६) जब कि अदादिगणी धातुओं में वह अत् वाले दुर्बल प्रातिपदिक से बनता है। यथा—भ́वन्ती होती हुई; उर्च्छन्ती[1] चमकती हुई, पु́ष्यन्ती प्रचुर प्राप्ति करती हुई, चोद́यन्ती प्रेरणा करती हुई (परन्तु भ्वादि से अतिरिक्त गणों की धातुओं के स्त्री० शत्रन्त रूप होंगे) घ्नती́ (पुं० घ्नन्त्) हत्या करता हुआ, पिप्रती वृद्धि करती हुई (पुं० पिप्रत्), कृण्वती́ (पुं० कृण्वन्त्), युञ्जती́ (पुं० युञ्जन्त्) जोतती हुई, पुनती́ (पुं० पुनन्त्) पवित्र करती हुई।

(आ) लृडादेश शत्रन्त शब्दों के स्त्री० के रूप भ्वादिगण के लडादेश शत्रन्त रूपों की तरह बनते हैं। यथा—सू́ष्यन्ती प्रसवोन्मुख, सनिष्य́न्ती प्राप्त्युन्मुख।

(इ) वन्नन्त विशेषण शब्दों के स्त्रीलिङ्ग रूप वरी लगकर बनते हैं, यथा—पी́वन् (पिंओन्) स्थूल, स्त्री० पी́वरी (पिं́एइर—पिंफेरिअ)। अनियमित यु́वन् (युवक) (९१.४) का स्त्रीलिङ्ग का रूप है युवति́।

परिवर्त्यप्रकृतिक अनियमित नामपद

९६.१. जल इस अर्थ के स्त्री० अप् शब्द के अच् को सबल विभक्तियों में द्विव० और बहु० में दीर्घ हो जाता है एवञ्च् भ् से पूर्व इसके प् के स्थान पर त् हो जाता है। इसके जो रूप उपलब्ध होते हैं वे हैं—

एक० तृ० अपा́ पं० ष० अपस्।

द्विव० प्र० आपा[2]।

---

१. केवल एक बार नियमित रूप सिञ्च́न्ती के साथ दुर्बल प्रातिपदिक सिञ्चती́ सींचती हुई पाया जाता है।

२. समास में।

बहु० प्र० सं० ॲापस् द्वि० अपस् तृ० अद्भिस् च० अद्भ्यस् प० अपाम् स० अप्सु

२. *सांड* (अक्षरार्थ है *शकट को खींचने वाला* । यह शब्द अनस्+वह् से बना है) इस अर्थ के अनड्वह् शब्द के तीन प्रातिपदिक रूप उपलब्ध होते हैं : सबल प्रातिपदिक में अन्तिम अच् को दीर्घ हो जाता है : अनड्वाह्, पर दुर्बलतम प्रातिपदिक में सम्प्रसारण के द्वारा इसका ह्रस्वीकरण हो जाता है : अनडुह् । मध्यरूप में इसका स्वरूप होता है अनडुद् (अनडुड् शब्द से विषमीकरण प्रक्रिया के माध्यम से) । प्र० के रूप अनियमित रूप से बनते हैं मानो यहाँ वन्तुयुक्त प्रातिपदिक हो । इसके उपलभ्यमान रूप हैं—

एक०	द्विव०	बहु०
प्र० अनड्वान्	प्र० अनड्वाहौ	प्र० अनड्वाहस्
द्वि० अनड्वाहम्	द्वि० अनड्वाहौ	द्वि० अनडुहस्
प० अनडुहस्		च० अनडुद्भिस्
स० अनडुहि		स० अनडुत्सु

३. पुरुषार्थक पुं० पुंमंस्[1] शब्द के तीन रूप हैं : सबल प्रातिपदिक में इसके अ को दीर्घ हो जाता है पर दुर्बलतम रूप में उसे लुप्त ही कर दिया जाता है जिससे यह पुंस् बन जाता है । मध्यस्थिति में इसका (और भी ह्रस्वरूप) पुम्[2] हो जाता है । इसके उपलभ्यमान रूप हैं :—

---

१. सम्भवतः एक पुराना समास जिसके उत्तरपद का लैटिन के मास् (पुरुष) से सम्बन्ध रहा होगा ।

२. व्यञ्जनों के बीच में आने पर स के आवश्यक लोप की पद्धति से : देखिये २८ और १६ (क) ।

	एक०	बहु०
प्र०	पुमान् (८९,१)	पुमांसस्
सं०	पुमन्	
द्वि०	पुमांसम्	पुंसस्
पं० ष०	पुंसस्	ष० पुंसाम्
स०	पुंसि	स० पुंसु

II. अजन्त प्रातिपदिक

९७. अ. १. धातुज अकारवान् (पुं० और नपुं०)[1] एवञ्च आकारवान् (स्त्री०)[2] प्रातिपदिकों की रूपावलियां अपने में बहुत ही महत्त्व की हैं क्योंकि इनमें पहिली कोटि में समस्त प्रातिपदिकों में से आधे से अधिक का अन्तर्भाव है और दूसरी में अन्य किसी भी प्रकार की रूपावली की अपेक्षा स्त्री० रूपों का आधिक्य है। किञ्च, इन दोनों प्रकार की रूपावलियों में[3] बहुत अधिक अव्यवस्था पाई जाती है। इनमें आने वाले प्रत्ययों का सामान्य रूप से आने वाले प्रत्ययों से कहीं अधिक भेद है। अकारान्त रूप ही इस प्रकार के हैं कि इनमें नपुं० में प्र० और द्वि० विभक्तियों के एक० में प्रत्यय विद्यमान रहता है अथवा जिनमें पञ्चमी का एक० षष्ठी के एक० से पृथक् किया जा सकता है। नपुं० के रूपों का पुं० के रूपों से प्र०, द्वि० और संबोधन विभक्तियों के एक० द्विव० और बहु० में ही केवल भेद पाया जाता है। जो रूप वस्तुतः उपलब्ध होते हैं वे यदि *प्यारा* इस अर्थ के प्रिय शब्द से बनाये जायें तो इस प्रकार होंगे—

---

१. प्र० का अस्, और अन्=ग्रीक ओस्, ओन्, लैटिन उस्, उम्।

२. आ=ग्रीक अ, ए; लै०—अ।

३. कतिपय विशेषण शब्द, जिनके अन्त में अस्-अ-अन् आता है, सर्वनामों की रूपावली का अनुसरण करते हैं (११०)।

	एक०			बहु०	
	पुं०	स्त्री०		पुं०	स्त्री०
प्र०	प्रियस्	प्रिया	प्र०	प्रियास् / प्रियासस्[6]	प्रियास्
द्वि०	प्रियम्	प्रियाम्			प्रियासस्[11]
तृ०	प्रियेण[1] / प्रिया[2]	प्रियया[1] / प्रिया	द्वि०	प्रियान्[7]	प्रियास्
			तृ०	प्रियैस्[8] / प्रियेभिस्	प्रियाभिस्
च०	प्रियाय	प्रियायै[4]			
पं०	प्रियात्[3]	प्रियायास्[4]	च०पं०	प्रियेभ्यस्	प्रियाभ्यस्

---

१. ये प्रत्यय मूल रूप से सर्वनामों के हैं (११०) और वहीं से ये (यहां) आये हैं। **एन** के अन्तिम अच् को प्रायः दीर्घ कर दिया जाता है। यथा—**एना**।

२. यह रूप जोकि सामान्य तृ० प्रत्यय **आ** से बना है, विरले ही उपलब्ध होता है।

३. यह प्रत्यय लैटिन भाषा के **ओद्** (यथा शिलालेखों में उपलब्ध **ग्नैवोद्**) के स्थानापन्न **ओ** एवञ्च ग्रीक (क्रीट की भाषा) के क्रियाविशेषण **तोदे** (अतः) के रूप में सुरक्षित है।

४. **यै (=या+ए), यास् (=या+अस्), याम्** इन प्रत्ययों का (उद्भव) ईकारान्त (मूलरूप में याकारान्त) स्त्रीलिङ्ग शब्दों के प्रभाव के कारण हुआ है। यथा **देव्यै, देव्यास्, देव्याम्** (देखिये १००)।

५. **ऋग्वेद** में तीन बार उपलब्ध **अम्ब** इस रूप का, सम्भवतः सम्बोधन का अर्थ होगा—**हे मा**। वा० सं० और तै० सं० में **अम्बा (माता)** इस प्रातिपदिक से बना **अम्बे** यह सं० रूप पाया जाता है।

६. ऐसा प्रतीत होता है कि यह रूप प्रत्ययद्वय से बना है : **असस्—अस्+अस्**। **अस्** वाले रूप **असस्** वाले रूपों की अपेक्षा ऋग्वेद में दो गुना अधिक प्रचुरतया पाये जाते हैं और अथर्ववेद में चौबीस गुना अधिक प्रचुरतया।

७. सन्धि के द्वारा (४०,२) प्रत्यय के मूल रूप में **न्स्** होने का पता चलता है। तुलना कीजिये—गौथिक—**अन्स्** और ग्रीक शिलालेखों के **ओन्स्** से।

८. यह प्रत्यय **हेप्पोइस्** जैसे ग्रीक के चतुर्थ्यन्त रूपों में सुरक्षित है। **प्रियेभिः** की अपेक्षा यह ऋग्वेद में तनिक अधिक प्रचुरतया पाया जाता है पर अथर्ववेद में इसका प्रयोग पांच गुना अधिक है। ब्राह्मणग्रन्थों में यह लगभग सदैव प्रयुक्त होता है।

प० प्रियस्य		प० प्रियाणाम्[९]	प्रियाणाम्
स० प्रिये	प्रियायाम्[९]	स० प्रियेषु[१०]	प्रियासु[१०]
सं० प्रिय	प्रिये[५]	सं० { प्रियास् / प्रियासस् }	प्रियास्

द्विव० प्र०, द्वि०, पुं० प्रिया[१२], प्रियौ; स्त्री० प्रिये।

तृ० च०, पं० पुं० स्त्री०, नपुं० प्रियाभ्याम्।

ष० स०, पुं०, स्त्री०, नपुं० प्रिययोस्।

(क) प्र० और द्वि० के नपुं० रूप हैं : एक०—प्रियम्। द्विव० प्रिये। बहु० प्रिया[१३] और प्रियाणि[१४]।

(ख) ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों में इन रूपों में एवञ्च अन्यत्र भी (९८.३ क) पं० और ष० के एक० के प्रत्यय आस् के स्थान पर च० के एक० के प्रत्यय ऐ का प्रयोग मिलता है। यथा जीर्णायै त्वचः जीर्ण त्वचा का।

२. पुं० और स्त्री० के[१५] धात्वाकारान्त प्रातिपदिक ऋग्वेद में प्रचुर

---

९. ऐसा प्रतीत होता है कि यहां न् नकारान्त प्रातिपदिकों के प्रभाव के कारण है।

१०. सु के उ को उ से पूर्व आने पर भी लगभग अनिवार्य रूप से सन्धि के बिना ही पढ़ा जाता है।

११. यह रूप ऋग्वेद में विरल है और प्रतीत होता है कि यह बहुत से पुं० रूपों के प्रभाव के कारण ही प्रयोग में आने लगा।

१२. ऋग्वेद में औकारान्त द्विव० रूपों की अपेक्षा आकारान्त द्विव० रूप सात गुना अधिक प्रचुर हैं।

१३. ऋग्वेद में आकारान्त रूप का प्रयोग आन्यन्त रूप की अपेक्षा प्रचुरतर है। इन दोनों के प्रयोग का अनुपात है ३ : २। अथर्ववेद में यह अनुपात पलट जाता है।

१४. यह रूप अन्नन्त प्रातिपदिकों के प्रभाव के कारण है जिनका नपुं० बहु० का रूप आ और आनि इन दोनों से बनता है। यथा—नामा और नामानि।

१५. पृथक् से नपुं० के रूपों का सर्वथा अभाव है क्योंकि उस लिङ्ग में धात्वन्त को सदैव अ के रूप में ह्रस्व कर दिया जाता है और तब इन प्रातिपदिकों के रूप धातुज प्रातिपदिकों के रूपों की तरह चलने लगते हैं।

हैं। ये लगभग तीस धातुओं से बनते हैं। इनमें से बहुत से केवल समासों के उत्तरपद के रूप में प्रयुक्त होते हैं पर चार पुं० में एकाच् प्रातिपदिकों के रूप में प्रयुक्त होते हैं : जा́ बच्चा; त्रा́ रक्षक; दा́ दानी; स्था́ स्थित, और सात स्त्री० में—क्षा́ घर; खा́ कुआँ; ग्ना́ देवस्त्री; जा́ बच्चा; ज्या́ प्रत्यञ्चा; मा́ माप; व्रा́ समूह[1]। संबोधन एवं प्रथमा से अतिरिक्त विभक्तियों में पाये जाने वाले रूपों का प्रयोग इतना विरल है कि कतिपय प्रत्यय, जैसे कि स० एक०, प० स० द्वि० और प० बहु० का सर्वथा अभाव ही है। पुं० में प्र० के एक० में सदैव स् लगता है। पर स्त्री० में प्रायः इसका लोप हो जाता है। निस्सन्देह यह (लोप) धातुज आकारान्त प्रातिपदिकों के प्रभाव के कारण ही होता है।

धात्वच् का ए[2] इस प्रत्यय एवञ्च चतुर्थी और षष्ठी के एक० अस् से पूर्व लोप हो जाता है। जो रूप वास्तव में उपलब्ध होते हों वे यदि पुं० और स्त्री० के जा́ (बच्चा) से बनाये जायें तो इस प्रकार होंगे—

एक० प्र० जा́स् (स्त्री० में भी) जा́ द्वि० जा́म् तृ० जा́ च० जे́ ष० ज́स्
सं० जा́स्।

द्वि० प्र० द्वि० सं० जा́ और जौ́ तृ० जा́भ्याम्[3]

बहु० प्र०, जा́स् द्वि० जा́स् तृ० जा́भिस् च० जा́भ्यस् पं० जा́भ्यस् स० जा́सु।

---

1. बाद की संहिताओं में इन प्रातिपदिकों का प्रयोग कम होता जाता है। वहां उनमें अन्त्य स्वर को प्रायः ह्रस्व कर अ रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है और तब धातुज अकारान्त प्रातिपदिकों की तरह उनके रूप चलते हैं।

2. पर बहुत से चतुर्थी प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त रूपों में नहीं। यथा—परादै́ त्यागने के लिये; प्रख्यै́ देखने के लिये; प्रतिमै́ नकल करने के लिये (देखिये १६७)।

3. एकाच् प्रातिपदिकों में सामान्यतया प्रवृत्त होने वाले नियम के प्रतिकूल स्वर निरन्तर धात्वच् पर ही रहता है।

(अ) पाँच पुं० आकारान्त अनियमित धातुज प्रातिपदिक धातुरूप आकारान्त प्रातिपदिकों के सादृश्य का अनुसरण करते हैं।

मार्गार्थक पुं० पथिं शब्द का सबल प्रातिपदिक रूप ऋग्वेद में केवल पन्था ही है: एक० प्र० पन्थास्। द्वि० पन्थाम्। बहु० प्र० पन्थास्। अथर्व० में इसके अतिरिक्त एक और प्रातिपदिक रूप भी है—पन्थान् : एक० प्र० पन्था। द्वि० पन्थानम्। बहु० प्र० पन्थानस्। क्रियाविशेषण शब्द तथा (उस प्रकार) से प्र० एक० का रूप बनता है अतथास् हां न कहने वाला। पुं० उशना (एक ऋषिविशेष का नाम) की प्रथमा विभक्ति के रूप स्त्रीलिङ्ग रूपों की तरह चलते हैं: उशना। द्वि० उशनाम्। च० उशने।

मथनी इस अर्थ के मन्था का एवं महान् इस अर्थ के महाँ के द्वितीया के रूप बनते हैं मन्थाम् और महाम्।

३. पुं० और नपुं० के धातुरूप अकारान्त प्रातिपदिक जिनकी संख्या लगभग बीस है, प्रायः सभी ऐसे हैं जिनके अन्त में धातु का आ आता था। इस आ को ह्रस्व अ के रूप में परिणत कर दिया गया। छिद्रार्थक नपुं० के ख शब्द के सिवाय ये समासों के उत्तरपद के रूप में ही प्रयुक्त होते हैं। यथा—प्रथमर्ज, *पहिले उत्पन्न*। ह (*मारने वाला*) हन् धातु का संक्षिप्त रूप है। यथा—शत्रुह *शत्रुओं को मारने वाला*।

९८ (र) इकारान्त और उकारान्त प्रातिपदिक (पुं०, स्त्री०, नपुं०)।

इन दोनों के रूपों में सभी लिङ्गों के नामपदों की बहुत बड़ी संख्या समाविष्ट है। पर इकारान्त शब्दों के रूपों में नपुंसकलिङ्ग के प्रातिपदिक अपेक्षाकृत कम हैं और सिवाय नपुं० के प्रातिपदिक अपेक्षाकृत कम हैं और सिवाय नपुं० के प्र० और द्वि० के एक० और बहु० के रूपों के विरले ही उपलब्ध होते हैं: कई स्थलों में तो उनका सर्वथा अभाव है। उकारान्त रूपों में पुं० रूपों का बहुत अधिक प्राधान्य है। स्त्री० और नपुं० के प्रातिपदिकों की कुल मिलाकर जितनी संख्या है उससे भी चारगुना अधिक इनकी है। नपुं० और स्त्री० प्रातिपदिकों में भी यहाँ नपुं० प्रातिपदिकों की संख्या स्त्रीलिङ्ग प्रातिपदिकों से कहीं अधिक है। रूपावली, जिसका कि दोनों ही वर्गों में बहुत साम्य है, सभी लिङ्गों में लगभग एक सी है सिवाय इसके कि नपुं० के प्र०, द्वि० एक० और बहु० के रूपों का पुं० और स्त्री० के रूपों से भेद है; एवञ्च द्वि०

वहु० में पुं० और स्त्री० रूपों में अन्तर है। एक० के (च०, पं० और प०) तीन दुर्बल स्थलों एवञ्च सम्बोधन के एक० और पुं० और स्त्री० के प्र० वहु० में प्रातिपदिक के अन्तिम अच् को गुण हो जाता है जव कि सप्तम्येकवचन में इसमें असामान्य रूप से वृद्धि कर दी जाती है। पं० और प० के एक० के सामान्य प्रत्यय अस् को संक्षिप्त कर स् रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है जवकि सप्तम्येकवचन के स् का इकारान्त रूपों में नियमतः और उकारान्त रूपों में प्रायशः लोप कर दिया जाता है। नकारान्त प्रातिपदिकों के रूपों ने इकारान्त प्रातिपदिकों के रूपों को केवल तृतीया के एक० में ही प्रभावित किया है; पर उकारान्त प्रातिपदिकों के रूपों को तो प०, पं० और स० विभक्तियों में भी प्रभावित किया है। जव इ और उ को (क्रमशः) य् और व् हो तो जाता है तो अन्तोदात्त प्रातिपदिक अपने उदात्त को उत्तरवर्ती अच् पर डाल देते हैं, स्वरित रूप में नहीं, उदात्त रूप में ही। (यह उदात्त) षष्ठी वहु० के नाम् पर भी डाला जा सकता है यद्यपि उस स्थिति में प्रातिपदिक का अच् अपने अक्षरत्व का परित्याग नहीं करता।

जो रूप वास्तव में उपलब्ध होते हैं उनके निदर्शन के लिये शुचि (चमकीला) और मधु (मधुर) इन विशेषण शब्दों का उपयोग किया जा सकता है:

	एकवचन		
	पुं०	स्त्री०	नपुं०
प्र०	शुचिस्	शुचिस्	शुचि
द्वि०	शुचिम्	शुचिम्	शुचि
तृ०	शुच्या[1] / शुचिना	शुच्या[2] / शुची / शुचि	शुचिना

---

१. ऋग्वेद में पांच प्रातिपदिकों के तृतीया के रूप शुच्या की तरह वनते हैं पर पच्चीस प्रातिपदिकों के रूप (नकारान्त रूपों के प्रभाव के कारण) शुचिना की तरह वनते हैं।

२. सामान्य रूप यही है पर ई इस एकादेश वाला रूप ऋग्वेद में दो गुना से भी अधिक प्रचुर है। लगभग एक दर्जन शब्दों में ई को पुनः ह्रस्वकर इ रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है।

च०	शुचये	शुचये[3]	शुचये
पं०	शुचेस्[1]	शुचेस्	[शुचेस्]
ष०	शुचेस्	शुचेस्[4]	शुचेस्
स०	शुचा	शुचा[5]	शुचा
	शुचौ[2]	शुचौ	शुचौ
सं०	शुचे	शुचे	[शुचि]

	पुं०	स्त्री०	नपुं०
प्र०	मधुस्	मधुस्	मधु
द्वि०	मधुम्	मधून्	मधू
तृ०	मध्वा[6] मधुना	मध्वा	मधुना

---

१. अरि (पुं०, स्त्री०) भक्त और अवि पुं० (भेड़) के रूप बनते हैं अर्यस् और अव्यस्।

२. पुं० और स्त्री० में औकारान्त रूप आकारान्त रूपों की अपेक्षा दो गुना अधिक प्रचुर है।

३. ऊती (सहायता के साथ) प्रायः चतुर्थ्यन्त रूप में प्रयुक्त होता है। ऋग्वेद में सात ऐकारान्त चतुर्थ्यन्त रूप हैं। यथा—भृत्यै पालन के लिये। ये ईकारान्त रूपों के सादृश्य पर बनते हैं।

४. ऋग्वेद में ईकारान्त प्रातिपदिकों के रूपावली की पद्धति पर कुछ रूप पाये जाते हैं। यथा—युवत्यास्।

५. वेदि पर इस अर्थ का दो बार पाया जाने वाला वेदी ही एक ऐसा इकारान्त प्रातिपदिक का सप्तम्यन्त रूप है जिसमें सामान्य प्रत्यय इ लगता है (=वेदि+इ)।

६. केवल चार प्रातिपदिकों का पुं० में तृ० में आ वाला सामान्य रूप पाया जाता है पर ऋग्वेद में तीन प्रातिपदिकों का ना वाला रूप मिलता है। नपुं० में सम्भवतः अपवादस्वरूप केवल ना वाला रूप ही प्रयुक्त हुआ है।

	पुं०	स्त्री०	नपुं०
च०	म॑धवे[1]	म॑धवे	म॑धवे[1] म॑धुने
पं०	म॑धोस्	म॑धोस्	म॑धोस्[1] म॑धुनस्
ष०	म॑धोस्[2] म॑ध्वस्	म॑धोस्	म॑धोस्[1] म॑धुनस्
स०	म॑धवि[3] म॑धौ	म॑धौ	म॑धवि[7] म॑धौ म॑धुनि
सं०	म॑धो	म॑धो	म॑धु

द्विवचन

प्र० द्वि० सं० शु॑चौ[8] शु॑ची शु॑ची म॑धू[8] म॑धू म॑ध्वी[9]

---

१. इस प्रकार का रूप साठ से भी ऊपर प्रातिपदिकों से पाया जाता है। नियमित रूप (म॑ध्वे) ऋग्वेद में केवल तीन ही प्रातिपदिकों से पाया जाता है।

२. ऋग्वेद में नियमित रूप से बनने वाले शब्द म॑ध्वस् के रूप का छः एवञ्च सामान्यतया प्रयुक्त मधोस् के रूप का अनुसरण सत्तर से भी अधिक प्रातिपदिक करते हैं।

३. ऋग्वेद में सात प्रातिपदिक इस रूप का अनुसरण करते हैं जब कि उन्नीस म॑धौ इस रूप का।

४. एक प्रातिपदिक से म॑ध्वे यह रूप भी बनता है।

५. एक बार म॑ध्वस् भी।

६. म॑ध्वस्, व॑स्वस् भी।

७. केवल सा॑नवि इस रूप में।

८. धातुज इकारान्त, उकारान्त और ईकारान्त प्रातिपदिक ही ऐसे हैं जिनसे द्वि० में आ या औ नहीं लगता।

९. ऋग्वेद में केवल एकमात्र उदाहरण है उर्वी॑, दो भूमियां। वा० सं० में प्रयोग है जा॑नुनी, दो घुटने।

तृ० च० पं०	शुचिभ्याम्		
ष० स०	शुच्योस्	मध्वोस् मध्योस् मधुनोस्[1]	

बहुवचन

	पुं०	स्त्री०	नपुं०
प्र० सं०	शुचयस्[2]	शुचयस्[4]	शुची[5]
द्वि०	शुचीन्[3]	शुचीस्	शुचि शुचीनि
तृ०	शुचिभिस्		
च० पं०	शुचिभ्यस्		
ष०	शुचीनाम्		
स०	शुचिषु		

	पुं०	स्त्री०	नपुं०
प्र० सं०	मधवस्	मधवस्	मधू
द्वि०	मधून्	मधूस्	मधु मधूनि

---

१. केवल एकमात्र उदाहरण है जानुनोस् (अथर्व०)।

२. अरि ही ऐसा एकमात्र प्रातिपदिक है जिसमें गुण नहीं होता। इसका पुं० और स्त्री० में प्र० बहु० में रूप है अर्यस्।

३. शुचीन् और मधून् इन दोनों में मूल प्रत्यय न्स् सन्धियों—स, या—र् (३६, ४०) के रूप में सुरक्षित है।

४. ऋग्वेद में लगभग कुछ इकारान्त प्रातिपदिकों के प्र० बहु० रूप ईकारान्त प्रातिपदिकों के रूपों के समान बनते हैं। यथा—अर्वनीस्; अन्य रूप अर्वनयस् भी आते हैं।

५. सामान्य रूप शुची (=शुचि इ) लगभग उतनी ही बार पाया जाता है जितना कि इसका ह्रस्वीकृत रूप शुचि। दोनों कुल मिलाकर ऋग्वेद में लगभग पचास बार पाये जाते हैं। विकसित रूप शुचीनि लगभग चौदह बार पाया जाता है।

तृ० मधुभिस्
च० पं० मधुभ्यस्
ष० मधूनाम्
स० मधुषु

(अ) ऋग्वेद में सत्ताईस इकारान्त प्रातिपदिक स्त्री० में च०, पं०, ष० और स० के एक० में ईकारान्त धातुज प्रातिपदिकों के रूपों का अनुसरण करते हैं। यथा—भृति स्त्री० भरण; च० भृत्यै, भूमि स्त्री० पृथिवी; पं० ष० भूम्यास्, स० भूम्याम्। इस प्रकार के ऐ, आस्, और आम् वाले रूप अथर्व० में प्रचुरतर हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में आस् के स्थान पर नियमित रूप से ऐ प्रयुक्त होता है (देखिये ९७ क (अ)। ना वाले असंख्य तृतीयैकवचन रूपों के अतिरिक्त ऋग्वेद में आधी दर्जन इकारान्त प्रातिपदिक हैं जो कि नपुं० में प्र०, द्वि० और सं० के द्विव० के प्रत्यय नी और नपुं० के प्र० और द्वि० बहु० के प्रत्यय नि के प्रयोग की प्रारम्भिक अवस्था में नकारान्त प्रातिपदिकों के रूपों के प्रभाव को संकेतित करते हैं।

उकारान्त प्रातिपदिकों के रूपों में ऋग्वेद में (निम्न निर्दिष्ट) तीन इस प्रकार के हैं जो कि अपनी रूपावली में इकारान्त धातुज प्रातिपदिकों के रूपों का अनुसरण करते हैं—इषु स्त्री० बाण—च० इष्वै, ष० इष्वास्; सुवास्त्वास्, सुवास्तु (नदी) का (ये सभी बाद के सन्दर्भों में पाये जाते हैं)।[1] कतिपय प्रातिपदिक इस

---

६. पुं० प्र० बहु० में गुणाभाव का एकमात्र उदाहरण है मध्वस् जोकि स्वयं में चार बार पाया जाता है।

७. स्त्री० प्र० बहु० में गुणाभाव के दो उदाहरण हैं—मध्वस् और शतक्रत्वस् सौ शक्तियों वाला।

८. प्रत्ययहीन रूप बारह प्रातिपदिकों से बनता है। ह्रस्वीकृताच्क रूप उकारान्त रूपों की अपेक्षा दो गुना अधिक प्रचुर है। विकृत रूप मधूनि, मधु या मधू की अपेक्षा प्रचुरतर है।

१. ब्राह्मणग्रन्थों में यहां स्त्री० के च० के एक० ऐ का ष० और ष० के आस् के स्थान पर नियमित रूप से प्रयोग किया जाता है।

प्रकार के भी हैं जो कि ऊकारान्त प्रातिपदिकों के रूपों का अनुसरण करते हैं यथा—अभीरु (भय रहित) का द्वि० का रूप अभीर्वम् एवञ्च नानाप्रकृतिज युप्रत्ययान्त प्र० और द्वि० के युवा और युवस् पुं० और नपुं० के तृतीया के एक० के असंख्य रूपों के अतिरिक्त बहुत से ऐसे वैकल्पिक नपुं० रूप हैं जो कि शेष विभक्तियों के एक० और प्र० और द्वि० के बहु० में नकारान्त प्रातिपदिकों के रूपों का अनुसरण करते हैं। यथा—च० मधुने, कशिपुने, पं० मधुनस्, सानुनस्; ष० चारुणस्, दारुणस्, द्रुणस्, मधुनस्, वसुनस्, स० आयुनि, सानुनि; दारुणि; प्र० और द्वि० बहु० दारूणि इत्यादि।

(आ) इकारान्त प्रातिपदिकों के नपुं० सं० एक० का कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं होता। उकारान्तों में भी एकमात्र उदाहरण प्राप्त होता है और वह है गुग्गुलु (अथर्व०)। इससे सम्भवतः यही संकेत मिलता है कि इन प्रातिपदिकों में सम्बोधन के एक० के रूप का प्रथमा के एक० के रूप से तादात्म्य था।

(इ) उकारान्त विशेषणों में स्त्री० के लिये भी इस प्रातिपदिक (उकारान्त) का ही प्रयोग प्रायिक है। यथा—चारु, प्रिय; अन्यथा उनका स्त्री० रूप ऊ लगने से बनता है। यथा—तनु पुं० तनू स्त्री० पतला (लैटिन तेनुइस्) या ई लगने से बनता है। यथा उरु पुं० उर्वी स्त्री० विपुल, विशाल।

(ई) बारह के लगभग प्रातिपदिक इस प्रकार के हैं कि इन में अन्तिम इ धातु का इ ही प्रतीत होता है जो कि विकृत रूप में आकारान्त धातुओं के संक्षिप्त रूप का प्रतिनिधित्व करता है। अधिकतर ये धि लगकर बनने वाले पुं० समास ही हैं। यथा—निधि, खजाना। किञ्च आठ के लगभग प्रातिपदिक ऐसे हैं जो उकारान्त धातुओं से बनते हैं और जो सभी के सभी सिवाय दिनार्थक द्यु के समासों के उत्तरपद के रूप में प्रयुक्त होते हैं। यथा—रघुद्रु तेज दौड़ने वाला। इनके अतिरिक्त बारह के लगभग प्रातिपदिक ऐसे हैं जिनमें कि उ धातु का उ ही है। वह विकृत रूप में तीन ऊकारान्त धातुओं के ह्रस्वीभूत स्वर का प्रतिनिधित्व कर रहा है। यथा—सुपु, अच्छी तरह स्पष्ट करने वाला (पवित्रीकरणार्थक पू धातु से) परिभु घेरे हुए (सत्तार्थक भू धातु से)।

इन धातुरूप इकारान्त और उकारान्त प्रातिपदिकों की रूपावली ठीक उसी प्रकार चलेगी जिस प्रकार कि उपरिनिर्दिष्ट धातुज इकारान्त और उकारान्त प्रातिपदिकों की चलती है।

अनियमितताएँ

९९.१ पंति (ग्रीक पो'तिस्) पुं० (*भर्ता*) के रूप च०, प० और स० एक० में नियमित रूप से नहीं बनते । यथा—पंत्ये, पंत्युर्,[1] पंत्यौ; तृ० का इस अर्थ में नियमित रूप पंत्या ही पाया जाता है । पर जब इसका अर्थ *स्वामी* होता है, तो चाहे यह साधारण शब्द हो या किसी समास का उत्तरपद यह नियमित ही होता है : च० पंतये, बृ'हस्पंतये, प० पंतेस्, प्रजापतेस्, स० गो'पतौ; जबकि इस अर्थ में तृतीया के रूप ना लगने से बनते हैं : पंतिना, बृ'हस्पंतिना । (इसका) स्त्री० रूप बनता है पंत्नी (ग्रीक पो'तिनअ) *पत्नी* और *स्वामिनी* ।

(अ) स्त्री० शब्द जंनि (पत्नी) से षष्ठी में उर् यह अनियमित प्रत्यय लगता है : जंन्युर्[1] । इसमें एक और भी विलक्षणता है और वह यह कि इसका प्र० का रूप जंनी धातुज ईकारान्त प्रातिपदिकों के रूपों की तरह बनता है ।

२. मित्रार्थक पुं० संखि शब्द का पंति की तरह एक० के दुर्बल स्थलों में अनियमितताएँ होने के अतिरिक्त सबल प्रातिपदिक रूप भी है जो कि वृद्धि होने से बनता है : प्र० संखा, द्वि० संखायम्, तृ० संख्या, च० संख्ये, पं० ष० संख्युर्,[2] सं० संखे,[3] द्वि० संखाया और संखायौ, बहु० प्र० संखायस्, द्वि० संखीन्, तृ० संखिभिस्, च० संखिभ्यस्, ष० संखीनाम् ।

(अ) ऋग्वेद में सखि शब्द आठ समासों में उत्तरपद के रूप में प्रयुक्त होता है जिनमें कि इसके रूप इसी तरह चलते हैं और इसका प्रयोग भी स्त्री० में होता है । यथा—मरुंत्सखा, प्र० पुं०, स्त्री० मरुत् जिसके मित्र हैं ।

३. भक्तार्थक अरिं शब्द के बहुत से विभक्ति रूप धातुरूप ईकारान्त प्रातिपदिकों के समान बनने के कारण अनियमित हैं : (सिवाय स्वर के) एक० द्वि०

---

१. ऐसा प्रतीत होता है कि (यह) अनियमित प्रत्यय सम्बन्धवाची (१०१) ऋकारान्त शब्दों के पं० और ष० के (रूपों के) प्रभाव के कारण है जैसे पितु'र्, जो कि पितृ का षष्ठी विभक्ति का रूप है ।

२. पंत्युर् के समान सम्बन्धवाची ऋकारान्त शब्दों के द्वारा प्रभावित ।

३. शुं'चि से शुं'चे की तरह नियमित रूप से बनता है ।

अर्यम् (अन्य रूप अरिन्) पुं०, प० अर्यस् पुं०, वहु० प्र० अर्यस् पुं०, स्त्री०, द्वि० अर्यस् पुं०, स्त्री०।

(अ) वा० सं० में प्र० के एक० में अरीस् यह रूप भी मिलता है और साथ में ऋग्वेद का नियमित रूप अरिस् भी। अवि (भेड़) (लैटिन—ओविस) से भी प० के एक० में सामान्यरूपा आने वाला प्रत्यय अस् लगता है :

अव्यस्। पक्षी इस अर्थ के पुं० वि शब्द का प्रथमा के एक वचन का रूप ऋग्वेद में वेस्, अन्य रूप विस्, पाया जाता है।

४. इन नपुं० शब्दों—अक्षि (आँख), अस्थि (हड्डी), दधि (दही) सक्थि (ऊरु), के दुर्बलतम विभक्ति रूप अन्नन्त प्रातिपदिकों से बनते हैं। यथा—तृ० दध्ना, सक्थ्ना; प० अक्ष्णस्, अस्थ्नस्, दध्नस्। द्वि० प्र० अक्षिणी (अथर्व०) तृ० सक्थिभ्याम्, प० अक्ष्णोस्—प्रत्युदाहरण सक्थ्योस् (वा० सं०)। वहु० में प्र० और द्वि० विभक्तियों में भी अन्नन्त प्रातिपदिकों का प्रयोग होता है : अक्षाणि, अन्य रूप अक्षीणि, (अथर्व०) अस्थानि, अन्य रूप अस्थीनि, (अथर्व०) सक्थानि, तृ० अक्षभिस्, अस्थभिस्; च० अस्थभ्यस्।

५. आकाशार्थक पुं० और स्त्री० शब्द द्यु का (जो कि मूल रूप में १०२, ३ के अनुसार द्यव् [द्यो का दुर्बल रूप] था) यह प्रातिपदिक रूप हलादि प्रत्ययों से पूर्व तदवस्थ रहता है (प्र० और सं० एक० में इसे वृद्धि हो जाती है) पर अजादि प्रत्ययों से पूर्व इसके स्थान पर दिव् हो जाता है :

एक० प्र० द्यौस् (ज़ेउस्=द्ज़ेउस्), द्वि० दिवम्,[1] तृ० दिवा, च० दिवे पं० प० दिवस् (दिफोस्), स० दिवि (दिफि), सं० द्यौस्[2] (ज़िउ)।

वहु० प्र० दिवस्[1] द्वि० पुं० द्यून्[3], स्त्री० दिवस्, तृ० द्युभिस्[3]।

---

१. दिव् यह प्रातिपदिक जोकि द्यव् का सम्प्रसारण रूप है सबल स्थलों में द्वि० एक० और प्र० वहु० में भी पहुँच गया है जिसका कारण है बहुत अधिक प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त होने वाले दुर्बल रूप दिवस् आदि जो कि कुल मिला कर ऋग्वेद में ३५० से भी अधिक बार पाये जाते हैं।

२. अर्थात् दिऔस् जिसका उच्चारण इ-यच् पद की तरह होगा। इस रूप में प्र० का स् तदवस्थ रहता है।

३. इन दोनों रूपों का जो कि केवल ऋग्वेद में ही या ऋग्वेद से उद्धृत सन्दर्भों में ही पाये जाते हैं, अर्थ सदैव दिन होता है।

१०० (ल) संज्ञाशब्द होने पर ईकारान्त और ऊकारान्तप्रातिपदिक अधिकतर स्त्री० होते हैं पर बहुत से समासों के उत्तरपद के रूप में प्रयुक्त होने पर विशेषण होते हैं जोकि पुं० और स्त्री० दोनों में प्रयुक्त होते हैं।

(I) ईकारान्त प्रातिपदिकों के (१) धातुरूप या (२) धातुज होने के आधार पर इनकी रूपावली में बहुत अधिक भेद हैं। लगभग अस्सी अनेकाच् प्रातिपदिकों का (२) विकृतिजन्य वर्ग रूपावली और स्वर-प्रक्रिया में मुख्य धातुरूप वर्ग (१) के सादृश्य का बहुत निकटता से अनुसरण करता है यद्यपि वह तद्भव ई लगकर बनता है। स्पष्टता की दृष्टि से इन्हें धातुरूप वर्ग का उपभेद मानकर इन पर विचार करना सर्वोत्तम रहेगा।

(क) हलन्त प्रातिपदिकों में सामान्य रूप से पाये जाने वाले प्रत्यय इस रूपावली में भी सर्वथा अपना लिये गये हैं। हाँ, षष्ठी बहु० में केवल एक रूप में (धियाम्) सामान्य प्रत्यय आम् सुरक्षित है, अन्यथा सब जगह **नाम्** ही लगता है। प्र० एक० में सब जगह स् लगता है। प्रातिपदिक के अन्तिम अच् पर स्वर इस रूपावली की अपनी विशेषता है जोकि सिवाय एकाच् प्रातिपदिकों के उस अच् पर लगातार बना रहता है। अजादि प्रत्ययों से पूर्व एकाच् नामपदों में ई को इय् रूप में प्रविभक्त कर दिया जाता है चाहे वे (एकाच् नामपद) समासों के उत्तरपद[1] ही क्यों न हों। यथा द्वि० **धियम्**, प्र० बहु० **नानाधियस्** *नाना प्रकार के सङ्कल्पों वाला*। पर धातुओं के समासों के उत्तरपद के रूप में प्रयुक्त होने पर व्यञ्जनों से परे आने की अवस्था में[2] ही इस प्रकार होता है। यथा **यज्ञप्रियम्** *यज्ञ का प्रिय*, प्रत्युदाहरण—**यज्ञन्यम्** (=यज्ञनिअम्) *यज्ञ का नेता*

---

१. स्वरयुक्त—धी´ के सिवाय जैसे **आधिंअम्** (पर **सुधी´** सामान्य नियम का अनुसरण करता है जैसे **सुधियस्**)।

२. विकृतिजन्य धातु वर्ग में (क २ पृ० ११७) ई को **समुद्री´** में और आंशिक रूप में **चक्री´** में दो भागों में विभक्त कर दिया जाता है।

अन्यथा ई सदैव य् की तरह लिखा जाता है पर अनन्य रूप से इसका उच्चारण इ की तरह होता है जैसे नद्येम् का उच्चारण होगा नदिअम्[1] *नदी*।

धातुरूप वर्ग के एकाच् प्रातिपदिक हैं स्त्री० धी´ *विचार*, भी´ *भय*, श्री´ *शोभा*, और पुं० वी´ *प्रतिग्रहीता* (जो कि प्र० एक० में केवल एक बार ही पाया जाता है)। पहिले तीनों के समासों के अधिकतर बहुव्रीहि (१८९) और क्री *खरीदना*, नी *ले जाना*, प्री *प्यार करना*, मी *कम करना*, वी *चेष्टा करना*, शी *लेटना*, श्री *मिश्रित होना* के समासों के अधिकतर द्वितीया तत्पुरुष होने के कारण (१८७) ये पुं० और स्त्री० दोनों में ही पाये जाते हैं।

विकृतिजन्य वर्ग में अस्सी से अधिक ऐसे अनेकाच् प्रातिपदिक पाये जाते हैं जिनका अन्तिम अच् उदात्त होता है और जो सम्भवतः इसी कारण धातु-रूप समासों के सादृश्य का अनुसरण करते हैं। लगभग छः के सिवाय वे संज्ञा शब्द हैं और लगभग सभी के सभी स्त्री० हैं। पुं० शब्द हैं: अही´ *सर्प*, रथी´ *सारथि*, और लगभग आठ समास।

(ख) धातुज ईकरान्त प्रातिपदिकों की रूपावली में उन प्रातिपदिकों की बहुत बड़ी सङ्ख्या भी शामिल है जो कि मुख्य रूप से पुं० शब्दों के स्त्री० रूप बनाने के लिये ई प्रत्यय लगा कर बनाये जाते हैं और जिनमें सामान्य रूप से स्वर प्रत्यय पर नहीं रहता[2]। इनमें बहुत से ऐसे विविध स्वतन्त्र स्त्री० प्राति-

---

१. निम्नलिर्दिष्ट विश्लेषित रूपों को इ के साथ लिखा जाता है। (न कि इय् के साथ जैसे कि इनका उच्चारण किया जाता रहा होगा) जिससे कि इनकी संहितापाठ के उन लिखित रूपों से जिन्हें इय् के साथ लिखा जाता है, गड़बड़ी न हो जाय। किन्तु विश्लेषित स्वर इ की तरह लिखा जाता है (न कि ई की तरह) चूंकि दीर्घ स्वरों को अच् से पूर्व उच्चारण में नियमित रूप से ह्रस्व कर दिया जाता है (पृ० २७, टि० २; पृ० २८ और टि० ४)।

२. इसके अपवाद अधिकतर वे प्रातिपदिक हैं जिनमें कि पूर्ववर्ती अक्षर के सङ्कुचित हो चुकने के कारण स्वर अपने को आगे के (के स्वर पर) डाल देता है। यथा—उरु´ स्त्री०, उर्वी´ *विपुल* या जिनमें किसी चीज का नाम होने के कारण अर्थपरिवर्तन को सूचित करने के लिए स्वर अपने स्थान से हट गया है। यथा—असिक्नी´ एक नदीविशेष की संज्ञा, पर अनुदाहरण असिक्नी, कृष्णवर्ण की।

पदिक भी शामिल हैं जो कि भाषितपुंस्क नहीं हैं जैसे शंवी *शक्ति*। इसमें सात पुं० प्रातिपदिक पाये जाते हैं जिनमें से पाँच व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ हैं:—तिरश्चो´, नमी, पृ´थी, मातली, सो´भरी। शेष दो हैं—रां´ष्ट्री *शासक*, सिरी´ *तन्तुवाय*।

इन प्रातिपदिकों की रूपावली धातुज ईकारान्त प्रातिपदिकों की रूपावली से इन तीन दृष्टियों से भिन्न है[1]:—(१) पुं० या स्त्री० में प्र० एक० में स् नहीं लगता, (२) सामान्य प्रत्ययों से इन प्रत्ययों में काफी भेद है, द्वि० एक० में म् लगता है, चतुर्थी में ऐ लगता है, पं० और ष० में आस् लगता है, स० में आम् लगता है और प्र० सं० और द्वि० बहु० में स् लगता है, (३) अन्तोदात्त प्रातिपदिकों में एक० के दुर्बल स्थलों में, ष० और स० के द्विव० में और ष० के बहु० में उदात्त हटकर प्रत्यय पर चला जाता है।

(क) धातुरूप प्रातिपदिक
धी´ स्त्री० *विचार*
रथी´ पुं० स्त्री० *सारथि*

(ख) धातुज प्रातिपदिक
देवी´ स्त्री०

एकवचन

प्र०	धी´स्	रथी´स्	देवी´
द्वि०	धि´यम्	रथि´अम्	देवी´म्
तृ०	धिया´	रथिआ´	देव्या´
च०	धिये´	रथिए´	देव्यै´
प०	धिय´स्	रथिअस्´	पं० ष० देव्या´स्
सं०	—	र´थि	स० देव्या´म्
			सं० दे´वि

१. बाद की भाषा में धातुज वर्ग (ख) विकृतिजन्य धातुरूप वर्ग (क २) का अपने में अन्तर्भाव कर लेता है जब कि यह उससे (धातुरूप वर्ग से) प्र० द्वि० और सं० द्विव० और प्र० और सं० के बहु० के रूपों को ले लेता है।

द्विवचन

प्र० द्वि० धिया, धियौ	रयिआ	देवी॑
तृ० धीभ्याम्	रयी॑भ्याम्	सं० दे॑वी
ष० स० धियो॑स्	रयिओस्	च० पं० देवी॑भ्याम्
		देव्यो॑स्

बहुवचन

प्र० धियस्	रयिअस्	देवी॑स्
द्वि० धियस्	रयिअस्	देवी॑स्
तृ० धीभिस्	रयी॑भिस्	देवी॑भिस्
ष० धीनाम्[1]	च० रयी॑भ्यस्	देवी॑भ्यस्
स० धीषु॑	ष० रयी॑नाम्	देवी॑नाम्
	स० रयी॑षु	देवी॑षु
		सं० दे॑वीस्

(अ) विकृतिजन्य धातु रूप वर्ग के (क २) अन्य शब्द हैं—कुमारी॑ लड़की (द्वि० कुमारि॑अन्), तन्द्री॑ आलस्य (प्र० तन्द्री॑स्), दूती॑ (प्र० दूती॑स्), नदी॑ (द्वि० नदि॑अम्), लक्ष्मी॑ चिन्ह (प्र० लक्ष्मीस्, द्वि० लक्ष्मि॑अम्), सिंही॑ शेरनी (प्र० सिंही॑स् द्वि० सिंहि॑अम्)।

(आ) मूल रूप में द्व्यच् प्रातिपदिक स्त्री के रूप द्वि० एक०, प्र०, द्वि०, और तृ० बहु० में धातुरूप एकाच् प्रातिपदिक की तरह चलते हैं: स्त्रि॑यम्; स्त्रि॑यस्; स्त्रीभि॑स्। पर प्र०, च०, और स० के एक० में इसके धातुज उद्भव के चिह्न विद्यमान हैं: प्र० स्त्री॑ (इसमें स् नहीं है), च० स्त्रियै॑[2] (अथर्व०), ष० स्त्रिया॑स्, स० स्त्रिया॑म् (अथर्व०)।

II ऊकारान्त प्रातिपदिकों के रूपों में जिनमें कि धातुरूप और धातुज दोनों ही प्रकार के प्रातिपदिक समाविष्ट हैं ईकारान्त प्रातिपदिकों के रूपों की

---

१. धीना॑म् ऋग्वेद में सात बार पाया जाता है, धिया॑म् केवल एक बार। इनमें धिया॑म् सामान्य प्रत्यय का उदाहरण है।

२. यह रूप ब्राह्मण-ग्रन्थों में षष्ठी के स्थान पर प्रयुक्त होता है। यथा—स्त्रियै॑ पयः स्त्री का दूध।

अपेक्षा अधिक सामाञ्जस्य है। इन दोनों वर्गों की रूपावली धातुरूप ईकारान्त प्रातिपदिकों के दोनों उपभेदों की रूपावली से बिल्कुल मिलती-जुलती है। इस रूपावली के लगभग सभी प्रातिपदिक जिनमें समस्त धातुरूप और धातुज प्रातिपदिक भी शामिल हैं, अन्तोदात्त हैं।

(क) धातुरूप वर्ग में सात एकाच् प्रातिपदिक हैं जिनमें पाँच स्त्री० हैं: दू́ *उपहार*, भू́ *भूमि*, व्रू́ *मस्तक*, स्यू *तन्तु*, स्रू *नदी*; एक पुं० और स्त्री० दोनों ही है: सू́ *प्राप्त करने वाला* और *माता*; एक० पुं० है: जू́ *वेगवान्, वाजी*। किन्च दो द्वित्वयुक्त स्त्री० संज्ञा शब्द और एक विशेषण शब्द हैं: जुहू́ *जिह्वा*, जुहू́ *यज्ञ का चम्मच*, जोगू́ *उच्चस्वर से गाने वाला*। अन्त में, साठ के लगभग ऐसे समास पाये जाते हैं जोकि लगभग अनन्यरूपेण कोई ग्यारह धातुओं से बनते हैं। यथा—परिभू́ *घेरे हुए*।

(ख) धातुज वर्ग में दो भाग हैं: एक में लगभग अट्ठारह स्त्री० अन्तोदात्त संज्ञाशब्द हैं जिनमें बहुत से पुं० और नपुं० के आद्युदात्त उकारान्त प्रातिपदिकों से मिलते-जुलते हैं। यथा—अग्रू́ (पुं० अ́ग्रु) *दासी*; और दूसरे बहुसंख्यक वर्ग में पुं० अन्तोदात्त शब्दों से मिलते-जुलते स्त्री० अन्तोदात्त विशेषण शब्द हैं। यथा बभ्रू́ (पुं० बभ्रु́) *भूरा*।

(अ) हलन्त प्रातिपदिकों से सामान्य रूप से जो प्रत्यय आते हैं वे ही इस रूपावली (धातुरूप या धातुज)[1] में निरन्तर अपना लिये गये हैं। पर ष० बहु० में केवल असमस्त धातुरूप प्रातिपदिकों से ही[2] सामान्य प्रत्यय आम् लगता है। शेष सभी से

---

१. धातुज प्रातिपदिक धातुज ईकारान्त प्रातिपदिकों के रूपों से प्रभावित होने की वर्धमान प्रवृत्ति की ओर सङ्केत करते हैं। ऋग्वेद में केवल एक ही ऐसा रूप है—श्वश्रुर्‌आम्; अथर्व० में कम से कम दस ऐसे रूप हैं; वा० सं० में—द्वि० पुंश्चलूम्, पुंश्चली, च० तन्वै́, ष० तन्वा́स्। ये रूप पाये जाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में आस् के स्थान पर स्त्री० च० एक० का प्रत्ययऐ प्रयुक्त किया जाता है। यथा—धेन्वै́ रे́तः *गाय का बीज*।

२. केवलमात्र उपलभ्यमान दो रूप भुर्वाम् और जोगुवाम् को देखते हुए।

नाम् लगता है। प्र० ब० में सदैव स् लगता है। एकाच् नामपदों सहित समानाधिकरण तथा धातूत्तरपदक समासों में (संयुक्त हल् पूर्व रहने पर भी) स्वरादि प्रत्ययों से पूर्व ऊ को उव् रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है। इन अन्त-संयुक्तक समासों (जिनकी संख्या ऋग्वेद में लगभग ९ है) और सभी संहिता प्रातिपदिकों[1] में इसे व् की तरह लिखा जाता है पर उच्चारित उव्[2] की तरह किया जाता है। इस प्रकार के द्वि० के रूप हैं: भु॑वम्, आभु॑वम् विद्यमान।

प्रत्युदाहरण—विभ्व॑म् (उच्च) तन्व॑म्। जो रूप उपलब्ध होते हैं वे यदि भूमिवाची भू॑ शब्द से एवं शरीरार्थक तनू॑ शब्द से बने हों तो इस प्रकार होंगे—

एक वचन

धातुरूप	धातुज
प्र० भू॑स्	तनू॑स्
द्वि० भु॑वम्	तनु॑अम्
तृ० भु॒वा॑	तनु॑आ
पं० ष० भु॒व॑स्	च० तनु॑ए
स० भु॒वि॑	पं० ष० तनु॑अस्
	स० { तनु॑इ / तनू॑ }
	सं० त॑नु

द्विवचन

प्र० द्वि० भु॑वा	प्र० द्वि० तनु॑आ
तृ० भू॒भ्या॑म्	च० तनू॑भ्याम्
स० भु॒वो॑स्	स० तनु॑ओस्

---

१. हां, केवल प्रातिपदिक अग्रू॑ और कद्रू॑ सोमपात्र सहित उन विशेषण शब्दों में जहाँ ऊ से पूर्व य् आता है और बीभत्सू॑ संहिता में इसे परिवर्तित कर दिया जाता है।

२. अतः ऐसे रूपों में इसे उ की तरह लिखा जाता है (ह्रस्व इसलिये कि उच्चारण में एक स्वर को अन्य स्वर से पूर्व ह्रस्व कर दिया जाता है: देखिये, पृ० २७ टि० ३)।

बहुवचन

प्र० भुॅवस्	प्र० तनुॅअस्
द्वि० भुॅवस्	द्वि० तनुॅअस्
ष० भुवॉम्	तृ० तनूॅभिस्
	च० तनूॅभ्यस्
	ष० तनूॅनाम्

१०१ (ब) ऋकारान्त प्रातिपदिक (पुं० और स्त्री०) जो कि मूल रूप में अर् और तर् वाले धातुज हलन्त प्रातिपदिक हैं, रूपावली में अन्नन्त प्रातिपदिकों (९०) के बहुत अधिक निकट हैं। ऋकारान्त धातुज प्रातिपदिकों के दो वर्ग हैं, एक तो वह जो कि मूल प्रत्यय अर् लगाने से बनता है और दूसरा वह जो कि तर् लगाने से बनता है। पहला केवल ८ प्रातिपदिकों का एक छोटा-सा वर्ग है, दूसरा १५० से भी अधिक का बहुत बड़ा वर्ग है। दोनों ही वर्गों में दोनों ही प्रकार के रूप, सबल और दुर्बल, पाये जाते हैं। इस कारण उन दोनों में साम्य है। सबल प्रातिपदिक के अन्त में अर् या आर् आता है जिसे कि दुर्बल रूपों में अच् से पूर्व र् रूप में और हल् से पूर्व ऋ रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है। दोनों ही वर्गों में एक और भी साम्य है और वह यह कि इन दोनों में ही पुं० और स्त्री० में प्र० के एक० में प्रातिपदिक के अन्त्य वर्ण का लोप कर दिया जाता है जिसके कारण इस (प्र० एक०) रूप के अन्त में सदैव आ ही आता है। पुं० के द्वि० बहु० में न् प्रत्यय, और स्त्री० के द्वि० बहु०[1] में स् लगाने एवं षष्ठी बहु०[2] में आम् से पहिले न् का आगम करने के कारण इनके रूपों में और अजन्त शब्दों के रूपों में समानता पाई जाती है। प० एक०[3] में इनसे एक विचित्र सा प्रत्यय उर् लगता है।

---

१. सिवाय उस्रॅस् के।
२. सिवाय स्वॅसॄन् और नॅरान् के।
३. सिवाय नॅरस् और उस्रॅस के।

१. अर् वाले प्रातिपदिक हैं—पुं० देवृ́ *पति का भाई*; नृ́[1] नर, स्त्री० उसृ́ *उषा*, ननान्दृ, *पति की बहिन*, स्वसृ́[2] *बहिन*, नपुं० अहर् *दिन*, ऊधर्, वधर् *शस्त्र*। ये प्र० और द्वि० के एक० में ही मिलते हैं।[3] पहले पाँच प्रातिपदिकों के जो रूप उपलब्ध होते हैं वे इस प्रकार हैं—

(क) एक० द्वि० देवरम्। बहु० प्र० देवरस्। स० देवृ́षु।

(ख) एक० द्वि० नरम् (ग्रीक हने́र)। च० नरे। प० नरस्। स० नरि (ग्रीक—हने́रि)। द्वि० प्र० द्वि० नरा। सं० नरा और नरौ। बहु० प्र० सं० नरस् (ग्रीक—हने́रेस्) द्वि० नॄ́न्। तृ० नृ́भिस्। च० द्वि० नृ́भ्यस्। प० नराम् और नृणाम्[4]। स० नृ́षु।

(ग) एक० प० उस्रस्। स० उस्रि और उस्राम्[5]। सं० उ́षर्। बहु० द्वि० उस्रस्।

(घ) एक० प० ननान्दुर्। स० ननान्दरि।

(ङ) एक० प्र० स्वसा। द्वि० स्वसारम्। तृ० स्वस्रा। च० स्वस्रे। पं० प० स्वसुर्। द्वि० स्वसारा, स्वसारौ। स० स्वस्रोस्। बहु० प्र० स्वसारस्। द्वि० स्वसॄस्। तृ० स्वसृभिस्। प० स्वस्राम्[6] और स्वसॄणाम्।

२. इस वर्ग के दो उपभेद हैं, एक तो वह जिसमें सबल प्रातिपदिक तर् लगकर बनता है और दूसरा वह जो तार् लगकर बनता है (ग्रीक तेर्, तोर्; लै० तोर्)। पहला केवल सम्बन्धवाचक पाँच नामों का एक लघु-

---

१. यह शब्द सम्भवतः अर् प्रत्यय से बनता है।

२. इस शब्द में ऋ सम्भवतः धातुरूप है : स्व-सर्।

३. अहर् और ऊधर् के अन्य विभक्ति रूप अन्नन्त प्रातिपदिक अ́हन् और ऊ́धन् से बनते हैं। देखिये ९१.६.

४. जिसका उच्चारण बहुत बार नृणाम् होता है।

५. धातुज ईकारान्त प्रातिपदिकों के रूपों के सादृश्य पर।

६. ऋकारान्त प्रातिपदिकों के रूपों में स्वस्राम् और नराम् ये दो ही ऐसे हैं जिनमें प्रातिपदिक से अव्यवधानेन आम् लगता है।

वर्ग है जिसमें पित́र् *पिता*, भ्रा́तर् *भाई* और न́प्तर्, *पौत्र* ये तीन पुं० हैं और दुहित́र् *पुत्री*, और मात́र् *माता* ये दो स्त्री० हैं। इस (भेद में) इन शब्दों से बने पुं० और स्त्री० समासों का भी समावेश है। दूसरे उपभेद में (समासों को मिला कर) १५० से भी अधिक प्रातिपदिक हैं जो कि या तो इस प्रकार के कर्तृवाची नामपद हैं जिनमें स्वर प्रत्यय पर पाया जाता है या शतृ-शानजन्त रूप हैं जिनमें स्वर मुख्य रूप से धातु पर पाया जाता है।

तृ-प्रत्ययान्त रूपों में तीन तरह के प्रातिपदिक पाये जाते हैं: सबल—तर् या तार्; मध्य तृ और दुर्बलतम त्र्। सम्बन्धवाची शब्दों में गुण हो जाता है[1] और कर्तृवाची नामपदों में सबल प्रातिपदिक रूप को वृद्धि हो जाती है। पुं० और स्त्री० के रूपों में केवल द्वि० बहु० में ही भेद पाया जाता है। प० एक० उर्, स० एक० अरि, सं० अर, पुं० द्वि० बहु० तॄन्, स्त्री० तॄस् और ष० बहु० तॄणाम् लग कर बनते हैं।

दातृ́ पुं० *दाता* (ग्रीक—दोतॅर्, लै० दतोर्) पितृ́ पुं० *पिता* (ग्रीक—पते́र्, लै० पतेर्) मातृ́ स्त्री० *माता* (ग्रीक मे́तेर्, लै० मातेर्) के रूप इस प्रकार हैं—

एकवचन

	दातृ	पितृ	मातृ
प्र०	दाता́	पिता́	माता́
द्वि०	दाता́रम्	पिता́रम्	माता́रम्
तृ०	दात्रा́	पित्रा́	मात्रा́
च०	दात्रे́	पित्रे́	मात्रे́
पं० ष०	दातु́र्	पितु́र्	मातु́र्
स०	दाता́रि	पिता́रि (ग्रीक पतेरि)	माता́रि
सं०	दा́तर् (ग्रीक दोतिर्)	पि́तर् (लै० जुपितेर्)	मा́तर् (ग्रीक-मेतिर्)

१. सबल प्रातिपदिक न́प्तर् ऋग्वेद में उपलब्ध नहीं है। इसका स्थान न́पात् ले लेता है।

द्विवचन

प्र० द्वि० दाता॑रा, दाता॑रौ	पित॑रा, पित॑रौ	मात॑रा, मात॑रौ
तृ० च० दातृ॑भ्याम्	पितृ॑भ्याम्	मातृ॑भ्याम्
प० स० दात्रो॑स्	पित्रो॑स्	मात्रो॑स्

बहुवचन

प्र० दाता॑रस्	पित॑रस्	मात॑रस्
द्वि० दातॄ॑न्	पितॄ॑न्	मातॄ॑स्
तृ० दातृ॑भिस् च० पं० दातृ॑भ्यस्	पितृ॑भिस् पितृ॑भ्यस्	मातृ॑भिस् मातृ॑भ्यस्
ष० दातॄणा॑म्	पितॄणाम्	मातॄणा॑म्
स० दातृ॑षु	पितृ॑षु	मातृ॑षु
सं० दा॑तारस्	पि॑तरस्	मा॑तरस्

(अ) ऋग्वेद में न॑प्तृ केवल दुर्बल प्रातिपदिक के रूप में ही पाया जाता है: एक० तृ० न॑प्त्रा, च० न॑प्त्रे प० न॑प्तुर्। बहु० तृ० न॑प्तृभिस्। सबल स्थलों में इसका एक अन्य रूप न॑पात् भी पाया जाता है (लैटिन नेपोत्) एक० प्र० सं० न॑पात्, द्वि० न॑पातम्—द्वि० प्र० द्वि० न॑पाता। बहु० प्र० सं० न॑पातस्। तै० सं० में (ऋकारान्त प्रातिपदिकों के स्व॑सारम् की तरह) न॑प्तारम् यह प्रयोग मिलता है।

(आ) नपुं० में केवल ये ही प्रातिपदिक उपलब्ध होते हैं: धर्तृ॑ सहारा, ध्मातृ॑ फुँकनी, स्थातृ॑ स्थावर, विधातृ॑ देने वाला। इनके केवल छः के लगभग

रूप पाये जाते हैं। सं० अथवा प्र० से अन्य विभक्तियों में बनने वाले रूपों में केवल ये ही उपलब्ध होते हैं—प० **स्थातु´र्** और स० **ध्मार्तरि**। ऐसा प्रतीत होता है कि प्र० और द्वि० का एक० अपनी विरलता के कारण वेद में स्थिरता को प्राप्त न कर सका पर **स्थार्तर्** सामान्य रूप का प्रतिनिधित्व करता है। ब्राह्मणग्रन्थों में ऋकारान्त प्रातिपदिकों के प्र० और द्वि० के रूपों का प्रयोग विशेषणार्थ में भी प्रारम्भ हो गया है : **भर्तृ´** भरण करने वाला, **जनयितृ´** उत्पादक।

(इ) तृ प्रत्ययान्त कर्तृवाची नामपदों का स्त्री० रूप पुं० के दुर्बल प्रातिपदिक से ई लगाने से बनता है। (यथा—**जनित्री** माता (जिसके रूप देवी´ की तरह चलते हैं)।

१०२ (च) ऐकारान्त, ओकारान्त और औकारान्त प्रातिपदिक। सन्ध्यक्षरान्त प्रातिपदिक केवल ये ही हैं :—**रैं´** पुं० (और विरले ही) स्त्री० *धन*, **गो´** पुं० *बैल*, स्त्री० *गाय*, **द्यो´** पुं० और स्त्री० *आकाश*, **नौ´** स्त्री० *नाव*, **ग्लौ´** पुं० और स्त्री० *ढेर*, *समूह*। ये हलन्त रूपों के अजन्त रूपों में परिवर्तन की स्थिति का प्रतिनिधित्व करते हैं। यद्यपि साधारण हलन्त रूपों में जो सामान्य प्रत्यय लगते हैं वे उन्हें भी लगते हैं तो भी पुं० और स्त्री० में प्र० एक० में उन्हें स् प्रत्यय लगता है और हलादि प्रत्ययों से पूर्व अच् आता है। इनमें नपुं० के रूपों का सर्वथा अभाव है।

१. **रैं´** स्वरों से पूर्व **राय्** इस रूप में पाया जाता है और व्यञ्जनों से पूर्व **रा** इस रूप में। इसके उपलभ्यमान रूप इस प्रकार हैं :

एक० द्वि० **रा´म्** (लौ० **रेम्**)। तृ० **राया´**। च० **राये´** (लौ० **रीई**)। पं० ष० **राय´स्**।

बहु० प्र० **रा´यस्**। द्वि० **राय´स्**[1]। ष० **राया´म्**।

२. **गो** का सबल रूप **गौ** है जो कि द्वि० एक० और बहु० में **गा** के रूप में पाया जाता है। पं० और ष० में **अस्**[2] के स्थान पर **स्** पाये जाने से अनियमितता है।

---

१. विरले ही **रा´यस्**; केवल एक बार **रा´स्** (साम०)।

२. स्वर की दृष्टि से इस शब्द को एकाच् नहीं माना जाता। इस में स्वर हट कर कभी भी प्रत्ययों पर नहीं जाता।

उपलभ्यमान रूप हैं:—

एक० प्र० गौ॑स् (ग्रीक—बोउस्)। द्वि० गा॑म् (ग्रीक—बोन्)।

तृ० ग॑वा। च० ग॑वे। पं० ष० गो॑स्। स० ग॑वि।

द्वि० गा॑वा, गा॑वौ।

बहु० प्र० गा॑वस्। द्वि० गा॑स्। तृ० गो॑भिस्। च० गो॑भ्यस्।

ष० ग॑वाम् और गो॑नाम्[1]। स० गो॑षु। सं० गा॑वस्।

३. द्यो पुं० और स्त्री० (*आकाश*) (देखिये ९९.५) के रूप गो॑ की तरह चलते हैं। जो रूप उपलब्ध होते हैं वे इस प्रकार हैं:—

एक० प्र० द्यौ॑स्[2] (ग्रीक—जिऊस्)। द्वि० द्या॑म् (लै० दिएम्)। पं० ष० द्यो॑स्। स० द्य॑वि। सं० द्यौ॑स् और द्यौ॑स्[3] (ग्रीक—जिउ)।

द्वि० प्र० द्वि० द्या॑वा।

बहु० प्र० सं० द्या॑वस्।

४. इसके जो कुछ भी थोड़े से रूप मिलते हैं उनसे यह पता चलता है कि नौ॑ के रूप पर्याप्त नियमित रूप से चलते हैं:—

एक० प्र० नौ॑स्, (ग्रीक—नऊस्)। द्वि० ना॑वम् (ग्रीक—नेफ) तृ० ना॑वा॑। ष० ना॑वस् (ग्रीक—नेफो॑स्)। स० ना॑वि (ग्री—नेफि)।

बहु० प्र० ना॑वस् (ग्रीक—नेफेस्, लै० नावेस्)। द्वि० ना॑वस् (ग्रीक—नेफस्) तृ० नौ॑भिस् (ग्रीक नउफि)।

५. ग्लौ केवल दो रूपों में ही पाया जाता है:

एक० प्र० ग्लौ॑स् और बहु० तृ० ग्लौ॑भिस्[4]।

---

१. अजन्त शब्दों के रूपों का अनुसरण करने वाला यह रूप ग॑वाम् की अपेक्षा बहुत कम प्रचलित है। यह केवल पादान्त में ही पाया जाता है।

२. द्यु का प्र० में जो रूप बनता है ठीक वही (९९.५)।

३. अर्थात् द्वि॑औ॑स् जितने सं० स्वर तो ठीक है पर प्र० एक० के प्रत्यय का तादवस्थ्य ठीक नहीं।

४. प्र० बहु० ग्लावस भी दे० ब्रा० में पाया जाता है।

तुलना की मात्राएँ

१०३.१. तुलनावाची विकृत तर[1] (ग्रीक तेरो) और अतिशयवाची तम (लैटिन तिमो) ये प्रत्यय समस्त और असमस्त दोनों ही प्रकार की नाम प्रकृतियों से एवञ्च संज्ञापदों और विशेषणों के सामान्यतया दुर्बल या मध्य कोटि के प्रातिपदिकों से सम्पृक्त कर दिये जाते हैं। यथा—प्रियतर *अधिक प्रिय*, तवस्तर *अधिक शक्तिशाली*, वपुष्टर *अधिक आश्चर्यजनक*, मंगवत्तर *अधिक दानशील*, वृत्रतर *अधिक बुरा वृत्र*, भूरिदावत्तर *अधिक खुले हाथों देने वाला*, शश्वत्तम *सबसे अधिक नैरन्तर्येण होने वाला*, रत्नधातम *सबसे अधिक रत्नों (निधि) को देने वाला*, हिरण्यवशीमत्तम *सब से अच्छी तरह सोने का कुठार धारण करने वाला*, रथीतम *सब से अच्छा सारथि*।

(अ) इन प्रत्ययों से पूर्व प्रातिपदिक के अन्त्य न् को तदवस्थ रहने दिया जाता है। यथा मदिन्तर *अधिक मादक*, वृषन्तम *सर्वाधिक पौरुषयुक्त*, कभी-कभी न् का आगम भी हो जाता है। यथा—सुरभिन्तर *अधिक सुगन्धित*, रयिन्तम *बहुत धनी*।

(आ) कतिपय स्थलों में शत्राद्यन्त रूप के सबल प्रातिपदिक का प्रयोग किया जाता है। यथा—प्रार्धन्तम *सर्वाधिक प्रबल*, सहन्तम *सर्वाधिक विजयी*। (एवमेव) क्वस्वाद्यन्त दुर्बलतम प्रातिपदिक का प्रयोग भी देखा जाता है। यथा—विदुष्टर *अधिक बुद्धिमान्*, मीळ्हुष्टम *सर्वाधिक दयालु*।

(इ) ये विकृत प्रत्यय कभी-कभी अविकृत तुलनावाची एवञ्च सर्वोत्कर्षवाची प्रत्ययों से आगे प्रयुक्त हुए भी देखे जाते हैं। यथा—श्रेष्ठतम *सर्वाधिक उदार*।

(ई) उपसर्गों से भी ये तुलनावाची एवञ्च सर्वोत्कर्षवाची प्रत्यय लगते हैं:—उत्तर *उच्चतर*, उत्तम[2] *उच्चतम*।

---

१. ये विकृत तर और तमान्त रूप अविकृत रूपों की तुलना में अधिक प्रचुर हैं। इनका अनुपात ३ : २ का है।

२. पूरणार्थक प्रत्यय तम के स्वर के साथ।

(उ) इन शब्दरूपों[1] के जहाँ ये प्रत्यय[2] लगते हैं, स्त्री० रूप आ लगकर बनते हैं। यथा—मातृ´तमा सर्वाधिक मातृत्वयुक्त।

२. अविकृत तुलनावाची प्रत्यय ईयांस् (ग्रीक इओन्, लै० इओर्) और अतिशयवाची इष्ठ (ग्रीक इस्तो) सीधे धातु से आते हैं जो कि नियमेन स्वरयुक्त होती हैं और (जिसके) इ, ई, उ, या ऊ को गुण हो जाता है पर अ को कोई परिवर्तन नहीं होता सिवाय इसके कि कतिपय स्थलों में इसका अनुनासिकीकरण हो जाता है। धातु के अन्त्य आ को प्रत्यय के आदि अन् के साथ ए रूप में सन्धि हो जाती है जिसे (ए को) प्रायः दो अक्षरों की तरह पढ़ा जाता है। इसके उदाहरण हैं :—ते´जीयांस् *तीक्ष्णतर*, ते´जिष्ठ *तीक्ष्णतम* (तिज् *तेज़ होना*), ज´वीयांस् *वेगवत्तर*, ज´विष्ठ *वेगवत्तम* (जु *वेगयुक्त होना*), य´जीयांस् *अधिक अच्छा यज्ञ करने वाला*, य´जिष्ठ, *सर्वाधिक अच्छा यज्ञ करने वाला*। मं´हिष्ठ *सबसे अधिक उदार*, *वदान्य*, (मह् *प्रभूत मात्रा में देना*), ज्ये´ष्ठ *सबसे महान्* और ज्येष्ठ´ *सबसे बड़ा* (ज्या *अभिभव करना*)।

(अ) अनेक स्थलों में ये सर्वोत्कर्षवाची प्रत्यय अर्थ की दृष्टि से धातुज विशेषणों से सम्बद्ध हो जाते हैं क्योंकि ये उस धातु से बनते हैं जोकि उन (विशेषण पदों) में पाई जाती है। यथा—अणु´ से अ´णीयान् सूक्ष्मतर, अ´णिष्ठ सूक्ष्मतम, दू´र से द´वीयांस् दूरतर, दीर्घ´ से द्रा´घीयांस् दीर्घतर और द्रा´घिष्ठ दीर्घतम, लघु´ (हल्का) से ल´घीयांस् लघुतर, उरु´ (विस्तीर्ण) से व´रीयांस् विस्तीर्णतर और व´रिष्ठ विस्तीर्णतम, श´श्वत् (स्थायी) से श´शीयांस् अधिक स्थायी, ओ´षम् (शीघ्रतापूर्वक) से ओ´षिष्ठ सबसे अधिक शीघ्रता से, बृहन्त् (महान्) से ब´हिष्ठ सर्वोच्च, यु´वन् (तरुण) से य´विष्ठ सब से छोटा, व´र (उत्तम) से व´रिष्ठ सर्वोत्तम, साधु´ (सीधा) से सा´धिष्ठ सबसे अधिक सीधा।

---

१. जब तम का पूरणार्थक प्रत्यय के रूप में प्रयोग होता है तो इसके स्त्री० के रूप सस्वर ई लग कर बनते हैं (देखिये २०७)।

२. सिवाय ज्येष्ठ और कनिष्ठ के जिनके अर्थ क्रमशः सब से बड़ा और सब से छोटा है।

(आ) कतिपय स्थलों में प्रत्यय धातुजरूपों के साथ सम्पृक्त कर दिया जाता है जोकि विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुए देखे जाते हैं। यथा—आ॑शु (ग्री० होकुस्) शीघ्र (अश् पहुँचना से) आ॑शिष्ठ (ग्री० होकिस्तोस्), (तिज् तेज़ करना से बने रूप) तीक्ष्ण से ती॑क्ष्णीयांस् अधिक तेज़, नव से न॑वीयांस् नवीनतर और न॑विष्ठ नवीनतम, स्वद् रुचिकर लगना' से बने स्वादु॑ (ग्री० हेदुस्, लै० सुआविस्) से स्वा॑दीयांस् (ग्री० हेदिओन्, लै० सुआविओर्), स्वादुतर और स्वा॑दिष्ठ (ग्री० हेदिस्तोस्) स्वादुतम।

(क) यद्यपि तुलनावाची शब्द प्रायः ईयांस् लगकर ही बनते हैं पर एक दर्जन के लगभग ऐसे रूप भी हैं जहाँ इनके स्थान पर विकल्प से यांस् इस संक्षिप्त रूप का भी प्रयोग किया जाता है: त॑व्यांस् (त॑वीयांस्) *अधिक शक्तिशाली*, न॑व्यांस् (न॑वीयांस्) *नवतर*, प॑न्यांस् (प॑नीयांस्) *अधिक आश्चर्यजनक*, भू॑यांस्[2] (भ॑वीयांस्) *अधिक होना*, र॑भ्यांस् (र॑भीयांस्) *अधिक उग्र*, स॑ह्यांस् (स॑हीयांस्) *दृढ़तर*। लगभग आधी दर्जन के ऐसे रूप और हैं जिनका अपने सिवाय और कोई रूप नहीं पाया जाता :

ज्या॑यांस् *महत्तर, अधिक बड़ा*, प्रे॑यांस् *प्रियतर*, प्रे॑ष्ठ *प्रियतम* (प्रिय॑ से), व॑स्यांस् *अधिक अच्छा*, व॑सिष्ठ *सर्वोत्तम* (व॑सु से), श्रे॑यांस् (ग्री० क्रुईओन्) *दो में अच्छा* और श्रे॑ष्ठ *सर्वोत्तम*, (श्री *उज्ज्वल होना* से) प्राचीनार्थक स॑न से स॑न्यांस् (लै० सीनिओर्) *अधिक पुराना*, दृढार्थक *स्थिर* से स्थे॑यांस् *स्थिरतर*।

(ख) कतिपय तुलनावाची और अतिशयवाची प्रत्यय केवल अर्थ की दृष्टि से ही अपने मूल रूपों से सम्बद्ध हैं। यथा—(अल्प से बना) क॑नीयांस्[3]

---

१. तै० सं० में बुरा इस अर्थ के पाप॑ इस विशेषण से जिसका कि धात्वंश अनिश्चित है, सीधे ही पा॑पीयांस् यह तुलनावाची शब्द बनता है।

२. यहाँ अच् अपरिवर्तित रहता है। यही स्थिति स्वसमकक्ष अतिशयवाची रूप भू॑यिष्ठ की भी है जहाँ कि (प्रकृति) और प्रत्यय के बीच य् भी आ जाता है।

३. तुलना कीजिये—कन्या॑=लड़की (=कनिआ), ग्रीक कइनो॑स् (=कनिओ॑स्)।

कम छोटा, कनिष्ठ और कनिष्ठ सबसे छोटा[1] और (आयु में) सबसे छोटा निकटार्थक अन्तिक से (नेदीयांस्) अवेस्ता—नज़्दयह् (निकटतर) बढ़ा हुआ इस अर्थ के वृद्ध शब्द से, वर्षीयांस् उच्चतर, वर्षिष्ठ[2] उच्चतम।

संख्यावाचक शब्द

सामान्य संख्यावाचक शब्द

१०४.

१. एक।
२. द्व (ग्री० दुओ, लै० दुओ)।
३. त्रि (ग्री० त्रि, लै० त्रि)।
४. चतुर् (लै० क्वतुओर)।
५. पञ्च (ग्री० पेन्ते)।
६. षष् (ग्री० हेक्स लै० सेक्स्)।
७. सप्त (ग्री० हेप्त)।
८. अष्टौ[3] (ग्री० होक्तो, लै० ओक्तो, गॉ० अह्तउ)।
९. नव (लै० नोवेम्)।
१०. दश[4] (ग्री० देक)।
११. एकादश।[5]
१२. द्वादश[6] (ग्री० दोदेक)।

---

१. इस अर्थ में (यह) ऋ० सं० में उपलब्ध होता है।

२. तुलना कीजिये—वर्ष्मन् नपुं०, वर्ष्मन् पुं० ऊँचाई।

३. अष्टा एक पुरातन द्वि० रूप है।

४. १० और २० के बीच के सामान्य संख्यावाची शब्द द्वन्द्व समास हैं जिनमें दश से पूर्व एक स्वरयुक्त पूर्वपद का प्रयोग पाया जाता है।

५. यहां एका, द्वादश के प्रभाव के कारण एक का ही अर्थ देता है।

६. यहां द्व इस प्रातिपदिक रूप की अपेक्षा प्र० के द्वि० रूप को उपस्थ रहने दिया गया है।

१३. त्र॑योदश[1]।
१४. च॑तुर्दश[2]।
१५. प॑ञ्चदश।
१६. षो॑डश[3]।
१७. सप्त॑दश।
१८. अ॑ष्टादश[1]।
१९. नव॑दश।
२०. विंश॑ति[4] (लै० विजिन्ति)।
३०. त्रिंश॑त्।
४०. चत्वारिंश॑त्।[5]
५०. पञ्चाश॑त्। (ग्री० पेन्ते॑-कोन्त)।
६०. षष्टि॑[6]।
७०. सप्तति॑।
८०. अशीति॑[7]।

---

१. प्र० बहु० में (१०५) त्र॑यस् के स्थान पर (४५, २) त्र॑यो यह रूप पाया जाता है।

२. समास के पूर्व पद के रूप में प्रयुक्त होने पर चतु॑र् का स्वर नियमित रूप च॑तुर् की तरह होता है।

३. षष् दश के स्थान पर (मध्यस्थिति ṣazdaśa) (देखिये ६६ ग, टि० ३)।

४. यह और बाकी के सामान्य संख्यावाची शब्द संज्ञा शब्द हैं। बीस से नब्बे तक के या तो पुराने समास हैं (विशेषण और संज्ञाएं : दो दशक इत्यादि) अथवा ति लगकर बने व्युत्पन्न प्रातिपदिक हैं।

५. विंशति और त्रिंशत् के समान चत्वारिम् चत्वारि का स्थानापन्न नपुं० बहु० का रूप है (१०५)।

६. साठ से नब्बे तक के सङ्ख्यावाची शब्द स्त्री० भाववाचक नामपद हैं जिनका उद्भव दस षट्क इत्यादि अर्थों के सामान्य संख्यावाची शब्दों से होता है (सिवाय अशीति के)।

७. धातुदृष्ट्या अशी अष्टा से सम्बद्ध है।

९०. नवति।
१००. शतम् (ग्री० हेकतोन् लै० केन्टुम्)।
१,०००. सहस्र (नपुं०)।
१०,०००. अयुत (नपुं०)।
१००,०००. नियुत (नपुं०)।
१,०००,०००. प्रयुत (नपुं०)।
१०,०००,०००. अर्बुद (नपुं०)।
१००,०००,०००. न्यर्बुद (नपुं०)।

(क) २० और १०० के बीच के दशकों के अन्तर्वर्ती संख्यावाचक शब्द द्वन्द्व समास हैं जो कि दशकवाची शब्द (विंशति आदि) से पूर्वयुक्त एकाङ्क (एक से नव तक) लगने से बनते हैं। यथा—अष्टाविंशति २८; एकत्रिंशत् ३१; त्रयस्त्रिंशत् ३३; नवचत्वारिंशत् ४९; नवषष्टि ६९; नवाशीति ८९; पञ्चनवति ९५; षण्णवति ९६; अष्टानवति ९८, एकशतम् १०१; चतुःशतम् १०४; त्रिंशच्छतम् १३०।

(अ) बीच की संख्याएं च के साथ या उसके बिना भी एकाङ्क (एक से नव तक) एवं दशक को मिला देने से अभिव्यक्त की जा सकती हैं (यथा—नव च नवतिं च निन्यानवे; नवतिं नव निन्यानवे।

(आ) ब्रा० ग्रं० में दशक से पहिले आने वाली संख्या को एकान्न से भी अभिव्यक्त किया जाता है जिसका अर्थ है एक से नहीं, अर्थात् एक कम। जैसे—एकान्न' विंशति बीस में एक कम=१९: एकान्नचत्वारिंशत् ३९; एकान्न षष्टि ५९; एकान्नाशीति ७९; एकान्न शतम् ९९।

(ख) अपवर्त्य (multiple) बनाने के दो तरीके हैं। द्विव० और बहु० में बड़ी संख्या को विशेषण की तरह प्रयुक्त होने वाली छोटी संख्या से गुणा किया जा सकता है. यथा—द्वे शते २००; षष्टिं सहस्रा ६०,०००; त्रीणि शता त्री सहस्राणि त्रिंशच्च नव च ३३३९। अन्यथा गुणक जब किसी बड़ी संख्या से पूर्व आता है तो इसका बड़ी संख्या के वाचक शब्द के साथ द्वन्द्व (विशेषण) संख्येयवाचक समास हो जाता है। इस समास का अन्तिम अक्षर उदात्त होता है। यथा—त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः ६३३३।

(अ) १०० से कम की संख्याओं के अपवर्त्य कभी-कभी इन दो तरीकों से बनते हैं। यथा—नवती'र् नव नौ नव्वे=८१०, या त्रिसप्त २१, त्रिणव २७।

सामान्यसंख्या शब्दों की रूपप्रक्रिया

१०५. अन्य विशेषणों के समान पहिले चार सामान्य संख्यावाची शब्दों में ही केवल लिङ्ग विभेद पाया जाता है। एक जिसके रूप मुख्यतया एकवचन में ही चलते हैं वहुवचन[1] में भी पाया जाता है। तब इसका अर्थ होता है कई। हाँ द्व (दो) के रूप केवल द्विवचन में ही वनते हैं।

१. एक के रूप विश्व और सर्व[2] (१२० ख) इन सर्वनाम विशेषणों की तरह चलते हैं। संहिताओं में जो रूप उपलब्ध होते हैं वे हैं—

पुं० एक० प्र० एकस् द्वि० एकम् तृ० एकेन प० एकस्य।

स० एकस्मिन्।

बहु० प्र० एके। च० एकेभ्यस्।

स्त्री० एक प्र० एका द्वि० एकाम् तृ० एकया प० एकस्यास्।

बहु० प्र० एकास्।

नपुं० एक० प्र० एकम् बहु० प्र० एका।

२. दो इस अर्थ के द्व के रूप द्वि० में प्रिय (९७ य १) के समान सर्वथा नियमित रूप से चलते हैं। उपलभ्यमान रूप ये हैं—

पुं० प्र० द्वा,[3] द्वौ तृ० द्वाभ्याम् प० द्वयोस् स० द्वयोस्।

---

१. एक का स्त्री० में प्र० द्वि० का रूप कोई इस अर्थ में एके युवती (अथर्व०) तरुणियों की एक जोड़ी में पाया जाता है।

२. पं० एक० का एकमात्र उपलभ्यमान रूप एकात् नामपदों के रूपों का अनुसरण करता है। यह एकान्नत्रिंशत् २९ आदि (तै० सं०) समस्त संख्यावाची शब्दों को बनाने में काम आता है। इसी प्रकार प्रयुक्त एकस्मात् तै० सं० के एक ब्राह्मण सन्दर्भ में पाया जाता है।

३. द्वादश=१२ इस संख्यावाची समास में द्विवचन रूप तदवस्थ रहने दिया जाता है। अन्यथा द्वि को समासों में यथा—द्विपद् दो पैर वाला (मनुष्य) एवञ्च शब्दान्तरनिष्पत्ति, यथा—द्विधा दो प्रकार से आदि में प्रातिपदिक रूप में प्रयुक्त किया जाता है।

स्त्री० प्र० द्वे॑ तृ० द्वौ॑भ्याम् ।

नपुं० प्र० द्वे॑ स० द्वयोस् ।

३. *तीन* इस अर्थ के त्रि शब्द के रूप पुं० और नपुं० बहु० में शुचि (९८ र) के समान ही सर्वथा नियमित रूप से चलते हैं। स्त्री० का प्रातिपदिक है तिसृ[1] जिसके रूपों की प्र० और द्वि० विभक्तियों के अन्य ऋकारान्त प्रातिपदिकों के रूपों से इस दिशा में भिन्नता है कि इनमें अपरिवर्तित प्रातिपदिक से सामान्य प्रत्यय अस् लगता है। उपलभ्यमान रूप ये हैं—

पुं० बहु० त्रयस् द्वि० त्री॑न् तृ० त्रिभि॑स् च० त्रिभ्य॑स् प० त्रीणाम् स० त्रिषु॑ ।

स्त्री० प्र० तिस्र॑स् द्वि० तिस्र॑स् तृ० तिसृ॑भिस् च० तिसृ॑भ्यस् प० तिसॄणाम्[3] ।

नपुं० प्र० द्वि० त्री॑, त्री॑णि ।

४. *चार* इस अर्थ के चतु॑र् का पुं० और नपुं० में चत्वार् यह सबल रूप पाया जाता है (देखिये लै० क्वतुओर)। प० बहु० में प्रातिपदिक के हलन्त होने पर भी विभक्ति प्रत्यय[4] से पूर्व न् का आगम हो जाता है। स्त्री० का प्रातिपदिक रूप चतसृ है जिसके रूप ठीक तिसृ॑ की तरह चलते हैं और जिसमें पञ्च की तरह स्वरप्रच्युति हो जाती है। उपलभ्यमान रूप ये हैं:

पुं० प्र० चत्वा॑रस् द्वि० चतु॑रस् तृ० चतु॑र्भिस् च० चतु॑र्भ्यस् प० चतुर्णा॑म् ।[5]

---

१. सम्भवतः स्वसृ (१०१.१. टि० ५) की तरह बने त्रिसृ॑ के स्थान पर।

२. सिवाय नरस् (१०१.१. ग) के।

३. केवल एक बार इसे तिसृणाम् की तरह लिखा जाता है। यद्यपि ऋ वस्तुतः छन्दोऽनुरोधात् दीर्घ है।

४. षष् के षष्ठ्यन्त रूप षण्णाम् की तरह जो कि वैसे किसी भी संहिता में उपलब्ध होता नहीं दीखता।

५. पञ्च आदि के षष्ठी विभक्ति के रूपों के समान स्वर के अन्तिम अक्षर पर होने पर।

स्त्री० प्र० द्वि० चतस्रस् तृ० चतसृभिस् च० चतसृभ्यस् प० चतसृणाम् ।

नपुं० प्र० द्वि० चत्वारि ।

१०६. पाँच से उन्नीस तक के सामान्य संख्यावाची शब्दों में विशेषणवत् प्रयुक्त होने पर भी लिङ्गभेद नहीं है और इनसे प्र० और द्वि० में[1] कोई प्रत्यय नहीं आता।

हलादि प्रत्ययों[1] से पूर्व अ के एवञ्च षष्ठी में अन्तिम अच् को उदात्त करने की प्रवृत्ति उन सब में समान रूप से पाई जाती है।

(क) संहिताओं में षष् के उपलभ्यमान रूप हैं:—

प्र० द्वि० षट् (२७) तृ० षड्भिस् च० षड्भ्यस् स० षट्सु ।

(ख) आठ इस अर्थ के अष्टौ शब्द के रूपों से पता चलता है कि यह (अष्टा) एक पुराना द्विवचन रूप[3] था। इसके उपलभ्यमान रूप ये हैं—

प्र० द्वि० अष्टा, अष्टौ तृ० अष्टाभिस् अष्टाभ्यस् स० अष्टासु ।

(ग) *पाँच* इस अर्थ के पञ्च और *सात* इस अर्थ के सप्त एवञ्च नव से एकोनविंशति तक के रूप अन्नन्त नपुं० प्रातिपदिकों (९०.२) की तरह बनते हैं सिवाय षष्ठी विभक्ति के जिसमें कि प्रिय (९७) के रूपों का अनुसरण किया जाता है। उपलभ्यमान रूप ये हैं:—

प्र० द्वि० पञ्च तृ० पञ्चभिस् च० पञ्चभ्यस् प० पञ्चानाम् स० पञ्चसु ।

---

१. अष्टौ और अष्टौ के सिवाय जो कि प्र० और द्वि० के द्वि० के रूप हैं।

२. सिवाय अष्टा के जहां कि स्वर प्रत्यय पर रहता है।

३. सम्भवतः इसका अर्थ था दो त्रिक। शायद दोनों हाथों की उंगलियों के लिये इसका प्रयोग होता था।

४. ऋग्वेद में समास के पूर्वपद के रूप में अष्टा इस प्रकृति का प्रयोग किया जाता है पर अथर्व० में अष्ट का प्रयोग प्रारम्भ हो जाता है।

प्र० द्वि० सप्त तृ० सप्तभिस् च० पं० सप्तभ्यस् ष० सप्तानाम् ।

प्र० द्वि० नव तृ० नवभिस् च० नवभ्यस् ष० नवानाम् ।

प्र० द्वि० दश तृ० दशभिस् च० दशभ्यस् ष० दशानाम् स० दशसु ।

प्र० द्वि० एकादश च० एकादशभ्यस् । प्र० द्वादश च० द्वादशभ्यस् । प्र० त्रयोदश तृ० त्रयोदशभिस् च० त्रयोदशभ्यस् । प्र० पञ्चदश च० पञ्चदशभ्यस् । प्र० षोडश च० षोडशभ्यस् । प्र० सप्तदश च० सप्तदशभ्यस् । प्र० अष्टादश । च० अष्टादशभ्यस् । प्र० नवदश तृ० नवदशभिस् । च० एकान्नविंशत्यै (तै० सं०) ।

(ब) विंशति, त्रिंशत् इत्यादि नवति तक के दशक एवञ्च इन से बने समस्त एकविंशति आदि नवनवतिपर्यन्त सामान्य संख्यावाची शब्द स्त्री० संज्ञा शब्द होते हैं। इनके रूप लगभग सदैव एक० में ही पाये जाते हैं और प्रातिपदिकान्त्य वर्ण के अनुसार बनते हैं। यथा—प्र० विंशतिस् द्वि० विंशतिम् तृ० विंशत्या । प्र० त्रिंशत् द्वि० त्रिंशतम् तृ० त्रिंशता स० त्रिंशति । अर्थानुरोध से ये संख्यावाची शब्द बहुवचन में भी प्रयुक्त किये जा सकते हैं। यथा—नव नवतीस् *निन्यानवे,* नवानां नवतीनाम् *निन्यानवे का* । शत और सहस्र दोनों ही नपुं० शब्द हैं जिनके रूप सभी वचनों में चल सकते हैं। यथा—द्वे शते *दो सौ;* सप्त शतानि *सात सौ;* त्रीं सहस्राणि *तीन हजार* ।

(अ) पञ्च से एकोनविंशति तक की संख्याओं के वर्ग में मात्र प्रातिपदिक ही सं और प्र० से अन्य विभक्तिओं में प्रयुक्त किया जा सकता है जबकि संज्ञा शब्दों से उसका अन्वय सम्भव हो। यथा—सप्त होतृभिः सात होताओं के साथ (देखिये-१९४ र क)।

पूरणार्थक संख्यावाची शब्द

१०७. सभी पूरणप्रत्ययान्त शब्दों के अकारान्त विशेषण शब्द होने के कारण पुं० और नपुं० में प्रिय की तरह रूप चलते हैं। स्त्री० रूप ई लगकर बनते (ये देवी की तरह चलते है) सिवाय पहिले चार के जिनमें आ (प्रत्यय) आता है।

प्रथम से दशम तक के पूरणप्रत्ययान्त शब्द अनेक प्रकार के पूरणप्रत्यय लगने से बनते हैं, जैसे (त्) ईय, थ, थम, म। पहिले चार के रूप कुछ अनियमित से बनते हैं। एकादश से एकोनविंशतितम तक के पूरणप्रत्ययान्त प्रातिपदिकों का स्वसमकक्ष सामान्य संख्यावाची शब्दों से इसी अंश में भेद है कि उनमें अन्तिम अच् उदात्त पाया जाता है। उनके रूपों मे भी सामान्य संख्यावाची शब्दों के रूपों से यही भेद है कि उनके रूप प्रिय के रूपों की तरह चलते हैं। यथा एकादश के विभक्ति रूप इस प्रकार बनते हैं : पुं० एक० द्वि० एकादशम्। बहु० प्र० एकादशासस्। द्वि० एकादशान्। तृ० एकादशैस्।

विंशतितम से शततम तक के पूरणप्रत्ययान्त शब्द (जिनमें उनके समास भी शामिल हैं) जिनके अन्त में भी उदात्त अ आता है, स्वसमकक्ष सामान्य संख्यावाची शब्दों के संक्षिप्त रूप हैं। यथा—चत्वारिंश चालीसवां[1]।

सौवां और हजारवां इनके लिये पूरणार्थक शब्द अतिशयवाची प्रत्यय तम लगकर बनते हैं जिसका अन्तिम अ उदात्त होता है : शततम, सहस्रतम।[2]

पहिला प्रथम,[3] स्त्री० प्रथमा।[4]

दूसरा द्वितीय,[5] स्त्री० द्वितीया।

तीसरा तृतीय,[6] स्त्री० तृतीया (लै० तर्तिउस्)।

---

१. इस रूप के लगभग केवल तीन उदाहरण संहिताओं में देखने में आये हैं और चार ब्राह्मणग्रन्थों में।

२. सहस्रतम केवल ब्राह्मणग्रन्थों में ही देखने में आया है।

३. सम्भवतः प्रतम (सबसे आगे) के स्थान पर। यहां थ चतुर्थ आदि के प्रभाव के कारण है।

४. अथर्ववेद में सर्वनामों के रूपों के अनुसार प्रथमा और तृतीया इन दोनों शब्दों का केवल एक एक विभक्ति रूप ही मिलता है : प० प्रथमस्यास् और स० तृतीयस्याम्।

५. पुराने रूप द्वित दूसरा से।

६. पुराने रूप तृत तीसरा से।

चौथा { तुरीय[1] स्त्री० तुरीया (चतुरीय के स्थान पर, मध्यस्थिति क्तुरीय) चतुर्थ, स्त्री० चतुर्थी, (ग्रीक तेततोंस्, लै० क्वर्तुस्) ।

पांचवां पञ्चमं स्त्री० पञ्चमी ।

छठा षष्ठ (लै० सेक्स्तुस्) ।

सातवां सप्तमं (लै० सेप्तिमुस्) ।

आठवां अष्टमं ।

नवां नवमं ।

दसवां दशमं (लै० देसिमुस्) ।

ग्यारहवां एकादशं ।

इक्कीसवां एकविंशं ।

चौंतीसवां चतुस्त्रिंशं (ब्राह्मण०) ।

चालीसवां चत्वारिंशं ।

अड़तालीसवां अष्टाचत्वारिंशं ।

बावनवां द्वापञ्चाशं (ब्राह्मण०) ।

इकसठवां एकषष्ठं (ब्राह्मण०) ।

सौवां शततमं ।

हज़ारवां सहस्रतमं (ब्राह्मण०) ।

संख्या शब्दों से बने शब्द

१०८. सामान्य संख्यावाची शब्दों से अनेक तद्भव शब्द, जो कि मूलरूप से क्रियाविशेषण हैं, बनते हैं ।

(क) *क्रियाभ्यावृत्तिबोधक क्रियाविशेषण :* सकृत् *एक वार* (अवशिष्ट—*जो बना रहा है*); द्विस् *दो वार* (ग्रीक दिस्, लै० बिस्), त्रिस्, *तीन वार*

१. जब कि इस भागार्थ में इसका प्रयोग किया जाता है तो इसमें स्वर आद्यक्षर पर रहता है : तुरीय (अथर्व०); ब्रा० में भी यही पद्धति है : चतुर्थ चौथा भाग, तृतीय तीसरा भाग ।

(ग्रीक त्रिस् लै० त्रिस्); चतु́स् *चार वार* (चतु́र्स् के स्थान पर)। शेप को सामान्य संख्यावाची शब्दों और कृ́त्वस् (*बनावट* इस अर्थ का सम्भवतः कृतु का द्वि० और वहु० का रूप) *चार* लगाकर अभिव्यक्त किया जाता है जिसे कि एक पृथक् शब्द की तरह प्रयुक्त किया जाता है सिवाय अष्टकृ́त्वस् (अथर्व०) *आठ वार* के। यथा— दशकृ́त्वस् (अथर्व०) *दस वार*, भू́रिकृ́त्वस् *वहुत वार*।

(ख) धा प्रत्यय लगकर वनने वाले प्रकारवाची क्रियाविशेषण: द्विधा́ *दो प्रकार से या दो भागों में* त्रिधा́ और त्रेधा́, चतुर्धा́, पञ्चधा́, षोढा́, सप्तधा́, अष्टधा́, नवधा́, सहस्रधा́।

(ग) समूहार्थक अ, तय और वय इन प्रत्ययों के लगने से वनने वाले कतिपय क्रियाभ्यावृत्तिवोधक विशेपण : त्रयं́ *तीन का समूह*; द्वयं́ *दो का समूह*; द́शतय *दस का समूह*, च́तुर्वय *चार का समूह*।

सर्वनाम

१०९. उद्भव और रूपावली इन दोनों ही दृष्टियों से सर्वनामों और अन्य नामों में भेद है। सर्वनामों का उद्भव ऐसी कतिपय निर्देशार्थक धातुओं से हुआ है जिनकी रूपावली की अपनी वहुत-सी निजी विशेपताएं हैं। ये विशेपताएं न्यूनाधिक रूप में विशेपणों के अनेक वर्गों तक भी अतिदिष्ट कर दी गई हैं।

(अ) पुरुपवाचक सर्वनाम

सवसे अधिक विशेपताएं इन सर्वनामों के रूपों में देखने में आई हैं : प्रत्येक पुरुप के सर्वनाम, एकाधिक धातुओं या धातुसमूह से वनते हैं; जहां तक रूपावली का सम्वन्ध है इनमें विशेपरूपेण अनियमितता पाई जाती है। किञ्च इनमें लिङ्गभेद नहीं है और कुछ अंशों में वचनभेद भी नहीं। रूपों में कुछ तो नपुं० के रूपों से मिलते जुलते है और कुछ में प्रकटरूप से कोई विभक्ति-प्रत्यय पाया ही नहीं जाता। दो में द्वि० वहु० पुं०, स्त्री० का काम भी चला देता है।

एकवचन

प्र० अहम् मैं	त्वम् तुम
द्वि० माम् मुझे	त्वाम् तुझे
तृ० मया मुझसे	त्वा / त्वया } तेरे द्वारा
च० मह्यम्[1] / मह्य } मेरे लिये	तुभ्यम् तेरे लिये
पं० मद् मुझ से	त्वद् तुझ से
ष० मम मेरा	तव तेरा
स० मयि मुझ में	त्वे[2] / त्वयि } तुम में

बहुवचन

प्र० वयम् हम	यूयम्[4] तुम
द्वि० अस्मान्[3] हमें	युष्मान्[3] तुम्हें
तृ० अस्माभिः हमारे द्वारा	
च० अस्मभ्यम् हमारे लिये	युष्मभ्यम् तुम्हारे लिये
पं० अस्मद् हम से	युष्मद् तुम से

---

१. तुलना कीजिये लै० मिहि और तिबि से।

२. केवल यही एक नियमित रूप (=त्वे) ऋग्वेद में उपलब्ध होता है। त्वयि यह अनियमित रूप उत्तरवर्ती संहिताओं में पाया जाता है।

३. अस्मान् और युष्मान् ये नये रूप हैं। ये नामपदों की रूपावली का अनुसरण करते हैं। इनकी प्रकृतियां अ+स्म और यु+ष्म इन सार्वनामिक तत्त्वों के समास से बनी हैं। वा० सं० में पृथक् से स्त्री० का एक नया रूप युष्मास् दो बार उपलब्ध होता है।

४. जोकि वयम् के प्रभाव के कारण मूल यूषम् का परिवर्तित रूप है।

ष० अस्माकम्[1] हमारा	युष्माकम्[1] तुम्हारा
स० अस्मासु[2] } हम में अस्मे[3] }	युष्मे तुम में

द्विवचन

प्र० वाम्[4] और आवम् (श० ब्रा०) हम दोनों, द्वि० आवाम्[5] (श० ब्रा०) हम दोनों को, पं० आवाभ्याम् (का० सं०) और आवद् (तै० सं०) हम दोनों से, ष० आवयोस् (श० ब्रा०) हम दोनों का।

प्र० युवम् तुम दोनों, द्वि० युवाम् तुम दोनों को, तृ० युवभ्याम् और युवाभ्याम् तुम दोनों द्वारा, पं० युवद् तुम दोनों से, ष० युवोस्[6] और युवयोस् तुम दोनों का।

(अ) वाक्यादि में अप्रयुज्यमान निम्नलिखित अनुदात्त रूपों का प्रयोग भी देखा जाता है: एक० द्वि० मा, त्वा, च० ष० मे[7] (ग्रीक मोइ) ते[7] (ग्रीक तोइ)। द्वि० द्वि० च० ष० नौ (ग्रीक नोइ), वाम्। बहु० द्वि० च० ष० नस् (लै० नोस्), वस् (लै० वोस्)।

---

१. सच तो यह है कि अस्माकम् और युष्माकम् स्वामित्ववाची अस्माक (हमारा) और युष्माक (तुम्हारा) इन शब्दों के द्वि० नपुं० एक० के रूप हैं।

२. अस्माभिस् के सादृश्य पर बना अस्मासु एक नया रूप है।

३. अस्मे को चतुर्थ्यन्त रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है।

४. ऐसा प्रतीत होता है ऋग्वेद में सकृत् प्रयुक्त वाम् (जोकि सम्भवतः आवाम् का संक्षिप्त रूप है) ही ऐसा केवलमात्र प्र० द्वि० का रूप है जो कि संहिताओं में उपलब्ध होता है।

५. ऐसा प्रतीत होता है कि प्र० आवम् (श० ब्रा०) और द्वि० आवाम् (का० सं०, श० ब्रा०) ही सामान्य रूप थे जैसा कि युवम् और युवाम् से पता चलता है।

६. युवोस् ऋ० में पाया जाता है और युवयोस् तै० सं० में।

७. मे और ते, जो कि मूल में स० के रूप थे, (अब) च० और ष० के रूप में प्रयुक्त होने लग गये हैं।

(आ) इन सर्वनामों की शब्दान्तरनिष्पत्ति में अथवा समासों के पूर्वपद के रूप में प्रयुक्त होने वाली प्रातिपदिक प्रकृतियां ये हैं—म, अस्म; त्व, युव, युष्म। यथा—अस्मद्रुह् हमसे द्रोह करने वाला; त्वंदत्त तुम्हारे द्वारा अर्पित किया गया; युवयु तुम दोनों को चाहने वाला; युष्मयन्त् तुम्हें चाहता हुआ। पर कुछेक बार मद् अस्मद् और त्वद् ये रूप समासों के पूर्वपद के रूप में प्रयुक्त होते हैं। यथा—मत्कृत मुझ द्वारा किया गया; अस्मत्सखि हमें साथियों के रूप में अपनाये हुए; त्वद्योनि तुझ से उद्भूत।

(२) निर्देशक सर्वनाम

११०. इन सर्वनामों के रूपों में अकारान्त नामपदों के रूपों से निम्नलिखित विशेषताएं है :—

(१) नपुं० प्र० और द्वि० एक० में म् के स्थान पर द् आता है, पुं० और नपुं० च० पं० और स० में धातु और विभक्ति प्रत्यय के बीच स्म यह अंश आ जाता है और स्त्री० च० पं० ष० और स० में स्या; पुं० और नपुं० स० प्रत्यय (इ के स्थान पर) इन् है।

(२) बहु० में पुं० के प्र० के रूपों के अन्त में आस् के स्थान पर ए आता है; ष० में आम् से पूर्व न् के स्थान पर स् आता है।

तं (वह) (किम्वा वह पुरुष, वह स्त्री, वह पदार्थ), इस प्रकृति को विशेषणरूप सर्वनामों की रूपावली के प्रतीक के रूप में लिया जा सकता है :

	एकवचन			बहुवचन		
	पुं०	नपुं०	स्त्री०	पुं०	नपुं०	स्त्री०
प्र०	सस्[1]	तद्	सा	ते (ग्रीक तोई)	ता और तानि	तास्
द्वि०	तम्[2]	तद्	ताम्	तान्	तानि	तास्

---

१. सस् की सन्धि के लिये देखिये ४८, स, सा तद्—ग्रीक हो, हे, तो, गौथिक स, सो, दैट् अ (अंग्रेजी दैट्, लैटिन इस्तुद्)।

२, तम्, ताम्, तद्=ग्रीक तोन्, तेन्, तो।

तृ०	ते॑न[1]	त॑या	ते॑भिस् तै॑स् (ग्री० तोइस्)	ता॑भिस्
च०	त॑स्मै[2]	त॑स्यै[2]	ते॑भ्यस्	ता॑भ्यस्
पं०	त॑स्माद्[3]	त॑स्यास्		
ष०	त॑स्य[4]	त॑स्यास्	ते॑षाम्[6]	ता॑साम्[7]
स०	त॑स्मिन्, स॑स्मिन्[5]	त॑स्याम्	ते॑षु	ता॑सु

द्विवचन

प्र० द्वि० पुं० ता॑ तौ॑, स्त्री० ते॑, नपुं० ते॑।

तृ० पं० पुं० स्त्री० ता॑भ्याम्।

ष० स० पुं० नपुं० त॑योस्।

(ख) त॑ यह प्रातिपदिक अन्य शब्दों की, विशेषकर क्रियाविशेषणों की, निष्पत्ति के लिये बहुत बार प्रयुक्त होता है। जैसे त॑था उस प्रकार। नपुं० का रूप त॑द् बहुत बार समास के पूर्वपद के रूप में प्रयुक्त होता है। जैसे त॑दपस् उस काम का अभ्यस्त।

(ग) त॑ से व्युत्पन्न तीन अन्य निर्देशक (सर्वनाम) भी हैं:

(१) एत॑[8] (यह यहाँ) के रूप ठीक त॑ की तरह बनते हैं। इसके उपलभ्यमान रूप इस प्रकार हैं:

---

1. कभी-कभी ते॑ना।
2. सामान्यतया इन रूपों की विभक्ति ए है: त॑स्म्-ऐ, त॑स्य्-ऐ। ब्रा० में ष० त॑स्यास् के स्थान पर त॑स्यै का प्रयोग पाया जाता है।
3. केवल एक बार ब्रा० उ० में प्रयोग है सस्माद्।
4. होमर की ग्रीक में तोइओ (तोस्यो के स्थान पर)।
5. स॑स्मिन् ऋ० में नौ बार पाया जाता है और त॑स्मिन् बाईस बार।
6. तुलना कीजिये लै० इस्तोरुम् से।
7. ग्रीक त॑ओन् (त॑सोन् के स्थान पर), तुलना कीजिये लै० इस्तारुम् से।
8. शब्दान्तरनिष्पत्ति में एवम् साहित्यिक रचनाओं में प्रयुक्त होने वाला प्रातिपदिक है एत। यथा—एता॑वन्त् इतना अधिक; एतादृ॑श् ऐसा। ब्रा० में एवद् का भी कभी कभी इस प्रकार प्रयोग देखने में आता है: एवद्‌रा इस प्रकार देने वाला; एतन्म॑य इतने का बना हुआ।

पुं० एक० प्र० एषस् (३७, ४८) द्वि० एतम् तृ० एतेन च० एतस्मै पं० एतस्माद् ष० एतस्य ।
द्वि० प्र० एता, एतौ ।
बहु० प्र० एते द्वि० एतान् तृ० एतेभिस्, एतैस् च० एतेभ्यस् ।
स्त्री० एक० प्र० एषा द्वि० एताम् तृ० एतया च० एतस्यान् ।
द्वि० प्र० एते ।
बहु० प्र० एतास् द्वि० एतास् तृ० एताभिस् स० एतासु ।
नपुं० एक० प्र० एतद् ।
बहु० प्र० एता, एतानि ।

२. त्य, त से य प्रत्यय लगकर बना है । इसका अर्थ है वह । ऋग्वेद में इसका प्रयोग प्रचुर है पर परवर्ती संहिताओं में यह विरले ही उपलब्ध होता है । त के प्रतिकूल यह केवल विशेषण रूप में ही प्रयुक्त होता है. शायद ही कभी यह अपने संज्ञा पद के बिना प्रयुक्त होता हो । वाक्य के आदि में यह कभी नहीं पाया जाता सिवाय उस स्थिति में जब कि इसके बाद उ, चिद्, नु या नु आता हो ।

इसके उपलभ्यमान रूप ये हैं :—

पुं० एक० प्र० स्य द्वि० त्यम् ष० त्यस्य ।
द्वि० प्र० त्या ।
बहु० प्र० त्ये द्वि० त्यान् तृ० त्येभिस् ।
स्त्री० एक० प्र० स्या द्वि० त्याम् तृ० त्या ष० त्यस्यास् ।
द्वि० प्र० त्ये ।
बहु० प्र० त्यास् द्वि० त्यास् ।
नपुं० एक० त्यद् ।
बहु० त्या, त्यानि ।

---

१. कुछेक बार यह अ० में भी पाया जाता है ।
२. देखिये ४८, टि० ३ ।

३. एक अत्यन्त विरल प्रयुक्त तद्भव शब्द तर्क है (यह छोटा सा) जो कि ऋग्वेद में क्रमशः पुं० एवञ्च नपुं० के द्वि० एक० के तर्कम् और तर्कद् इन दो रूपों में ही पाया जाता है।

(अ) ऐसा प्रतीत होता कि सिम का अर्थ बल डालने के लिये प्रयुक्त निर्देशक[1] (सर्वनाम) का है। इसके उपलभ्यमान रूप हैं—एक० प्र० सिमस् सं० सि म च० सिमस्मै (नपुं०)। पं० सिमस्माद्। बहु० सिमे।

१११. उस निर्देशक (सर्वनाम) के रूपों में जो कि पुं० प्र० एक० में अयम् (यह यहां) के रूप में पाया जाता है दो सर्वनामात्मक धातुएँ इ (जिससे लगभग सदैव दो प्रत्यय पाये जाते हैं) और अ[2] प्रयुक्त होती हैं, पहली प्र० (सिवाय पुं० एक० के) और द्वि० में, दूसरी शेष सब विभक्तियों में। पुं० और स्त्री० द्वि० एक० इम् (इ का द्वि० का रूप) से प्रारम्भ होता है जो कि द्विव० और बहु० में भी पाया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि ये सभी के सभी रूप इम इस प्रकृति से बने प्रतीत होते हैं।[3]

	एकवचन			बहुवचन		
	पुं०	नपुं०	स्त्री०	पुं०	नपुं	स्त्री०
प्र०	अयम्	इदम्	इयम्	इमे	इमा	इमास्
द्वि०	इमम्[4]	इदम्	इमाम्	इमान्	इमानि	इमास्

१. सामान्यतया इसका अर्थ हर कोई, सभी किया जाता है। पर अधिक सम्भावना यही है कि इसका अर्थ वही है जो ऊपर दिया गया है।

२. ये दोनों मूल प्रकृतियां बहुत बार शब्दान्तरनिष्पत्ति के लिये प्रयुक्त की जाती हैं। यथा—अत्र यहां, अथ तब, इदा अब, इह यहां, इतर अन्य।

३. इस प्रकृति से इमथा (इस प्रकार) यह क्रियाविशेषण शब्द बनता है।

४. यहां इम्, इ का द्वि० का रूप है जिससे कि स्त्री० द्वि० के रूप ईम् और नपुं० के ईद् भी बनते हैं। इन दोनों का निपातों की तरह प्रयोग किया जाता है।

तृ०	एना´[1]	अया´[4]	एभिस्	आभिस्
च०	अस्मै´	अस्यै´	एभ्यस्	आभ्यस्
पं०	अस्माद्[2]	अस्यास्		
ष०	अस्य[3]	अस्यास्	एषाम्	आसाम्
स०	अस्मिन्	अस्याम्	एषु´	आसु´

द्विवचन

प्र० द्वि० पुं० इमा, इमौ´। स्त्री० इमे´। नपुं० इमे´। पुं० च० पं० आभ्याम्। पुं० ष० स० अयो´स्।

११२. अयम् से मिलता जुलता निर्देशक जो कि *यह, वहां, तुम* के अर्थ में दूरी को अभिव्यक्त करने के लिये प्रयोग किया जाता है और जिसके पुं० और स्त्री० में प्र० एक० में असौ और नपुं० में अदस् जैसे विचित्र से रूप बनते हैं, की रूपावली में निरन्तर अ इस धातु का प्रयोग पाया जाता है पर इसका रूप सदैव उपबृंहित ही होता है। प्रत्येक विभक्ति में (सिवाय प्र० एक० के) प्रयुक्त होने वाला मूलभूत प्रातिपदिक है अम् जो कि पुं० अ का

---

१. दो बार एन भी। एना और शेष सं० और प्र० से अन्य विभक्तियों के रूपों का संज्ञा पदों के रूप में अथवा बलहीन रूप में प्रयोग होने पर स्वर लोप हो सकता है।

२. पं० का रूप, नामपदों के रूपों की पद्धति पर, आद् संयोजक के रूप में प्रयुक्त होता है।

३. पादादि में बलयुक्त होने के कारण अस्य और अस्मै ये दोनों ही स्वरयुक्त अ´स्य और अ´स्मै, बन जाते हैं। ऋग्वेद में अस्य के स्थान पर इमस्य यह रूप केवल एक बार उपलब्ध होता है। यही स्थिति ऐ० आ० में अस्मै के स्थान पर पाये जाने वाले इमस्मै की है।

४. अया के स्थान पर अनया यह रूप ऋ० में केवल दो बार उपलब्ध होता है: संहिताओं में अन से बना यही एक मात्र उपलब्ध रूप है।

द्वितीया विभक्ति का रूप है। इसके रूप में अमु इस प्रकृति से उ इस निपात के लग जाने से उपबृंहण हो जाता है जो कि प्र० विभक्ति के अतिरिक्तमें निरन्तर एक० में पाया जाता है (स्त्री० द्वि० के रूप में ऊ के साथ)। स्त्री० बहु० में अमू यह रूप उपलब्ध होता है और पुं० बहु० में अमी (सिवाय द्वि० के)। उपलभ्यमान रूप ये हैं :—

पुं० एक० प्र० असौ[2] द्वि० अमुम् तृ० अमुना च० अमुष्मै प० अमुष्मात्
ष० अमुष्य[3] स० अमुष्मिन्।
बहु० अमी द्वि० अमून् च० अमीभ्यस् ष० अमीषाम्।

स्त्री० एक० प्र० असौ[2] द्वि० अमूम् तृ० अमुया[4] च० अमुष्यै।
प० अमुष्यास्।
द्विव० प्र० अमू। बहु० प्र० अमूस् द्वि० अमूस्।

नपुं० एक० प्र० अदस्[5]। बहु० प्र० अमू।

(क) प्रथम पुरुष के अनुदात्त विकृत सर्वनाम एन[6] (वह पुरुष, वह स्त्री, वह वस्तु) के रूप द्वितीया विभक्ति में सभी वचनों में पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त इसके रूप तृ० एक० और ष० द्विव० में भी मिलते हैं।

---

१. शब्दान्तरनिष्पत्ति के लिये भी इस प्रातिपदिक का प्रयोग किया जाता है। यथा—अमुतस् वहां से, अमुत्र वहां, अमुथा इस प्रकार (ब्रा०)।

२. यहां सर्वनाम की मूलप्रकृति के अ का स के साथ समास हुआ प्रतीत होता है। इसके रूप में उ इस निपात के लग जाने से उपबृंहण हो जाता है : असं-उ और असा-उ।

३. अकारान्तभिन्न अन्य किसी प्रकृति से स्य लगने का यही एकमात्र उदाहरण है।

४. स्वर की स्वस्थानच्युति के साथ क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त किया जाता हुआ।

५. यहां मूल नाम प्रकृति अ के नपुं० अद् के रूप का अस् प्रत्यय लगने के कारण उपबृंहण हो गया है।

६. यहां हमारे पास वही ए (अ का सप्तम्यन्त रूप) है जो कि एक या एवं में पाया जाता है।

एक० द्वि० पुं० एनम्, स्त्री० एनाम्, नपुं० एनद् । द्विव० पुं० एनौ स्त्री० एने । बहु० पुं० एनान्; स्त्री० एनास् ।

तृ० एक० एनेन । प० द्विव० एनोस् (ऋ०) एनयोस् (अथर्व०) ।

(अ) एक अन्य अनुदात्त निर्देशक सर्वनाम जिसका प्रयोग केवल ऋग्वेद तक ही सीमित है (अथर्व० और तै० सं० में पाये जाने वाले एकमात्र रूप के सिवाय) त्व है जिसका अर्थ है एक, अनेक । त्व (एक) का एक दूसरे के अर्थ में प्रायः दो बार प्रयोग कर दिया जाता है । अंशतः इस अर्थ का नपुं०का शब्द त्वद् भी ब्राह्मण ग्रन्थों में पाया जाता है । जो रूप उपलब्ध होते हैं वे इस प्रकार हैं—

एक० प्र० पुं० त्वस्, स्त्री० त्वा, नपुं० त्वद् द्वि० पुं० त्वम् तृ० पुं० त्वेन च० पुं० त्वस्मै, स्त्री० त्वस्यै—बहु० पुं० त्वे ।

(आ) यह इस अर्थ के अर्व इस सर्वनाम का प्रयोग प० द्विव० के रूप अवोस् में पाया जाता है । वाम् के साथ मिलकर इसका अर्थ होता है तुम दोनों के इस रूप में होने पर (इसका प्रयोग स त्वम् तुम्हारे इस रूप में होने पर में स की तरह होता) है ।

(इ) यह इस अर्थ का, अम[1] यह सर्वनाम अथर्व० में (एवञ्च दे० ब्रा० में भी) केवल एक बार ही प्रयुक्त हुआ है । यह इस मन्त्र में पाया जाता है : अमोऽहमस्मि मैं यह हूं ।

(ल) *प्रश्नवाचक सर्वनाम*

११३. प्रश्नवाचक क *कौन, कौन सा, क्या,* जिसे संज्ञा पद एवञ्च विशेषण की तरह प्रयुक्त किया जाता है, के रूप ठीक त के रूपों की तरह बनते हैं, सिवाय वैकल्पिक नपुं० रूप किम्[2] के जिसमें सर्वनामों के द् की अपेक्षा नामपदों का म् पाया जाता है (जोकि अन्यत्र कहीं भी इकारान्त प्राति-

---

१. इस सर्वनाम से उद्भव हुआ है इन तृ० और पं० के क्रियाविशेषण (स्वर की स्वस्थानच्युति के साथ) अमा (घर पर) और अमाद् (निकट स्थान से) का ।

२. पुं० प्र० एक० स्थिर रूप में न किस् (कोई भी नहीं) और माकिस् (कुछ भी नहीं) के रूप में सुरक्षित है ।

पदिकों से नहीं लगता। इसके उपलभ्यमान रूप ये हैं—

पुं॰ एक॰ कॅस् द्वि॰ कॅम् तृ॰ कें॑न च॰ कॅस्मै पं॰ कॅस्माद् ष॰ कॅस्य स॰ कॅस्मिन्—द्विव॰ प्र॰ कौँ—बहु॰ कें तृ॰ कें॑भिस् स॰ कें॑षु।

स्त्री एक॰ प्र॰ कॉ द्वि॰ कॅम् तृ॰ कॅया ष॰ कॅस्यास्—बहु॰ प्र॰ कॉस् द्वि॰ कॉस् स॰ कॉसु।

नपुं॰ एक॰ प्र॰ द्वि॰ कॅद्, और किंम्[1]—बहु॰ प्र॰ कॉ और कॉनि।

(अ) अन्यान्य शब्दों के निर्माण के लिये कि, कु और क इन प्रकृतियों का भी प्रयोग किया जाता है। यथा—किंयन्त् कितना बड़ा? कु॑ह कहां, कंति कितने?

समास के पूर्वपद के रूप में कद् का प्रयोग दो बार उपलब्ध होता है। कःपर्य बहुत अधिक बढ़ा हुआ, कंदर्थ किस उद्देश्य से? इसी प्रकार उत्तरवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणग्रन्थों में किम् के कतिपय प्रयोग उपलब्ध होते हैं। यथा किङ्कर सेवक, नौकर।

(आ) कॅ का उपबृंहित रूप कॅय जो केवल ष॰ में ही मिलता है चिद् के साथ पाया जाता है: कॅयस्य चिद् किसी का भी।

(ब) सम्बन्धवाचक सर्वनाम

११४. सम्बन्धवाचक सर्वनाम यॅ (*कौन, कौनसा, क्या*) के रूप ठीक तॅ के रूपों की तरह बनते हैं। (इसके) उपलभ्यमान रूप इस प्रकार हैं:

पुं॰ एक॰ प्र॰ यॅस् द्वि॰ यॅम् तृ॰ ये॑ना[2] और ये॑न च॰ यॅस्मै पं॰ यॅस्माद्[3] ष॰ यॅस्य सं॰ यॅस्मिन्।

द्विव॰ प्र॰ यॉ, यौँ च॰ यॉभ्याम् ष॰ यॅयोस् स॰ यॅयोस् और यो॑स्[4]।

---

१. ऋग्वेद में कॅद् और किंम् के रूपों के प्रयोगों की प्रचुरता की परस्पर तुलना करने पर पता चलता है कि इनका अनुपात २ : ३ का है।

२. ये॑न की अपेक्षा ये॑ना ऋग्वेद में दो गुना अधिक प्रचुर है पर पदपाठ में सदैव ये॑न ही उपलब्ध होता है।

३. नामरूपों की पद्धति पर बना पञ्चम्यन्त शब्द यॉद् संयोजक शब्द के रूप में प्रयुक्त होता है।

४. जिस प्रकार युवॅयोस् के स्थान पर युवो॑स् होता है उसी प्रकार यॅयोस् के स्थान पर यो॑स् (पृ॰ १४१, टि॰ ६)।

बहु० प्र० ये॑ द्वि० यान्॑ तृ० ये॑भिस् और यै॑स् च० ये॑भ्यस् प० ये॑षाम् स० ये॑षु।

स्त्री० एक० प्र० या॑ द्वि० याम्॑ तृ० यया॑ प० यस्यास्॑ स० यस्याम्॑।

द्विव० प्र० ये॑ प०स० ययो॑स्।

बहु० प्र० या॑स् द्वि० या॑स् तृ० या॑भिस् च० या॑भ्यस् प० या॑साम् स० या॑सु।

नपुं० प्र० द्वि० एक० यद्॑ द्विव० ये॑।

बहु० या॑, या॑नि।

(अ) य॑ की प्रकृति को शब्दान्तरनिष्पत्ति के लिये प्रयुक्त किया जाता है। यथा—यथा॑ जैसे। यादृ॑श् (जैसा) में यह समास के पूर्वपद के रूप में भी पाया जाता है। नपुं० का रूप यद्॑ भी इस तरह ऋग्वेद में एक बार प्रयुक्त हुआ है: यत्का॑म जिसे चाहता हुआ, और कुछेक बार उत्तरवर्ती ग्रन्थों में। जैसे यद्दे॑वत्य जिस देवता वाला (का० सं०), यत्का॑रिन् जो करने वाला (श० ब्रा०)।

(आ) सम्बन्धवाचक सर्वनाम य के साथ अल्पार्थक क(न्) लगकर बना यक॑ यह रूप या तो केवल एक० प्र० पुं० यक॑स्, स्त्री० यका॑ में ही उपलब्ध होता है या प्र० बहु० पुं० में ही: यके॑।

(ग) निजवाचक सर्वनाम

११५ (क) निजार्थक अव्यय संज्ञाशब्द स्वय॑म्[1] का सही प्रयोग वह है जब यह प्रथमा विभक्ति के अर्थ में तीनों पुरुषों को द्योतित करता है पर कभी-कभी इसका प्रथमा (विभक्त्यर्थ) रूप भुला दिया जाता है और इसे द्वितीया विभक्ति के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है, यथा अयुजि स्वय॑ धु॑रि *मैंने अपने को ऊर्ध्व दण्ड में जोत दिया है*, या अन्वयदृष्ट्या किसी अन्य विभक्ति के अर्थ में। कभी-कभी इसका अर्थ होता है अन्तःप्रवृत्त्या।

(ख) ऋग्वेद में शरीरार्थक तनू॑ इस शब्द का प्रयोग प्रथमा से अतिरिक्त विभक्तियों और सभी वचनों में *अपने आप* इस अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिये किया जाता है। इसके साथ निजार्थक सर्वनाम स्व॑ और एक अमृक का

---

१. अम् प्रत्यय और मध्यागम य के साथ स्व॑ से बना हुआ (अ से अय॑म् की तरह)।

इस अर्थ का षष्ठ्यन्त सर्वनाम का भी प्रयोग किया जा सकता है। यथा— **यंजस्व तन्वंम्** *अपने आपकी पूजा करो* और **यंजस्व तन्वं॑ तंव स्वाम्** अपने आप की पूजा करो। ब्राह्मण ग्रन्थों तक आते आते **तनू॑** का *स्वात्मार्थ* लुप्त हो जाता है।

(अ) निजार्थ में **आत्मन्** (**आत्मा**) के प्रारम्भिक प्रयोगों के दो एक उदाहरण ऋग्वेद में उपलब्ध होते हैं। यथा **वलं दंधान आत्मंनि** अपने में शक्ति का सञ्चय करता हुआ। उत्तरवर्ती संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में द्वितीयान्त **अत्मा॑नम्** का इस प्रकार का प्रयोग बहुत बार पाया जाता है (यद्यपि ऋग्वेद में यह सर्वथा अनुपलब्ध है।)

(ग) **स्व॑** (*अपना*) यह एक निजार्थक विशेषण है जो कि तीनों पुरुषों और तीनों वचनों के अर्थ को समर्पित करता है। ऋग्वेद में इसके रूप एक साधारण विशेषण शब्द (**प्रिय॑**) की तरह बनते हैं। **स्वंस्मिन्** और **स्वंस्यास्** इन इक्के दुक्के सर्वनाम रूपों के सिवाय)। (इसके) उपलभ्यमान रूप इस प्रकार हैं :—

पुं० एक० प्र० **स्वंस्** (लै० सुउस्) द्वि० **स्वंम्** तृ० **स्वे॑न** और **स्वे॑ना** च० **स्वाय** पं० **स्वाद्** ष० **स्वंस्य** स० **स्वे॑** और **स्वंस्मिन्** (ऋग्वेद)।

बहु० प्र० **स्वास्** द्वि० **स्वान्** तृ० **स्वे॑भिस्** और **स्वै॑स्** च० **स्वे॑भ्यस्** ष० **स्वानाम्** स० **स्वे॑षु**।

स्त्री० एक० प्र० **स्वा** (लै० सुअ) द्वि० **स्वाम्** तृ० **स्वंया** च० **स्वायै** पं० **स्वा॑यास्** ष० **स्वंस्यास्** (ऋग्वेद) स० **स्वायाम्**।

बहु० प्र० **स्वास्** द्वि० **स्वास्** तृ० **स्वाभिस्** स० **स्वासु**।

नपुं० एक० प्र० द्वि० **स्वंम्** (लै० सुउम्)।

बहु० द्वि० **स्वा** (लै० सुअ)।

(अ) समासों के पूर्वपद के रूप में **स्वं** अनेक बार संज्ञापदार्थ (और विशेषणार्थ) में प्रयुक्त होता है। यथा—**स्वंयुक्त** अपने आप जुता हुआ। संहिताओं में **स्वयंम्** इसी प्रकार प्रयुक्त होता है। यथा—**स्वयंजा** अपने आप उत्पन्न हुआ।

(प) स्वामित्वसूचक सर्वनाम

११६. स्वामित्वसूचक सर्वनामों का प्रयोग अत्यल्प है क्योंकि पुरुषवाचक सर्वनामों का षष्ठ्यन्त रूप ही उनके अर्थ को कह देता है।

(क) उत्तम पुरुष के स्वामित्वसूचक (सर्वनाम) हैं मंमक और मामकं[1] *मेरा* एवञ्च अस्मांक *हमारा*। (इनके) उपलभ्यमान रूप हैं—

एक० च० मंमकाय ष० मंमकस्य।

एक० प्र० पुं० मामकंस्। नपुं० मामकंम्। बहु० ष० मामकांनाम्।

एक० प्र० द्वि० नपुं० अस्मांकम्[2] तृ० अस्मांकेन।

बहु० प्र० पुं० अस्मांकासस् तृ० अस्मांकेभिस्।

नपुं० एक० अस्मांकम् जो कि इन रूपों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रचुर है पुरुषवाचक सर्वनाम के षष्ठी बहु० के रूप में प्रयुक्त किया जाता है=*हमारा* (१०३)।

(ख) मध्यमपुरुष के स्वामित्वसूचक (सर्वनाम) हैं तावकं[3] *तेरा* (केवल च० बहु० तावकेभ्यस्), त्वं *तेरा* (केवल स्त्री० में तृ० बहु० का रूप त्वाभिस्) और युष्मांक *तुम्हारा*। अन्तिम के (युष्मांक के) तीन रूप मिलते हैं: तृ० एक० पुं० युष्मांकेन, बहु० स्त्री० युष्मांकाभिस् और प्र० द्वि० नपुं० युष्मांकम् जोकि मध्यमपुरुष के सर्वनाम के षष्ठी बहु० के रूप में प्रयुक्त होता है=*तुम्हारा*।

(ग) निजार्थ में प्रयुक्त किये जाने के अतिरिक्त स्वं पर्याप्त बार एक सामान्य स्वामित्व सूचक (सर्वनाम) के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है जोकि साधारणतया प्रथम पुरुष का होता है (लै० के सुउस् की तरह) उस

---

१. दोनों ही पुरुषवाचक सर्वनाम के षष्ठ्यन्त रूप मंम से बनते हैं। ऋग्वेद में एक बार विकृत रूप मांकीन (मेरा) भी उपलब्ध होता है।

२. वा० सं० में प्र० के एक० का रूप आस्माकंस् केवल एक बार उपलब्ध होता है और मामकं, अन्य रूप मंमकं, की तरह बनता है।

३. षष्ठ्यन्त रूप तंव से बना हुआ।

(पुरुष) का, उस (स्त्री) का उन पदार्थों का; पर मध्यम पुरुष का भी होता है—तुम्हारा और उत्तम पुरुष का भी—*मेरा हमारा* । इन दोनों ही अर्थों में रूप एक से ही बनते हैं (११५ ग) ।

(ख) *सर्वनामों के समास और तद्भव रूप*

११७. ऋग्वेद एवं अन्य संहिताओं में-दृ॑श्[1] एवञ्च वा० सं० में-दृक्ष के साथ निम्नलिखित सार्वनामिक समास बनते हैं : ईदृ॑श्, तादृ॑श्, एतादृ॑श् *वैसा*, कीदृ॑श्[2] *कैसा* ? यादृ॑श्[3] *जैसा*, ईदृ॑क्ष, एतादृ॑क्ष *ऐसा* ।

(अ) क प्रत्यय लगकर अल्पार्थक या जुगुप्सार्थक विरल प्रयुक्त तद्भव रूप इन सर्वनामों से बनते हैं : त॑, य॑, स॑ और असौ॑ : तक॑ उतना कम (११०,३), यक॑ जो, जौनसा, (११४ ख), सक॑ (केवल प्र० एक० स्त्री० सका॑) असकौ॑ प्र० एक० स्त्री० उतना कम (वा० सं०)।

(आ) इ, क॑, य॑ से तद्भव रूप तुलनार्थक तर प्रत्यय लग कर बनते हैं। इन्हीं में से बाद के दो (क॑ और य॑ से) अतिशयार्थक तम लग जाता है और एक अन्य प्रकार के तद्भव रूपों की सृष्टि हो जाती है (देखिये १२०): इ॒तर अन्य, कत॑र दोनों में कौन, यत॑र कौन या दोनों में कौन, कत॒म॑ कौन या बहुतसों में कौन, यत॒म॑ जो या बहुतसों में जो ।

११८ (क) क॑, त॑ और य॑ से ति प्रत्यय लगकर संख्यार्थक शब्द बनते हैं : क॑ति *कितने* ? (लै० कुओत्), त॑ति *इतने* (लै० तोतिदेम्), य॑ति *जितने* । इन शब्दों के कोई भी विभक्ति रूप (नहीं) पाये गये । ये केवल प्र० और द्वि० के बहु० के अर्थ में ही उपलब्ध हुए हैं।

(ख) इ और कि से यन्त् लगकर *मात्रा, परिमाण* इस अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले तद्भव रूप बनते हैं: ईयन्त् *इतना* : नपुं० एक० प्र० ईयत्, बहु०

---

१. ब्राह्मण ग्रन्थों में (श० ब्रा०) दृश का प्रयोग प्रारम्भ होने लगता है: ईदृ॑श, तादृ॑श, यादृ॑श ।

२. प्र० एक० पुं० कीदृ॑ङ् ।

३. इसका अत्यधिक अनियमित स्वसप्तम्येकवचन रूप यादृ॑श्मिन् भी है ।

ईयान्ति; स्त्री० एक० च० ईयत्यै; कियन्त् *कितना ?* : एक० प्र० नपुं० कियत्: स्त्री० कियती च० पुं० कियते स० कियाति (कियति के स्थान पर)।

(ग) जब पुरुषवाचक सर्वनामों से वन्त् लगकर तद्भव रूप बनते हैं तब उनका अर्थ होता है *समान तत्सम्बद्ध*। जब अन्य सर्वनामों से यही प्रत्यय लगता है तब अर्थ होता है बड़ा, जैसे त्वावन्त् *तुम्हारी तरह,* मावन्त् *मेरी तरह;* युवावन्त् *तुम दोनों का भक्त* (केवल च० युवावते) युष्मावन्त् *तुम्हारा* (केवल स० बहु० युष्मावत्सु); एतावन्त् और तावन्त् *इतना बड़ा;* यावन्त् *जितना बड़ा;* ईवन्त् *इतना बड़ा,* एक० प्र० नपुं० ईवत् च० पुं० नपुं० ईवते। प० ईवतस् बहु० द्वि० पुं० ईवतस्)। कीवन्त् *कितना दूर ?* (षष्ठी एक० कीवतस्)।

अनिश्चयवाचक सर्वनाम

११९ (क) केवल एकमात्र साधारण सर्वनाम जिसका अर्थ निःसंशय अनिश्चित है सम (अनुदात्त) है [इसका अर्थ है] *कोई, सभी*। इसके जो छः रूप उपलब्ध होते हैं वे ये हैं पुं० एक० द्वि० समम् च० समस्मै पं० समस्माद् प० समस्य स० समस्मिन्। बहु० प्र० समे।

(ख) अनिश्चयवाचक समस्त सर्वनाम च, चन अथवा चिद् इन निपातों को प्रश्नवाचक क के साथ मिलाने से बनते हैं। यथा—कश्च, *कोई, कोई भी;* कश्चन *जो कोई भी, हरेक;* कश्चिद् *कोई, कुछ, कोई भी, कोई एक।*

सार्वनामिक विशेषण

१२०. सर्वनामों के साथ अर्थदृष्ट्या सम्बद्ध अथवा तद्भव अनेक विशेषण अंशतः अथवा पूर्णतः सर्वनामों की ही रूपावली (११०) का अनुसरण करते हैं।

(क) इस प्रकार के विशेषण, जिनके रूप ठीक सर्वनामों की तरह बनते हैं, हैं—अन्य और क तथा य से तर और तम लग कर बने तद्भव रूप।

वाद के दो (कतर और कतम) के जो विशिष्ट सार्वनामिक रूप उपलब्ध हुए हैं वे ये हैं :

एक० प्र० नपुं० कतरद्, यतरद्; कतमद्, यतमद् ।

च० कतमस्मै । प० स्त्री० कतमस्यास् । स० स्त्री० यतमस्याम् । बहु० प्र० पुं० कतमे, यतमे, यतरे (का०) । इतर शब्द से काठक संहिता में पुं० च० एक० का इतरस्मै और प्र० बहु० का इतरे ये रूप पाये जाते हैं । अन्य के उपलभ्यमान रूप हैं :

पुं० एक० प्र० अन्यस् द्वि० अन्यम् तृ० अन्येन च० अन्यस्मै प० अन्यस्य स० अन्यस्मिन् । बहु० प्र० अन्ये द्वि० अन्यान् तृ० अन्येभिस् और अन्यैस् च० अन्येभ्यस् प० अन्येषाम् स० अन्येषु ।

स्त्री० एक० प्र० अन्या द्वि० अन्याम् तृ० अन्यया च० अन्यस्यै प० अन्यस्याम् स० अन्यस्याम् । द्विव० प्र० अन्ये । बहु० प्र० अन्यास् द्वि० अन्यास् तृ० अन्याभिस् प० अन्यासाम् स० अन्यासु ।

नपुं० एक० प्र० अन्यद् । द्विव० अन्याभ्याम् । बहु० प्र० अन्या ।

(ख) विश्व (*सभी*), सर्व (*सम्पूर्ण*) और एक के रूप अंशतः सर्वनामों की तरह चलते हैं, भेद केवल नपुं० प्र० और द्वि० एक० में ही है जहाँ कि द् की अपेक्षा म् आता है । यथा—एक० च० विश्वस्मै[1] पं० विश्वस्माद्[1] स० विश्वस्मिन्[1] । बहु० प्र० विश्वे । प० पुं० विश्वेषाम्, स्त्री० विश्वासाम्; पर एक० प्र० नपुं० विश्वम् ।

एक० च० पुं० सर्वस्मै । स्त्री० सर्वस्यै । पं० पुं० सर्वस्माद् ।

बहु० पुं० प्र० सर्वे प० सर्वेषाम् स्त्री० सर्वासाम्; पर एक० प्र० नपुं० सर्वम् ।

एक० प० स्त्री० एकस्यास् । स० पुं० एकस्मिन्[2] । बहु० प्र० पुं० एके, पर एक० प्र० नपुं० एकम् ।

---

१. ऋग्वेद में निम्ननिर्दिष्ट नाम रूप पाये जाते हैं : च० विश्वाय, प० विश्वात्, स० विश्वे । ये सभी के सभी एक-एक बार उपलब्ध होते हैं ।

२. अथर्व० में एक बार सप्तम्येकवचन में एके पाया जाता है ।

(ग) एक दर्जन से भी अधिक ऐसे विशेषणों के जिनका सर्वनामों के साथ स्वरूप अथवा अर्थ में साम्य है, विभक्तिरूप यदा कदा सर्वनामों के रूपों की तरह बनते हैं (पर इनमें नपुं० प्र० और द्वि० एक० में सदैव द् के स्थान पर म पाया जाता है) :

१. इनमें से आठ इस प्रकार के विशेषण हैं जो कि तर और र इन तुलनार्थक और म इन अतिशयार्थक प्रत्ययों के लगने से बनते हैं : उ॑त्तर उच्चतर, बाद का :

एक० पं० स० उ॑त्तरस्माद् और उ॑त्तरस्मिन्, अन्यरूप उ॑त्तराद् और उ॑त्तरे।
स० स्त्री० उत्त॑रस्याम्। बहु० प्र० उ॑त्तरे। ष० उ॑त्तरेषाम् (का०)।
अ॑पर, अ॑वर, उ॑पर (नीचे) : एक० स० अपरस्मिन् (का०)।

बहु० प्र० पुं० अ॑परे, अ॑वरे, उ॑परे, अन्य रूप अ॑परासस्, अ॑वरासस्, उ॑परासस् और उ॑परास्।

अवम॑ नीचैस्तम : स० एक० स्त्री० अवम॑स्याम्।

उपम॑ उच्चतम : स० एक० स्त्री० उपम॑स्याम्।

परम॑ दूरतम : एक० स्त्री० ष० परम॑स्यास् स० परम॑स्याम्। बहु० पुं० प्र० परमे॑ (का०)।

मध्यम॑ मध्यतम : एक० स्त्री० स० मध्यम॑स्याम्।

२. पांच अन्य तुलनार्थक अथवा सर्वनामार्थक विशेषण हैं :

प॑र परे : एक० च० पुं० प॑रस्मै। पं० पुं० प॑रस्माद्। स० पुं० प॑रस्मिन्, अन्य रूप प॑रे। ष० स्त्री० प॑रस्यास्। बहु० पुं० प्र० प॑रे, अन्य रूप प॑रासस्। ष० प॑रेषाम्। पू॑र्व पहिला : एक० च० पू॑र्वस्मै पं० पू॑र्वस्माद् स० पू॑र्वस्मिन् (का०), स्त्री० पू॑र्वस्याम्। बहु० प्र० पुं० पू॑र्वे (अतिप्रचुर), अन्यरूप पू॑र्वासस् (अतिविरल)। ष० पुं० पू॑र्वेषाम्, स्त्री० पू॑र्वासाम्।

ने॑म[1] अन्य : एक० स० पुं० ने॑मस्मिन्, बहु० प्र० पुं० ने॑मे पर षष्ठी में नेमानाम् (अनुदात्त)।

---

१. सम्भवतः न + इम (यह नहीं) से।

स्वं अपना (११६ ग) के वैसे तो नामपदों की तरह ही रूप चलते हैं पर केवल स्त्री० ष० एक० एवञ्च नपुं० सप्तम्येकवचन में इसके रूप पाये जाते हैं **स्वंस्यास्** और **स्वंस्मिन्** ।

समानं (एक सा, साधारण) का केवल एक ही वार नपुं० पं० एक० में रूप पाया जाता है : **समानंस्माद्**, अन्य रूप **समानांद्** ।

३. इन चार विशेषणों से, जिनका रूप और अर्थ संख्या का है, कभी-कभी सर्वनामों के प्रत्यय लगते हैं : **प्रथमं** *पहिला* का स्त्री० प० एक० में रूप मिलता है **प्रथमंस्यास्**[1]; **तृतीय** *तीसरा* का स्त्री० स० एक० में रूप मिलता है **तृतीयस्याम्**[1]; **उभय** *दोनों प्रकार का* का पुं० प० बहु० में रूप होता है **उभयेषाम्** और प्र० में **उभये**, अन्य रूप **उभयासस्** और **उभयास्**[2]; **केवल** का पुं० प्र० बहु० में मात्र एक वार रूप मिलता है **केवले** ।

चतुर्थ अध्याय

क्रियापद

१२१. वैदिक क्रियाएं दो पदों में पाई जाती हैं—आत्मनेपद और परस्मैपद। आत्मनेपद के रूप कर्मवाच्य के अर्थ में प्रयुक्त हो सकते हैं। इसमें केवल सविकरणक रूप ही अपवाद हैं जिनमें कि तिङरूप एक विशेष प्रकार की कर्मवाच्य प्रकृति से आत्मनेपद के प्रत्यय लगकर बनते हैं। कतिपय क्रियापदों के रूप आत्मनेपद और परस्मैपद दोनों में ही पाये जाते हैं। यथा—कृणोति और कृणुते *बनाता है*, कुछ केवल एक ही में प्रयुक्त होते हैं यथा अस्ति है, कुछ आंशिक रूप से एक में और आंशिक रूप से दूसरे में प्रयुक्त होते हैं यथा **वर्तते** (आत्मने०) *मोड़ता है* पर लिट् में **ववर्त** (परस्मै०) *मोड़ा है* ।

(क) प्रत्येक लकार और प्रकार में प्रत्येक क्रियापद के तीन वचन होते

---

१. देखिये १०७, टि० ४।

२. **उभ** (दोनों) के रूप केवल द्विव० में ही चलते हैं: पुं० प्र० द्वि० **उभा**, स्त्री० **उभे** । तृ० **उभाभ्याम्** । ष० **उभयोस्** ।

हैं—एकवचन, द्विवचन और बहुवचन। इन सभी का समान रूप से प्रयोग पाया जाता है। प्रत्येक मे तीन पुरुष होते हैं (सिवाय लोट् के जिसमें उत्तमपुरुष के रूप उपलब्ध नहीं होते)।

१२२. साधारणतया इन पांच लकारों का प्रयोग पाया जाता है—लट्, लङ्, लिट्, लुङ् और लृट् (प्रेजेन्ट, इम्पर्फेक्ट. पर्फेक्ट, एओरिस्ट और फ्यूचर)। इम्पर्फेक्ट आदि शब्दों का प्रयोग यहाँ केवल औपचारिक अर्थ में किया गया है चूंकि जहाँ तक बनावट का सम्बन्ध है उक्तनामों के ग्रीक लकारों से इनका साम्य है। किसी भी वैदिक लकार का अर्थ अपूर्ण (इम्पर्फेक्ट) नहीं है जबकि पूर्ण अर्थ (पर्फेक्ट) को सामान्यतया लुङ् से अभिव्यक्त किया अर्थ की कृ जाता है।

(क) निर्देशक के अतिरिक्त चार प्रकार पाए जाते हैं—लेट् लु० लो०, लिङ् और लोट्। ये सभी सविकरणक प्रकृति से बनते हैं। लङ् का प्रकार उपलब्ध नहीं होता लृट् का केवल एकमात्र उपलब्ध प्रकार रूप है बनाना इस अर्थ की कृ धातु से बना अनन्यसामान्य करिष्यास् ।

(ख) ऋग्वेद और अथर्व० में प्रचुरप्रयुक्त लेट् विधिलिङ् की अपेक्षा तीन या चार गुना अधिक बार पाया जाता है। (विधिलिट्) का प्रयोग संहिताओं में विरल है पर ब्राह्मणग्रन्थों में इसका प्रयोग लेट् की अपेक्षा कहीं अधिक है। दोनों की प्रकृतियां एक विशेष प्रकार के प्रकार प्रत्यय लगने से बनती हैं। लेट् निर्देशक प्रकृति से अ लगकर बनता है: जब इसमें सबल और दुर्बल का भेद हो तो अ सबल प्रकृति से लगता है एवञ्च अकारान्त प्रकृतियों के अ से मिलकर आ रूप में परिवर्तित हो जाता है। उदाहरण के रूप में दोहनार्थक दुह् की लट्-लेट् की प्रकृति है दोह, योगार्थक युज् की युनज पर सत्तार्थक भू की भवा।

विधिलिङ् में या अथवा ई लगता है जो कि प्रकृतिओं के सबल और दुर्बल रूप में प्रविभक्त किये जाने की दशा में दुर्बल प्रकृतियों से आते हैं। अकारान्त प्रकृतियों से सदैव ई आता है। अवशिष्ट प्रकृतियों से आत्मनेपद में ई आता है और परस्मै० में या। भू की लट् विधिलिङ् की प्रकृति है भवे (=भव—ई); दुह् और युज् की परस्मै० की प्रकृति है दुह्यां, युञ्ज्यां और आत्मने० की दुही और युञ्जी।

शब्दसिद्धि की दृष्टि से लु० लो० अडागमरहित भूतकालिक लकार (लङ्, लुङ् लिट् प्र०) के समान होता है। ऋग्वेद में इसका प्रयोग बहुत प्रचुर है पर ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका सर्वथा अभाव है सिवाय उन स्थलों में जहां इसका प्रयोग निषेधार्थक निपात मा´ के साथ पाया जाता है।

लोट् में प्रकारवाची प्रत्यय उपलब्ध नहीं होता। इसमें प्रत्यय सीधे ल-प्रकृति से लगते हैं। यथा लट् म० एक० विद्धि´ जान, मुमुग्धि छोड़, लुङ् श्रुधि´ सुन। आत्मने० और परस्मै० के म० और प्र० द्वि० एवञ्च म० बहु० के रूपों में, जिनके अन्त में तम्, ताम् आथाम्, आताम्, त और ध्वम् आते हैं) लु० लो० के रूपों से अभिन्न हैं।

(ख) परस्मैपद और आत्मनेपद के शत्राद्यन्त रूप लट्, लृट्, लुङ और लिट् की प्रकृति से बनते हैं। इनके अतिरिक्त लट्, लिट् और लृट् के कर्मवाच्य के शत्राद्यन्त रूप भी पाये जाते हैं। इनमें पहिले तो कर्मवाच्य प्रकृति से य लगकर बनते हैं जबकि शेष दो सीधे ही धातु से बनते हैं।

क्त्वाद्यन्त रूप भी पाये जाते हैं। वे धातुज नामपदों के ऐसे बने बनाये रूप हैं (मुख्यरूपेण तृतीयान्त) जोकि परस्मै० के अव्यय वर्तमान कृदन्त रूपों के समान होते हैं और जिनका अर्थ बाहुल्येन भूतकाल का होता है। यथा—गत्वी´ और गत्वा´य *जा चुकने पर।*

(घ) लगभग एक दर्जन भिन्न-भिन्न प्रकार से बनने वाले तुमर्थ कृदन्त रूप हैं जो कि या तो ऐसे धातुज नामपद हैं जोकि सीधे धातु से बने हैं अथवा धातु से प्रत्यय लगकर बने हैं, या जो लप्रकृति से शायद ही कभी सम्बन्धित रहे हों। यथा—ईधम् *प्रज्वलित करने के लिये*, गन्तवै´ *जाने के लिये।*

सविकरणकवर्ग

जहां लिट्, लुङ और लृट् इन लकारों में प्रत्यय सीधे (अथवा ऊष्म के आगम के साथ) धातु से लगते हैं, वहां सविकरणक वर्ग (अर्थात् लट् और इसका प्रकार, शत्राद्यन्त रूप एवञ्च लुङ) की एक विशेष प्रकृति पाई जाती है जोकि गणरूपों में आठ भिन्न-भिन्न पद्धतियों से बनाई जाती है।

आठ गण

१२४. ये आठ गण तिङरूपों की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किये जाते हैं। पहिले भाग में जिसमें कि भ्वादि०, दिवादि० और तुदादिग शामिल हैं, लट् की प्रकृति के अन्त में अ आता है और (अकारान्त शब्दों के रूपों की तरह) सदैव अपरिवर्तित रहता है। सन्नन्त, यङन्त, ण्यन्त और नामधातु इन प्रक्रियाओं के अकारान्ताङ्गक एवञ्च लृट् के रूप इन तिङरूपों का अनुसरण करते हैं। अनकारान्ताङ्गक अथवा क्रमवद्ध तिङरूपों की यह विशेषता है कि इसमें स्वर प्रकृति से हट कर प्रत्यय पर आ जाता है या प्रत्यय से हटकर प्रकृति पर आ जाता है। इसके साथ ही साथ अपिश्रुति भी प्रवृत्त हो जाती है। इसमें शेष पांच गणों का समावेश है जिनमें कि प्रत्यय सीधे धातु के अन्तिम अल् अथवा (क्रमवद्ध) नो या ना इन प्रत्ययों से लगते हैं और प्रकृति दुर्बल या सवल होने के कारण परिवृत्तिसह हो जाती है।

(य) *अकारान्ताङ्गक तिङ्रूप*

१२५. १. भ्वादिगण में धातु के अन्तिम अल् से अ [विकरण शप्] लगता है। यदि धातु उदात्त हो तो धातु के अन्तिम अथवा उपधा के के लघु इक् को गुण हो जाता है। यथा जि *जीतना* : जॅय; भू *होना* : भॅव; बुध् *जागना* : बोॅध।

२. तुदादिगण में धातु से उदात्त अ [विकरण श] आता है, पर धातु के अनुदात्त होने के कारण इस में गुण नहीं होता। इस अ से पूर्व अन्तिम ऋ को इर् हो जाता है।

३. दिवादिगणी धातु के अन्तिम उदात्त[1] अल् से य (विकरण श्यन्) आता है।

यथा—नह् *बाँधना* : नॅह्य, दिव् *खेलना* : दीॅव्य (देखिये १५, १ ग)।

---

१. कतिपय स्थलों में धातु दुर्बल रूप को अपना लेती है। इससे पता चलता है कि य मूलरूप में उदात्त होता था (तुलना कीजिये १३३ र, १)।

(२) *अनकारान्ताङ्गक तिङ्रूप*

१२६. सबल रूप ये हैं :—

१. परस्मैपद में लट् और लङ के एक० के रूप।

२. पूरा का पूरा लेट्।

३. परस्मैपद में लोट् प्रथम पुरुष एकवचन के रूप।

इन रूपों में धातु के अथवा प्रत्यय के अच् को स्वरयुक्त होने के कारण वृद्धि हो जाती है जब कि दुर्बल रूपों में इसका अपकर्ष हो जाता है चूंकि प्रत्यय उदात्त होते हैं।

(अ) क्र्यादिगण में प्रत्यय का स्वरयुक्त रूप **नी** है, स्वररहित **नी** या **न्** है, रुधादिगण में क्रमशः न और न् हैं।

१२७. १. अदादिगण में प्रत्यय सीधे धातु से आते हैं (लेट् और लिङ में बीच में **यासुट्** या **सीयुट्** इन प्रत्ययों का व्यवधान पाया जाता है)। सबल रूपों में धातु का अच् उदात्त होता है[1] और प्राप्ति रहने पर इसे गुण हो जाता है (१२५,१)। यथा—गमनार्थक इ से एक० **एमि, एषि, एति;** द्वेषार्थक **द्विष्** से **द्वेष्मि, द्वेक्षि, द्वेष्टि**।

२. तृतीय अथवा जुहोत्यादिगण में प्रत्यय सीधे ही अभ्यस्त धातु से आते हैं जिसमें सबल रूपों में प्राप्ति रहने पर गुण हो जाता है। सादृश्यनिमित्तक सम्भावना के विपरीत इस गण की बहुसंख्यक धातुओं के सबल रूपों में स्वर धातु पर न आकर अभ्यास पर (जोकि परस्मै० और आत्मने० प्र० पु० बहु० में स्वरयुक्त होता है)[2] आता है। जैसे **हु** *हवन करना* उ० पु० एक० **जुहोमि,** बहु० **जुहुमस्;** **भृ** *धारण करना* उ० पु० एक० **'बिभर्मि,** बहु० **'बिभृमस्,** प्र० पु० **'बिभर्ति**[3]।

---

१. सिवाय अट् अथवा आट् आगमयुक्त लङ् एक० के (१२८ ख) चूंकि आगम अनपवादरूपेण उदात्त होता है।

२. निस्सन्देह इस स्वर के कारण ही इन क्रियापदों में प्रत्यय के **न्** का लोप हो जाता है : **बिभ्रति, बिभ्रते**।

३. यङ्लुगन्त रूप (१७२) इस वर्ग का अनुसरण करते हैं।

३. सप्तम अथवा इनमागमयुक्त गण (रुधादिगण) में प्रत्यय सीधे अन्तिम हल् के बाद आता है जिससे पूर्व सबल रूपों में न´ और दुर्बल रूपों न् का आगम हो जाता है। यथा युज् *जोड़ना*, युन´ज्मि, युञ्ज्मस्।

४. पञ्चमगण (स्वादिगण) में सबल रूपों में उदात्त एकाच् नो´ आता है जिसे कि दुर्बल रूपों में ह्रस्व कर नु रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है। यथा कृ करना, कृणो´मि, कृण्मस्[1]।

(अ) चार नकारान्त धातु उ प्रत्यय लगकर बने होने का आभास कराते हैं पर यह सम्भवतः धातु के अन् के स्वरोन्मुख अनुनासिक में परिवर्तित होने के कारण हुआ है। जैसे विस्तारार्थक तन से तनु (तनु के स्थान पर)। ऋग्वेद के दशम मण्डल में कुरु यह अनियमित दुर्बल प्रकृति तीन बार पाई जाती है (इसके साथ ही साथ नियमित कृणु भी मिलती है)। अथर्ववेद में सबल प्रकृति करो पाई जाती है। इन प्रकृतियों ने संस्कृत व्याकरण के अष्टम, उविकरणक गण, (तनादिगण) को जन्म दिया था।

५. नाविकरणक नवमगण क्र्यादिगण में सबल रूपों में धातु से उदात्त ना´ आता है जोकि दुर्बल रूपों में व्यञ्जनों से पूर्व नी रूप में और स्वरों से पूर्व न् रूप में परिवर्तित हो जाता है। धातुओं का झुकाव दुर्बलीभाव की ओर देखा जाता है। जैसे ग्रभ् *पकड़ना* : गृभ्णा´मि, बहु० उ० पु० गृभ्णीम´सि और गृभ्णीमस्, प्र० पु० गृभ्णन्ति।

आगम

१२८. लङ्, लिट् प्र०, लुङ् और लृङ् में सामान्यतया प्रकृति के आदि में उदात्त अ (अट्) का आगम हो जाता है जोकि उन रूपों को भूतकाल का अर्थ प्रदान करता है।

(क) कभी-कभी इस आगम को सात या आठ धातुओं के न्, य्, र् और´

१. निर्देशक परस्मै० और आत्मने० के उ० पु० बहु० के म् से पूर्व उ का लोप हो जाता है।

व् से पूर्व दीर्घ हो जाता है: लुङ् आ॑नट् (नश् *प्राप्त करना*) लङ् आ॑युनक् लुङ् आ॑युक्त, आ॑युक्षाताम् (युज् *युक्त करना*), लङ् आ॑रिणक् और लुङ् आ॑रैक् (रिच् *रिक्त करना*) लुङ् आ॑वर् (वृ *आच्छादित करना*); लङ् आ॑वृणि (वृ *वरण करना*); लङ् आ॑वृणक् (वृज् *मोड़ना*) लङ् आ॑विध्यत् (व्यध् *बींधना*)।

(ख) आदि के अच् इ, उ, ऋ के साथ आगम की सन्धि होने पर वृद्धि स्वर ऐ, औ और आर् यह एकादेश हो जाता है। यथा—ऐ॑च्छत् इच्छार्थक इष् धातु के लङ् का रूप; औ॑नत् क्लेदनार्थक उद् धातु के लङ् का रूप, आ॑र्त (ग्रीक *होर्तो*) गमनार्थक ऋ के आत्मने० लुङ् प्र० पु० एक० का रूप।

(ग) इस आगम का बहुत बार लोप भी कर दिया जाता है: यह निःसन्देह उस काल का अवशेष है जबकि यह एक इस प्रकार का स्वतन्त्र निपात था जिसका परिहार भी किया जा सकता था यदि भूतकाल का अर्थ प्रकरण से ही स्पष्ट हो जाता हो। ऋग्वेद में भूतकाल के लकारों के आगम-रहित रूप आगमयुक्त रूपों की संख्या के आधे से अधिक हैं। जहाँ तक अर्थ का सम्बन्ध है वे रूप जिनमें आगम का लोप हो जाता है या तो निर्देशक हैं या फिर लु० लो०। ऋग्वेद में इन दोनों की संख्या लगभग बराबर बराबर है। लगभग एक तिहाई लु० लो० रूप ऋग्वेद में निषेधार्थक निपात मा॑ (ग्रीक मे॑) के साथ प्रयुक्त हुए हैं। अथर्ववेद में लगभग सभी आगमरहित रूप लु० लोट् के हैं जिनमें से ४/५ हिस्सा मा॑ के साथ प्रयुक्त हुआ है।

द्वित्व

१२९. पाँच प्रकार के तिङरूपों में द्वित्व पाया जाता है: (१) जुहोत्यादिगण के रूप (२) लिट्, (३) लिट् प्र०, (४) लुङ् का एक भेद (५) सन्नन्त और यङन्त रूप। इनमें से प्रत्येक की अपनी निजी कुछ विशेषताएं हैं जिनका विवरण द्वित्व के विशेष नियमों (१३०, १३५, १४९, १७०, १७३) के अन्तर्गत पृथक् से देना आवश्यक है। सभी में समान रूप से पाये जाने वाले (नियम) निम्नलिखित हैं:—

द्वित्व के सामान्य नियम

१. धातु के प्रथम एकाच् (अर्थात् इसका वह अंश जिसके अन्त में अच् आता है[1]) को द्वित्व होता है। यथा—बुध् *समझना*: बुबुध्।

२. महाप्राण व्यञ्जनों के स्थान पर तत्समान अल्पप्राण व्यञ्जन आ जाते हैं[2] यथा—भी *भयभीत होना* : बिभी; धा *रखना* : दधा।

३. कण्ठ्यों के स्थान पर तत्समान तालव्य आ जाते हैं और ह् के स्थान पर ज् आ जाता है : यथा—गम् *जाना* जगम्; खन् *खोदना* : चखन्; हन् *मारना, प्रहार करना*: जघन्।

४. यदि किसी धातु के आदि में एक से अधिक व्यञ्जन आयें तो उनमें से पहिले को ही द्वित्व होता है। जैसे क्रम् चलना : चक्रम्।

५. यदि किसी धातु के आदि में ऊष्म आये और उसके परे कोई कठोर व्यञ्जन (खय्) हो तो उस कठोर व्यञ्जन को ही द्वित्व होगा। यथा स्था *स्थित होना* : तस्था, स्कन्द *कूद जाना*: चस्कन्द्। इस नियम के प्रत्युदाहरण हैं स्वज् *आलिङ्गन करना* : सस्वज् (व् कोमल है) स्मि *मुस्कराना* : सिष्मि (म् कोमल है)।

६. यदि, अन्त्य अथवा मध्यवर्ती धात्वच् दीर्घ हो तो अभ्यास में उसे ह्रस्व हो जाता है।[3] यथा दा *देना* : ददा, राध् सफल होना : रराध्।

---

१. यङन्तों के द्वित्व में हमेशा ऐसा ही होता हो यह आवश्यक नहीं (१७३ ख)।

२. यङन्तों के द्वित्व में इस नियम के कतिपय अपवाद पाये जाते हैं (१७३, ३)।

३. यह नियम यङन्तों में लागू नहीं होता (१७३), और न ही बाहुल्येन साभ्यास लुङ में ही (१४९,२)। साभ्यास लिट में इसके अनेकानेक अपवाद पाये जाते हैं (१३९, ९)।

जुहोत्यादिगण के लिये द्वित्व के विशेष नियम

१३० द्वित्व होने पर अभ्यास में ऋ और ॠ को इ हो जाता है। यथा—भृ धारण करना : बिभर्ति; पॄ भरना : पिपर्ति। यहां मोड़ना इस अर्थ की वृत् धातु ही केवलमात्र अपवाद है : ववर्त्(त्) ति।

(अ) तेरह धातुओं के अ और आ को अभ्यास में इ[1] हो जाता है और नौ धातुओं के अभ्यास में अ।

प्रत्यय

१३१. निम्ननिर्दिष्ट तालिका में सविकरणक रूपों के प्रत्यय अङ्कित हैं जोकि सभी क्रियापदों के लिये लगभग एक से ही हैं। मुख्य भेद विधिलिङ में पाया जाता है जिसकी विशेषता यह है कि इसमें अकारान्ताङ्गक तिङ्रूपों में ए[2] और अनकारान्ताङ्गक तिङ्रूपों में या और ई[3] पाये जाते हैं। लट् निर्देशक में अविकृत (नि, सि, ति, आदि) और लङ, लिङ (अथच कुछ परिवर्तनों के साथ) लोट् से विकृत (न्, स्, त् आदि) प्रत्यय आते हैं जब कि लेट् इन दोनों के बीच ही चक्कर काटता रहता है। अन्य लकारों में से लृट् में अविकृत प्रत्यय आते हैं और लिट् प्र० और लुङ से (जिनमें आशीर्लिङ और लृङ भी शामिल हैं) विकृत, जबकि लिट् परस्मै० में (अनेक भेदोपभेदों के साथ) विकृत और आत्मने० में अविकृत प्रत्यय आते हैं।

दोनों प्रकार के तिङ्रूपों में निम्ननिर्दिष्ट भेद पर ध्यान देना चाहिये। प्रथम या अकारान्ताङ्गक तिङ्रूपों में (अकारान्त नामपदों के रूपों की तरह ही) स्वर कभी भी प्रत्यय पर नहीं आता अपितु सदैव प्रकृति के उसी एकाच्

---

१. इनमें से तीन—पा पीना स्था ठहरना, हन् मारना का स्थाविरूप से अकारान्ताङ्गक तिङ्रूपों में अन्तर्भाव हो गया जब कि घ्रा (सूँघना) एतदुन्मुख है।

२. अर्थात् ई का प्रकृति के अन्तिम अ के साथ एकादेश हो जाता है। भवे=भव-ई।

३. अर्थात् अकाराभिभावी प्रत्यय में अपिश्रुति देखी जाती है (५ ख)।

भाग पर आता है (भ्वादि और दिवादिगणों में धातु और तुदादि० में प्रत्यय) जोकि इस कारण अपरिवर्तित रहता है। दूसरी ओर अनकारान्ताङ्गक तिङरूपों में (जैसा कि परिवर्त्य प्रकृतियों के रूपों में पाया जाता है) स्वर सबल प्रकृति पर आ जाता है जिसका कि उदात्त के हट कर प्रत्यय पर च ले जाने के कारण दुर्बल रूपों में अपकर्ष कर दिया जाता है। अतः अनकारान्ताङ्गक तिङरूपों में प्रत्यय उदात्त होते हैं। इसमें अपवाद केवल सबल रूप हैं (१२६)। यही बात आगम रहित लङ पर भी लागू होती है (१२८)

परस्मैपद

	लट्	लङ	लिङ		लेट्	लोट्
उ० पु०	मि[1]	(अ)म्[1]	ईयम्´	याम्	आनि, आ	—
म० पु०	सि	स्	ईस्	यास्	असि, अस्	तात्[7], धि, हि
प्र० पु०	ति	त्	ईत्	यात्	अति, अत्	तु
उ० पु०	वस्[1]	व[1]	ईव	याव	आव	—
म० पु०	थस्	तम्	ईतम्	यातम्	अथस्	तम्
प्र० पु०	तस्	ताम्	ईताम्	याताम्	अतस्	ताम्
उ० पु०	मसि[2], मस्[1]	म[1]	ईम	याम	आम	—
म० पु०	थ, थन[3]	त, तन[4]	ईत	यात	अथ	त, तन[10]
प्र० पु०	(अ)न्ति[4]	(अ)न्, उर्[5]	ईयुर्	युर्	अन्	(अ)न्तु[4]

---

१. अकारान्ताङ्गक तिङरूपों में प्रकृति के अन्तिम अ को म् और व् से पूर्व दीर्घ हो जाता है : भवामि; भवावस्।

२. ऋग्वेद में मस् की अपेक्षा मसि पाँच गुना से भी अधिक प्रचुर है जब कि अथर्व० में मस् का प्रयोग मसि की अपेक्षा प्रचुरतर है।

३. अकारान्ताङ्गक तिङरूपों में थन प्रत्यय का एकमात्र उदाहरण है वंदथन।

४. साभ्यास क्रियापदों एवञ्च तद्वत् गृह्यमाण अन्य शब्दों में परस्मै० निर्दे० लट् प्र० पु० बहु० और लोट् में न् का लोप हो जाता है। सभी अनकारान्ताङ्क तिङ्रूपों में आत्मने० के लट्, लङ् और लोट् प्र० पु० बहु० में न् का लोप हो जाता है।

५. **म्** अकारान्ताङ्क तिङ्रूपों में (**अभवम्**) और **अम्** अनकारान्ताङ्क तिङ्रूपों में (**अद्वेषम्**)।

६. अकारान्ताङ्क तिङ्रूपों में इस प्रत्यय के कोई उदाहरण नहीं हैं।

७. **उर्** प्रत्यय जुहोत्यादिगण की लगभग सभी धातुओं से और अदादिगण की बहुत सी धातुओं से आता है।

८. ये प्रत्यय प्रकृति के अन्तिम **अ** के साथ मिलकर **एयम्**, **एस्**, **एत्** इत्यादि रूपों में परिवर्तित हो जाते हैं।

९. अकारान्ताङ्क तिङ्रूपों में सामान्यतः लोट् म० पु० एक० में कोई प्रत्यय नहीं लगता। हां बहुत बार उनमें **तात्** लग जाता है जोकि ब्राह्मणग्रन्थों में भी पाया जाता है। क्रमबद्ध (अनकारान्ताङ्क) तिङ्रूपों में दुर्बल प्रकृति से **धि**, **हि** और **तात्** लगते हैं और क्र्यादि० के कतिपय तिङ्रूपों में **आन** लगता है। यथा—**अद्धि॑**, **शृणुधि**; **शृणुहि**, **पुनीहि**, **अशान**; **वित्तात्**, **कृणुतात्**।

१०. अकारान्ताङ्क तिङ्रूपों में केवल दो उदाहरण पाये जाते हैं: **भजतन** और **नह्यतन**।

आत्मनेपद

	लट्	लङ्	लिङ्	लेट्	लोट्
उ०पु०	ए	इ[2]	ईय[4]	ऐ	—
म०पु०	से	थास्	ईथास्	असे, असै[5]	स्व
प्र०पु०	ते	त	ईत	अते अतै[6]	ताम्, आम्
उ०पु०	वहे[1]	वहि[1]	ईवहि	आवहे	—
म०पु०	एथे[3] (१) आथे (२)	एथाम्[3] (१) आथाम् (२)	ईयाथाम्	ऐथे	एथाम्[3] (१) आथाम् (२)
प्र०पु०	एते[3] (१) आते (२)	एताम्[3] (१) आताम् (२)	ईयाताम्	ऐते	एताम्[3] (१) आताम् (२)
उ०पु०	महे[1]	महि[1]	ईमहि	आमहे आमहै	—
म०पु०	ध्वे	ध्वम्	ईध्वम्	अध्वै	ध्वम्
प्र०पु०	न्ते (१) अते (२)	न्त (१) अत (२)	ईरन्	अन्तै[7] अन्त[8]	न्ताम् (१) अताम् (२)

१. म् और व् से पूर्व अकारान्ताङ्ग तिङ्रूपों के अन्तिम अ को दीर्घ हो जाता है।

२. अकारान्ताङ्ग तिङ्रूपों के अन्तिम अ से मिल कर यह इ, ए रूप में परिणत हो जाता है : भवे।

३. इन रूपों में अकारान्ताङ्ग तिङ्रूपों के अन्तिम अ के स्थान पर ए आ जाता है।

४. इस प्रकार की ई को अकारान्ताङ्ग तिङ्रूपों के अन्तिम अ के साथ सन्धि हो कर ए हो जाता है : भवेय इत्यादि।

५. ऋग्वेद में केवल असे ही पाया जाता है और ब्राह्मणग्रन्थों में केवल असै ही।

६. अवे यह रूप ऋग्वेद में लगभग अनन्यरूपेण प्रयुक्त किया जाता है जब कि अथर्व० में अवै बाहुल्येन प्रयुक्त हुआ है और बाद में एकमात्र इसी का ही प्रयोग हुआ है।

७. अन्तै यह प्रत्यय केवल ब्राह्मणग्रन्थों में ही पाया जाता है।

८. अकारान्ताङ्ग तिङ्रूपों में अन्त वाला रूप जहां कि इसका प्रयोग अतिन्यून है। यथा—भवन्त तु० लो० रूप है पर अन्यत्र (अनकारान्ताङ्ग) तिङ्रूपों में यह लेट् का रूप है। यथा—कृणवन्त (तु० लो० कृण्वत)।

रूप निदर्शन

१३२. चूंकि तीन अकारान्ताङ्गक गणों एवंच प्रक्रियाओं में रूप ठीक एक से ही चलते हैं[१] अतः एक ही रूप निदर्शन उन सभी के लिये पर्याप्त होगा। यहां लु० लो० नहीं दिया गया क्योंकि उसके और आगमरहित लङ के रूपों में भेद नहीं है। उन रूपों को जिनके उदाहरण संहिताओं में अनुपलब्ध हैं बड़े कोष्ठकों में दे दिया गया है।

१. अन्य सभी तिङ्रूपों की अकारान्त प्रकृतियों—यथा कर्मवाच्य (१५४), स् लट् (१५१) अ (१४१ क) स (१४७) और साभ्यास (१४६) लुङ् के रूप इसी प्रकार चलते हैं।

अकारान्ताङ्ग तिङ्रूप

भ्वादिगण

भू होना

लट्

परस्मैपद

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ०पु०	भ॑वामि	भ॑वावस्	भ॑वामसि, भ॑वामस्
म०पु०	भ॑वसि	भ॑वथस्	भ॑वथ
प्र०पु०	भ॑वति	भ॑वतस्	भ॑वन्ति
		लङ्	
उ०पु०	अ॑भवम्	[अ॑भवाव]	अ॑भवाम
म०पु०	अ॑भवस्	अ॑भवतम्	अ॑भवत
प्र०पु०	अ॑भवत्	अ॑भवताम्	अ॑भवन्
		लोट्	
म०पु०	भ॑व, भ॑वतात्	भ॑वतम्	भ॑वत
प्र०पु०	भ॑वतु	भ॑वताम्	भ॑वन्तु
		लेट्	
उ०पु०	भ॑वानि, भ॑वा	भ॑वाव	भ॑वाम
म०पु०	भ॑वासि, भ॑वास्	भ॑वाथस्	भ॑वाथ
प्र०पु०	भ॑वाति, भ॑वात्	भ॑वातस्	भ॑वान्
		विधिलिङ्	
उ०पु०	भ॑वेयम्	[भ॑वेव]	भ॑वेम
म०पु०	भ॑वेस्	[भ॑वेतम्]	[भ॑वेत]
प्र०पु०	भ॑वेत्	भ॑वेताम्	भ॑वेयुर्

शत्रन्त

भ॑वन्त्, स्त्री० भ॑वन्ती

अकारान्ताङ्गक तिङ्रूप

सविकरणक प्रकृति भव

आत्मनेपद

लट्

एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
भवे	भवावहे	भवामहे
भवसे	[भवेथे]	भवध्वे
भवते	भवेते	भवन्ते
	लङ्	
अभवे	[अभवावहि]	[अभवामहि]
अभवथास्	अभवेथाम्	[अभवध्वम्]
अभवत	अभवेताम्	अभवन्त
	लोट्	
भवस्व	भवेथाम्	भवध्वम्
भवताम्	भवेताम्	भवन्ताम्
	लेट्	
भवै	भवावहै	भवामहै
[भवासे भवासै (अथर्व०)]	भवैथे	[भवाध्वे]
[भवाते भवातै]	भवैते	भवान्ते
	विधिलिङ्	
भवेय	भवेवहि	भवेमहि
[भवेथास्]	[भवेयाथाम्]	[भवेध्वम्]
भवेत	[भवेयाताम्]	[भवेरन्]

शानजन्त

भवमान, स्त्री० भवमाना

अनकारान्ताङ्गक तिङ्‌रूप

अदादिगण

इ : जाना

सविकरणक प्रकृति ए, इ

परस्मैपद

लट्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ०पु०	ए॑मि	[इ॒व॑स्]	इ॒म॑सि, इ॒म॑स्
म०पु०	ए॑षि	इ॒थ॑स्	इ॒थ॑, इ॒थ॑न
प्र०पु०	ए॑ति	इ॒त॑स्	य॒न्ति

लङ्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ०पु०	आ॑यम्	[ऐ॑व]	ऐ॑म
म०पु०	ऐ॑स्	ऐ॑तम्	ऐ॑त, ऐ॑तन
प्र०पु०	ऐ॑त्	ऐ॑ताम्	आ॑यन्

लोट्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
म०पु०	इ॒हि, इ॒तात्	इ॒तम्	इ॒त, इ॒तन
प्र०पु०	ए॑तु	इ॒ताम्	य॒न्तु

लेट्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ०पु०	अ॑यानि, अ॑या	अ॑याव	अ॑याम
म०पु०	अ॑यसि, अ॑यस्	अ॑यथस्	अ॑यथ
प्र०पु०	अ॑यति, अ॑यत्	अ॑यतस्	अ॑यन्

विधिलिङ्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ०पु०	इ॒याम्	इ॒याव	इ॒याम
म०पु०	इ॒यास्	इ॒यातम्	इ॒यात
प्र०पु०	इ॒यात्	इ॒याताम्	इ॒यु॑र्

शत्रन्त

य॒न्त्, स्त्री० य॒ती॑

अनकारान्ताङ्क तिङ्रूप

ब्रू बोलना

सविकरणक प्रकृति ब्रव्, ब्रू

आत्मनेपद

लट्

एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
ब्रुवे॑	[ब्रूव॑हे]	ब्रूम॑हे
ब्रूषे॑	ब्रुवा॑थे	ब्रूध्वे॑
ब्रूते॑ ब्रुवे॑	ब्रुवा॑ते	ब्रुव॑ते

लङ्

[अ॑ब्रुवि]	[अ॑ब्रूवहि]	[अ॑ब्रूमहि]
अ॑ब्रूथाः	[अ॑ब्रुवाथाम्]	अ॑ब्रूध्वम्
अ॑ब्रूत	[अ॑ब्रुवाताम्]	अ॑ब्रुवत

लोट्

ब्रूष्व॑	[ब्रुवा॑थाम्]	ब्रूध्व॑म्
ब्रूता॑म्	ब्रुवा॑ताम्	ब्रुव॑ताम्

लेट्

ब्र॑वै	ब्र॑वावहै	ब्र॑वामहै
ब्र॑वसे	ब्र॑वैथे	ब्र॑वध्वे
ब्र॑वते	ब्र॑वैते	ब्र॑वन्त

विधिलिङ्

ब्रुवीय॑	[ब्रुवीव॑हि]	ब्रुवीम॑हि
[ब्रुवीथा॑ः]	[ब्रुवीया॑थाम्]	[ब्रुवीध्व॑म्]
ब्रुवीत॑	[ब्रुवीया॑ताम्]	[ब्रुवीर॑न्]

शानजन्त

	ब्रुवाण॑, स्त्री०	ब्रुवाणा॑

जुहोत्यादिगण

भृ

परस्मैपद

लट्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ० पु०	बि॑भर्मि	[बिभृवस्]	बिभृमसि, बिभृमस्
म० पु०	बि॑भर्षि	बिभृथस्	बिभृथ
प्र० पु०	बि॑भर्ति	बिभृतस्	बि॑भ्रति

लङ्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ० पु०	अ॑बिभरम्	[अ॑बिभृव]	अ॑बिभृम
म० पु०	अ॑बिभर् (२८)	अ॑बिभृतम्	अ॑बिभृत, अ॑बिभृतन
प्र० पु०	अ॑बिभर् (२८)	अ॑बिभृताम्	अ॑बिभ्रन्, अ॑बिभरुर्

लोट्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ० पु०	बिभृहि॑	बिभृतम्	बिभृत, बिभृतन
म० पु०	बिभृतात्		
प्र० पु०	बि॑भर्तु	बिभृताम्	बि॑भ्रतु

लेट्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ० पु०	बि॑भराणि	[बि॑भराव]	बि॑भराम
म० पु०	बि॑भरस्	बि॑भरथस्	[बि॑भरथ]
प्र० पु०	बि॑भरत्	बि॑भरतस्	बि॑भरन्

विधिलिङ्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ० पु०	बिभृयाम्	[बिभृयाव]	[बिभृयाम]
म० पु०	बिभृयास्	[बिभृयातम्]	[बिभृयात]
प्र० पु०	बिभृयात्	बि॑भृयाताम्	बिभृयु॑र्

शत्रन्त

बि॑भ्रत्, स्त्री० बि॑भ्रती

सविकरणक प्रकृति बिभर्, बिभृ

आत्मनेपद

लट्

एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
बिभ्रे	बिभृवहे	बिभृमहे
बिभृषे	बिभ्राथे	बिभृध्वे
बिभृते	बिभ्राते	बिभ्रते

लङ्

[अबिभ्रि]	[अबिभृवहि]	[अबिभृमहि]
अबिभृथास्	[अबिभ्राथाम्]	[अबिभृध्वम्]
अबिभृत	[अबिभ्राताम्]	अबिभ्रत

लोट्

बिभृष्व	बिभ्राथाम्	बिभृध्वम्
बिभृताम्	[बिभ्राताम्]	बिभ्रताम्

लेट्

[बिभ्रै]	बिभरावहै	बिभरामहै
बिभरसे	[बिभरैथे]	[बिभरध्वै]
बिभरते	[बिभरैते]	बिभरन्त

विधिलिङ्

बिभ्रीय	[बिभ्रीवहि]	बिभ्रीमहि
[बिभ्रीथास्]	[बिभ्रीयाथाम्]	[बिभ्रीध्वम्]
बिभ्रीत	[बिभ्रीयाताम्]	बिभ्रीरन्

शानजन्त

बिभ्राण, स्त्री० बिभ्राणा

स्वादिगण

कृ बनाना

परस्मैपद

लट्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ० पु०	कृणो॑मि	कृण्व॑स्	कृण्म॑सि, कृण्म॑स्
म० पु०	कृणो॑षि	कृणुथ॑स्	कृणुथ॑
प्र० पु०	कृणो॑ति	कृणुत॑स्	कृण्व॑न्ति

लङ्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ० पु०	अ॑कृणवम्	[अ॑कृण्व]	[अ॑कृण्म]
म० पु०	अ॑कृणोस्	अ॑कृणुतम्	अ॑कृणुत
प्र० पु०	अ॑कृणोत्	अ॑कृणुताम्	अ॑कृण्वन्

लोट्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
म० पु०	कृणुहि॑, कृणु॑, कृणुता॑त्	कृणुत॑म्	कृणुत॑, कृणो॑त, कृणो॑तन
प्र० पु०	[कृणो॑तु]	कृणुता॑म्	कृण्व॑न्तु

लेट्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ० पु०	कृण॑वा, कृण॑वानि	कृण॑वाव	कृण॑वाम
म० पु०	कृण॑वस्	[कृण॑वथस्]	कृण॑वथ
प्र० पु०	कृण॑वत्	[कृण॑वतस्]	कृण॑वन्

विधिलिङ्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ० पु०	कृणुया॑म्	[कृणुया॑व]	कृणुया॑म
म० पु०	[कृणुया॑स्]	[कृणुया॑तम्]	[कृणुया॑त]
प्र० पु०	कृणुया॑त्	[कृणुया॑ताम्]	कृणुयु॑र्

शत्रन्त

कृण्व॑न्त्   स्त्री० कृण्वती॑

सविकरणकप्रकृति कृणो, कृणु

आत्मनेपद

लट्

एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
कृण्वे	[कृण्वहे]	कृण्महे
कृणुषे	कृण्वाथे	[कृणुध्वे]
कृणुते, कृण्वे	[कृण्वाते]	कृण्वते

लङ्

[अकृण्वि]	[अकृण्वहि]	[अकृण्महि]
अकृणुथास्	[अकृण्वाथाम्]	अकृणुध्वम्
अकृणुत	[अकृण्वाताम्]	अकृण्वत

लोट्

कृणुष्व	कृण्वाथाम्	कृणुध्वम्
कृणुताम्	[कृण्वाताम्]	कृण्वताम्

लेट्

कृणवै	कृणवावहै	कृणवामहै
कृणवते	कृणवैथे	[कृणवध्वे]
कृणवते	कृणवैते	कृणवन्त

विधिलिङ्

[कृण्वीय]	[कृण्वीवहि]	[कृण्वीमहि]
[कृण्वीथास्]	[कृण्वीयाथाम्]	[कृण्वीध्वम्]
कृण्वीत	[कृण्वीयाताम्]	[कृण्वीरन्]

शानजन्त

कृण्वान, स्त्री० कृण्वाना

रुधादिगण : युज् जोड़ना
परस्मैपद

लट्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ० पु०	युनज्मि	[युञ्ज्वस्]	युञ्ज्मस्
म० पु०	युनक्षि [६३, ६७]	[युङ्क्थस्]	[युङ्क्थ]
प्र० पु०	युनक्ति [६३]	[युङ्क्तस्]	युञ्जन्ति

लङ्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ० पु०	अयुनजम्	[अयुञ्ज्व]	[अयुञ्ज्म]
म० पु०	अयुनक् [६३, ६१]	अयुङ्क्तम्	[अयुङ्क्त]
प्र० पु०	अयुनक् [६३, ६१]	[अयुङ्क्ताम्]	अयुञ्जन्

लोट्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
म० पु०	युङ्ग्धि [१० क]	युङ्क्तम् [१०क]	[युङ्क्त, युनक्त युनक्तन
प्र० पु०	युनक्तु	युङ्क्ताम्	युञ्जन्तु

लेट्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ० पु०	युनजानि	युनजाव	युनजाम
म० पु०	युनजस्	[युनजयस्]	[युनजय]
प्र० पु०	युनजत्	युनजतस्	युनजन्

विधिलिङ्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ० पु०	[युञ्ज्याम्]	[युञ्ज्याव]	[युञ्ज्याम]
म० पु०	[युञ्ज्यास्]	[युञ्ज्यातम्]	[युञ्ज्यात]
प्र० पु०	युञ्ज्यात्	[युञ्ज्याताम्]	[युञ्ज्युर्]

शत्रन्त

युञ्जन्त्   स्त्री० युञ्जती

सविकरणकप्रकृति युनज्, युञ्ज्
आत्मनेपद

लट्

एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
युञ्जे॑	[युञ्ज्व॑हे]	[युञ्ज्म॑हे]
युङ्क्षे॑	युञ्जा॑थे	युङ्ग्ध्वे॑
युङ्क्ते॑	युञ्जा॑ते	युञ्ज॑ते

लङ्

[अ॑युञ्जि]	[अ॑युञ्ज्वहि]	[अ॑युञ्ज्महि]
[अ॑युङ्क्थास्]	[अ॑युञ्जाथाम्]	अ॑युङ्ग्ध्वम्
[अ॑युङ्क्त]	[अ॑युञ्जाताम्]	अ॑युञ्जत

लोट्

युङ्क्ष्व॑ [६३, ६७]	युञ्जा॑थाम्	युङ्ग्ध्व॑म्
युङ्क्ता॑म्	युञ्जा॑ताम्	युञ्ज॑ताम्

लेट्

[युन॑जै]	[युन॑जावहै]	युन॑जामहै
[युन॑जसे]	[युन॑जैथे]	[युन॑जध्वे]
युन॑जते	[युन॑जैते]	[युन॑जन्त]

विधिलिङ्

[युञ्जी॒य॑]	[युञ्जीव॑हि]	युञ्जीम॑हि
[युञ्जीथा॑स्]	[युञ्जीया॑थाम्]	युञ्जीध्व॑म्
युञ्जीत॑	[युञ्जीया॑ताम्]	[युञ्जीर॑न्]

शानजन्त

युञ्जा॒न॑, स्त्री० युञ्जा॒ना॑

क्र्यादिगण ग्रभ् पकड़ना
परस्मैपद

लट्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ० पु०	गृभ्णामि	[गृभ्णीवस्]	गृभ्णीमसि, गृभ्णीमस्
म० पु०	गृभ्णासि	गृभ्णीथस्	गृभ्णीथ, गृभ्णीथन
प्र० पु०	गृभ्णाति	गृभ्णीतस्	गृभ्णन्ति

लङ्

उ० पु०	अगृभ्णाम्	[अगृभ्णीव]	[अगृभ्णीम]
म० पु०	अगृभ्णास्	अगृभ्णीतम्	अगृभ्णीत
प्र० पु०	अगृभ्णात्	[अगृभ्णीताम्]	अगृभ्णन्

लोट्

म० पु०	गृभ्णीहि, गृभ्णीतात्, गृभाण	गृभ्णीतम्	गृभ्णीत, गृभ्णीतन
प्र० पु०	गृभ्णातु	गृभ्णीताम्	गृभ्णन्तु

लेट्

उ० पु०	गृभ्णानि	[गृभ्णाव]	गृभ्णाम
म० पु०	गृभ्णास्	[गृभ्णायस्]	गृभ्णाय
प्र० पु०	गृभ्णात्, गृभ्णाति	[गृभ्णातस्]	गृभ्णान्

विधिलिङ्

उ० पु०	गृभ्णीयाम्	[गृभ्णीयाव]	[गृभ्णीयाम]
म० पु०	गृभ्णीयास्	[गृभ्णीयातम्]	[गृभ्णीयात]
प्र० पु०	गृभ्णीयात्	[गृभ्णीयाताम्]	[गृभ्णीयुर्]

शत्रन्त

गृ[illegible]न्त्   स्त्री० गृभ्णती

सविकरणक प्रकृति गृभ्णा́, गृभ्णी, गृभ्ण्

आत्मनेपद

लट्

एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
गृभ्णे́	[गृभ्णीवहे]	गृभ्णीमहे
गृभ्णीषे́	[गृभ्णा́थे]	[गृभ्णीध्वे́]
गृभ्णीते́	[गृभ्णा́ते]	गृभ्णते

लङ्

अ́गृभ्णि	[अ́गृभ्णीवहि]	अ́गृभ्णीमहि
[अ́गृभ्णीथास्]	[अ́गृभ्णाथाम्]	[अ́गृभ्णीध्वम्]
अ́गृभ्णीत	[अ́गृभ्णाताम्]	अ́गृभ्णत

लोट्

गृभ्णीष्व́	[गृभ्णा́थाम्]	गृभ्णीध्व́म्
गृभ्णीता́म्	[गृभ्णा́ताम्]	गृभ्ण́ताम्

लेट्

[गृभ्णै́]	गृभ्णा́वहै	गृभ्णा́महै
[गृभ्णा́सै]	[गृभ्णै́थे]	[गृभ्णा́ध्वै]
[गृभ्णा́तै]	[गृभ्णै́ते]	[गृभ्णा́न्त]

विधिलिङ्

[गृभ्णीय́]	[गृभ्णीव́हि]	[गृभ्णीम́हि]
[गृभ्णीथा́स्]	[गृभ्णीया́थाम्]	[गृभ्णीध्व́म्]
गृभ्णीत́	[गृभ्णीया́ताम्]	[गृभ्णीर́न्]

शानजन्त

गृभ्णान́, स्त्री० गृभ्णाना́

सविकरणक रूपों की अनियमितताएं

अकारान्ताङ्क तिङ्रूप

१३३. (य) भ्वादिगण १. (केवल परस्मपद में ही) गुह् (*छुपाना*) और क्रम् (*डग भरना*) में धातवच् की दीर्घ होता है : गू'ह,[1] क्रामति (पर आत्मनेपद में क्रमते); ऊह् (*वितर्क करना*) में गुण हो जाता है : ओ'ह,[2] कृप् (*विलाप करना*) में गुण नहीं होता : कृ'प[3]।

२. गम् (*जाना*), यम् (*नियन्त्रित करना*), यु (*अलग करना*) की सविकरणक प्रकृतियां, छ् (ग्रीक स्क्) लगकर बनती हैं : गंछ (ग्रीक बॅस्को) यंछ, यु'छ।

३. (क) पा (*पीना*), स्था (*स्थित होना*), सच् (*साथ रहना*), सद् (*बैठना*) की सविकरणक प्रकृतियां वही हैं जो कि मूल रूप में साभ्यास गण से सम्बन्धित थीं : पिब (लै० दिबो), तिष्ठ (ग्रीक हिस्तेमि, लै० सिस्तो), सश्च[4] (सस् (अ) च के स्थान पर); सी'द (सिस् (अ) द, (लै० सीदो) के स्थान पर)।

(ख) चार प्रकृतियों का श्नुविकरणक स्वादिगणी प्रकृतियों से स्थानान्तरण हुआ है। ये या तो सरलतर आदि प्रकृतियों के साथ-साथ प्रयुक्त होती हैं, या सर्वथा उनका स्थान ही ग्रहण कर लेती हैं : इन्वन्ति (इ *भेजना से*) अन्य रूप इनो'ति, जिंवति (जि *जल्दी करवाना* से) अन्य रूप जिनो'षि, हिन्वति (हि *प्रेरित करना* से) अन्य रूप हिनो'ति। पिंव *पुष्ट करना* निःसन्देह मूल रूप में पिंनु (पि या पी से) था।

---

१. गुण न करके।

२. पर ऊह (*हटाना*) अपरिवर्तित रहती है (१५५,१)।

३. १२५, १ के प्रतिकूल।

४. द्वित्व होने से यह प्रकृति बनी होगी इसका स्मारक है अनुनासिकलोप जोकि लट् प्र० पु० बहु० के रूप सश्चति और आत्मने० लु० लो० प्र० पु० बहु० के रूप संश्चत में पाया जाता है।

४. काटना इस अर्थ की दंश् और लटकना या लटकाना इस अर्थ की सञ्ज् धातुओं में अनुनासिक का लोप हो जाता है : दश, सज।

५. तात् यह प्रत्यय (बारह धातुओं के द्वारा लोट् म० पु० एक० में नियमित रूप से प्रयुक्त होने के अतिरिक्त) अपवादरूपेण लोट् प्र० पु० एक० रूप गच्छतात् और स्मरतात् में भी प्रयुक्त होता है। इस वर्ग में केवल एक ही ऐसा उदाहरण मिलता है जहाँ कि परस्मैपद लोट् म० पु० बहु० के प्रत्यय तन का प्रयोग पाया जाता है : भजतन और एक जिसमें आत्मनेपद लोट् म० पु० बहु० में (ध्वम् के स्थान पर) ध्व का प्रयोग पाया जाता है : यजध्व।

(र) *दिवादिगण चतुर्थ या यविकरणक गण*

१. सात क्रियापदों में धात्वक्षर को अपकृष्ट कर दिया जाता है : स्पश् (*देखना*) में आदि (व्यञ्जन) का लोप हो जाता है : पश्य, व्यध् (*बींधना*) में सम्प्रसारण हो जाता है : विध्य। निम्नलिखित धातुओं में आ को ह्रस्व हो जाता है : धा (*चूसना, स्तनपान करना*) धय; मा *विनिमय करना* : मय; वा *बुनना* वय; व्या *आच्छादित करना* : व्यय; ह्वा *बुलाना* : ह्वय।

२. अन्तिम ॠ को कभी कभी ईर् या ऊर् हो जाता है : जॄ *जीर्ण होना* : जूर्य और जीर्य (अथर्व०); तॄ *पार करना* : तूर्य, तीर्य। पॄ भरना का रूप केवल पूर्य ही बनता है (इसके आदि ओष्ठ्य व्यञ्जन के कारण)।

३. श्रम् (*श्रान्त होना*) के अच् को दीर्घ हो जाता है : श्राम्य। ब्राह्मणग्रन्थों में तम् (*बेसुध होना*) और मद् (*मत्त होना*) में भी यही प्रक्रिया पाई जाती है : ताम्य, माद्य।

(ल) *तुदादिगण (षष्ठगण)*

आठ धातुओं में धात्वच् का अनुनासिकीकरण हो जाता है : कृत् *काटना* : कृन्त, तृप् *तृप्त होना* : तृम्प, पिश् *सुशोभित करना* : पिंश, मुच् *छोड़ना* मुञ्च, लिप् *लीपना* : लिम्प लुप् *तोड़ना* : लुम्प, विद् *प्राप्त करना* : विन्द, सिच्,

सींचना : सिञ्चं। तीन अन्य धातु तुद् (चुभाना), दृह् (दृढ़ करना) शुभ् (चमकना) के रूपों में भी कभी कभी अनुनासिक दिखाई दे जाता है।

(२) चार धातुओं में सविकरणक प्रकृति छ प्रत्यय लग कर बनती है (देखिये य २) : इष् चाहना : इर्छ, ऋ जाना : ऋर्छ, प्रश् पूछना : पृर्छ[1], वस् चमकना : उर्छ। छेदनार्थक व्रश्च् धातु में जो कि च्[2] लगकर बनी प्रतीत होती है सम्प्रसारण की प्रवृत्ति देखी जाती है : वृश्च।

३. कॄ (*बिखेरना*), गॄ (*निगलना*), और तॄ (*पार करना*) इन तीन ॠकारान्त धातुओं की सविकरणक प्रकृतियां हैं : किर, गिर, तिर (अन्य रूप तर)।

(अ) म० पु० एक० के रूपों मृडतात्, विशतात्, वृहतात् और सुवतात् में लोट्-प्रत्यय तात् के नियमित प्रयोग के साथ-साथ इस (तात्) का प्रयोग विशतात् में लोट् प्र० पु० एक० में भी पाया जाता है।

[अनकारान्ताङ्क तिङरूप]

१३४. (ब) *अदादिगण या द्वितीयगण अथवा धातुगण*

१. निम्नलिखित क्रियापदों में धातु को अनियमित रूप से दीर्घ कर दिया जाता है।

(क) क्ष्णु (*तेज करना*), यु (*मिलाना*) और नु और स्तु (*स्तुति करना*) में सबल रूपों में हलादि[3] प्रत्ययों से पूर्व गुण के स्थान पर वृद्धि पाई जाती है। उदाहरण—स्तौ नि, अस्तौत्। प्रत्युदाहरण—अ॑स्तवम्।

---

१. सम्प्रसारण और स्-लोप के साथ। देखिये लै० प्रेच्-और और पो (र्च्) स्को, और प्राचीन जर्मन, फ्रगन् (पूछ) और फॉरस्कान (फॉर्शेन)।

२. देखिये व्रस् क (काटना), क्तप्रत्ययान्त वृक्ण॑ (काटा गया) और वृ॑क (भेड़िया)।

३. ब्राह्मणग्रन्थों में रु (चिल्लाना), सु (प्रेरित करना), क्ष्णु (फाड़ना) स्नु (अभिषव करना) में यही विशेषता पाई जाती है : रौति, सौति, क्ष्णौति, स्नौति।

(ख) शुद्ध्यर्थक मृज् को सबल रूपों में वृद्धि हो जाती है। उदाहरण—मॉर्ज्मि, मॉर्ष्टि। प्रत्युदाहरण—मृज्मॅस्, मृजॅन्ति।

(ग) आत्मनेपदी शयनार्थक शी को गुण हो जाता है और इसके समस्त दुर्बल रूपों में स्वर बलत्व पर रहता है: यथा उ० और प्र० पु० एक० में शॅये, म० पु० एक० में शॅषे (ग्रीक केइसइ)। इसके अतिरिक्त इसमें एक और भी अव्यवस्था है और वह यह कि इसमें लट्, लोट् और लङ् के प्र० पु० बहु० के प्रत्ययों से पूर्व र् का आगम हो जाता है: शॅरते, शॅरताम्, अॅशेरन्।

(घ) इ (जाना), ब्रू (बोलना), स्तु (स्तुति करना), हन् (कत्ल करना) के परस्मैपद में लोट् म० पु० बहु० के प्रत्यय से पूर्व निम्नलिखित वैकल्पिक रूप भी उपलब्ध होते हैं: ऍत और ऍतन, ब्रॅवीतन, स्तॉत, हॅन्तन। लङ् म० पु० बहु० में ब्रू में भी यही अनियमितता पाई जाती है: अॅब्रवीत और अॅब्रवीतन।

२. निम्नलिखित क्रियापदों में धातु को अनियमित रूप से दुर्बल कर दिया जाता है:

(क) वश् (*चाहना*) को दुर्बल रूपों में सम्प्रसारण हो जाता है। उदाहरण—उ० पु० बहु० उश्मॅसि, शानजन्त रूप उशानॅ। प्रत्युदाहरण—उ० पु० एक० वॅश्मि।

(ख) सत्तार्थक अस् के आदि अ का विधिलिङ् में एवंच लट् और लोट् के समस्त दुर्बल रूपों में लोप हो जाता है। यथा विधिलिङ् स्यात् *होगा;* लट् स्मॅस् *हम हैं,* सॅन्ति (लै० सुन्त्) *वे हैं,* लोट् म० पु० द्वि० स्तॅम्, म० पु० बहु० स्तॅ, प्र० पु० बहु० सॅन्तु। लोट् म० पु० एक० में अच् (परिवर्तित रूप में) सुरक्षित रहता है: एधि (अज् धि के स्थान पर, अवे० ज् दी)। यहां लङ् म० पु० और प्र० पु० एक० में प्रत्ययों से पूर्व ई का आगम हो जाता है: ऑसीस्, ऑसीत् (अन्य रूप ऑस्=ऑस् त्)।

(ग) हिंसार्थक हन् के न् का दुर्बल रूपों में (मकारयकारवकारादिभिन्न) हलादि प्रत्ययों से पूर्व लोप हो जाता है। उदाहरण—हॅथ। प्रत्युदाहरण—हॅन्ति। लट्, लोट् एवञ्च लङ् के प्र० पु० के बहु० और शत्रन्त रूपों में धातु के उपधाभूत अ का लोप हो जाता है और ह् अपने मूल कण्ठ्य रूप घ् को पुनः

प्राप्त कर लेता है: घ्नन्ति, घ्नन्तु, अघ्नन्, घ्नन्त्। लोट् म० पु० एक० का रूप होता है जहि (हहि के स्थान पर) जिसमें कि घहि की बजाय आदि व्यञ्जन का तालव्यीकरण हो जाता है।

३. निम्ननिर्दिष्ट क्रियापदों में किसी स्वर् अथवा अन्तःस्थ का अनियमित रूप से आगम पाया जाता है:—

(क) अन् (साँस लेना), रुद् (रोना), वम् (वमन करना), श्वस् (फूंकना) स्वप् (सोना) में समस्त हलादि प्रत्ययों से पूर्व इ का आगम हो जाता है। इसमें अपवाद हैं लङ के म० पु० और प्र० पु० के एक० के रूप जिनमें कि ई का आगम पाया जाता है। यथा—अनिति, आनीत्, अवमीत्, श्वसिति।

(ख) ईड् (स्तुति करना) और ईश् (शासन करना) इन धातुओं के आत्मनेपद के म० पु० एक० और बहु० के कतिपय रूपों में इ का आगम हो जाता है: ईडिष्व, ईशिषे (अन्य रूप ईक्षे), ईशिध्वे। (धातु और प्रत्यय को) मिलाने वाले इ से युक्त धात्वन्तरों के कोई कोई रूप (लोट् म० पु० एक०) भी दीख जाते हैं: जनिष्व उत्पन्न होओ, वसिष्व (वस्त्र) पहिनो, श्नथिहि छेद जाओ, स्तनिहि गरजो।

(ग) हलादि प्रत्ययों से पूर्व ब्रू (बोलना) के सबल रूपों में ई का आगम हो जाता है:

ब्रवीमि, अब्रवीत्। अम् (हानि पहुँचाना) में व्यञ्जनों से पूर्व ई का आगम हो जाता है। यथा अमीति, अमीष्व, आमीत् (तै० सं०)।

४. प्रत्ययों के सम्बन्ध में:

(क) शास् (आज्ञा देना) के न् का परस्मैपद और आत्मनेपद प्र० पु० बहु० एवं शतन्त रूपों में लोप हो जाता है: शासते, शासतु, अशासत्।

(ख) दुह् (दुहना) अपने प्रत्ययों के विषयों में बहुत अनियमित है। इसके अनियमित रूप निम्ननिर्दिष्ट हैं: परस्मैपद लङ प्र० पु० एक० अदुहत् अन्य रूप अधोक्, प्र० पु० बहु० अदुह्रन्, अन्य रूप अदुहन् और दुह्रे, विधिलिङ प्र० पु० एक० दुहीयत् (दुह्यात् के स्थान पर), प्र० पु० बहु० दुहीयन्

(दुह्र 'र् के स्थान पर)। आत्मनेपद लट् निर्देशक प्र० पु० बहु० दुह्रे और दुह्रते, अन्य व्यवस्थित रूप दुहते[1]; लोट् प्र० पु० एक० दुहाम्,[2] प्र० पु० बहु० दुह्राम् और दुह्रताम्, शानजन्त दुघान।

(ग) आकारान्त धातुओं से परस्मै० लङ् प्र० पु० बहु० में अन् के स्थान पर उर् लगता है। यथा पा *रक्षा करना* : अपुर्। कतिपय हलन्त धातुओं में भी इसी प्रकार की अनियमितता पाई जाती है। यथा त्विष् *वेगयुक्त होना* : अत्विषुर्।

(अ) ईश् (शासन करना), दुह् (दुहना), विद् (प्राप्त करना) और शी (सोना) इन धातुओं से बहुत बार और चित् (समझना, बूझना) और ब्रू (बोलना) इन धातुओं से कादाचित्कतया आत्मनेपद के लट् प्र० पु० एक० में ते[3] के स्थान पर ए लगता है : ईशे, दुहे, विदे, शये, चिते, ब्रुवे।

(आ) अथर्व० और ब्राह्मणग्रन्थों में लेट् के अ के बजाय आ वाले रूपों के प्रयोगों की प्रचुरता का अभाव नहीं है। उदाहरण हैं अयास्, असात्,[4] ब्रवायस्, हनाथ, अदान्।

(र) जुहोत्यादि अथवा साभ्यासगण

१. आकारान्त धातुओं का अपना अच् अजादि प्रत्ययों से पूर्व लुप्त हो जाता है। यथा मा *नापना* : उ० पु० एक० मिमे, प्र० पु० बहु० मिमते।

(क) मा (*नापना*), मा (*रंभाना*), रा (*देना*), शा (*तेज करना*)

---

१. अनियमित स्वर के साथ रिहते (वे चाटते हैं) भी।

२. अथर्व० में आत्मनेपद लोट् प्र० एक० शयाम् भी इसी प्रकार बनता है।

३. यह अनियमितता ब्राह्मणग्रंथों में भी पाई जाती है।

४. ब्राह्मणग्रन्थों में लेट् के अविकृत प्रत्ययों से बने रूपों का प्रयोग बहुत ही कम पाया जाता है।

और हा (छूट जाना) के आ को दुर्बल रूपों में व्यञ्जनों से पूर्व प्रायः ई हो जाता है (देखिये ५ ग) : मिमीते, ररीर्यास्,[1] शिशीमसि; जिहीते ।

(ख) इस गण की सबसे अधिक प्रयोग में आने वाली धातुओं दा (*देना*) और धा (*रखना*) के सभी दुर्बल रूपों में दद् और दध् ये प्रकृतियां पाई जाती हैं : दद्महे, दध्मसि । दध् के ध् की महाप्राणता त्, थ् और स् से पूर्व लुप्त हो जाती है। उस स्थिति में आदि व्यञ्जन (द्) को महाप्राण (ध्) बना दिया जाता है : धत्ते, धत्थ, धत्स्व । परस्मै० लोट् म० पु० एक० का देहि यह रूप बनता है (जो कि दज् धि का स्थानापन्न है); अन्य रूप दद्धि और दत्तात् । इसी प्रकार धेहि (धत् धि का स्थानापन्न) यह रूप भी पाया जाता है, अन्य रूप धत्तात् ।

२. व्यच् को सम्प्रसारण हो जाता है, यथा लट् प्र० पु० द्वि० का रूप विविक्तस् । ह्वर् (*कुटिल होना*) के कुछ रूपों में सम्प्रसारण पाया जाता है । इस स्थिति में इसका रूप उकारयुक्त बन जाता है। द्वित्व इसी उकारवान् रूप को ही होता है : जुहुर्थास्, लुं० लो० आत्मने० म० पु० एक० का रूप ।

३. भस् (*चबाना*), सच् (*साथ देना*), और हस् (*हँसना*) के धात्वकार का दुर्बल रूपों में लोप जाता है । यथा बप्सति लट् निर्देशक प्र० पु० बहु० का रूप, (पर सबल रूपों में बभसत् लेट् प्र० पु० एक० का रूप); सश्चति लट् निर्देशक प्र० पु० बहु० का रूप, सश्चत लु० लो० प्र० पु० बहु० का रूप; जक्षत् (जघ् (अ) सत् के स्थान पर) शत्रन्त रूप ।

(अ) ऋ (जाना), दा (देना), धा (रखना), पृ (पार करना), यु (पृथक् करना), शा (तेज करना) और हु (हवन करना) के परस्मैपद लोट् म० पु० एक० के सबल अच् वाले अनेक रूप मिलते हैं : युयोधि, शिशाधि, अन्य रूप शिशीहि, द्वि० युयोतम्, अन्य रूप युयुतम्, बहु० इयर्त, ददात और ददातन, दधात और दधातन, पिपर्तन, युयोत, और युयोतन, जुहोत और जुहोतन।

---

१. पर परस्मै० लोट् म० पु० एक० ररास्व (अथर्व०)।

दा, धा, और हा (छोड़ना) के लङ् म० पु० बहु० में भी ऐसे ही सबल रूप पाये जाते हैं : अ॑ददात, अ॑दधात, अ॑जहातन।

(आ) इस गण की धातुओं के गणान्तरसंक्रमण के अनेकानेक उदाहरण हैं। पा (पीना), स्था (ठहरना) और हन् (डग भरना) इन धातुओं की इस प्रकार की (गणान्तरसङ्क्रान्त) प्रकृतियां अनन्यरूपेण अकारान्ताङ्क तिङ्रूपों की पद्धति पर बनती हैं : पि॑ब, ति॑ष्ठ, जि॑घ्न (देखिये १३३ य, ३ क) जबकि घ्रा (सूँघना), भस् (चबाना), मा (रंभाना), रा (देना) और सच् (साथ रहना) की अकारवान् प्रकृतियाँ यदाकदा ही प्रयुक्त होती हैं : जि॑घ्र, ब॑प्स, मि॑म, र॑र, स॑श्च। दा (देना) और धा (धारण करना) की दुर्बल प्रकृतियों से भी अकारान्ताङ्क तिङ्रूपों की पद्धति पर कतिपय रूप बनते हैं। यथा आत्मने० लट् प्र० पु० एक० द॑दते, परस्मै० प्र० पु० बहु० द॑धन्ति, लोट् प्र० पु० बहु० द॑धन्तु। दद् में धातु बनने की प्रारम्भिक प्रवृत्ति भी पाई जाती है, इसी लिये इसका क्तान्त रूप बनता है दत्त दिया गया।

(ल) स्वादि अथवा पञ्चम या श्नुविकरणक गण

१. परस्मै० और आत्मने० के निर्देशक उ० पु० बहु० के म् से पूर्व आने वाले विकरण के उ का लोप हो जाता है। यथा कृण्म॑स्, कृण्म॑हे।

२. यदि नु से पूर्व कोई व्यञ्जन आये तो इसके उ को अजादि प्रत्ययों से पूर्व उव् हो जाता है। उदाहरण—लट् प्र० पु० बहु० अश्नुव॑न्ति। प्रत्युदाहरण—सुन्व॑न्ति।

३. (विषमीकरणप्रक्रिया से) श्रवणार्थक श्रु की प्रकृति बनती है शृणु और आच्छादनार्थक वृ की (स्वर और अन्तःस्थ के आद्यन्त (विपर्यय के साथ) ऊर्णु। इसके साथ-साथ नियमित प्रकृति वृणु भी पाई जाती है।

४. नियमित तया तथा प्रचुरतया प्रयुक्त सविकरणक प्रकृति कृणु[1]

---

१. परि (चारों ओर) इस उपसर्ग के बाद इस प्रकृति से पूर्व अमौलिक स् (सुट्) का आगम हो जाता है : परिष्कृण्व॑न्ति वे सुशोभित करते हैं।

(कृ बनाना) के साथ साथ ऋग्वेद के दशम मण्डल में अत्यधिक अव्यवस्थित प्रकृति कुरु[1] का प्रयोग भी मिलने लगता है। इस प्रकृति के सबल रूप करो जिसमें धातु में गुणरूप एक अन्य अव्यवस्था पाई जाती है इदम्प्रथमतया अथर्ववेद[2] में प्रयुक्त हुआ है।

(अ) ऐसा प्रतीत होता है कि चार नकारान्त धातुओं तन् (विस्तार करना) मन् (सोचना), वन् (जीतकर हासिल करना), सन् (प्राप्त करना) की प्रकृति उ विकरण लगकर बनती है जैसे तनु। हिन्दू वैयाकरणों के अनुसार ये (बाद की तीन धातुओं को साथ मिलाकर) एक अन्य गण (अष्टम) (तनादिगण) की सृष्टि करती हैं। पर सम्भवतः इन सविकरणक रूपों का अ वस्तुतः स्वरोन्मुख अनुनासिक का प्रतिनिधित्व करता है त न् नु। (कालान्तर में) कृ (बनाना) के बाद के अव्यवस्थित सविकरणक रूप कुरु का भी इस गण में समावेश हो गया (देखिये ल ४)।

(आ) इस गण की पाँच प्रकृतियों—इनु, ऋणु, जिनु, पिनु और हिनु को बहुत बार द्वितीयावस्थापन्न धातुओं के रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा है जिनके सविकरणक रूप अकारान्तादिक तिङ्रूपों के समान बनते हैं: इन्व, ऋण्व, जिन्व, पिन्व, हिन्व।

(इ) आत्मनेपद के लट् प्र० पु० बहु० में इस गण के छः क्रियापदों में रे[3] यह प्रत्यय लगता है जिसके साथ इ यह संयोजक (इडागम) भी रहता है: इन्विरे, ऋण्विरे, पिन्विरे, शृण्विरे, सुन्विरे, हिन्विरे।

(ई) परस्मै० लोट् म० पु० एक० में हि इस प्रत्यय का प्रयोग, यथा शृणुहि, ऋग्वेद में प्रत्ययरहित रूप, यथा शृणु, की तुलना में तीन गुना अधिक प्रचुर है। अथर्व० में इसका और शृणु के प्रयोगों का अनुपात १ और ६ का है। ब्राह्मणग्रन्थों में यह (शृणुहि) लगभग लुप्त हो गया है। ऋग्वेद में शृणुधि इस रूप में धि यह

---

१. लोट् म० पु० एक० के रूप कुरु में दो बार और लट् निर्दे० के उ० पु० बहु० में कुर्मस् में एक बार।

२. पर अथर्व० में कृणु से बने रूप अब भी करो और कुरु से बने रूपों की अपेक्षा छः गुना अधिक प्रचुर हैं। ब्राह्मणग्रंथों में केवल यही प्रकृतियां प्रयुक्त हुई हैं।

३. अदादिगण के दुहे की तरह।

प्रत्यय भी मिलता है। तात् यह प्रत्यय मिलता है कृणुतात्, हिनुतात् और कुरुतात् में। म० पु० में सबल रूप मिलते हैं द्वि० के कृणोतम्, हिनोतम् में और बहु० कृणो॑त तथा कृणो॑तन, शृणो॑त तथा शृणो॑तन, सुनो॑त तथा सुनो॑तन, हिनो॑त तथा हिनो॑तन एवं तनो॑त तथा करो॑त में।

(व) *रुधादि अथवा श्नम्विकरणकगण*

१. अञ्ज् (*अञ्जन लगाना*), भञ्ज् (*तोड़ना*), और हिंस् (*क्षति पहुँचाना*) के अनुनासिक का न (श्नम् विकरण) से पूर्व लोप हो जाता है: अन॑क्ति, भन॑क्ति, हिन॑स्ति।

२. सबल रूपों में तृह् (*कुचलना*) में ने॑ का आगम पाया जाता है। यथा तृणे॑ढि (६९ग)।

(श) *क्र्यादि अथवा नवम या श्नाविकरणकगण*

१. जी (*दबोचना*), जू (*शीघ्रता करना*) और पू (*पवित्र करना*) के अच् को प्रत्यय से पूर्व ह्रस्व हो जाता है: जिना॑मि, जुना॑सि, पुना॑ति।

२. ग्रभ् (*खोंसना*) और इसके उत्तरवर्ती रूप ग्रह् को सम्प्रसारण हो जाता है: गृभ्णा॑मि, गृह्णा॑मि (अथर्व०)।

३. ज्ञा (जानना) और चार धातुओं बन्ध् (*बांधना*) मन्थ् (*मथना*), स्कम्भ् (*स्थिर करना*) और स्तम्भ् (*सहारा देना*) में (जिनमें सविकरणक रूपों के सिवाय अनुनासिक विद्यमान रहता है) अनुनासिक का लोप हो जाता है: जाना॑ति, बध्ना॑ति, मथ्ना॑ति, स्कभ्ना॑ति, स्तभ्ना॑ति।

४. अश् (*खाना*), ग्रह् (*खोंसना*), बन्ध् (*बांधना*) और स्तम्भ् (*सहारा देना*) इन चार हलन्त धातुओं के परस्मै० लोट् म० पु० एक० में आन यह एक अजीबसा प्रत्यय लगता है: अशान॑, गृहाण॑, बधान॑, स्तभान॑।

(अ) मरना इस अर्थ की पृ और कुचलना इस अर्थ की मृ से नियमित प्रकृतियों पृणा और मृणा के अतिरिक्त अकारान्ताङ्गक तिङ्रूपों के अनुसार बनी गणान्तरसङ्क्रान्त प्रकृतियां पृण और मृण भी पाई जाती हैं। इनसे बने अनेक रूप उपलब्ध होते हैं।

लिट् लकार

१३५. यह लकार द्वित्वविधि से बनता है। लट् के समान इसमें निर्देशक के अतिरिक्त लेट्, लु० लो०, विधि लिङ और लोट् ये एवंच ववसुकानजन्त रूप और एक आगम रहित रूप लिट् प्र० भी पाये जाते हैं। इसका प्रयोग बहुत प्रचुर है। संहिताओं में लगभग ३०० धातुओं से यह बनता है।

द्वित्व के विशेष नियम

१. ऋकारान्त और ॠकारान्त (=अर्) एवञ्च लृकारान्त (=अल्) धातुओं के अभ्यास में सदैव अ या आ आ जाता है। (देखिये १३९,९) यथा कृ *करना* : चकृ; तॄ *पार करना*; ततॄ, क्लृप् *तदनुसार हो जाना* : चाक्लृप्, ऋ *जाना* आर् (=अ-अर्)।

२. आदि अ को अ या आ हो जाता है। यथा अन् *श्वास लेना* : आन्, आप् *प्राप्त करना* आप्। दीर्घ ई और ऊ में कोई परिवर्तन नहीं आता (=इ-ई और उ-ऊ)। यथा ईष् *आगे बढ़ना* : उ० पु० एक० ईषे, ऊह् *सोचविचार करना* : प्र० पु० एक० ऊहे।

३. जिन धातुओं के आदि में इ और उ आता हो उनमें इ+इ का ई और उ+उ का ऊ एकादेश हो जाता है सिवाय परस्मैपद के एकवचन के रूपों के जहां कि अभ्यासात् और धातु के सबल अच् के बीच धातु का स्वसमकक्ष अन्तःस्थ आ जाता है। यथा इ *जाना* : म० पु० एक० इयेथ, उच् *प्रमुदित होना* : आत्मनेपद म० पु० एक० ऊचिषे पर परस्मैपद में प्र० पु० एक० रूप बनता है उवोच।

४. जिन धातुओं में य या व पाया जाता है और जिनमें रूपान्तरों में सम्प्रसारण की प्राप्ति है (जैसे कि क्त, क्तवतु, कर्मवाच्य) उनके अभ्यास में क्रमशः इ और उ आ जाता है। य वाली इस प्रकार की चार धातुएं हैं—त्यज् *छोड़ना*, यज् *यज्ञ करना*, व्यच् *विस्तार करना*, स्यन्द् *बहना* : तित्यज्

इयज्, विव्यच्, सिष्यन्द् ; और व वाली पाँच : वच्[1] बोलना, वद् बोलना, वप् *बिखेरना (बोना)*, वह् *ले जाना*, स्वप् *सोना*: उवच् उवद्, उवप् उवह्, सुष्वप् । दूसरी ओर यम् (*विस्तार करना*), वन् (*जीतकर हासिल करना*) वस् (*पहिनना*) इन तीन धातुओं के अभ्यास में सर्वत्र पूरा का पूरा य अथवा व विद्यमान रहता है : ययम्, ववन्, ववस् ।

१३६. परस्मैपद में लिट् एक० सबल होता है (परस्मैपद के लट् और लङ् के एकवचन के रूपों की तरह) क्योंकि उसमें स्वर धातु पर रहता है। शेष रूपों में स्वर प्रत्यय पर रहता है इसलिये वे दुर्बल होते हैं। प्रत्यय निम्नलिखित हैं :

परस्मैपद

	एक०	द्विव०	बहु०
उ० पु०	अ	[वँ]	मँ
म० पु०	थ	अँथुर्	अँ
प्र० पु०	अ	अँतुर्	उँर्

आत्मनेपद

	एक०	द्विव०	बहु०
उ० पु०	ए́	[वँहे]	मँहे
म० पु०	से́	आँथे	ध्वे́
प्र० पु०	ए́	आँते	रे́

(क) यह एक ऐसा नियम सा ही है कि हलादि प्रत्यय सीधे प्रकृति से सम्पृक्त कर दिये जाते हैं, महे के विषय में तो अनपवादरूपेण यही स्थिति है। थ, म, से और रे इन प्रत्ययों को लगभग सदैव सीधे ही अजन्त प्रकृतियों से संपृक्त कर दिया जाता है। उदाहरण—दा *देना* : ददाँथ; जि *जीतना* : जिगे́थ; नी *अगवाई करना* : निने́थ; सु *अभिषव करना* : सुषुमँ; हू *आवाहन*

---

१. वच् के ऐसे दो रूप हैं जिनमें द्वित्व पूर्णरूपेण पाया जाता है : परस्मै० प्र० पु० एक० ववाँच और आत्मने० म० पु० एक० ववक्षे́ ।

करना : जुहूरे', कृ *बनाना* : चकर्य, चकृर्म, चकृपे'। प्रत्युदाहरण—चक्रिरे'[1]।
(१) वही थ, म, से और रे प्रत्यय सीधे हलन्त धातुओं से सम्पृक्त कर दिये जाते हैं यदि प्रकृति का अन्तिम अच् छन्दोऽनुरोधात् ह्रस्व हो। (२) यदि यह दीर्घ[2] हो तो (प्रकृति और प्रत्यय के बीच संयोजक इ[3] आ जाता है। उदाहरण (१)—तर्तन्य, जगन्म, जगृन्म, युयुज्म, विवित्से', चाक्लृप्रे, ततन्ने', युयुज्रे', विविद्रे'। उदाहरण (२)—उवो'चिय, ऊचिर्म, पप्तिम, ईजिरे'।

(ख) अजादि प्रत्ययों से पूर्व (देखिये १३७,१ क) (१) असंयुक्त हल् पूर्व आने पर इ और ई को य् हो जाता है। (२) संयुक्त हल् पूर्व आने पर उन्हें इय् हो जाता है; यथा (१) भी *डरना* : विभ्यतुर्, (२) श्रि *आश्रय लेना* : शिश्रिये'।

२. उ और ऊ को सामान्यतया उव् हो जाता है। यथा यु *मिलाना* : युयुवे', श्रु *सुनना* : शुश्रुवे', शू *फूल जाना* : शूशुवे'।[4]

३. ऋ को र् और ॠ को इर् हो जाता है। यथा कृ *बनाना* : चक्रे चक्र, तॄ *पार करना* : तितिर्वुर्, स्तॄ *बिखेरना (बिछाना)*: तिस्तिरे'।

सबल प्रकृति

१. परस्मैपद एकवचन में सर्वत्र ह्रस्व अच् को असंयुक्त हल् परे रहने पर गुण हो जाता है। यथा—दिश् *सङ्केत करना* : दिदे'श, उच् *अभ्यस्त*

---

१. ऋकारान्त धातुओं से सदैव रे आता है जिसके साथ संयोजक इ भी रहता है।

२. यह (दीर्घता) लय के इस नियम पर आधारित है कि प्रकृति में एक दूसरे के बाद आने वाले अक्षरों में छन्द की दृष्टि से ह्रस्व स्वर का आना आवश्यक नहीं (देखिये पृ० २०३, टि० २)

३. धातु के आ का दुर्बलरूपों में इ रूप में अपकर्ष हो जाता है। जैसे धा (रखना) से दधिध्वे। अत्यधिक प्रचलित धातुओं दा और धा में यह अपकृष्ट अच् सम्भवतः क्रियान्तरों में इ के संयोजक अच् के रूप में प्रयोग की पूर्वपीठिका थी।

४. पर हू *आवाहन करना* : जुहुवे', भू *होना* : बभूव, सू *पैदा करना* : ससूव।

होना, उवोच; कृत् *काटना* : चकर्त । प्रत्युदाहरण—जिन्व् *शीघ्रता करना* : जिजिन्वथुर् ।

२. प्र० पु० एक० में अन्तिम अच् को वृद्धि हो जाती है।[1] यथा नी *अगवाई करना*: निनाय, श्रु *सुनना* : शुश्राव, कृ *बनाना* : चकार।

3. प्र० पु० एक० में मध्यवर्ती अ को असंयुक्त हल् परे रहने पर वृद्धि हो जाती है। उदाहरण—हन् *प्रहार करना* : जघान । प्रत्युदाहरण—तक्ष् *छीलना* : ततक्ष ।

४. आकारान्त धातुओं से परस्मैपद प्र० पु० और उ० पु० एक० में औ यह अनियमित प्रत्यय आता है। यथा धा *रखना* : दधौ। केवल एक-मात्र अपवाद पूरणार्थक प्रा धातु ही है जिसका प्र० पु० एक० में केवल एक वार रूप बनता है पप्रा। अन्य (नियमित) रूप पप्रौ।

दुर्बल प्रकृति

१३७. १. जिन धातुओं में इ, ई, उ, ऊ या ऋ हो उनमें धात्वक्षर अपरिवर्तित रहता है, सिवाय सन्धि निमित्तक परिवर्तन के। यथा—युज् *जोड़ना* : युयुज्म, विद् *प्राप्त करना* : विविदे, कृ *बनाना* : चकृम ।

(क) अजादि प्रत्ययों से पूर्व इ, ई और ऋ को असंयुक्त हल् पूर्व आने पर य् और र् और संयुक्त हल् पूर्व आने पर इय् और अर् हो जाता है जबकि उ, ऊ और ॠ को नियमित रूप से उव् और इर् हो जाता है। यथा—जि *जीतना* : जिग्युर्, भी *डरना* : बिभ्युर्, कृ *बनाना* : चक्रुर्, श्रि *आश्रय लेना* : शिश्रिये, यु *मिलाना* : युयुवे, श्रु *सुनना* : शुश्रुवे; शू *फूलना* : शूशुवे, तॄ *पार करना* : तितिर्इर्, स्तॄ *बिखेरना* : तिस्तिरे ।

२. जिन धातुओं के मध्य में अ या अन्त में आ आये उनका धात्वच् दुर्बल हो जाता है।

---

१. ऋग्वेद और अथर्व० में उ० पु० एक० में कभी भी वृद्धि नहीं होती। एक उपनिषद् में और एक सूत्रग्रन्थ में उ० पु० एक० में चकार पाया जाता है और एक सूत्रग्रन्थ में जिगाय (√जि) भी।

: (क) लगभग एक दर्जन उन धातुओं में जिनमें कि अ से पूर्व एवं पश्चात् असंयुक्त हल् आता है (यथा पत्) और जिनमें द्वित्व की दशा में भी आदि हल् अपरिवर्तित रहता है (इनमें महाप्राण, कण्ठ्य और बहुत कुछ वकार इन वर्णों से से प्रारम्भ होने वाली धातुएं शामिल नहीं हैं) संक्षेप होने के कारण दो अक्षरों में एक ही शेष रहता है और उस अवशिष्ट अक्षर पर सन्ध्यक्षर ए आ जाता है (देखिये लै० फेकिओ, फेकी)[1] ऐसी धातुएँ निम्नलिखित हैं :

तप् *तपाना*, दभ् *हानि पहुँचाना*, नम् *झुकना*, पच् *पकाना*, पत् *उड़ना*, यत् *खींचना (फैलाना)*; यम्[2] *बढ़ाना*, रभ् *पकड़ना*, लभ् *लेना*, शक् *समर्थ होना*, शप् *शाप देना*, सप् *सेवा करना*। उदाहरण हैं : पत् : पेर्तुस्, शक् : शेकुर्।

तन् (*विस्तार करना*) और सच् (*अनुसरण करना*) दो धातुएँ अथर्ववेद में आ कर इस वर्ग में सम्मिलित हो जाती हैं।

(ख) कण्ठ्य व्यञ्जनों से प्रारम्भ होने वाली चार अकारोपध धातुओं की उपधा के अ का लोप हो जाता है : खन् *खोदना* : चख्न्; गम् *जाना* : जग्म्; घस् *खाना* : जक्ष्; हन् *मारना, प्रहार करना* : जघ्न्।

(ख) उपरिनिर्दिष्ट स्थितियों का (२ क) अनुसरण करने पर भी छः अन्य धातुओं में उपधा अ का लोप ही पाया जाता है। उनमें (अभ्यास लोप रूप) सङ्कोच नहीं पाया जाता। जन् *उत्पन्न होना*: जज्ञ्, तन् *विस्तार करना* : तत्न्, पन् *स्तुति करना* : पप्न्; मन् *विचारना* : मम्न्, वन् *जीतकर हासिल करना*: वव्न्, सच् *अनुसरण करना* : सश्च्।

(अ) ऋग्वेद में पत् को संक्षेप भी होता है और इसके अ का लोप भी : पेत् और पप्त्।

---

१. इस अन् का सज़्द् (अवेस्ता हज़्द) सद् (बैठना) [का लिट् का दुर्बल रूप] (जिसमें अज़् को ए हो जाता है, देखिये १३४ २ ख और १३३ य १) जैसे संकोचित रूपों से विस्तार हो गया।

२. यत् और यम् के दुर्बल लिट् में संकोच पूरे के पूरे अभ्यास और सम्प्रसारणयुक्त धातवक्षर के समवाय पर आधारित है : येत्=य-इत्, येम्=य-इम्।

(ग) य, व, र, इन अक्षरों वाली आठ धातुओं में सम्प्रसारण हो जाता है :

यज् *यज्ञ करना*[1], वच् और वद् *बोलना*, वप् *बिखेरना*, वस् *रहना*, वह् *ले जाना*, स्वप् *सोना*, ग्रभ् और ग्रह् *खोसना*। यथा सुषुप्, जगृभ् और जगृह्। पहिली छः में चूंकि अभ्यास में इ या उ पाया जाता है इसलिये फलस्वरूप उनमें ई और ऊ रूप में एकादेश (सङ्कोच) हो जाता है। यथा यज् : ईज् (=इ-इज्), वच् : ऊच् (=उ-उच्) ।

(घ) उन कतिपय अनुनासिकोपध धातुओं में जिनमें कि मध्य में अ आता है अनुनासिक का लोप हो जाता है : क्रन्द् *चिल्लाना* : चक्रद्; तंस् *हिलाना* : ततस्; स्कम्भ् *सहारा देना* : चस्कभ् (अथर्व०); स्तम्भ् *सहारा देना* : तस्तभ् ।

(ङ) आकारान्त धातुओं में व्यञ्जनों से पूर्व आ का इ रूप में अपकर्ष हो जाता है और स्वरों से पूर्व लोप हो जाता है : धा *रखना* : दधिम; दधुर् ।

साभ्यास् लिट्

रूपनिदर्शन

१३८ १. तुद् *चुभाना* : सबल प्रकृति तुतोद्; दुर्बल प्रकृति तुतुद्।

परस्मैपद

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ० पु०	तुतोद	[तुतुद्व]	तुतुद्म
म० पु०	तुतोदिथ	तुतुदथुर्	तुतुद
प्र० पु०	तुतोद	तुतुदतुर्	तुतुदुर्

---

१. यज् धातु से सङ्कोचक वर्ग (२ क) के अनुसार एक रूप उपलब्ध होता है : येजे ।

आत्मनेपद

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ० पु०	तुतुदे´[1]	[तुतुद्वहे]	तुतुद्महे
म० पु०	तुतुत्से´	तुतुदाथे	[तुतुद्ध्वे´][2]
प्र० पु०	तुतुदे´	तुतुदाते	तुतुद्रे´

२ कृ करना : सबल प्रकृति चकर्, चकार्; दुर्बल प्रकृति चकृ, चक्र्

परस्मैपद

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ० पु०	चकर	[चकृव]	चकृम
म० पु०	चकर्थ	चक्रथुर्	चक्र
प्र० पु०	चकार	चक्रतुर्	चक्रु´र्

आत्मनेपद

उ० पु०	चक्रे´	[चकृवहे]	चकृमहे
म० पु०	चकृषे´	चक्राथे	चकृढ्वे´
प्र० पु०	चक्रे´	चक्राते	चक्रिरे´

३. धा रखना : सबल प्रकृति दधा; दुर्बल प्रकृति दध्, दधि ।

परस्मैपद

उ० पु०	दधौ´	[दधिव]	दधिम
म० पु०	दधाथ	दधथुर्´	दध
प्र० पु०	दधौ´	दधतुर्	दधु´र्

---

१. तै० तुतुद्रे ।

२. इस रूप का केवल एकमात्र उदाहरण है दधिध्वे´ ।

आत्मनेपद

उ० पु०	दधे´	[दधिर्वहे]	दधिर्महे
म० पु०	दधिषे´	दधाथे	दधिध्वे´
प्र० पु०	दधे´	दधाते	दधिरे´

४. नी *अगवाई करना* : सबल प्रकृति निने´, निनै´; दुर्बल प्रकृति निनी।

परस्मैपद

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ० पु०	निनय	[निनीर्व]	निनीर्म
म० पु०	निने´थ	निन्यथुर्	निन्य
प्र० पु०	निनाय	निन्यतुर्	निन्यु´र्

आत्मनेपद

उ० पु०	निन्ये´	[निनी´वहे]	निनीर्महे
म० पु०	निनीषे´	निन्याथे	निनीध्वे´
प्र० पु०	निन्ये´	निन्याते	निनीरे´

५. स्तु *स्तुति करना* : सबल प्रकृति तुष्टो´, तुष्टौ´; दुर्बल प्रकृति तुष्टु।

परस्मैपद

उ० पु०	तुष्टव	[तुष्टुर्व]	तुष्टुर्म
म० पु०	तुष्टो´थ	तुष्टुवथुर्	तुष्टुव
प्र० पु०	तुष्टाव	तुष्टुवतुर्	तुष्टुवु´र्

आत्मनेपद

उ० पु०	तुष्टुवे´	[तुष्टुवहे]	तुष्टुमहे
म० पु०	तुष्टुषे´	तुष्टुवाथे	तुष्टुध्वे´
प्र० पु०	तुष्टुवे´	तुष्टुवाते	तुष्टुविरे´

६. तप् *गरम करना* : सबल प्रकृति ततंप्, ततांप्; दुर्बल प्रकृति तेप् ।

परस्मैपद

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ० पु०	ततंप	[तेपिर्व]	तेपिर्म
म० पु०	ततंप्थ	तेपंथुर्	तेपं
प्र० पु०	ततांप	तेपंतुर्	तेपुंर्

आत्मनेपद

उ० पु०	तेपें	[तेपिर्वहे]	[तेपिर्महे]
म० पु०	तेपिषें	[तेपाथे]	[तेपिध्वें]
प्र० पु०	तेपें	तेपाते	तेपिरें

७. गम् *जाना* : सबल प्रकृति जगंम्, जगांम्; दुर्बल प्रकृति जग्म् ।

परस्मैपद

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ० पु०	जगंम	[जगन्वं]	जगन्मं
म० पु०	जगंन्थ	जग्मंथुर्	जग्मं
प्र० पु०	जगांम	जग्मंतुर्	जग्मुंर्

आत्मनेपद

उ० पु०	जग्में	[जगन्वंहे]	जगन्मंहे
म० पु०	जग्मिषें	जग्माथे	जग्मिध्वें
प्र० पु०	जग्में	जग्माते	जग्मिरे

८. वच् बोलना : सबल प्रकृति उवच्, उवाच्; दुर्बल प्रकृति ऊच् ।

परस्मैपद

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ० पु०	उवच	[ऊचिव]	ऊचिम
म० पु०	उवक्थ	ऊचथुर्	ऊच
प्र० पु०	उवाच	ऊचतुर्	ऊचुर्

आत्मनेपद

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
उ० पु०	ऊचे	[ऊचिवहे]	[ऊचिमहे]
म० पु०	ऊचिषे	ऊचाथे	[ऊचिध्वे]
प्र० पु०	ऊचे	[ऊचाते]	ऊचिरे

अनियमितताएँ

१३९. १. भज् (*हिस्सा बंटाना*) के आदि में यद्यपि महाप्राण व्यञ्जन है तो भी यह उन लिट् लकार के रूपों (१३७,२ क) के सादृश्य का अनुसरण करती है जिनमें कि एत्वाभ्यासलोपरूप संक्षेप पाया जाता है । यथा बभाज : भेजे, बन्ध (बाँधना) में भी अनुनासिक लोप के बाद यही स्थिति पाई जाती है। यथा—बबन्ध : बेधुर् (अथर्व०) ।

२. यम् (*रास्ता दिखाना*), वन् (*हासिल करना*), वस् (*पहिनना*) में सर्वत्र पूर्णरूपेण द्वित्व होता है (१३५,४)। यम् धातु के य को सम्प्रसारण होता है : ययाम; येमे (=य-इमे), वन् में उपधा के अ का लोप हो हो जाता है : ववान, वव्ने, वस् का वास्वक्षर सर्वत्र पूर्ववत् अदुर्बल रूप लिये रहता है : वावसे (देखिये १३९,९) ।

३. ज्ञानार्थक विद् धातु का लिट् का एक ऐसा रूप बनता है जिसमें द्वित्व नहीं होता और जिसका अर्थ लट् का होता है : उ० पु० वेद मैं जानता हूँ (ग्रीक ओइद, जर्मन वाइस्) म० पु० वेत्थ (ग्रीक ओइस्थ,

वाइस् त्), प्र० पु० वेॅद (ग्रीक ओइदे, जर्मन वाइस्); बहु० उ० उ० विद्मॅ (ग्रीक हिद्मेन्, जर्मन विस्सेन), म० पु० विदॅ, प्र० पु० विदुॅर् ।

(अ) छः अन्य धातुओं से बने कुछेक द्वित्वरहित रूप भी पाये जाते हैं। जैसे तर्क्षुर्, स्कम्भथुर् और स्कम्भुॅर्, चेर्तुर्, यमतुर् और यमुॅर्, निन्दिमॅ, अहिरेॅ।

४. चि (*चुनना*), चि (*देखना*), चित् (*बूझना*), जि (*जीतना*) और हन् (*मारना*) के आदि व्यञ्जन में मूलकण्ठ्यरूपापत्ति हो जाती हैं: परस्मै० प्र० पु० एक० चिकाय, चिकेॅत, जिगाय, जघान। ऋग्वेद में भरणार्थक भृ धातु के अभ्यास में लगभग अनपवादरूपेण ज् पाया जाता है: जभर्थ, जभार, जभ्रुॅर्, जभ्रेॅ जभ्रिषेॅ जभ्रिरेॅ। केवल एक ही स्थल में इसके अभ्यास में ब् उपलब्ध होता है: बभ्रेॅ।

५. अह् (*कहना*) सदोष है। इसके केवल प्र० पु० एक० और बहु० के रूप ही बनते हैं: आह और आहुर्। दो अतिरिक्त रूप म० पु० एक० आत्थ और प्र० पु० द्वि० आहतुर् ब्राह्मण ग्रन्थों में पाये जाते हैं।

६. पांच धातुएं, जिनके आदि में छन्दोऽनुरोधात् दीर्घ आ जाता है, के अभ्यास में आन् पाया जाता है: अंश् *प्राप्त करना*, अञ्ज् (*अञ्जन*) *लगाना*, अर्ध् *उत्कर्ष को प्राप्त होना*, अर्च् *स्तुति करना*, अर्ह् *योग्य होना*। इनमें से केवल पहिली दो के रूपों की संख्या प्रचुर है। यहां आदि अच् के साथ धातु के अनुनासिक की पुनरावृत्ति की जाती है: प्र० एक० आनंश् (ग्रीक हेॅनेग्क्,), उ० पु० बहु० आनंश्म, म० पु० बहु० आनश, प्र० पु० बहु० आनशुॅर्, आत्मने० प्र० पु० एक० आनशेॅ[1], प्र० पु० एक० आनञ्ज, आत्मने० उ० पु० एक० आनजेॅ, प्र० पु० बहु० आनज्रेॅ। इन्हीं के सादृश्य पर अनुनासिकरहित धातुओं में भी अनुनासिक दिखाई देने लगा: प्र० पु० बहु० आनृचुॅर्, आनृधुॅर्, आनृहुर्; आत्मने० प्र० पु० एक० आनृचेॅ, आनृधेॅ।

---

१. एक सूत्रग्रंथ में आत्मने० म० पु० बहु० का रूप उपलब्ध होता है आनशध्वे।

७. सत्तार्थक भू धातु में दो प्रकार की अनियमितता पाई जाती है। एक तो यह कि इसके अभ्यास में ब पाया जाता है और दूसरी यह कि इसका ऊ सर्वत्र तदवस्थ रहता है (देखिये ग्रीक पेफु´आसि): एकवचन उ० पु० बभू´व (ग्रीक पे´फुक), म० पु० बभू´थ और बभू´विथ, प्र० पु० बभू´व। द्विवचन उ० पु० बभूर्वथुर्, प्र० पु० बभूर्वतुर्, बहु० उ० पु० बभूविर्म, म० पु० बभूर्व, प्र० पु० बभूवु´र्।

जननार्थक सू धातु के एकमात्र उपलभ्यमान लिट् रूप ससू´व की भी यही विशेषताएँ हैं।[1]

८. कम्पनार्थक च्यु का द्वित्व होने पर रूप बनता है चिच्यु (अन्य रूप चुच्यु)। इसी प्रकार द्योतनार्थक द्युत् का रूप बनता है दिद्युत्। ऐसा य् को अच् के समान उच्चारण के कारण हुआ: चिउ, दिउत्।

९. तीस से अधिक लिट् प्रकृतियों में अभ्यास के अच् को दीर्घ हो जाता है। यथा कन् *प्रसन्न होना*: चाकन्, गृ *जागना*: जागृ; क्लृप् *तदनुकूल होना*: चाक्लृप्, धी *विचार करना*: दीधी, तु *शक्तिसम्पन्न होना*: तूतु, शू *फूलना (सूजना)*: शूशु।[2]

(अ) संहिताओं के मन्त्रभाग में केवल एक बार लिट् का एक आमन्त रूप उपलब्ध होता है जिसके साथ कृ (बनाना) के लिट्लकारान्त रूप का अनुप्रयोग होता है। इसके योग में प्रक्रियाओं (णयन्त) में पाई जाने वाली क्रियाप्रकृति से बने द्वितीया विभक्ति के आकारान्त स्त्री० नामपद का प्रयोग पाया जाता है। यह रूप है

---

१. शयनार्थक शी धातु के कानजन्त रूप शशयार्न में भी अभ्यास में अ पाया जाता है। इकारान्त और उकारान्त धातुओं में, भू, सू और शी ये तीन ही ऐसी हैं जिनके अभ्यास में अ आता है।

२. यहां स्वयं धात्वच् को ह्रस्व हो जाता है। प्रकृति में छन्द की दृष्टि से दो ह्रस्व स्वर नहीं रह सकते (परस्मै० का उ० पु० इसका अपवाद है)। इस नियम के अधीन है प्रकृति के मात्रा स्वरूप का निर्धारण। इसीलिये सह् के द्वित्व होने पर सासह् या ससाह् (दुर्बल रूप में) ये रूप पाये जाते हैं।

नामयाञ्चकार (अथर्व०) उसने भिजवाया (अक्षरार्थ—जाने के लिये प्रेरणा दी)। उत्तरवर्ती संहिताओं के ब्राह्मण भागों (तै० सं०, मै० सं०, का०, सं०) में इस प्रकार के आमन्त रूप कभी कभी दीख जाते हैं। अप्रक्षिप्त ब्राह्मण भाग में (तो) उनका प्रयोग और भी प्रचुर हो जाता है।

लिट् के प्रकार

१४०. सिवाय ऋग्वेद के लिट् के प्रकार रूप संहिताओं में बहुत ही कम उपलब्ध होते हैं।

१. लेट् सामान्यतया लिट् की उस सबल प्रकृति से, जिसके धात्वक्षर पर स्वर रहता है, अ लगने से बनता है। परस्मैपद में विकृत प्रत्ययों का प्रयोग अधिक प्रचुर है। जब अविकृत प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है तो बहुत से रूपों में स्वर अभ्यास पर रहता है।[1] एक दर्जन के लगभग रूपों में दुर्बल प्रकृति का प्रयोग किया जाता है। आत्मने० के रूप, जिनमें से केवल सात या आठ ही पाये जाते हैं, लगभग प्र० पु० एक० तक ही सीमित हैं। उदाहरण हैं : परस्मैपद एक० उ० पु० अनजा[2] (अञ्ज् *अञ्जनादि लगाना*), म० पु० ततनस् (तन् *विस्तार करना*), बुबोधस् (बुध् *जागना*), पिप्रयस् (प्री *प्रसन्न करना*), जुजोषसि (जुष् *आनन्द मनाना*), चिकितस् (चित् *ध्यान से विचारना*) मुमुचस् (मुच् *छोड़ना*), प्र० पु० चिकेतत्, जघनत् (हन् *प्रहार करना*), ततनत्, तुष्टवत् (√स्तु *स्तुति करना*), पिप्रयत्, दिदेशति (दिश् *संकेत करना*), बुबोधति, मुमोचति, मुमुचत्, विविदत् (विद् *प्राप्त करना*)। द्विवचन म० पु० चिकेतयस्, जुजोषयस्, बहु० उ० पु० ततनाम। म० पु० जुजोषथ। प्र० पु० ततनन्।

आत्मनेपद प्र० पु० एक० ततपते, जुजोषते। बहु० उ० पु० अनशामहै[2]।

---

१. तुलना कीजिये—सविकरणक रूपों में जुहोत्यादिगण में पाई जाने वाली स्वर-प्रणाली से।

२. इन तीन रूपों में अभ्यास के आन् के आ को ह्रस्व हो जाता है मानो (यह) निर्देशक आगमयुक्त रहा हो।

२. लु० लो०[1] शायद ही एक दर्जन रूपों में मिलता हो। इनमें से कुछ तो परस्मैपद के एकवचन हैं और शेष आत्मनेपद के प्र० पु० के बहु०। यथा एक० म० पु० शशास् (=शशात्-स्: शास् आज्ञा देना), प्र० पु० दूधोत् (धू कँपाना), सुस्रोत् (स्रु बहना); आत्मनेपद प्र० पु० बहु० ततनन्त (देखिये १४०,६)।

३. विधिलिङ् दुर्बल लिट् प्रकृति से आने वाले प्रत्ययों से सम्पृक्त उदात्त यकारविधायी प्रत्ययों के लगने से बनता है। (इसमें) परस्मैपद के रूप आत्मनेपद की अपेक्षा कहीं अधिक प्रचुर हैं।

उदाहरण हैं:

परस्मैपद एक० उ० पु० आनश्याम्[2], जगम्याम्, रिरिच्याम्, ववृत्याम्; म० पु० बभूयास्, ववृत्यास्; प्र० पु० आनश्यात्[2], जगम्यात्, ववृत्यात्, बभूयात्।

द्विवचन म० पु० जगम्यातम्। बहु० उ० पु० ववृत्याम, प्र० पु० जगम्युर्, ववृत्युर्।

आत्मनेपद एक० उ० पु० ववृतीय, म० पु० वावृधीथास्, प्र० पु० ववृतीत।

बहु० उ० पु० ववृतीमहि।

(अ) आत्मनेपद का एक आशीर्लिङ् का रूप भी पाया जाता है: सासहीष्ठास् (सह् अभिभव करना)।

४. जुहोत्यादिगण के लट् लकार के रूपों की तरह लोट्-लिट् के रूप बनते हैं। इसमें धात्वक्षर दुर्बल रहता है सिवाय परस्मै० के प्र० पु० एक के

---

१. स्वरूप में आगमरहित लिट् प्र० के ही समान (१४०,६)।

२. अंश् (प्राप्त करना) से जिसमें कि अभ्यास का दीर्घ अच् तदवस्थ रहता है। देखिये १३९,६।

जहाँ कि यह सवल रूप में पाया जाता है। लगभग सभी उपलभ्यमान रूप, जिनकी संख्या लगभग वीस के आस पास है, परस्मैपद के हैं।

उदाहरण हैं :

परस्मै० एक० म० पु० चिकिद्धि (√चित्), दिदिड्ढि (√दिश्), मुमुग्धि (√मुच्), शशाधि (√शास्)[1]। प्र० पु० वभूतु,[2] मुमोक्तु।

द्विवचन म० पु० मुमुक्तम्, ववृक्तम् (√वृज् *टेढा करना*)। वहु० म० पु० दिदिष्टन (√दिश्), ववृत्तन।

आत्मने० एक० म० पु० ववृत्स्व। वहु० म० पु० ववृद्ध्वम्।

क्वसुकानजन्त रूप

ये रूप पर्याप्त प्रचुर हैं। ये लिट् की दुर्वल प्रकृति से वनते हैं और इनमें स्वर प्रत्यय पर रहता है। यथा चकृवांस्, चक्राणं। यदि क्वस्वन्त रूपों में प्रकृति का एकाच् रूप में अपकर्ष हो जाता हो तो प्रत्यय को लगभग सदैव सम्वन्धक इ के साथ सम्पृक्त कर दिया जाता है। पर प्रकृति में द्वित्व न होने पर ऐसा नहीं होता। यथा पप्तिवांस् (ग्रीक पेप्तोस्) पर (द्वित्व न होने पर) विद्वांस् (ग्रीक एह्दिोस्)। उदाहरण हैं :

क्वस्वन्त-जगन्वांस् (√गम्), जगृभ्वांस् (ग्रभ्), जिगीवांस् (√जि), जूजुवांस् (√जू), तस्थिवांस् (√स्था), वभूवांस् (ग्रीक पेफुओस्) रिरिक्वांस् (√रिच्), ववृत्वांस्, वावृध्वांस्[3], सासह्वांस्[3], सुषुप्वांस् (√स्वप्), ईयिवांस् (√इ), ऊषिवांस् (√वस् *रहना*), दाश्वांस् (√दाश् *पूजा करना*), साह्वांस् (√सह्)।

कानजन्त-आनजानं (√अञ्ज्), आनशानं (√अंश्), ईजानं (√यज्)

---

१. देखिये ग्रीक केक्लुथि, म० पु० वहु० केक्लुते (क्लु-श्रु सुनना)।

२. ऊ के अपरिवर्तित रहने के कारण जैसा कि अन्यत्र (१३९, ७) सवल रूपों में पाया जाता है।

३. अभ्यास के अच् के दीर्घ होने के कारण।

ऊचानं (√वच्), जग्मानं (√गम्), तिस्तिराणं (√स्तृ), तेपानं (√तप्), पस्पशानं (√स्पश्), भेजानं (√भज्), येमानं (√यम्), वावृधानं, शशयानं (√शी), शिश्रियाणं (√श्रि), सिष्मियाणं (√स्मि), सुषुपाणं (√स्वप्), सेहानं (√सह्)।

लिट्प्रतिरूपक

६. लङ से मिलता जुलता लिट् का एक ऐसा आगमयुक्त रूप भी है जिसे लिट्प्रतिरूपक कहा जाता है। (इसमें) परस्मैपद एक० में सबल और अन्यत्र दुर्बल प्रकृति प्रयुक्त होती है। केवल विकृत प्रत्ययों का ही प्रयोग इसमें पाया जाता है। परस्मैपद के प्र० पु० बहु० में सदा उर् ही आता है और आत्मनेपद में इरन्[1] ही। कतिपय रूपों में म० और प्र० पु० के स् और त् को मध्यवर्ती ई के द्वारा सुरक्षित रखा जाता है। किञ्च इस लकार में अडागमयुक्त अनेक रूप भी मिलते हैं। भूतकाल के अन्य लकारों की भांति (इसमें) आगम का अनेक वार लोप भी कर दिया जाता है। लिट्-प्रतिरूपक के उपलभ्यमान रूपों की संख्या लगभग साठ है।

उदाहरण हैं:

परस्मैपद एक० उ० पु० अ॑चचक्षम्, अ॑जग्रभम्, अ॑तुष्टवम्, चकरम्, चिकेतम् (√चित्)। म० पु० आजगन् (=अ॑जगम्स्), ननमन्, अ॑विवेशीस् (√विश्)। प्र० पु० अ॑जगन् (=अ॑जगम्त्), अचिकेत् (√चित्); रारन् (=रारन्त्: रन् *आनन्दित होना*), अ॑जग्रभीत्, अ॑चिकित्, और अ॑चिकेतत्, तस्तम्भत्।

द्विव० म० पु० अ॑मुमुक्तम्, मुमुक्तम्।
प्र० पु० अ॑वावशीताम् (वाश् *रंभाना*)।

---

१. दो रूपों में इरन् न लगकर रन् लगता है। अयथाप्राप्त अन्त लगकर बने कतिपय रूप भी मिलते हैं।

बहु० म० पु० अजगन्त, अचुच्यवीतन ।
प्र० पु० अचुच्यवुर् ।

आत्मने० एक० उ० पु० अंशुश्रवि, प्र० पु० दिदिष्ट (√दिश्), बहु० प्र० पु० अचक्रिरन्, अजग्मिरन्, अपेचिरन्, अवदृत्रन्, असस्रग्रम् (√सृज्)[1] । अकारान्त प्रकृतियों की पद्धति पर बने कई गणान्तरसङ्क्रान्त रूप भी उपलब्ध हो जाते हैं । यथा—अतित्विषन्त, चकृपन्त, दंवृपन्त ।

लुङ्

१४१. वेदों में यह लकार बहुत प्रचुर है और ४५० से भी अधिक धातुओं से बनता है । यह आगमयुक्त होता है और इसमें विकृत प्रत्यय लगते हैं एवञ्च इसके प्रकारक एवं कृदन्त रूप बनते हैं । इसमें और लङ में यह भेद है कि इसका अपने स्वरूप से मिलता जुलता लट् का कोई रूप नहीं होता । किन्च इसमें और लङ में अर्थ में भेद रहता है । लुङ दो प्रकार का होता है । पहिला धातु और प्रत्ययों के बीच स् लगने से बनता है चाहे अ का आगम हो या न हो । २०० धातुओं से भी अधिक रूप इसमें बनते हैं । दूसरे में प्रत्यय या तो सीधे मूल या अभ्यस्त धातु से सम्पृक्त कर दिये जाते हैं या उनके बीच संयोजक अ आ जाता है । २५० से भी अधिक धातुओं के रूप इसमें बनते हैं । पहिली कोटि के लुङ का स्वरूप चार प्रकार का है और द्वितीय कोटि के लुङ का तीन प्रकार का । पचास से ऊपर धातुओं के एकाधिक रूप बनते हैं । एक धातु, बुध (जागना), के इस लकार में पाँच प्रकार के रूप पाये जाते हैं ।

पहिली प्रकार का लुङ्

(क) पहिली प्रकार के लुङ की प्रकृति आगमवान् धातु से अ प्रत्यय लगकर बनती है । अकारान्ताङ्कक लिङ्रूपों के षष्ठ (तुदादिगण) के लङ लकार के रूपों की तरह इसके रूप बनते हैं । आगमरहित रूपों में स्वर अ पर रहता है ।

संहिताओं में केवल उन दस[1] धातुओं के रूप इसमें बनते हैं जिनमें इ, उ, या ऋ इनमें से कोई स्वर पाया जाता है और जिनके अन्त में ज्, श्, ष् और ह् इनमें से कोई व्यञ्जन आता है। ये सभी के सभी व्यञ्जन उच्चारणसौकर्य की दृष्टि से स् से पूर्व क् रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।[2] ये धातुएं हैं : मृज् बुहारना, यज् यज्ञ करना, वृज् टेढ़ा करना, क्रुश् चिल्लाना, मृश् और स्पृश् स्पर्श करना, द्विष् द्वेष करना, गुह् छुपाना, दुह् दुहना, रुह् चढ़ना। निर्देशक में द्विवचन के रूप सर्वथा अनुपलब्ध हैं और आत्मनेपद में केवल प्र० पु० एक० और बहु० के रूप ही मिलते हैं। केवलमात्र उपलभ्यमान प्रकार हैं लु० लो० और लोट् जिनमें कुल मिलाकर एक दर्जन से भी कम रूप मिलते हैं। लुङ का यह रूप ग्रीक के प्रथम कोटि के लुङ (यथा हे'देइक्से, लैं० दिक्सित्) से मिलता जुलता है। (अट् आदि) आगमों का जैसे भूतकाल के अन्य लकारों में वैसे ही यहां भी कभी-कभी लोप भी कर दिया जाता है।

निर्देशक परस्मैपद एक० उ० पु० अ॑वृक्षम्। म० पु० अ॑द्रुक्षस् (ब्राह्मण०), अ॑वृक्षस्। प्र० पु० अ॑क्रुक्षत्, अ॑ग्रुक्षत्, अ॑द्रुक्षत्[3] और अ॑वृक्षत्, अ॑मृक्षत् (√मृश्), अ॑रुक्षत् अ॑स्पृक्षत्। बहु० उ० पु० अ॑मृक्षाम (√मृज्), अ॑रुक्षाम। प्र० पु० अ॑वृक्षन्; दुक्षन्[3] और घुक्षन्।

आत्मनेपद एक० प्र० पु० अ॑वृक्षत, दुक्षत[3] और घुक्षत। बहु० प्र० पु० अ॑मृक्षन्त (√मृज्)। लु० लो० में केवल निम्नलिखित रूप मिलते हैं : परस्मैपद

---

१. ब्राह्मण ग्रंथों में नौ और धातुओं के स-लुङ् में रूप पाये जाते हैं : कृष् खींचना, दिश् सङ्केत करना, दिह् लेप करना, दृश् देखना, द्रुह् शत्रुता करना, पिष् पीसना, मिह् मूत्र करना, विश् प्रवेश करना, वृह् फाड़ना और लिह् चाटना।

२. अतः इस लुङ् की प्रकृति के अन्त में सदैव क्ष ही आता है।

एक० म० पु० दुर्सन्,[1] मृर्सन् (√मृश्)। प्र० पु० ह्विर्सत्। बहु० म० पु० मृसत (√मृश्)।

आत्मनेपद एक० प्र० पु० दुर्सत[1] और पृर्सत, ह्विर्सत[1]। बहु० प्र० पु० पृर्सन्त।

लोट् में केवल तीन रूप पाये जाते हैं:

परस्मैपद द्वि० म० पु० मृर्सतम् (√मृच्)। प्र० पु० वर्सताम्।

आत्मनेपद एक० म० पु० पृर्सत्व।

१४७. प्रथम कोटि के लुङ् के अन्य तीन प्रकार के रूप आगमयुक्त धातु से क्रमशः स्, इष् और सिष् प्रत्यय लगाकर बनते हैं। इनके रूप द्वितीय कोटि के अथवा अनद्यतन क्रियाओं के लङ् की तरह चलते हैं। सिष् रूप केवल परस्मैपद में ही प्रयुक्त होता है (तीन विधिलिङ् के रूपों के सिवाय) और छः से अधिक धातुओं ने नहीं अपनाया जाता है। शेष दो प्रयोग बहुत प्रचुर हैं। वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों को मिलाकर ३०० से भी अधिक धातुओं से ये बनते हैं।

द्वितीय और स् रूप

१४८. वेदों और ब्राह्मणों में कम से कम १३५ धातुओं के ये रूप लुङ् में बनते हैं। निर्देशक के अतिरिक्त इसके सभी प्रकारान्तरवाची और कृदन्त रूप (भी) बनते हैं।

निर्देशक

१. परस्मैपद में धातु की नियमित रूप से वृद्धि हो जाती है (अ को दीर्घ हो जाता है)। आत्मनेपद में सिवाय अन्तिम इ, ई और उ के (जिन्हें कि गुण हो जाता है) धातु अपरिवर्तित रहता है। केवल एक क्रिया में

---

१. आदि महाप्राणता के बिना बने इन रूपों के विषय में देखिये ६२ (क)।

इसके रूपों का क्रमवद्ध क्रियारूपों के लङ् के रूपों से भेद पाया जाता है और वह है परस्मै० प्र० पु० वहु० के अन्त में नियमित रूप से उर् का आना। परस्मैपद में म० और प्र० पु० एक० के प्रत्यय स् और त् एवञ्च लकार के चिन्ह का लोप हो जाता है, जब तक कि धातु के अन्त में कोई अच् न आये। जैसे कि अ॑-हार्=अ॑-हार्-स्-त् किन्तु अ॑हा-स्=अ॑-हा-स्-त्। अथर्व० और तै० सं० में विरले ही इन प्रत्ययों से पूर्व संयोजक ई का आगम किया जाता है[1] जिसके द्वारा प्रत्ययों और ल प्रकृति के स् को सुरक्षित रखा जाता है; यथा अ॑नैक्षीत् (निज् *धोना*)। निर्देशक के भृ (*धारण करना*) से परस्मैपद में और बुध् (*जागना*) से आत्मनेपद में बने वास्तव में उपलभ्यमान रूप ये है :—

परस्मैपद

	एकवचन	द्विवचन	वहुवचन
उ०पु०	अ॑भार्षम्	[अ॑भार्ष्व]	अ॑भार्ष्म
म०पु०	अ॑भार्	अ॑भार्ष्टम्	अ॑भार्ष्ट
प्र०पु०	अ॑भार्	अ॑भार्ष्टाम्	अ॑भार्षुर्

आत्मनेपद

	एकवचन	द्विवचन	वहुवचन
उ०पु०	अ॑भुत्सि (६२ क)	[अ॑भुत्स्वहि]	अ॑भुत्स्महि
म०पु०	अ॑बुद्धास् (६२ ख)	अ॑भुत्साथाम्	अ॑भुद्ध्वम् (६२ क)
प्र०पु०	अ॑बुद्ध (६२ ख)	अ॑भुत्साताम्	अ॑भुत्सत

आत्मनेपद, जिसके उदाहरण के लिये एक उकारान्त धातु स्तु (*स्तुति करना*) प्रस्तुत की जा सकती है, के रूप निम्ननिर्दिष्ट पद्धति से चलते हैं।

---

१. ऋग्वेद और का० सं० में ई आगमयुक्त रूप नहीं है जब कि ब्राह्मण ग्रन्थों में इस (ई) से रहित मुख्य रूप हैं अद्राक् (दृश् देखना) और अयाट् (यज् यज्ञ-करना) एवञ्च भैस् (√भी)=भैस् स् भी जोकि स् प्रत्यय के लोप होने पर भी म० पु० एक० की प्रतीति लिये रहता है।

एक० उ० पु० अ॑स्तोषि। म० पु० अ॑स्तोष्ठास् । प्र० पु० अ॑स्तोष्ट। द्वि० उ० पु० [अ॑स्तोष्वहि] । म० पु० [अ॑स्तोषाथाम्] । प्र० पु० अ॑स्तोषाताम्। बहु० उ० पु० अ॑स्तोष्महि । म० पु० अ॑स्तोढ्वम् (६६ र, २ ख) प्र० पु० अ॑स्तोषत ।

२. परस्मैपद में लेट्लकार का प्रयोग ऋग्वेद[1] में प्रचुर है न कि आत्मनेपद में। धातु में सर्वत्र (परस्मैपद और आत्मनेपद दोनों में ही) नियमित रूप से गुण होता है। अविकृत प्रत्ययों का प्रयोग प्रचुर है। स्तु (*स्तुति करना*) के उपलभ्यमान रूप हैं—

परस्मैपद एक० उ० पु० स्तो॑षाणि। म० पु० स्तो॑षसि, स्तो॑षस्। प्र० पु० स्तो॑षति स्तो॑षत्, द्वि० म० पु० स्तो॑षथस् । प्र० पु० स्तो॑षतस्। बहु० उ० पु० स्तो॑षाम । म० पु० स्तो॑षथ। प्र० पु० स्तो॑षन्।

आत्मनेपद एक० उ० पु० स्तो॑षै। म० पु० स्तो॑षसे। प्र० पु० स्तो॑षते। द्वि० म० पु० स्तो॑षाथे (स्तो॑षैथे के स्थान पर)। बहु० प्र० पु० स्तो॑षन्ते ।

३. लु० लो० के रूप पर्याप्त प्रचुर हैं। जब वे अपनी स्वाभाविक स्थिति में हों तो निःसन्देह आगमरहित निर्देशक में और उनमें कोई भेद नहीं रहता। परस्मैपद उ० पु० एक० में यह अनियमितता पाई जाती है कि इसमें कभी भी वृद्धि नहीं होती। उसके जितने भी रूप उपलब्ध होते हैं उन सब में या तो गुण होता है, यथा, स्तोषम्, जेषम् (√जि) या धात्वच् को दीर्घ हो जाता है, यथा यूषम् (यु *पृथक् करना*) अथवा आकारान्त धातुओं में आ को ए हो जाता है, यथा येषम् (या *जाना*), गेषम् (गा *जाना*), स्थेषम् (*स्थित होना*)। यह आ का ए रूप में परिवर्तन उ० पु० बहु० में भी पाया जाता है। जेष्म, गेष्म, देष्म (दा *देना*), दूसरा सामान्य रूप योष्म (यु *पृथक् करना*)।

---

१. ब्राह्मण ग्रंथों में यक्षत् (यज्) और वक्षत् (वह्) के सिवाय इस लुङ् के लेट् के रूप अत्यन्त दुर्लभ हैं।

४. विधिलिङ् केवल आत्मनेपद में ही पाया जाता है। म० और प्र० पु० एक० में सदैव आशीर्लिङ् का स् (सीयुट्) पाया जाता है (इसमें केवल एक अपवाद है)। इसके वास्तव में उपलभ्यमान रूप हैं—

एक० उ० पु० दिषीय[1] (दा काटना), भक्षीय (भज् तोड़ना), मसीय[2] (मन् विचारना), मुक्षीय (मुच् छोड़ना), रासीय (रा देना), सासीय[3] (अथर्व०), स्तृषीय (स्तृ बिछाना)। म० पु० मसीष्ठास्[4] (मन् विचारना) प्र० पु० दर्षीष्ट (दृ फाड़ना, विदीर्ण करना), भक्षीत[5] (सा० वे०), मंसीष्ट, मृक्षीष्ट (मृच् हानि पहुँचाना) द्वि० म० पु० त्रासीथाम्[6] (त्रा रक्षा करना) बहु० उ० पु० भक्षीमहि, मंसीमहि,[7] वंसीमहि और वसीमहि[8] (वन् जीत कर हासिल करना), सक्षीमहि (सच् अनुसरण करना), धुक्षीमहि (दुह् दुहना), प्र० पु० मंसीरत।

५. लोट्लकार में केवल छः रूप मिलते हैं जिनमें से चार संक्रमित हैं (विकरण के अ के साथ)। वे हैं परस्मै० म० पु० एक० नेष (नी अगवाई करना और पर्ष (पृ पार ले जाना)। आत्मने० एक० म० पु० सक्ष्व (√सह्)। प्र० रासताम्। द्वि० म० पु० रासाथाम्। बहु० प्र० पु० रासन्ताम्।

६. शतन्तरूपों में केवल दो या तीन उपलब्ध होते हैं: दक्षत्[9] और धक्षत् (दह् जलाना) सक्षत् (√सह्)।

---

१. धातु के आ के इ रूप में अपकर्ष होने के कारण: देखिये ५ ग। इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में धिषीय (√धा) रूप पाया जाता है।

२. अन् के अ (=स्वरोन्मुख अनुनासिक) रूप में अपकर्ष होने के कारण।

३. अनिश्चितार्थक सह् धातु से जिसके धात्वच् को दीर्घ हो गया है।

४. न् के स्थान पर अनुस्वार (६६ ग २)।

५. आशीर्लिङ् के स् के बिना।

६. त्रासीयाथाम् के स्थान पर।

७. न् के स्थान पर (अनुस्वार) आ जाने के कारण (६६ ग २)।

८. अन् का अ (=स्वरोन्मुख अनुनासिक) रूप में अपकर्ष होने के कारण।

९. बिना आदि महाप्राणता के लिये देखिये ६२ क और १५६ क।

एक० दर्जन के लगभग की ऐसी प्रकृतियों को, जो कि धातु से स् प्रत्यय एवञ्च इन दोनों के बीच अ लगने के कारण अनियमित रूप से बनती हैं और जिनमें आन यह नियमित प्रत्यय आता है स्-लुङ की शानजन्त प्रकृतियां माना जा सकता है, यथा मन्दसान *आनन्दित होते हुए,* यमसान *ले जाये जाते हुए* ।

स् रूप की अनियमितताएं

१४४. १. स् इस प्रत्यय से पूर्व (क) धातु के न् को (और म् को भी) अनुस्वार हो जाता है (६६ य २), यथा अमंसत (√मन्), वंसीमहि (√वन्) (ख) और निवासार्थक वस् और सम्भवतः दीप्त्यर्थक वस् इन धातुओं के स् को त् हो जाता है: अवात्सीस्[1] (अथर्व०) *तुम रहे हो* और अवात्[2] (=अवस् स् त्) *चमका है* (अथर्व०)।

२. ऋग्वेद में प्र० और म० पु० के एक० त् और स् को सुरक्षित रखने की प्रारम्भिक प्रवृत्ति का एक ही उदाहरण मिलता है और वह है म० पु० एक० का रूप अयास् (=अ यज् स् स्), अन्य रूप हैं अयाट्=अयज्-स् त्) प्र० पु० एक० । ये रूप ध्वनि की दृष्टि से समीचीन हैं ।

अथर्व० में इसके तीन या चार उदाहरण मिलते हैं: एक० म० पु० स्रास् (=स्रज् स् स् : √सृज्); प्र० पु० अश्रैत् = (अश्रैस् त् : √श्रि); अहैत् (=अहैस् त् : √हि); अवात् (=अवस् स् त् : वस् *चमकना*)

---

१. देखिये ६२ र १। एक उपनिषद् में म० पु० द्वि० में अवास्तम् यह रूप पाया जाता है। इसमें धातु सकार पर प्रभाव पड़े बिना ही लुङ् के प्रत्यय स् का लोप हुआ है।

२. पर हो सकता है कि इस स्थल में त् धातु के परिवर्तित अन्तिम स् का प्रतिनिधि करता हो: १४४, १ (ख) । ब्राह्मण ग्रन्थों में कुछ अतिरिक्त उदाहरण भी मिल जाते हैं: अजैत् (अन्य रूप—अजैस् और अजैषीत् : √जि); अचैत् (√चि); नैत् (√नी)।

यहाँ उत्तरवर्ती संहिताओं में प्रत्ययों से पूर्व ई का आगम करने से इन्हें (प्रत्ययों को) बहुत बार सुरक्षित रखा जाता है : एक० म० पु० अ॑रात्सीस् (√राध्), अ॑वात्सीस् (वस् रहना), प्र० पु० अ॑तांसीत् (√तन्), अ॑नैक्षीत् (√निज्); ताप्सीत् (√तप्), भैषीत् (√भी), वाक्षीत् (√वह्), हासीत्, ह्वार्षीत् (√ह्वर्)।

(अ) स् के मूर्धन्य होने पर ध्वम् इस प्रत्यय को (जिससे पूर्व लुङ् के स् का लोप हो जाता है) ढ्वम् हो जाता है (६६ ख २) : अस्तोढ्वम् (=अ॑स्तोज्. [z] ढ्वध्वम्। केवल यही एक उदाहरण उपलब्ध है।

३. अ॑दिषि और दिषीर्य इन रूपों में *देना* और *काटना* इन अर्थों में दा धातु के अच् का इ रूप में अपकर्ष हो जाता है और अ॑गस्महि, मसीय और वसीमहि (अन्य रूप वंसीमहि) इन रूपों में गम्, मन् और वन् इन धातुओं के अनुनासिक का लोप हो जाता है जब कि अ॑साक्षि, साक्षि; साक्षाम, साक्षीय; साक्ष्व इन रूपों में सह् धातु के अ को दीर्घ हो जाता है।

४. सृज् (*छोड़ना*) और पृच् (*सम्पृक्त होना*) को परस्मैपद में आद्यन्त-विपर्यय हो जाता है : एक० म० पु० स्रास् (=स्राक्)। प्र० पु० अ॑स्राक्; अ॑प्राक्। द्विव० म० पु० अ॑स्राष्टम्।

५. निर्देशक के परस्मै० प्र० पु० एक० में निम्नलिखित रूप पाये जाते हैं जिनमें (क) त् इस प्रत्यय का लोप हो जाता है : अ॑जैस् (√जि), अ॑प्रास् अ॑हास्; (ख) लकार के चिन्ह स् और प्रत्यय त् इन दोनों का लोप हो जाता है[1]: अ॑क्रान् (क्रन्द् *क्रन्दन करना*) अ॑क्षार् (क्षर् *बहना*), अ॑चैत् (चित् *ध्यान से देखना*) अ॑छान् (छन्द् *प्रतीत होना*) अतान् (तन् *विस्तार करना*), अ॑त्सार् (त्सर् *चोरी से पास पहुँचना*) अ॑द्यौत् (द्युत् *चमकना*), अ॑धाक् (दह् *जलाना*), अ॑प्राक् (पृच् *सम्पर्क स्थापित करना*), अ॑प्राट् (प्रच्छ *पूछना*),

---

१. और धातु के अन्तिम हल् भी जब वहां दो हों (२८)।

अभार् (भृ), अयाट् (यज् यज्ञ करना), अयान् (यम् निर्देश करना), अरौत् (रुध् रुकावट डालना) अवाट् (वह् पहुँचाना), अवात् (वत् चमकना), अश्वैत् (श्वित् चमकीला होना) अस्यान् (स्यन्द् बहते जाना) अत्राक् (सृज् छोड़ना), अस्वार् (स्वर् शब्द करना), अहार् (हृ अपहरण करना), अरैक् (रिच् खाली करना)।

६. न्, म् और र् से भिन्न अन्य किसी हल् से परे लकार के चिन्ह स् (सिच्) का त् थ् और ध् से पूर्व लोप कर दिया जाता है। यथा अभक्त, अन्य रूप अभक्षि; अमृक्थ.स्, अन्य रूप अमुक्षि।

तृतीय कोटि का अथवा इष् लुङ्

१४५. वेदों और ब्राह्मणग्रन्थों में लगभग १४५ धातुओं के रूप इस प्रकार के लुङ में बनते हैं। स् लुङ से इसमें यही भेद है कि इसमें सिच् को सम्बन्धक इ (इट्) के साथ सम्पृक्त कर दिया जाता है जिसके फलस्वरूप उसे (स् को) ष् हो जाता है (६७)।

निर्देशक लुङ् रूप

१. निर्देशक में धातुस्थ अच् को नियमेन सर्वत्र गुण हो जाता है पर परस्मैपद में अन्तिम अच् को वृद्धि हो जाती है और मध्यवर्ती अच् को कभी कभी दीर्घ हो जाता है। स्-लुङ् के जो प्रत्यय हैं वे ही यहां भी हैं। केवल म० पु० और प्र० पु० एक० रूपों में ईस् (=इष् स्) और ईत् (इष्—त्) आते हैं। इस लुङ में सभी प्रकार पाये जाते हैं पर सन्नाद्यन्त रूप उपलब्ध नहीं होते। आत्मनेपद के रूप प्रचुर नहीं हैं और प्र० और म० पु० एक० के सिवाय बहुत ही कम उपलब्ध होते हैं।

क्रम् (चलना; डग भरना) के सामान्यतः उपलभ्यमान रूप नीचे दिये जा रहे हैं:

परस्मैपद एक० उ० पु० अक्रमिषम्। म० पु० अक्रमीस्। प्र० पु०

अंक्रमीत्। द्विव० प्र० पु० अंक्रमिष्टम्। वहु० उ० पु० अंक्रमिष्म । प्र० पु० अंक्रमिषुर्।

आत्मने० एक० उ० पु० अंक्रमिषि। म० पु० अक्रमिष्ठास्। प्र० पु० अंक्रमिष्ट। द्विव० प्र० पु० अंक्रमिषाताम्। वहु० प्र० पु० अंक्रमिषत।

२. लेट् के रूपों का प्रयोग वहुत ही विरल है सिवाय परस्मै० के म० और प्र० पु० के एकवचन के।

उदाहरण हैं :

परस्मैपद एक० उ० पु० दॅविषाणि। म० पु० अॅविषस्, कॉनिषस्। प्र० पु० कॉरिषत्, वोॅधिषत्। वहु० प्र० पु० सॅनिषन्।

आत्मने० वहु० उ० पु० यॉचिषामहे। प्र० पु० सॅनिषन्त।

३. लु० लो० के रूप लेट् की अपेक्षा अधिक प्रचुर हैं। उनका प्रयोग सवसे अधिक म० और प्र० पु० एक० और वहु० में मिलता है।

उदाहरण हैं :

परस्मै० एक० उ० पु० शंॅसिषम् (शस् स्तुति करना)। म० पु० अॅवीस् (अव् अनुकूल होना), तॅारीस् (तॄ पार करना) योॅधीस् (युध् युद्ध करना), सॅावीस् (सू जन्म देना)। प्र० पु० अॅशीत् (अश् खाना), तॅारीत्। द्विव० म० पु० तॅारिष्टम्, मॅर्धिष्टम् (मृध् पर्वाह न करना। वहु० उ० पु० श्रॅमिष्म। म० पु० वॅधिष्ट और वॅधिष्टन। प्र० पु० जारिषुर् (जॄ जीर्ण होना)।

आत्मने० एक० उ० पु० रॅाधिषि (राध् सफल होना)। म० पु० मॅर्षिष्ठास् (मृष् ध्यान न देना)। प्र० पु० पॅविष्ट (पू पवित्र करना)। वहु० उ० पु० व्यॅथिष्महि (व्यथ् डगमगाना)।

४. विधिलिङ के प्रयोग विरल हैं और केवल आत्मनेपद में ही मिलते हैं। म० और प्र० पु० एक में आशीर्लिङ का स् लग जाता है।

उदाहरण हैं :

एक० उ० पु० एधिषीय (एध् वढना)। म० पु० मोदिषीष्ठास् (मुद्

प्रमुदित होना)। प्र० पु० जनिषीष्टं। द्वि० उ० पु० सहिषीवहि। बहु० तारिषीमहि।

५. लोट् के प्रयोग विरल हैं और केवल परस्मैपद में ही मिलते हैं। एक० म० पु० अविड्ढि। प्र० पु० अविष्टु। द्वि० म० पु० अविष्टम्। प्र० पु० अविष्टाम्। बहु० म० पु० अविष्टन।

(अ) कन् आनन्दित होना, चर् चलना, दस् नष्ट होना, मद् मस्त होना, स्तन् गरजना; स्वन् शब्द करना इन धातुओं में धातु के उपधा अ को दीर्घ हो जाता है। वद् (बोलना), रन् (प्रसन्न होना) सन् (प्राप्त करना) सह् (अभि-भव करना) इन धातुओं में यह दीर्घ विकल्प से होता है। गम् और रुच् (चम-कना) इन धातुओं के विधिलिङ् आत्मने० उ० प्र० एक० में धातव् अकृष्ट अथवा बलहीन रूप में सामने आता है : गिमिषीय और रुचिषीय।

(आ) ग्रभ् (पकड़ना) इस धातु में इ के स्थान पर सन्दर्भक ई का आगम भी हो जाता है (जैसाकि अन्य क्रियापदों में पाया जाता है) यथा—अग्रभीष्म।

(इ) अक्रमीम्, अग्रभीम् और वधीम् इन तीन रूपों में परस्मैपद निर्देशक उ० पु० एक० में इषम् की बजाय ईम् यह प्रत्यय पाया जाता है जिसमें निस्सन्देह ईस् और ईत् वाले म० और प्र० पु० एक० के रूपों का सादृश्य ही कारण है। ब्राह्मण ग्रंथों में अग्रहैषम् (√ग्रह्) भी मिलता है।

चतुर्थ अथवा सिष् रूप

१४६. इस रूप में और पूर्ववर्ती रूप में केवल यही भेद है कि इनमें प्रत्यय से पहिले एक अतिरिक्त स् लग जाता है। केवल सात धातुओं के जिनके अन्त में आ, न् या म् आते हैं, रूप इस लुङ में पाये जाते हैं। वे सात धातुएँ हैं—

गा *गाना*, ज्ञा[1] *जानना*, प्या *भरना*, या *जाना*, हा *छोड़ना*, वन् *जीतकर हासिल करना*, रम् *आनन्द मनाना*। उपलभ्यमान रूपों की कुल संख्या बीस

---

१. ब्राह्मण ग्रंथों में द्रा (सोना), वा (बहना) ह्वा (बुलाना), के लीव् लग कर बने रूपों के अतिरिक्त ध्या (सोचना, विचारना), भी उपलब्ध होते हैं।

से कम है। आत्मनेपद के रूप केवल विधिलिङ् में ही मिलते हैं। उपलभ्यमान रूप हैं:

१. निर्देशक एक० उ० पु० अ॑यासिषम्। द्वि० प्र० पु० अ॑यासिष्टाम्। बहु० म० पु० अ॑यासिष्ट। प्र० पु० अ॑गासिषुर्, अ॑यासिषुर्।

२. लेट् एक० प्र० पु० गा॑सिषत्, या॑सिषत्।

३. विधिलिङ् एक० उ० पु० वंसिषीय॑। म० पु० यासिषीष्ठा॑स्[1]।
बहु० उ० पु० प्यासिषीमहि।

४. लु०लो० एक० उ० पु० रंसिषम्। द्वि० म० पु० हासिष्टम्। प्र० पु० हासिष्टाम्। बहु० म० पु० हासिष्ट। प्र० पु० हासिषुर्।

५. लोट् द्वि० म० पु० यासिष्टम्। बहु० म० पु० यासिष्ट।[2]

द्वितीय कोटि का लुङ्

१४७. इस लुङ् में सीधे धातु से बने लङ् से समानता है क्योंकि इसमें प्रत्यय सम्बन्धक अच् अ के साथ अथवा उसके बिना भी लगते हैं।

प्रथम रूप उदात्ताकारयुक्त वर्ग के लङ् की तरह होता है (१२५,२) चूंकि इसमें प्रकृति अविकृत धातु[3] से अ लगने के कारण बनती है। यह ग्रीक के प्रथम कोटि के तिङ् रूपों के द्वितीय कोटि के लुङ् से मिलता जुलता है। वेद और ब्राह्मणग्रन्थ इन दोनों में लगभग अस्सी धातुओं के रूप इसमें बनते हैं। आत्मनेपद के रूप विरल हैं।

१. निर्देशक विद् (*प्राप्त करना*) के वास्तव में उपलभ्यमान रूप हैं:
परस्मैपद एक० उ० पु० अ॑विदम्। म० पु० अ॑विदस्। प्र० पु० अ॑विदत्। द्वि० उ० पु० अ॑विदाव। बहु० उ० पु० अ॑विदाम। म० पु० अ॑विदत। प्र० पु० अ॑विदन्।

---

१. आशीर्लिङ् के स् के साथ।

२. इ के स्थान पर ई के साथ।

३. तीन ऋकारान्त धातुओं में गुणयुक्त रूप उपलब्ध होते हैं (१४७ क २ और ग)।

आत्मनेपद एक० उ० पु० अ॑विदे। म० पु० अ॑विदथास्। प्र० पु० अ॑विदत। द्वि० उ० पु० अ॑विदावहि। प्र० पु० अ॑विदेताम्। बहु० उ० पु० अ॑विदामहि। प्र० पु० अ॑विदन्त।

२. इसी धातु के लेट् के रूप होंगे:
परस्मैपद एक० म० पु० वि॑दासि, वि॑दास्। प्र० पु० वि॑दाति, वि॑दात्। द्वि० उ० पु० वि॑दाव। म० पु० वि॑दायस्। प्र० पु० वि॑दातस्। बहु० उ० पु० वि॑दाम। म० पु० वि॑दाय, वि॑दायन।

आत्मने० एक० प्र० पु० वि॑दाते। बहु० उ० पु० वि॑दामहे।

३. विद् के लु० लो० के रूप होंगे:

परस्मै० एक० उ० पु० वि॑दम्। म० पु० वि॑दस्। प्र० पु० वि॑दत्। बहु० प्र० पु० वि॑दन्।

आत्मनेपद एक० प्र० पु० वि॑दत। बहु० उ० पु० वि॑दामहि। प्र० पु० वि॑दन्त।

४. विधिलिङ् का प्रयोग वेद में विरल है पर ब्राह्मण ग्रन्थों में अनति-प्रचुर नहीं। यह लगभग परस्मैपद तक ही सीमित है। विद् के रूप होंगे: परस्मैपद एक० उ० पु० विदे॑यम्। म० पु० विदे॑स्। प्र० पु० विदे॑त्। बहु० उ० पु० विदे॑म।

आत्मनेपद एक० उ० पु० विदे॑य। बहु० उ० पु० विदे॑महि। आशीर्लिङ् का एक रूप भी उपलब्ध होता है, प्र० पु० एक० विदे॑ष्ट (अथर्व०)।

५. लोट् के प्रयोग विरल हैं और लगभग परस्मैपद तक ही सीमित हैं। सद् (बैठना) से बने रूप इस प्रकार होंगे।

एक० म० पु० स॑द। प्र० पु० स॑दतु। द्वि० म० पु० स॑दतम्। प्र० पु० स॑दताम्। बहु० म० पु० स॑दत, स॑दतन। प्र० पु० स॑दन्तु।

आत्मनेपद बहु० म० पु० सदध्वम्। प्र० पु० सदन्ताम्। परस्मैपद और आत्मनेपद दोनों को मिलाकर अकारान्त कृदन्तों के एक दर्जन से भी अधिक रूप उपलब्ध होते हैं: यथा तृ॑पन्त्, शु॑चन्त्, गु॑हमान, शु॑चमान।

अनियमितताएं

(अ) कई धातुओं से मुख्यरूपेण धात्वच् के अपकर्ष के द्वारा धातुलुङ् की प्रकृतियों के स्थान पर अ-लुङ् की प्रकृतियां बनती हैं !

१. ख्या (देखना), व्या (व्याप्त करना) और ह्वा (आवाहन करना) में आ ह्रस्व हो कर अ रूप में परिणत हो जाता है: अ॑ख्यत्, अ॑व्यत्, अ॑ह्वत्। दा (देना), धा रखना और स्था (ठहरना) में यह आ का अ रूप में परिणाम यदा कदा पाया जाता है: अ॑दत्, अ॑धत् (सामवेद) और धत् एवञ्च अ॑स्थत् (अथर्व०)।

शास् (आज्ञा देना) के आ को ह्रस्व होकर इ हो जाता है, यथा प्र० पु० एक० लु० लो० शि॑षत्, शत्रन्त रूप शिर्षन्त्।

कृ (बनाना) और गम् (जाना) के अथर्व० में (धातुलुङ् से अ-लुङ् में) परिवर्तन के कतिपय उदाहरण मिलते हैं जिनमें कि सबल धात्वच् तदवस्थ रहता है: अ॑करत्, अ॑गमत्, अ॑गमन्।

(आ) क्रन्द् (चिल्लाना), तंस् (हिलाना), ध्वंस् (बिखेरना), भ्रंश् (गिरना), रन्ध् (अधीन करना), स्रंस् (गिरना) इन धातुओं में अनुनासिक का लोप होने के कारण धातु का अपकर्ष हो जाता है, यथा, प्र० पु० एक० अ॑तसत्, बहु० ध्वसॅन्; लेट् बहु० उ० पु० रधाम; लु० लो० एक० उ० पु० रधम्, म० पु० क्रदस, प्र० पु० भ्रशत्।

(इ) ऋ (जाना), दृश् (देखना) और सृ (बहना) में धातु को गुण हो जाता है, यथा अ॑रन्त (आगमरहित प्र० पु० बहु० निर्देशक आत्मने०); द॑र्शम् (एक० उ० पु० लु० लो० पर प्र० पु० बहु० लु० लो० दृ॑शन्, विधिलिङ् एक० उ० पु० दृशे॑यम्, बहु० दृशे॑म); स॑रत् (आगमरहित प्र० पु० एक०)।

द्वितीय रूप : धातु-लुङ्

१४८. वेद में साधारण लुङ् का यह रूप लगभग १०० धातुओं से बनता है और ब्राह्मण ग्रन्थों में २५ और अधिक से। सबसे अधिक प्रचुर वे हैं जिनके मध्य में न आता है (लगभग ३०)। ग्रीक की द्वितीय कोटि के तिङ् रूपों के द्वितीय प्रकार के लुङ् से इसका साम्य है। परस्मैपद और आत्मनेपद दोनों में ही इसके रूप बनते हैं।

निर्देशक

१. परस्मैपद एक० में धातु सबल रहती है और अन्यत्र दुर्बल। अजन्त धातुओं में परस्मैपद में सर्वत्र, सिवाय प्र० प्र० बहु० के, सबल अच् को तदवस्थ रखने की प्रवृत्ति है। आकारान्त धातुओं का आ नियमित रूप से निर्देशक परस्मैपद में तदवस्थ रहता है। इसका अपवाद प्र० पु० बहु० है जहाँ कि उसका सदा उपलभ्यमान प्रत्यय उर् से पूर्व लोप हो जाता है। आत्मनेपद के प्र० पु० बहु० में रन् यह प्रत्यय अत की अपेक्षा दो गुना से भी अधिक बार पाया जाता है। रम् और रन् तीन धातुओं से आते हैं।

(क) आकारान्त धातुओं में स्था धातु के रूप इस प्रकार होंगे :

परस्मैपद एक० उ० पु० अ॑स्थाम् (ग्रीक हेस्तेन्)। म० पु० अ॑स्थास्। प्र० पु० अ॑स्थात् (ग्रीक हे॑स्ते)। द्वि० म० पु० अ॑स्थातम्। प्र० पु० अ॑स्थाताम्। बहु० उ० पु० अ॑स्थाम (ग्रीक हे॑स्तेमेन्)। म० पु० अ॑स्थात। प्र० पु० अ॑स्थुर्।

आत्मनेपद एक० म० पु० अ॑स्थिथास् (ग्रीक हेस्तकेस्)। प्र० पु० अ॑स्थित। बहु० उ० पु० अ॑स्थिमहि। प्र० पु० अ॑स्थिरन्।

(ख) सिवाय प्र० पु० बहु० के ऋकारान्त धातुओं को निर्देशक परस्मैपद में सर्वत्र गुण होता है।

कृ के रूप होंगे :

परस्मैपद एक० उ० पु० अ॑करम्। म० पु० अ॑कर्। प्र० पु० अ॑कर्। द्वि० म० पु० अ॑कर्तम्। प्र० पु० अकर्ताम्। बहु० उ० पु० अ॑कर्म। म० पु० अ॑कर्त। प्र० पु० अ॑क्रन्।

आत्मनेपद एक उ० पु० अ॑क्रि। म० पु० अ॑कृथास्। प्र० पु० अ॑कृत। द्वि० उ० पु० अ॑कृवहि। प्र० पु० अ॑कृताम्। बहु० उ० पु० अ॑कृमहि। म० पु० अ॑कृध्वन्। प्र० पु० अ॑क्रत।

(ग) भू का ऊ (लिट् लकार की तरह) सर्वत्र तदवस्थ रहता है। इसके और उत्तरवर्ती अ के बीच व् का आगम हो जाता है।

परस्मैपद उ० पु० अ॑भुवम्[1]। म० पु० अ॑भूः। प्र० पु० अभूत् (ग्रीक हे॑फू)।

द्वि० म० पु० अ॑भूतम्। प्र० पु० अ॑भूताम्। बहु० उ० पु० अ॑भूम (ग्रीक हे॑फुमेन्)। म० पु० अ॑भूत और अ॑भूतन। प्र० पु० अ॑भूवन्।

(घ) नीचे दिये जा रहे रूप परस्मै० म० और प्र० के हैं। इनमें स् और त् का लोप हो जाता है।

म० पु० अ॑कर्, अ॑गन् (=अ॑गम् स्), अ॑घस्, अ॑वर् (वृ *आच्छादित करना*), अ॑स्पर् (स्पृ *जीतना*); दीर्घीभूत आगम के साथ : आ॑नट्[2] (नश् *प्राप्त करना*, आ॑वर् (वृ *आच्छादित करना*), आ॑वस्[3] (वस् *चमकना*)। प्र० पु० अ॑कर्, अ॑क्रन्[4] (क्रम् *डग भरना*), अ॑गन्[4], अ॑घस्, अ॑चेत् (चित् *अच्छी तरह देखना*) अ॑तन्, अ॑दर् (दृ *विदीर्ण करना*), अ॑भेत् (भिद् *फोड़ना*), अ॑भ्राट् (भ्राज् *चमकना*), अ॑मोक् (मुच् *छोड़ना*), अ॑म्यक् (म्यक्ष्, *स्थिति में होना*), अ॑वर्त् (वृत् *मुड़ना*), अ॑स्तर्; दीर्घीभूत आगम के साथ आ॑नट्[5], आ॑वर् (वृ *आच्छादित करना*); आ॑वस्[3] (वस् *चमकना*); आगम के बिना : वर्क्[6] (वृज् *तोड़ना मोड़ना*), स्कन्[7] (स्कन्द् *कूद जाना, फांद जाना*)।

(ङ) परस्मैपद और आत्मनेपद के प्र० पु० बहु० में अकारोपध धातुओं के अ का लोप हो जाता है : अ॑क्षन् (=अ॑घसन्), अ॑ग्मन् (=अ॑गमन्),

---

१. प्रविभक्त क के साथ। उत्तरवर्ती भाषा में (रूप है) अभूवम्।

२. आ॑नश् स् के स्थान पर। ध्वनि की दृष्टि से इसका परिणाम आ॑नक् (६३ ग) होना चाहिये था।

३. आ॑वस् स् और आवस् त् के स्थान पर। ये रूप ग्रन्थकार के वैदिक व्याकरण के ४९९ में अनवधान वश छूट गये हैं।

४. अ॑क्रम् त्, अ॑गम् त् के स्थान पर।

५. आ॑नश् त् के स्थान पर।

६. वर्ज् त् के स्थान पर।

७. स्कन्द् त् के स्थान पर।

अ॑ग्मत (अ॑गमत), अ॑तनत (अ॑तनत); पर आत्मनेपद के म० और प्र० पु० एक० में उनके अनुनासिक का लोप हो जाता है :

अ॑गयास्, अ॑गत, अ॑मत (पर उ० पु० एक० में रूप मिलता है गन्वहि बहु० अ॑गन्महि)।

(च) आत्मनेपद निर्देशक में व्यञ्जन म् से पूर्व अन्तिम आ का इ रूप में अपकर्ष हो जाता है। यथा म० पु० अ॑दियास्, अ॑स्थियास्। प्र० पु० अ॑धित (ग्रीक हे॑फेतो)। बहु० उ० पु० अ॑धिमहि (तै० सं०) और अ॑धीमहि (वा० सं०), अ॑धीमहि।

(छ) निर्देशक के प्र० पु० एक० में घस् का ग् रूप में अपकर्ष हो जाता है : ग्ध (=घस् त)[1], ऋ (जाना) को गुण हो जाता है : अ॑र्त (आगम-रहित) और आ॑र्त (ग्रीक हो॑र्तो)। प्र० पु० बहु० आ॑रत।

(ज) आत्मनेपद प्र० पु० बहु० में रन् वाले रूप हैं : अ॑कृप्रन्, अ॑गृभ्रन्, अ॑जुष्रन्, अ॑दृश्रन्, अ॑पद्रन्, अ॑बुध्रन्, अ॑युज्रन्, अ॑वस्रन् (वस् चमकना), अ॑विश्रन्, अ॑वृत्रन्, अ॑सृप्रन्[2], अ॑स्थिरन्, अस्पृध्रन्; जिनमें रम् लगता है वे हैं : अ॑दृश्रम्, अ॑बुध्रम्, अ॑सृग्रम्।[3]

२. लेट् लकार का प्रयोग प्रचुर है। इसके लगभग १०० रूप उपलब्ध होते हैं। कृ के उपलभ्यमान रूप हैं—

परस्मैपद एक० उ० पु० क॑रा और क॑राणि। म० पु० क॑रसि और क॑रस्। प्र० पु० क॑रति और क॑रत्[1]। द्वि० म० पु० क॑रथस्। प्र० पु० क॑रतस्। बहु० उ० पु० क॑राम। प्र० पु० क॑रन्ति, क॑रन्।

---

१. उपधालोप के कारण घ्स् त यह रूप हो जाता है। तदनन्तर हलन्त्यस्थ स् का लोप होने पर (६६ र २क) घ्त रूप बनता है। तब महाप्राणता हटकर आगे के त् पर चली जाती है और इसे घोषता प्रदान कर देती है (६२ ख)।

२. मूल कण्ठ्य रूप की प्रत्यापत्ति के साथ।

३. ऋ॑धक्, मु॑वत् और श्रु॑वत् इन इक्के दुक्के रूपों में धातु दुर्बल होती है।

आत्मनेपद एक० म० पु० कॅरसे। प्र० पु० कॅरते[1]। बहु० उ० पु० कॅरामहे और कॅरामहै। प्र० पु० कॅरन्त।

३. लु० लो० का प्रयोग पर्याप्त प्रचुर है। इसके लगभग साठ रूप उपलब्ध होते हैं।

उदाहरण हैं:

परस्मैपद एक० उ० पु० करम्, दर्शम्[2], भुवम्, भोजम्। म० पु० जेस्, भूस्, भेस् (भी डरना), धक्[3] (दघ् पहुँचना), भेत् (भिद् तोड़ना), रोक् (रुज् तोड़ना)। प्र० पु० भूत्, श्रेत् (√श्रि), नक् और नट् (नश् प्राप्त करना)। बहु० उ० पु० दघ्म, भूम, छेद्म[3], होम[4] (हू आवाहन करना)। प्र० पु० भूवन्, व्रन् (वृ आच्छादित करना), क्रमुर्, दुर् (दा देना), धुर् (धा रखना)।

आत्मनेपद उ० पु० नंशि (नंश्=नश् प्राप्त करना); म० पु० नुत्थास् (नुद् धकेलना), मृथास् (मृ मरना), मृष्ठास् (मृष् उपेक्षा करना), रिक्थास् (रिच् खाली करना); प्र० पु० एक० अर्त (ऋ जाना), अष्ट (अश् प्राप्त करना), विक्त (विज् काँपना), वृत (वृ वरण करना); उ० पु० बहु० धीमहि (धा रखना)।

४. विधिलिङ के चालीस से भी अधिक रूप उपलब्ध होते हैं।

उदाहरण हैं:

परस्मैपद एक० उ० पु० अश्याम् (अश् प्राप्त करना), वृज्याम्, देयाम् (दा देना); म० पु० अश्यास्, ऋध्यास्, गम्यास्, ज्ञेयास्, भूयास्[4]। प्र० पु०

---

१. दुर्बल धातु केवल एक बार इधर्ते इस रूप में पाई जाती है। दुर्बल धातु एक बार म० पु० द्वि० के रूप ऋधाथे में भी पाई जाती है।

२. हो सकता है कि यह लुङ् का अनियमित रूप हो, देखिये १४७ ग।

३. दघ् स् के स्थान पर।

४. सबल धात्वच् के साथ।

५. ऋग्वेद में यात् लगकर बनने वाले प्र० पु० एक० के रूप नहीं हैं। हां यास् (=यास् त) लगने से बने केवल आशीर्लिङ् के रूप मिल जाते हैं।

भूर्यात् (अथर्व०)। बहु० उ० पु० अर्श्याम, ऋर्ध्याम, क्रियाम, भूयाम, स्थेयाम। प्र० पु० अश्युर् (अश् प्राप्त करना), पेयुर्।

आत्मनेपद एक० उ० पु० अशीय। प्र० पु० अरीत (ऋ जाना)। बहु० उ० पु० अशीमहि, इषीमहि (इष् प्रज्वलित करना), नशीमहि (नश् पहुँचना)।

(क) किन्तु आशीर्लिङ के भी तीस रूप उपलब्ध होते हैं (जो कि संहिताओं में लगभग २० धातुओं से बनते हैं)। इनमें से सिवाय दो के सभी के सभी परस्मैपद के हैं।

उदाहरण हैं:

परस्मैपद एक० उ० पु० भूयासम्। प्र० पु० अश्यास् (=अश्यास् त्), गम्यास्, दश्यास्, पेयास् (पा पीना), भूयास्। द्वि० म० पु० भूयास्तम्। बहु० उ० पु० क्रियास्म। म० पु० भूयास्त।

आत्मनेपद एक० प्र० पु० पदीष्ट, मुचीष्ट।

५. लोट् के नब्बे से भी अधिक रूप पाये जाते हैं जिनमें से बारह के सिवाय सभी के सभी परस्मैपद के हैं। परस्मैपद के म० पु० के अनेक रूपों में सबल धातु पाई जाती है जो कि उस अवस्था में प्रायः स्वरयुक्त होती है।

उदाहरण हैं:

परस्मैपद एक० म० पु० कृधि, गधि (गम्), पूर्धि (पृ भरना), बोधि[1], योधि[2] (युध् लड़ना), शग्धि (शक् समर्थ होना), गहि (गम् जाना), माहि (मा मापना), साहि (सा बाँधना)। प्र० पु० गन्तु (गम् जाना), यातु, नूतु, श्रोतु। द्वि० म० पु० कृतम् और कर्तम् (अथर्व०), गतम् और गन्तम्, दातम्, वक्तम् (वच् पहुँचना), भूतम्, वर्तम् (वृ आच्छादित करना), वोळ्हम् (वह् ले जाना), श्रुतम्। प्र० पु० गन्ताम्, पाताम्, वोळ्हाम्। बहु० म० पु०

---

१. सत्तार्थक भू (भूधि के स्थान पर) और जागरणार्थक बुध (बुद्धि की बजाय बोद्धि के स्थान पर) इन दोनों से बने।

२. युद्धि, नव्य स्थिति योद्धि, का स्थानापन्न।

कृत और कर्त, गत और गन्त, भूर्त, यन्त, श्रुत और श्रोत; कर्तन, गन्तन, धातन, भूतन। प्र० पु० गमन्तु, धान्तु, श्रुवन्तु।

आत्मनेपद एक० म० पु० कृष्व, धीष्व (धा रखना), युक्ष्व (युज् जोड़ना)। वे रूप, जिनमें स्वर धातु पर रहता है, ये हैं: मंत्स्व, यक्ष्व (यज् यज्ञ करना), रास्व, वंस्व (वन् जीतना), संक्ष्व (सच् अनुगमन करना)। बहु० म० पु० कृढ्वम्, वोढ्वम्।

६. शत्रन्त रूपों के केवल सात या आठ उदाहरण मिलते हैं और शानजन्त रूपों के लगभग चालीस।

शत्रन्त—ऋर्वन्त्, क्रन्त्, ग्मन्त्, स्यान्त्।

शानजन्त—अराणं, इधानं, क्राणं, दृशान और दृशानं, बुधानं, भियानं, व्राणं (वृ आच्छादित करना) शुभानं और शुम्भानं, सुवानं (जिसे सदा स्वानं की तरह उच्चारित किया जाता है) और स्वानं (सामवेद)।

तृतीय अथवा साभ्यास रूप

१४९. यह लुङ संहिताओं में लगभग नब्बे क्रियापदों से बनता है जिनमें कि ब्राह्मण ग्रन्थों तक पहुंचने पर तीस की और वृद्धि हो जाती है। यद्यपि (स्वल्प अपवादों के साथ) इसका णिजन्तों से रूपसाम्य नहीं है तो भी अर्थ की दृष्टि से यह जैसे तैसे णिजन्तों के साथ सम्बद्ध हो गया है। जब लय वाले स्वसमकक्ष क्रियापदों में प्रेरणा अर्थ रहता है तो इसमें भी वही पाया जाता है। इस लुङ की अपनी यह विशेषता है कि इसमें लगभग नियमित रूप से अभ्यास में दीर्घ और धातु में ह्रस्व अच् (—◡) का क्रम उपलब्ध होता है। इस लय को पैदा करने के लिये अभ्यास के अच् को (जब तक यह संयोगवश गुरु न हो) दीर्घ कर दिया जाता है यदि धात्वच् छन्दोऽनुरोधात् ह्रस्व हो (या कर दिया जाता हो)। इस दृष्टि से वाश् (रंभाना), साध् (सफल होना), हीड् (शत्रुता करना) इन धातुओं में धात्वच् को ह्रस्व कर दिया जाता है। क्रन्द् (चिल्लाना), जम्भ् (कुचलना), रन्ध् (अधीन

करना), स्यंन्द् (*वहना*), स्रंस् (*गिरना*) इन धातुओं में अनुनासिक का लोप कर धात्वच् को लघु कर दिया जाता है। बहुत बड़ी संख्या में क्रिया रूपों की प्रकृति अडागम लगकर बनती हैं पर लगभग एक दर्जन की ऐसी अजन्त (आ-इ-उ-ऊ-ऋकारान्त) धातुएँ हैं—इनमें निद्रार्थक स्वप् धातु भी शामिल है—जिनके कोई-कोई रूप अडागम रहित प्रकृतियों से बनते हैं। उनके रूप उस समय जुहोत्यादिगण (१२७,२) की धातुओं के लङ् के रूपों की तरह बनते हैं। मध्यवर्ती धात्वच् या तो अपरिवर्तित रहता है या उसका दुर्बलीभाव हो जाता है पर अन्तिम अच् को गुण हो जाता है। जहाँ तक प्रकारों का सम्बन्ध है, वे सभी के सभी उपलब्ध हो जाते हैं। पर शत्राद्यन्त रूप उपलब्ध नहीं होते।

द्वित्व के विशेष नियम

(क) अ, आ, ऋ, ॠ और ऌ इन स्वरों को अभ्यास में इ हो जाता है।

(ख) अभ्यास के अच् को, यदि वह पहिले ही संयोगवश गुरु न हो, दीर्घ कर दिया जाता है।

निर्देशक के वस्तुतः उपलभ्यमान रूप, यदि वे *उत्पन्न करना* इस अर्थ की जन् से बने हों, तो इस प्रकार होंगे—

परस्मैपद एक० उ० पु० अ॑जीजनम्। म० पु० अ॑जीजनस्। प्र० पु० अ॑जीजनत्। द्वि० म० पु० अ॑जीजनतम्। बहु० उ० पु० अ॑जीजनाम। म० पु० अ॑जीजनत। प्र० पु० अ॑जीजनन्।

आत्मनेपद एक० प्र० पु० अ॑जीजनत। बहु० म० पु० अ॑जीजनध्वम्। अ॑जीजनन्त।

निम्नलिखित रूप उदाहरण के लिये प्रस्तुत किये जा सकते हैं:

परस्मैपद एक० उ० पु० अ॑नीनशम् (नश् *खो जाना*), अ॑चीकृपम् (कृप् *खींचना*), अ॑पिप्लवम् (ब्रा०), अ॑पीपरम् (पृ *गुजरना*)। म० पु० अ॑चिक्रदस्, अ॑बूभुवस्, सिष्वपस्; अ इस आगम के अभाव में: अ॑जीगर् (गॄ *निगलना*

और गॄ जगाना), त्तिष्वप्। प्र० पु० अंचीक्लृपत्, अंचुच्यवत् (का०), अंजीहिडत् (√हीड्), अंदिद्युतत्, अंबूब्रुवत्, अंवीवशत् (√वाश्), अंवीवृषत्, अंसिष्यदत् (√स्यन्द्), वीभयत्, शिश्नयत् (श्नय् चुभना); अ इस आगम के अभाव में—अंशिश्रेत्(√श्रि), अंशिश्नत्। बहु० प्र० पु० अंवीवशन् (√वाश्), अंसिस्रसन् (√स्रंस्), अंसीषदन् (√सद्), अंबीभजुर् (ब्रा०)।

आत्मनेपद एक० प्र० पु० अंवीवरत (वृ आच्छादित करना)। बहु० म० पु० अंवीवृधध्वम्। प्र० पु० अंबीभयन्त, अंवीवशन्त (√वाश्), अंसिज्यदन्त।

२. लेट् का प्रयोग विरल है। इसके केवल एक दर्जन के लगभग रूप मिलते हैं जोकि सिवाय एक के सभी के सभी परस्मैपद के हैं।

उदाहरण हैं:

परस्मैपद एक० उ० पु० रारधा। म० पु० तीतपासि। प्र० पु० चीक्लृपाति, पिस्पृशति[1], सीषधाति (√साध्)। बहु० उ० पु० रीरमाम, सीषधाम।

३. लु० लो० के रूप पर्याप्त प्रचुर हैं। परस्मैपद में इनकी संख्या पचास से भी अधिक है जबकि आत्मनेपद में इनकी संख्या केवल पाँच है।

उदाहरण हैं:

परस्मैपद एक० उ० पु० चुक्रुधम्, दीधरम् (धृ धारण करना)। म० पु० चिक्षिपस्, पिस्पृशस्, रीरधस्, सीषधस्। प्र० पु० चुच्यवत्, दीधरत्, मीमयत् (मा रंभाना), सिष्वदत् (स्वद् मधुर बनाना)। द्वि० म० पु० जिह्वरतम्। बहु० म० पु० रीरधत। प्र० पु० रीरमन्, शूशुचन् (शुच् चमकना), सीषपन्त सप् (सेवा करना)।

४. लिङ् रूपों की संख्या शायद ही एक दर्जन हो। ये केवल तीन धातुओं से बनते हैं, अधिकतर वच् (बोलना) से और शेष च्यु (हिलाना) और रिष् (चोट पहुँचाना) से।

---

१. अ इस आगम के अभाव में।

परस्मैपद एक० उ० पु० वोचे॑यम् । म० पु० रीरिषेस्, वोचे॑स् । प्र० पु० वोचे॑त् ।

द्विव० म० पु० वोचे॑तम् । वहु० उ० पु० वोचे॑म । प्र० पु० वोचे॑युर् ।

आत्मने० एक० उ० पु० वोचे॑य । वहु० उ० पु० वोचे॑महि ।

इनके अतिरिक्त आत्मनेपद में आशीलिंङ प्र० पु० एक० का रूप रीरिषीष्ट भी उपलब्ध होता है ।

५. शायद ही एक दर्जन से अधिक लोट् के रूप उपलब्ध होते हों । वे सभी के सभी परस्मैपद के हैं ।

एक० म० पु० वोचतात् । प्र० पु० वोचतु ।

द्विव० म० पु० जिगृतम् (गृ *जगाना*), दिधृतम्, वोचतम् ।

वहु० म० पु० जिगृत, दिधृत, पप्तत, वोचत, सुपूर्दत (अथर्व०) । प्र० पु० पूपुरन्तु (पृ *भरना*) शिश्रयन्तु :

अनियमितताएँ

(अ) दीप्त्यर्थक द्युत् के अभ्यास में इ आ जाता है[1] : अ॑दिद्युतत्, हिंसार्थक अम् में पूरी की पूरी धातु[2] की आवृत्ति पाई जाती है : आ॑ममत् (अ-अम्-अम्-अत्) जबकि जिगृतम्, जिगृत (अन्य रूप अ॑जीगर्), दिधृतम्, दिधृत॑ (अन्य रूप अ॑दीधरत्) एवञ्च दीदिपस् (दीप् चमकना) के स्थानापन्न इक्के-दुक्के रूप दिदीपस् में इसे ह्रस्व ही रहने दिया जाता है ।

२. नश् (खो जाना), वच् (बोलना) और पत् (गिरना) इन तीन धातुओं के धात्वच् में सङ्कोच अथवा उपधालोप हो जाता है (जैसाकि लिट् के दुर्बल

---

१. देखिये इसका लिट् का द्वित्व : १३९,८ ।

२. अ + अनुनासिक वाली धातुओं के लिट् में होने वाले द्वित्व के विषय में देखिये (१३९,६) ।

रूपों में पाया जाता है। यथा—अ॑नेशत् (=अ॑ननशत्), अ॑वोचत् (=अ-व-उच्-अत् : तुलना कीजिये ग्रीक है-एइपोन् ते), और अ॑पप्तत् । क्योंकि इन सभी में लिट् का अभ्यासात् आ चुका था (जब कि वैकल्पिक रूपों अ॑नीनशत् और अ॑पीपतत् में नियमित लुङ् के अभ्यास में ई पाया जाता है) अतः सम्भवतः इनका उद्भव लिट् प्र० के रूपों से हुआ था। पर अब ये लुङ् के रूप बन गये हैं जैसा कि इनके अर्थ से एवञ्च इनमें प्रकाराभिधायी प्रत्ययों के पाये जाने से पता चलता है (जैसे कि वोचतु आदि एवंच पप्तत) ।

२. ज्ञापय, स्थापय, हापय, भीषय, अर्पय, जापय (√जि) इन एयन्त प्रकृतियों से परे प्रत्यय के आदि वर्ण को तदवस्थ रहने दिया जाता है। पहिली चार में धात्वच् का इ के रूप में अपकर्ष हो जाता है जबकि पाँचवीं में अभ्यासात् धात्वच् से पूर्व आने की बजाय बाद में आता है। यथा—अ॑जिज्ञिपत्, अ॑तिष्ठिपत्, जीहिपस्, बीभिषस्, बीभिषथास्, अर्पिपम्[1], अ॑जीजपत[2] (वा० सं०)।

आशीर्लिङ्

१५०. यह लिङ् का वह रूप है जिसमें प्रकाराभिधायी प्रत्यय के बाद स् लगता है और जो लगभग अनन्यरूपेण लुङ् प्रकृतियों से बनता है। ऋग्वेद में यह परस्मैपद में उ० और प्र० पु० एक० व उ० पु० बहु० एवञ्च आत्मने० में म० और प्र० पु० एक० में पाया जाता है। प्रत्यय, जिनमें प्रकाराभिधायी प्रत्यय भी शामिल हैं, इस प्रकार हैं :

परस्मैपद एक० उ० पु० यासम् । प्र० पु० यास् (यास् स्), बहु० उ० पु० यास्म।

आत्मनेपद एक० म० पु० ईष्ठास् । प्र० पु० ईष्ट ।

(क) लिट्-आशीर्लिङ का केवल एक मात्र रूप आत्मनेपद के एक० म० पु० में पाया जाता है : सासहीष्ठास् ।

---

१. यहां प्रत्यय का प् न केवल तदवस्थ ही रहता है अपितु इसे द्वित्व भी कर दिया जाता है।

२. जयार्थक जि, जिससे कि यह लुङ् बनता है, का एयन्त रूप सामान्यतः जापय होता है। ब्राह्मण ग्रंथों में अ॑जीजिपत यह रूप भी पाया जाता है।

(ख) धातु लुङ के आशीलिंङ के लगभग तीस रूप संहिताओं में पाये जाते हैं। वे परस्मैपद के एक० उ० और प्र० पु०, द्वि० म० पु०, बहु० उ० और म० पु० एवञ्च आत्मनेपद एक० प्र० पु० (देखिये १४८,४ क) में पाये जाते हैं। अ-लुङ और साभ्यास लुङ में प्रत्येक में आत्मनेपद एक० प्र० पु० का एक-एक आशीलिंङ रूप पाया जाता हैं (१४७,४ और १४९,४)। स्-लुङ के आत्मनेपद म० और प्र० पु० एक० में आशीलिंङ के चार रूप पाये जाते हैं (देखिये १४३,४)।

सामान्यभविष्यत्

१५१. (इसमें) प्रकृति की बनावट धातु से स्य अथवा (सम्बन्धक इ के साथ अनतिप्रचुरतया इष्य) लगने से होती हैं। चूंकि भविष्यदर्थ बहुत वार लेट् और यदा कदा निर्देशक से भी अभिव्यक्त कर दिया जाता है अतः लृट् का प्रयोग ऋग्वेद में प्रचुर नहीं है। वहां यह केवल सोलह धातुओं से बनता है जब कि अथर्व० में यह और भी बत्तीस धातुओं से पाया जाता है। तै० सं० में यह साठ से भी अधिक धातुओं से बनता है। वेद और ब्राह्मण इन दोनों को मिलाकर सौ से भी ऊपर धातुओं के लृट् के रूप स्य लगकर और अस्सी से ऊपर धातुओं के रूप इष्य लगकर बनते हैं। प्रक्रियाओं में वे क्रियापद जिनके लृट् के रूप (सदैव इष्य लगकर) बनते हैं णिजन्त हैं। इनमें चार प्रकृतियाँ पाई जाती हैं—दो ऋग्वेद में और दो अथर्व० में। ऋकारान्त धातुओं से सदैव इष्य आता है जबकि ऋकारान्तभिन्न अजन्त धातुओं से स्य आता है।

(क) अन्त्य अच् एवञ्च छन्दोऽनुरोधात् ह्रस्व हुए मध्यवर्ती अच् को गुण हो जाता है। अन्तिम आ और मध्यवर्ती अ अपरिवर्तित रहते हैं। यथा जि *जीतना* : जेष्यं; नी *अगवाई करना* : नेष्यं; दा *देना* : दास्यं; मिह् *जल छोड़ना* : मेक्ष्यं; युज् *जोड़ना* : योक्ष्यं; कृत् *काटना* : कर्त्स्यं; दह् *जलाना* : धक्ष्यं; बन्ध् *बांधना* : भन्त्स्यं; भू *होना* : भविष्यं; सृ *बहना* : सरिष्यं; वृत् *मोड़ना* : वर्तिष्यं।

(अ) सदैव इष्य लगकर बनने वाले णिजन्त रूपों में अपनी सविकरणक प्रकृति तद्वस्थ रहती है; केवल अन्तिम अ का उनमें लोप हो जाता है। यथा—धारयिष्यं (धृ सहारा देना); वासयिष्यं (वस् पहिनना); दूषयिष्यं (दुष् दूषित करना); वारयिष्यं (वृ ढाँपना)।

(ख) लृट् के रूप अकारान्ताङ्गक तिङरूपों के लट् के रूपों (भंवामि) की तरह चलते हैं। आत्मनेपद के रूप केवल एक० में ही उपलब्ध होते हैं। जो रूप उपलब्ध होते हैं वे यदि कृ (करना) से बने हों तो इस प्रकार होंगे :

परस्मैपद एक० उ० पु० करिष्यामि। म० पु० करिष्यसि। प्र० पु० करिष्यति।

द्विव० म० पु० करिष्यथस्। प्र० पु० करिष्यतस्।

बहु० उ० पु० करिष्यामस्—करिष्यामसि। म० पु० करिष्यथ। प्र० पु० करिष्यन्ति।

आत्मनेपद एक० उ० पु० करिष्ये। म० पु० करिष्यसे। प्र० पु० करिष्यते।

१. लेट् का केवल एक प्रयोग, करिष्यास्, परस्मैपद म० पु० एक०, वेद में पाया गया है। एवमेव एक अन्य रूप नोत्स्यावहै, आत्मनेपद उ० पु० द्विव० (नुद् धकेलना), ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध हुआ है।

२. वीस से अधिक शत्राद्यन्त रूप उपलब्ध हुए हैं जिनमें से केवल चार शानजन्त हैं।

उदाहरण हैं :

शत्रन्त—करिष्यन्त्, धक्ष्यन्त् (√दह्); शानजन्त—यक्ष्यमाण (√यज्), स्तविष्यमाण (√स्तु)।

अनियमितताएँ

(अ) सू (उत्पन्न करना) में लृट् प्रकृति का अन्तिम अच् अपरिवर्तित रहता है। किन्च इस पर स्वर भी रहता है : सू॑ष्य; जबकि सह् के उपधा अ को दीर्घ कर दिया जाता है : साक्ष्यं।

लुट्

१५२. भविष्यत् के इस रूप का कोई असन्दिग्ध उदाहरण संहिताओं में नहीं है। पर अन्वागन्ता यज्ञपतिर्वो अत्र (तै०सं०, वा०सं०) (*यहां यजमान आपका अनुसरण कर रहा है*) जैसे वाक्य इसके उदीयमान[1] प्रयोग के उदाहरण हो सकते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार के भविष्यत् के रूप लगभग तीस धातुओं से बनते हैं। इसकी निष्पत्ति तृ वाले (१८०) कर्त्रर्थक नामपदों के प्रथमा विभक्ति के एक० के प्रयोग से होती है जिसके साथ म० और उ० पु० में सत्तार्थक अस् धातु के लट् का रूप भी सम्पृक्त कर दिया जाता है जबकि प्र० पु० द्विव० और बहु० में तृ वाली प्रकृति के प्रथमा विभक्ति के द्विव० और बहु० के रूप पाये जाते हैं। इस लकार का प्रयोग लगभग परस्मैपद तक ही सीमित है। आत्मनेपद में इसके इक्के-दुक्के रूप ही पाये जाते हैं। जो रूप पाये जाते हैं वे यदि सत्तार्थक भू से बने हों तो इस प्रकार होंगे—

परस्मैपद एक० उ० पु० भवितास्मि। प्र० पु० भविता। बहु० उ० पु० भवितास्मस्। प्र० पु० भवितारस्। आत्मनेपद एक० उ० पु०, म० पु० भवितासे। बहु० उ० पु० भवितास्महे।

लृङ्

१५३. यह भविष्यत् का भूतकाल का लकार है जिसका अर्थ है '*हुआ होता*'। संहिताओं में इसका केवल एक उदाहरण मिलता है: अभरिष्यत् (ऋग्वेद II ३०[२]) उठाने को *था*। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी यह रूप बहुत विरल है, सिवाय शतपथ ब्राह्मण के जिसमें कि यह पचास से भी अधिक बार उपलब्ध होता है।

---

१. ब्राह्मणग्रन्थों के इस नये लकार रूप के वैदिक अग्रवर्ती हैं तृ वाले कर्तृवाची नामपद जिनमें कि स्वर सामान्यतया धातु पर रहता है और जिनका प्रयोग उन शत्राद्यन्त रूपों की तरह होता है जोकि द्वितीया के नियामक होते हैं। इनका प्रयोग संयोजक अवयव के साहचर्य में या उसके बिना ही विधेय के रूप में किया जा सकता है। यथा—दाता यो वनिता मघम् (iii १३[१]) जो वैभव को देता है और प्राप्त करता है।

कर्मवाच्य

१५४. कर्मवाच्य में आत्मनेपद के प्रत्यय आते हैं। सविकरणक प्रकृतियों से बने एवञ्च लुङ के प्र० पु० एक० के रूपों में ही इसमें और आत्मनेपद के अन्य रूपों में भेद पाया जाता है। दिवादिगण की धातुओं के आत्मनेपद के रूपों में और कर्मवाच्य के रूपों में केवल स्वर का ही भेद है : नह्यते *बाँधता है* : नह्यते *बाँधा जाता है*।

(कर्मवाच्य में) प्रकृति धातु से उदात्त यं लगने से बनती है जोकि (धातु) दुर्बल रूप में पाई जाती है।

१. अन्तिम आ को प्रायः ई हो जाता है। यथा—दा *देना* : दीयं; पर यह तदवस्थ भी रहता है यथा—ज्ञा *जानना* : ज्ञायं।

२. अन्तिम इ और उ को दीर्घ हो जाता है। यथा—जि *जीतना* : जीयते, श्रु *सुनना* : श्रूयंते।

३. अन्तिम ऋ को रि हो जाता है। यथा—कृ *बनाना* : क्रियते[1]।

४. अन्तिम ॠ को ईर् हो जाता है। यथा शॄ *कुचलना* : शीर्यंते[2]।

५. उन हलन्त धातुओं में जिनके अन्तिम हल् से पूर्व अनुनासिक पाया जाता है, अनुनासिक का लोप हो जाता है। यथा—अञ्ज् *लेप करना* : अज्यंते; बन्ध् *बाँधना* : बध्यंते, भञ्ज् *तोड़ना* : भज्यंते; वञ्च् *टेढ़ा चलना* : वच्यंते; शंस् *स्तुति करना* : शस्यंते।

६. सम्प्रसारणी धातुओं में सम्प्रसारण हो जाता है (१७ टि० १)।

---

१. बिखेरना इस अर्थ की स्तृ, और स्मरण करना इस अर्थ की स्मृ ही ऐसी एकमात्र धातुएँ हैं जिनमें ऋ से पूर्व संयुक्त व्यञ्जन पाये जाते हैं और जिनसे कर्मवाच्य के रूप बनते हैं। इनके कर्मवाच्य के रूप संहिताओं में उपलब्ध नहीं होते, पर ब्राह्मणग्रन्थों में पाये जाते हैं : स्त्रियंते, स्मर्यंते।

२. संहिताओं में पूरणार्थक पॄ का कर्मवाच्य का रूप उपलब्ध नहीं होता पर ब्राह्मण ग्रंथों में वह पूर्यंते इस रूप में पाया जाता है (ऋ से पूर्व ओष्ठ्यवर्ण के आने के कारण।

यथा-वच् बोलना : उच्यते; वद् बोलना : उद्यते; वह् ले जाना : उह्यते; ग्रह् पकड़ना : गृह्यते।

(अ) अय वाले (णिजन्त) प्रक्रियारूपों में प्रत्यय का लोप हो जाता है जब कि सबल धात्वच् तदवस्थ रहता है। संहिताओं में इस प्रकार की केवल एक प्रकृति देखने में आई है: भाज्यते प्रविभाजित किया जाता है (प्रविभागार्थक भज् के णिजन्त रूप भाजय ते)।

(क) कर्मवाच्य लट् निर्देशक रूप यदि *आवाहनार्थक* हू से बने हों तो इस प्रकार होंगे-एक० उ० पु० हूये। म० पु० हूयसे। प्र० पु० हूयते। द्विव० प्र० पु० हूयेते। बहु० उ० पु० हूयामहे। प्र० पु० हूयन्ते।

(ख) जहाँ तक प्रकारों का सम्बन्ध है लेट् के केवल दो असन्दिग्ध रूप (प्र० पु० एक० उह्याते, भ्रियाते) और लु० लो० का केवल एक रूप (प्र० पु० एक० सूयत : सू *जन्म देना*) उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद अथवा अथर्व०[1] में विधिलिङ् के कोई भी रूप उपलब्ध नहीं होते। हाँ, प्र० और म० पु० के एक० और बहु० में लोट् के लगभग तीस रूप अवश्य उपलब्ध होते हैं। ये रूप जिनके निदर्शनार्थ आवाहनार्थक हू के रूप पर्याप्त होंगे, हैं :

एक० म० पु० हूयस्व। प्र० पु० हूयताम्।

बहु० म० पु० हूयध्वम्। प्र० पु० हूयन्ताम्।

(ग) चालीस से भी अधिक शानजन्त रूप पाये जाते हैं। यथा—हूयमान। लङ् के केवल आठ के लगभग उदाहरण देखने में आये हैं जो कि प्र० पु० एक० और बहु० में पाये गये हैं : अहूयत और अहूयन्त।

अनियमितताएँ

(इ) विस्तारार्थक तन् का कर्मवाच्य में ता यह रूप पाया जाता है : तायते[2]। इसी प्रकार उत्पत्त्यर्थक जन् का रूप बनता है : जायते (उत्पन्न होता है) जो कि रूप की दृष्टि से चतुर्थगण (दिवादिगण) का है जिसमें कि स्वर धातु पर रहा करता

१. पर वे ब्राह्मण ग्रन्थों में पाये जाते हैं।

२. ब्राह्मण ग्रन्थों में खायते खोदना इस अर्थ की खन् धातु से बनता है।

है। म्रियते (मरता है), (√मृ) और ध्रियते (√धृ) (धैर्ययुक्त है) रूप की दृष्टि से कर्मवाच्य होने पर भी अर्थ की दृष्टि से अकर्मक हैं।

कर्मवाच्यलुङ्

१५५. कर्मवाच्य का सविकरणक रूपों से बहिर्भूत कोई विशेष पुरुष-वचनपरिच्छिन्न रूप नहीं है सिवाय लुङ के प्र० पु० एक० के। यह एक विशेष प्रकार का आत्मनेपदी रूप होता है, (जो कि संहिताओं[1] में लगभग पैंतालीस धातुओं से बनता है)। इसका प्रयोग प्रधान रूप से कर्मवाच्य के अर्थ में होता है। जब यह गम् (*जाना*) जैसी अकर्मक धातुओं से बनता है तो इसका अर्थ अपरिवर्तित रहता है (जैसा कि क्तान्त रूपों में पाया जाता है)। यह निर्देशक का प्र० पु० एक० का रूप होता है जिसमें कि आगमयुक्त धातु से इ प्रत्यय आता है। इस रूप की अपनी यह विशेषता है कि इसमें आत्मनेपद के अन्य रूपों की तुलना में धातु सबल हो जाती है। यथा—अ॑कारि, अन्य रूप अ॑क्रि (आत्मनेपद उ० पु० एक० का रूप)। छन्द के कारण ह्रस्व मध्यवर्ती इ, उ, और ऋ को गुण हो जाता है। मध्यवर्ती अ को सामान्यतया दीर्घ कर दिया जाता है। अन्तिम इ, उ, और ऋ को वृद्धि हो जाती है जबकि अन्तिम आ और प्रत्यय के बीच य का आगम हो जाता है। आगमरहित रूपों में उदात्त सदैव धातु पर रहता है।

उदाहरण हैं:

अ॑वेदि (विद् *प्राप्त करना*), अ॑बोधि (बुध् *जागना*), अ॑दर्शि (दृश् *देखना*), अ॑वाचि (वच् *बोलना*), अ॑श्रायि (श्रि *सहारा लेना*), अ॑स्तावि (स्तु *स्तुति करना*), अ॑कारि (कृ *करना*), अ॑धायि (धा *रखना*)।

बीस से अधिक आगमरहित रूपों को लु० लो० की तरह भी प्रयुक्त किया जाता है। यथा—श्रा॑वि सुना जाय।

---

१. ब्राह्मण ग्रन्थों में एक दर्जन के लगभग और भी उपलब्ध होते हैं।

अनियमितताएँ

(अ) १. अंजनि, आगमरहित जंनि (अन्य रूप जांनि) एवञ्च अंवहि में मध्यवर्ती अ को दीर्घ नहीं किया जाता।

२. जारय (जार की तरह आचरण करना) इस नामधातु प्रकृति से अपना सा एकमात्र रूप जार्यायि बनता है जिसका अर्थ है उसे आलिङ्गित होने दिया जाय।

शत्राद्यन्त, क्वसु-कानजन्त, क्तान्त और क्त्वार्थक एवञ्च तुमुन्नन्त और तुमर्थक कृदन्त

शत्रन्त एवं क्वस्वन्त रूप

१५६. लट्, (जुहोत्यादिगणी धातुओं के सिवाय) लृट्, एवञ्च परस्मैपद लुङ् के शत्रन्त रूपों की प्रकृति 'अन्त्'[1] इस प्रत्यय के लगने से बनती है। यदि सबल प्रकृति की अपेक्षा हो तो वह परस्मैपद निर्देशक के प्र० पु० बहु० के इ का लोप करने से बन सकती है। यथा—भंवन्त्, क्षिपन्त्, अस्यन्त्, दुहन्त्, कृण्वन्त्, भिन्दन्त्, प्रीणन्त्। जुहोत्यादिगणी धातुओं में सबल और दुर्बल प्रकृति का भेद नहीं पाया जाता क्योंकि उनमें न् का लोप हो जाता है। यथा—जुंह्वत् (प्र० पु० बहु० जुंह्वति)।

लृट् के शत्रन्त रूप भी इसी प्रकार परस्मै० प्र० पु० बहु० के इ का लोप करने से बन सकते हैं: भविष्यन्त्, करिष्यन्त्।

धातु-लुङ् अ-लुङ्, और स्-लुङ् (इन तीनों) से शत्रन्त रूप बनते हैं। इनमें भी दूसरे (अ-लुङ्) और तीसरे (स्-लुङ्) में आगमरहित लु-प्रकृति से शतृ प्रत्यय आता है, यथा—विदन्त्, सक्षन्त् (सह्, अभिभव करना), एवञ्च पहिले (धातु-लुङ्) में दुर्बलीकृत अथवा अविकृत धातु से। यथा—ऋधन्त्, क्रन्त् (कृ बनाना), ग्मन्त् (गम् जाना), पान्त् (पा पाना)।

---

१. अन्त् वाले कृदन्तों की रूपावली के विषय में देखिये ८५ और उनकी स्त्री० प्रकृति की रचना के विषय में देखिये ९५ (क)।

(अ) अनियमितताएं—शत्रन्त रूपों में सत्तार्थक अस् के आदि अ एवंच हिंसार्थक हन् के उपधा अ का लोप हो जाता है : स॑न्त्, (प्र० पु० बहु० स॑न्ति), घ्नन्त् (प्र० पु० बहु० घ्नन्ति) जबकि दा॑शत् पूजा करता हुआ और शा॑सत् (प्र० पु० बहु० शा॑सति) में प्रत्यय नकार का लोप पाया जाता है।[1] दाहार्थक दह् के स् लुङ् के शत्रन्त रूपों में भी न् का लोप पाया जाता है : द॑क्षत् और धक्षत्। अभिभवार्थक सह् के उसी प्रकार के लुङ् के रूप स॑क्षत् में भी इसका लोप हुआ या नहीं इसके बारे में निश्चय से कुछ कह सकना कठिन है चूंकि यह केवल दुर्बल रूप में ही पाया जाता है।

१५७. साभ्यास क्वसुप्रत्ययान्त रूप दुर्बल (पर असंकुचित अथवा उपधालोपरहित) प्रकृति से बनता है जिसके साथ सीधे ही वांस् यह प्रत्यय लगा दिया जाता है। पचास से भी अधिक इस प्रकार की प्रकृतियाँ पाई जाती हैं।

उदाहरण हैं :

चकृव॑ांस्, जगन्वांस् (गम् जाना), तस्तभ्वांस् (स्तम्भ् सहारा देना), तस्थिवांस् (स्था ठहरना), ददृश्वांस्, दद्वांस् (दा देना), बभूवांस्, ववृत्वांस्, ससवांस् (सन् *लाभ उठाना*), सुषुप्वांस् (स्वप् *सोना*)।

(क) इन क्वसुप्रत्ययान्त रूपों में आधी दर्जन के लगभग ऐसे हैं जोकि अभ्यस्त प्रकृति से संयोजक-इकार-सहचरित प्रत्यय लगाने से बनते हैं जबकि प्रकृति का एकाच् रूप में अपकर्ष हो चुका हो : ईयिवांस् (इ *जाना*), ऊषिवांस् (वस् *रहना*), ओकिवांस्[2] (उच् *प्रसन्न होना*), पप्तिवांस् (पत् *गिरना*), सश्चिवसां (सच् *अनुसरण करना*)। बाद की संहिताओं में भी-जक्षिवांस् (घस् *खाना*)[3]। केवल एकमात्र ऐसा असन्दिग्ध उदाहरण, जिसमें क्वसुप्रत्ययान्त

---

१. दाश् और शास् ये दोनों ही अदादिगण की धातुएँ हैं, जुहोत्यादिगण की नहीं।

२. सबल धात्वच् एवञ्च अपने मूल कण्ठ्य रूप को प्राप्त करने पर।

३. जक्ष् जोकि जघ् (अ) स् से उपधालोप होकर बनता है।

रूप पूर्णरूपेण अभ्यस्त धातुसे संयोजक-इकार-सहचरित प्रत्यय लगाने से बनता है, विविशिर्वांस् (तै० सं०) है[1]।

(ख) कतिपय क्वसुप्रत्ययान्त रूप अनभ्यस्त प्रकृति से वांस् लगाने से बनते हैं: दाश्वांस् *पूजा करता हुआ*, विद्वांस् *जानता हुआ*, साह्वांस् *हावी होता हुआ*, और सम्भवतः खिद्वांस्[2] *तंग करता हुआ*। ठीक इसी प्रकार से बनने वाला रूप है मीढ्वांस् *उदार*, यद्यपि (इसमें की) धातु का स्वतन्त्र प्रयोग उपलब्ध नहीं होता। बाद की संहिताओं में तीन अनभ्यस्त धातुओं से संयोजक इ लगता है: दाशिवांस् (सा० वे०) *पूजा करता हुआ*, विशिवांस् (अ० वे०) *प्रविष्ट होता हुआ*, वर्जिवांस्[3] (अ० वे०) *तोड़ मरोड़ चुकने बाद*।

(अ) अनियमितताएँ—सात प्रकृतियों में तालव्य अपने मूल कण्ठ्य रूप में परिवर्तित हो जाते हैं: (चिकित्वांस् (√चित्), जिगीवांस् (√जि), रिरिक्वांस् (√रिच्), रुरुक्वांस् (√रुच्), विविक्वांस् (√विच्), शुशुक्वांस् (√शुच्), ओकिवांस्(√उच्) ददावांस् (अ० वे०), ओकिवांस् और साह्वांस् में धात्वच् और सासह्वांस् एवञ्च शूशुवांस् (√शू) में अभ्यास सबल पाये जाते हैं।

शानजन्त एवं कानजन्त रूप

१५८. (१) आत्मनेपद लृट् (२) कर्मवाच्य लट् एवञ्च (३) आत्मनेपद लट् के स्थान पर शानच् का प्रयोग पाया जाता है। अकारान्त प्रकृतियों से मान (मुगागमसहित शानच्) आता है और ये सदव अकारन्त होती हैं। (१) यक्ष्यमाण (√यज्), (२) क्रियमाण (√कृ), (३) यजमान।

(क) अनकारान्ताङ्क तिङरूपों में दुर्बल प्रकृति से आत्मनेपद लट् के स्थान पर आन (मुगागमरहित शानच्) लगता है। यथा—ब्रुवाण (√ब्रू), जुह्वान (√हु), रुन्धान (√रुध्), कृण्वान (√कृ), पुनान (√पू)।

---

१. ब्राह्मण ग्रंथों में ये रूप भी मिलते हैं: ददृशिवांस् और चिच्छिदिवांस्।

२. जोकि खिद्वस् रूप में सम्बोधन में ही पाया जाता है।

३. स्त्री० रूप वर्जुषी से जिसकी सत्ता की कल्पना की जा सकती है।

(ऋ) अदादिगणी धातुओं के शानजन्त रूपों में अनेक प्रकार की अनियमितताएँ पाई जाती हैं।

१. आस् (बैठना) इस धातु से विकल्प से ईन यह अनियमित प्रत्यय लगता है : आ॑सीन, अन्य रूप आसा॑न।

२. दोहनार्थक दुह् का अन्त्य वर्ण वैकल्पिक रूप से अपने मूल कण्ठ्य रूप को अपना लेता है : दु॑घान, अन्य नियमित रूप दु॑हान।

३. कतिपय धातुओं में गुण होता है : ओहा॑न (√ऊह्), योधा॑न (युध्), शया॑न (√शी), स्तवा॑न (स्तु)।

४. इन शानजन्त रूपों में बहुत से ऐसे हैं जिनमें स्वर प्रत्यय के अन्तिम अच् के स्थान पर विकल्प से धात्वच् पर पाया जाता है। यथा—वि॑दान, अन्य रूप विदा॑न।

१५९. कानजन्त रूप आत्मनेपद प्र० पु० बहु० के रे, (इरे, रिरे) इस प्रत्यय से पूर्व पाई जाने वाली प्रकृति के दुर्बल रूप से कानच् (आन॑) प्रत्यय लगने से बनता है। इसका प्रयोग प्रचुर है, अस्ती से भी अधिक उदाहरण इसके उपलब्ध होते हैं। उनमें से कतिपय ये हैं : आनजा॑न (√अञ्ज्), आनशा॑न (√अंश्), आरा॑ण (√ऋ), ईजा॑न (√यज्), ऊचा॑न (√वच्), चक्रा॑ण (√कृ), चिकिता॑न (√चित्), जग्मा॑न (√गम्) तस्था॑न (√स्था), तिस्तिरा॑ण (√स्तॄ), तेपा॑न (√तप्), पपा॑न (√पा *पीना*), पस्पशा॑न (√स्पश्), भेजा॑न (√भज्), येमा॑न (√यम्), लेभा॑न (√लभ्), वावसा॑न (√वस् *पहिनना और रहना*), शिश्रियाण॑ (√श्रि), सिष्मियाण॑ (√स्मि), सुषुपा॑ण (√स्वप्)।

(क) अनियमितताएँ—१. शयनार्थक शी धातु के कानजन्त रूप में दोहरी अनियमितता है। एक तो यह कि इसके अभ्यास में अ आता है और दूसरी यह कि इसमें धात्वच् सबल हो जाता है[1] : शशया॑न। २. अभिभवार्थक सह् धातु में प्रत्यय अभ्यस्त एवञ्च संकुचित प्रकृति से सम्पृक्त किया जाता है : सासहा॑न तथा सेहा॑न। ३. प्रयत्नार्थक कम् एवञ्च परिश्रमार्थक शम् के उपधाभूत धात्वच्

---

१. शी धातु की इसी प्रकार की अनियमितता के लिये देखिये १३४,२ (ख)।

का लोप नहीं होता : चकमानं तथा शशमानं । ४. इनमें से चार कानजन्त रूपों में यङ् स्वर अभ्यासाच् पर आता है: तूतुजान[1], शूशुजान, शूशुवान (√शू) और शाशदान[2] (शद् हावी होना) ।[3]

१६०. क्तप्रत्ययान्त रूप बहुसंख्यक उदाहरणों में त प्रत्यय (संयोजक इ के साथ या उसके बिना ही) अथवा कहीं अनतिप्रचुर रूप में धातु से (सीधे ही) न प्रत्यय लगने से बनता है।

१. न केवल अविकृत (असनाद्यन्त) धातुओं से आता है। यह उन (अदुर्बलीकृत) धातुओं से लगता है, जिनके अन्त मे या तो दीर्घ अच् आता है या द् और (विरले ही) च् अथवा ज् इनमें से कोई सा व्यञ्जन। इस प्रत्यय से पूर्व ई अथवा ऊ अपरिवर्तित रहते हैं, आ या तो तदवस्थ रहता है या इसका ई अथवा इ रूप में अपकर्ष कर दिया जाता है, ॠ को ईर् अथवा (साधारणतया ओष्ठ्य वर्ण पूर्व आने पर) ऊर् हो जाता है, द् का न् रूप में समीकरण हो जाता है; च् और ज् अपने मूलकण्ठ्य रूप को अपना लेते हैं। यथा—ली *चिपटना* लीनं, दू *जलाना* : दूनं; द्रा *सोना* : द्राणं; दा *खण्डित करना* : दिनं; हा *छोड़ना* : हीन; गॄ *निगलना* : गीर्णं; मॄ कुचलना : मूर्णं; जॄ *जीर्ण होना* : जूर्णं; भिद् *विदीर्ण करना* : भिन्नं; स्कन्द् *कूद जाना* : स्कन्नं, व्रश्च् *काटना* : वृक्णं; रुज् *तोड़ना* : रुग्णं।

(अ) अनेक धातुओं के विकल्प से त वाले रूप पाये जाते हैं : नुन्नं और नुत्तं (√नुद्), विन्नं और वित्तं (√विद् प्राप्त करना), सन्नं और सत्तं (सद्

---

१. सामान्य रूप से स्वर इस प्रकार भी पाया जाता है : तूतुजानं पर यह उतना प्रचुर नहीं है।

२. इसकी ग्रीक कानजन्त रूप केकड्नेनोस् से तुलना कीजिये।

३. पहिले तीन को यङन्त नहीं माना जा सकता चूंकि उनमें यङन्त का अभ्यासाच् नहीं है (१७३,२)। यद्यपि शाशदान के अभ्यास का अच् लिट् का या यङ् का हो सकता है तो भी, इसके साथ पाये जाने वाले लिट् के रूप शाशदुर से यह विचार ही अधिक पुष्ट होता है कि यह एक कानजन्त रूप है।

वैठना); शीर्न और शीर्त (श्या जम जाना); पृ भरना : पूर्ण और पूर्त; शृ कुचलना शीर्ण और शूर्त; पृच् संपृक्त करना-पृग्ण और पृक्त ।

(आ) सम्पर्कार्थक पृच्, छेदनार्थक व्रश्च् और भेदनार्थक रुज् का अन्तिम तालव्य अपने मूल कण्ठ्य रूप को अपना लेता है (देखिये १६०,१)।

२. जब र्त सीधे ही धातु से सम्पृक्त कर दिया जाता है तो उसकी (धातु की) प्रवृत्ति अपने दुर्बल रूप में प्रकट होने की हो जाती है : सम्प्रसारणी धातुओं में सम्प्रसारण हो जाता है; मध्यवर्ती अथवा अन्तिम नासिक्य ध्वनियों का लोप हो जाता है, आ का बहुत बार ई अथवा इ एवञ्च या का कभी-कभी ई रूप में अपकर्ष हो जाता है।

उदाहरण हैं :

यार्त, जिर्त, भीर्त, स्तुर्त, हूर्त, कृर्त, नर्ष्ट (√नश् खो *जाना*), सिक्र्त (√सिच्), युक्र्त (√युज्), गूढं (√गुह्)[1], दुग्र्ध (√दुह्), सृष्र्ट (√सृज्), इष्र्ट (√यज्), विर्द्ध (√व्यध्), उक्र्त (√वच्), ऊढं (√वह्)[2], सुप्र्त (√स्वप्), पृष्र्ट (√प्रछ्), अक्र्त (√अञ्ज्), तर्त (√तन्), गर्त (√गम्), पीर्त (पा *पीना*), स्थिर्त (√स्था); वीर्त (√व्या)।

(अ) धारणार्थक धा के-धिर्त, अन्य रूप हिर्त, में दोहरा दुर्बलीभाव हो जाता है। आज्ञार्थक शास् से बने शिर्ष्ट में मध्यवर्ती आ का इ रूप में अपकर्ष हो जाता है। (√वस् के रूप)[3]-र्घ (खाया गया) में उपधालोप और सलोप पाये जाते हैं।

---

१. प्रत्यय के मूर्धन्यीकरण, महाप्राणीकरण, धातु के अन्तिम अल् के लोप एवञ्च धात्वच को दीर्घ करने पर (देखिये ६२,६६ (ग))।

२. वह् र्त के सम्प्रसारण द्वारा उह् र्त इस रूप में अपकर्ष होने पर उन परिवर्तनों के बाद जो गूढं इस रूप में पाये जाते हैं।

३. देखिये पृ० २२४, टि० १।

(आ) दानार्थक दा धातु नियमित रूप से अपने क्तान्त रूप की सिद्धि के लिये दद् इस दुर्बल लट् प्रकृति को अपना लेती है : दत्त। इसमें त्वादात (तुमसे दिया गया) इस समस्त शब्द में पाया जाने वाला सामान्य रूप—दात ही अपवाद है। इस दद् का पुनः देवत्त (देवताओं द्वारा दिया गया) इस रूप में एवञ्च कतिपय उपसर्गों के साथ समास होने पर त्त रूप में अपकर्ष हो जाता है : व्यात्त खोला गया; परीत्त दिया गया, प्रतीत्त लौटा दिया गया। इसी प्रकार का अपकर्ष खण्डनार्थक दा धातु के समस्त क्तान्त रूप में पाया जाता है : अवत्त काटा गया।

(इ) एक अमन्त और तीन या चार अनन्त धातुओं में अनुनासिक तदवस्थ रहता है और अ को दीर्घ हो जाता है : ध्वन् शब्द करना : ध्वान्त, क्रम् डग भरना : क्रान्त; शम् शान्त होना : शान्त; श्रम् थकना : श्रान्त। धम् (धौंकना) के ध्मात और धमित ये अनियमित रूप पाये जाते हैं।

(ई) कतिपय अनन्त धातुओं में (अन् को) आ हो जाता है :- खन् खोदना : खात; जन् उत्पन्न होना : जात; वन् जीतकर हासिल करना :—वात; सन् प्राप्त करना : सात।

२. इत यह प्रत्यय उन बहुत सी धातुओं से आता है जिनके अन्त में न केवल संयुक्त हल् रहते हैं या ऐसे असंयुक्त हल् रहते हैं जिनका त् के साथ संयोग कठिन होता है अपितु ऐसे सामान्य हल् भी होते हैं, विशेषकर ऊष्म, जो कि ऐसी कोई भी समस्या उत्पन्न नहीं करते। [यहां] धातु का दुर्बलीभाव नहीं होता (सम्प्रसारण के चार उदाहरणों के सिवाय)। विकृत (सनाद्यन्त धातुओं) (जो कि लगभग अपवादरूपेण ण्यन्त ही हैं)[2] से केवलमात्र इत ही आता है (अय का लोप करने के पश्चात्)।[3]

---

१. जो कि दीर्घ स्वरोन्मुख अनुनासिक का प्रतिनिधित्व करता है।

२. सनन्त प्रकृति से केवल एक क्तान्त रूप देखने में आया है : मीमांसित आलोचित और एक ही नामधातु से : भामित क्रुद्ध।

३. ब्राह्मणग्रन्थों में ज्ञानार्थक ज्ञा की णिजन्त प्रकृति ज्ञपय का क्तान्त रूप बिना संयोजक इ के बनता है : ज्ञप्त।

उदाहरण हैं :

निन्दितं, रक्षितं, ग्रथितं, ईळितं, चरितं, जीवितं, पतितं, पनितं, कुपितं, स्तभितं, मुषितं, अर्पितं[1] (अर्पय जाने को प्रेरित करना), चोदितं (चोदय *गतिशील बनाना*)।

(क) जिन धातुओं में सम्प्रसारण होता है वे हैं : ग्रभ् और ग्रह् *पकड़ना* : गृभीतं और गृहीतं (अ० वे०)[2]; वक्ष् *बढ़ाना* : उक्षितं; वद् *बोलना* : उदितं; श्रथ् *शिथिल करना* : शृथितं।

१६१. अथर्ववेद में केवल एक ही वार एक ऐसा क्तान्त रूप पाया जाता है जिसे मत्वर्थीय प्रत्यय वन्त् के द्वारा उपबृंहित कर दिया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि जो अर्थ क्तवत्वन्त रूप का होता है वही इनका भी हो जाता है : अशितावन्त् *खा चुकने पर*।[3]

१६२. ऋग्वेद में कृत्य रूप चार प्रत्यय लग कर बनते हैं : एक अविकृत प्रत्यय य लगकर जिसका कि प्रयोग प्रचुर है और शेष विकृत प्रत्यय आय्य, एन्य और त्व लगकर जिनमें से हरेक लगभग एक दर्जन वार पाया जाता है। अथर्ववेद में दो अन्य कृत्य रूपों, जोकि तव्य और अनीय लगकर बनते हैं, का प्रयोग भी प्रारम्भ हो जाता है जिनमे से प्रत्येक दो वार पाया जाता है। ये सभी कृत्यरूप अर्थ की दृष्टि से लैटिन के-न्दुस् लगकर बने कृत्यरूपों के समकक्ष हैं।

१. ऋग्वेद में य वाले कृत्य रूपों के लगभग चालीस उदाहरण मिलते हैं। अथर्ववेद में बीस और भी मिल जाते हैं। प्रत्यय (य) को लगभग सदैव

---

१. इसका स्वर प्रायः (और असामान्यतया) इस प्रकार होता है : अ॑र्पित।

२. इ के स्थान पर ई आ जाने पर जैसा कि इस धातु के कतिपय अन्य रूपों में पाया जाता है।

३. इस प्रकार का रूप ब्राह्मणग्रन्थों में भी कठिनता से ही मिलता है।

इअ की तरह उच्चारित करना होता है। अपने से पूर्व के अन्तिम स्वरवत् के विकार में यही (य का इअ की तरह पाठ) हेतु है। धातु स्वरयुक्त होने के कारण सबल रूप में पाई जाती है सिवाय उन कुछेक उदाहरणों के जिनमें इ, उ या ऋ ये ह्रस्व स्वरवत् पाये जाते हैं।

(अ) अन्तिम आ या आदि के इअ के साथ ए रूप में एकादेश हो जाता है जब कि इसके एवं उत्तरवर्ती अ के बीच सुश्रुत्यर्थ (=उच्चारणसौकर्य के लिये) य् का आगम हो जाता है: दा देना: दे॑य (=दा॑-इ-य) देने योग्य:

(आ) अन्तिम इ, उ, ऊ और ऋ को नियमित रूप से गुण या वृद्धि हो जाती है। इस दशा में इनका अन्तिम स्वर जैसे अच् से पूर्व वैसे ही यहां भी सदैव य्, व् और र् के रूप में पाया जाता है। यथा—ली चिपकना: -लाय्य; नु स्तुति करना: न॑व्य; भू होना: भ॑व्य और भाव्य॑, भविष्यत्; हू आवाहन करना: ह॑व्य: वृ चुनना: वा॑र्य।

(इ) उपधा के इ, उ और ऋ को असंयुक्त हल् परे रहने पर गुण एवं अ को दीर्घ हो सकता है। उदाहरण—द्विष्: द्वे॑ष्य द्वेष का पात्र; युध्: यो॑ध्य आक्रान्त करने के योग्य, ऋध्: अ॑र्ध्य सिद्ध करने योग्य; मृज्: म॑र्ज्य शोधनीय; वच्: वाच्य कहने योग्य, प्रत्युदाहरण—गु॑ह्य छिपाने योग्य;-धृष्य आक्रमण करने योग्य;-मृध्य छिपाने योग्य।

(ई) अन्तिम ह्रस्व अच् सदा सदा अपरिवर्तित रहता है। उस अवस्था में उसके और प्रत्यय के बीच त् का आगम हो जाता है: इ॑त्य जाने योग्य, श्रु॑त्य सुनने योग्य;-कृत्य बनाने योग्य; चर्कृ॑त्य प्रशंसा करने योग्य।

२. आ॑य्य यह प्रत्यय जिसेकि प्रायः सदैव आ॑यिअ की तरह उच्चारित करना होता है, लगभग ऋग्वेद तक ही सीमित है यथा—पना॑य्य स्तुत्य; विदा॑य्य प्राप्त करने योग्य; श्रवा॑य्य शानदार। यह कभी-कभी विकृत (सनाद्यन्त) प्रकृतियों से भी सम्पृक्त कर दिया जाता है। ण्यन्त के साथ—पनया॑य्य प्रशंसनीय, स्पृहया॑य्य स्पृहणीय। सन्नन्त के साथ—दिधिषा॑य्य अनुनेय (√धा)। यङन्त के साथ—वितन्तसा॑य्य *शीघ्रसम्पाद्य*

३. एन्य (जिसे कि सामान्यतया एंनिअ की तरह उच्चारित करना होता है) धातु से सम्पृक्त कर दिया जाता है। यदि धातु अजन्त न हो तो उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता। यथा—द्विषे॑ण्य *तंग करने वाला*, युधे॑न्य *जिसके साथ युद्ध करना हो*, दृशे॑न्य *देखने योग्य*, पर (अजन्त होने पर रूप होगा) वरेण्य *वरणार्ह* (वृ *वरण करना*)। केवल एक बार यह लुङ् प्रकृति से भी आता है: यंसे॑न्य *निर्देशनीय* (√यम्)। विकृत (सनाद्यन्त) धातुओं से भी यह प्रत्यय आता है। सन्नन्त—दिदृक्षे॑ण्य *देखने योग्य*, शुश्रूषे॑ण्य *श्रवण करने योग्य*। यङन्त—मर्मृजे॑न्य *स्तुत्य*, वावृधे॑न्य *महनीय*। नामधातु—सपर्ये॑ण्य *पूजनीय*।

४. त्व जोकि लगभग ऋग्वेद[1] तक ही सीमित है और जिसका कि सामान्यता तुअ की तरह उच्चारण करना होता है धातु के सबल रूप से आता है जो कि स्वरयुक्त होती है। यथा—कर्त्व *बनाने योग्य*; हे॑त्व *आगे धकेलने योग्य*: (√हि), सो॑त्व *अभिषव करने योग्य* (√सु); व॑क्त्व *कहने योग्य*, संयोजक इ के साथ: स॑नित्व *जीतने योग्य*; संयोजक ई के साथ: भ॑वीत्व[2] भविष्यत्।

५. तव्य इस कृत्य प्रत्यय वाले वेद के केवलमात्र दो उदाहरण हैं (जो कि दोनों के दोनों ही अथर्ववेद में पाये जाते हैं) जिनमें तव्य संयोजक इ के साथ आता है—जनित॑व्य (*उत्पन्न होना*) और हिंसित॑व्य *हिंसनीय*।[3]

६. अनीय वाले कृत्य रूपों के केवलमात्र उदाहरण (जो कि दोनों के

---

१. ब्राह्मणग्रन्थों में कतिपय उदाहरण उपलब्ध होते हैं: जे॑त्व (जि जीतना), स्ना॑त्व (स्ना स्नान करना), ह॑न्त्व (हन् वध करना)।

२. इ की बजाय ई आजाने के कारण।

३. ब्राह्मणग्रन्थों में इस कृत्य प्रत्ययान्त रूप का प्रयोग कम नहीं हुआ जहाँ कि यह न केवल मूल धातु से ही अपितु विकृत (सनाद्यन्त) प्रकृतियों से भी बनता है।

दोनों ही अथर्ववेद में पाये जाते हैं)। उपजीवनीय *जीवनार्थ आश्रयणीय हैं*–और आमन्त्रणीय *सम्बोधित करने योग्य हैं।*

III *क्त्वान्त और क्त्वार्थक अथवा अव्यय कृदन्त*

१६३. क्त्वान्त और क्त्वार्थक कृदन्तों के १२० से भी अधिक उदाहरण ऋग्वेद और अथर्ववेद में उपलब्ध होते हैं। ये उस क्रिया को अभिव्यक्त करते हैं जोकि पुरुषवचनपरिच्छिन्न क्रियापद के द्वारा अभिव्यञ्जित क्रिया के साथ रहती है अथवा अनेक बार उससे पूर्व हो चुकती है। ये त्वी, त्वा और त्वाय (जो कि सभी के सभी उन प्रकृतियों के प्राचीन रूप हैं जिनके अन्त में वह तु आता है जो कि तुमुन्नन्त अथवा तुमर्थक कृदन्त रूपों को बनाने के भी काम में आता है) इन तीन प्रत्ययों के सामान्य धातु से लगने से बनते हैं।[1]

१. त्वीयुक्त रूप जोकि लगभग ऋग्वेद[2] तक ही सीमित है उस संहिता में तीनों की तुलना में सर्वाधिक प्रचुर प्रयुक्त है। वहां इसके १५ उदाहरण पाये जाते हैं। सम्भवतः यह त्वन्त प्रकृतियों के प्राचीन सप्तम्यन्त रूप का प्रतिनिधित्व करता है। सामान्यतः यह सीधे धातु से ही सम्पृक्त किया जाता है। उस स्थिति में धातु का रूप वही होता है जोकि उसका क्त प्रत्यय आने पर बनता है।

उदाहरण हैं :

कृत्वी बना चुकने पर, गत्वी जा चुकने पर, गूढ्वी *छिपा* चुकने पर, भूत्वी हो चुकने पर, वृक्त्वी नीचा *दिखा* चुकने पर (√वृज्), हित्वी छोड़ चुकने पर (√हा)। दो रूप ऐसे हैं जिनमें प्रत्यय इ इस संयोजक

---

१. ब्राह्मणग्रन्थों में लगभग एक दर्जन उदाहरण पाये गये हैं।

२. यह क्त्वार्थक रूप अ० वे० में उपलब्ध नहीं होता पर ब्राह्मणग्रन्थों में इसका सर्वथा लोप नहीं हुआ।

अच् को साथ लिये रहता है : जनित्वीं पैदा कर चुकने पर और स्कभित्वीं सहारा दे चुकने पर।

२. ऋग्वेद में त्वी (तु वाले धातुज नाम पद का एक पुराना तृतीया एक० का रूप) यह प्रत्यय नौ धातुओं से लगता है। अथर्व० में यह और भी तीस धातुओं से आता है। यहाँ धातु का वही रूप रहता है जो कि क्त से पूर्व पाया जाता है। ऋग्वेद में उपलभ्यमान रूप हैं: पीत्वी (पा *पीना*), भित्वी *टुकड़े टुकड़े कर*, भूत्वी *होकर*, मित्वी *बनकर* (√मा), युक्त्वी *जोतकर*, वृत्वी *आच्छादित कर*, *ढँक कर*, श्रुत्वी *सुनकर*, हत्वी *मारकर* हित्वी *छोड़कर*। अथर्ववेद में पाये जाने वाले कतिपय रूप हैं: इष्ट्वी *यज्ञ कर* (√यज्), जग्ध्वी *निगल कर* (√जक्ष्), तीर्त्वी *पार कर* (√तॄ), तृढ्वी *नष्ट कर* (√तृह्), दत्त्वी *देकर* (√दा), पक्त्वी *पका कर* (√पच्), बद्ध्वी *बाँध कर* (√बन्ध्), भक्त्वी *तोड़ कर* (√भज्), रूढ्वी *चढ़कर* (√रुह्), वृक्त्वी *काटकर* (√व्रश्च्), सुप्त्वी *सोकर* (√स्वप्); तीन में संयोजक अच् इ लगता है: चायित्वी *ध्यान रखकर* (√चाय्), हिंसित्वी *हानि पहुँचा कर*, गृहीत्वी *पकड़ कर*; कतिपय (प्रयोग) अय वाली विकृत (सन, यन्त) प्रकृतियों से भी बनते हैं, यथा—कल्पयित्वी *प्रबन्ध कर*।

३. सब से विरल उपलब्ध होने वाला क्त्वार्थक रूप त्वीयान्त है जोकि ऋग्वेद में केवल आठ धातुओं से बनता है[1] : गत्वाय *जाकर*, जग्ध्वाय *खाकर*, दत्त्वाय *देकर*, दृष्ट्वाय *देख कर*, भक्त्वाय *प्राप्त कर*, युक्त्वाय *जोत कर*, हत्वाय *मारकर*, हित्वाय *छोड़कर*, इन प्रकार के तीन और क्त्वार्थक रूप यजुर्वेद में पाये जाते हैं: कृत्वाय *करके*, तत्वाय *फैला कर*, वृत्वाय *ढँक कर*।

१६४. क्रियापद के समस्त होने पर प्रत्यय नियमित रूप से या तो य

---

१. यह क्त्वार्थक रूप अथर्व० में दो बार और ब्राह्मणग्रन्थों में लगभग आधी दर्जन बार पाया जाता है। श० ब्रा० में यह एक बार ण्यन्त प्रकृति से बनता है : स्पाशयित्वाय (√स्पश्)।

अथवा या, या त्य, अथवा त्या होना है। ऋग्वेद में कम से कम ऐसे दो तिहाई रूपों मे प्रत्यय का अच् दीर्घ पाया जाता है। धातु सदैव स्वरयुक्त पाई जाती है।

१. धातु से य अथवा या (पर कदापि इ के विना नहीं) आने पर वही रूप रहता है जो कि त्वा से पूर्व पाया जाता है सिवाय इसके कि (यहाँ) अन्तिम आ और अम् अपरिवर्तित रहते हैं। ऋग्वेद में लगभग चालीस एवञ्च अ० वे० में इनसे भी तीस और अधिक धातुओं से ये समस्त कृत्वार्थक रूप बनते हैं।

ऋग्वेद से उदाहरण हैं :

आच्या *झुका कर* (=आ-अच्), अभ्युप्य *आच्छादित कर* ($\sqrt{}$वप्), अभिक्रम्य *पास पहुँच कर*, अभिगूर्या *सादर स्वीकार कर*, (गृ *गाना*), संगृभ्या *इकट्ठा कर*, निचाय्या *डर कर*, वितूर्या *आगे धकेल कर* ($\sqrt{}$तॄ), आदाय *लेकर*, अतिदीव्य *और ऊँचा दाव लगा कर*, अनुदृश्य *साथ-साथ देख कर*, आरभ्य *पकड़ कर*, *निपद्य-द्या बैठ कर*; णन्त प्रकृति से प्रार्प्य *गतिशील कर* (प्र-अर्पय)।

अथर्ववेद से उदाहरण हैं :

उदुह्य *ऊपर उठा कर* ($\sqrt{}$वह्); सङ्गीर्य *निगल कर* (गॄ), उपदद्य *अन्तर्निहित कर* ($\sqrt{}$दा), सम्भूय *मिलकर*, उत्थाय *उठ कर* ($\sqrt{}$स्था), संसीव्य *सी कर*; णयन्त प्रकृति से : विभाज्य *बाँट कर* ($\sqrt{}$भज्)।

(अ) क्रियाविशेषणों और नामपदों मे समस्त तीन धातुएँ ऋग्वेद में पाई जाती हैं : पुनर्दाय *लौटा कर*, मिथस्पृध्य *एक साथ स्पर्धा कर*, कर्णगृह्य *कान से पकड़ कर*, पादगृह्य *पाँव से पकड़ कर*, हस्तगृह्य *हाथ से पकड़ कर*।

१६५. उन समस्त क्रियापदों से जिनके अन्त मे ह्रस्व अच्[१] आता है,

---

१. कभी-कभी मौलिक न होकर दीर्घ अच् का अपकृष्ट रूप।

य अथवा या की बजाय त्य या त्या लाता है। यथा—एंत्या आकर (आ-इ), अभिर्जित्य जीतकर, आदृत्य आदर कर, अपमित्य[1] उधार लेकर; उपश्रुत्य चोरी से सुन कर; क्रियाविशेषणिक अथवा नामिक पूर्वपद के साथ : अरंकृत्या तैयार कर, अख्खलीकृत्य चिल्लाकर, नमस्कृत्य (अ० वे०) नमस्कार कर।

(अ) इन क्रियापदों का अनुकरण वे कतिपय नकारान्त या मकारान्त धातुएँ भी करती हैं जिनमें न् या म् से पूर्व अ आता है। इनमें क्तान्त रूपों की तरह अनुनासिक का लोप हो जाता है : विहत्या भगा कर (√हन्), आगत्या आकर (√गम्), उद्यत्य (अ० वे०) ऊपर उठाकर (√यम्)।

१६६. कतिपय धातुज नामपदों का द्वितीया का अमन्त रूप संहिताओं में क्त्वार्थक रूप न समझा जाने पर भी ब्राह्मणों और सूत्रग्रन्थों में बहुत बार क्त्वार्थक रूप ही मान लिया गया है। प्रत्यय से पूर्व धातु का (जो कि लगभग सदैव समस्त पाई जाती है) वही रूप पाया जाता है जोकि कर्मवाच्य लुङ् के प्र० पु० एक० के इ से पूर्व उपलब्ध होता है (१५५)। यथा—शाखां समालम्भम् शाखा पकड़ कर (श० ब्रा०) महानागम् अभिसंसारम् एक बहुत बड़े सांप के चारों ओर एक साथ चक्कर काटकर (श० ब्रा०)।

तुमुन्नन्त अथवा तुमर्थक कृदन्त

१६७. तुमुन्नन्त अथवा तुमर्थक कृदन्तों के सभी रूप द्वितीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी एवञ्च सप्तमी विभक्तियों के धातुज नामपदों के प्रतिरूपक प्राचीन रूप हैं। इनका प्रयोग बहुत प्रचुर है। ये ऋग्वेद में ७०० बार पाये जाते हैं। केवल द्वितीया प्रतिरूपक और चतुर्थी प्रतिरूपक तुमुन्नन्त अथवा तुमर्थ कृदन्तों का प्रयोग प्रचुर है। इनमें भी चतुर्थी प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्तों की संख्या द्वितीया प्रतिरूपक तुमुन्नन्त अथवा तुमर्थक कृदन्तों की

---

१. यहां मि, मापना इस अर्थ की मा, का अपकृष्ट रूप है।

अपेक्षा कहीं अधिक है। ऋग्वेद में इनका अनुपात १२ और १ और अथर्व० में ३ और १ है।

यह एक विचित्र तथ्य है कि तुमुन्नन्त रूप, वह एकमात्र रूप जो संस्कृत में बच रहा है, ऋग्वेद में पांच से अधिक बार नहीं पाया जाता जबकि चतुर्थी प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त जोकि ऋग्वेद में शेष सभी तुमर्थ कृदन्त रूपों की अपेक्षा सात गुना अधिक बार प्रयुक्त हुआ है ब्राह्मण ग्रन्थों तक पहुँचते-पहुँचते बहुत कुछ लुप्त हो चुका है।

(अ) सामान्यतया तुमन्नन्त अथवा तुमर्थ कृदन्त रूप उस धातु से बनता है जो कि किसी भी लप्रकृति से सम्बद्ध नहीं होती और जिसमें कभी भी वाच्य भेद नहीं पाया जाता। हां ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जहां कि ध्यै, अ'से और सनि वाले रूप सविकरणक प्रकृति से सम्बद्ध होते हैं। एकमात्र ऐसा उदाहरण भी है जहां ध्यै वाला रूप लिट् प्रकृति से बनता है। अनेक स्थलों में ध्यै णयन्त प्रकृतियों से भी आता है। ध्यै और तवै वाले रूप तुमर्थक कृदन्त हैं यह उनके असाधारण प्रत्ययों से तत्काल पता चल जाता है। एवमेव सनि वाले रूपों का भी उनकी कुछ अलग सी प्रकृति की बनावट से पता चल जाता है यद्यपि उनके विभक्ति प्रत्यय सामान्य ही हैं। द्वितीया प्रतिरूपक तुम् और अम् एवञ्च पञ्चमी और षष्ठी प्रतिरूपक तुमर्थ प्रत्ययों के तुमर्थकत्व का पता उनकी उपसर्गों से एवञ्च सोपसर्गक क्रियापदों से अन्वित होने की शक्ति से चलता है। कतिपय तुमर्थ कृदन्त रूपों का सामान्य धातुज नामपदों से भेद करना सम्भव नहीं है: उन्हें शुद्ध तुमर्थ कृदन्त रूप नहीं माना जा सकता जब तक कि वे या तो इक्के दुक्के विभक्तिरूप न हों या उनकी रचना क्रियापद की सी न हो।

चतुर्थी प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्तरूप

इस रूप[1] के अन्त में ए आता है जो कि धातु के अथवा प्रकृति के

---

१. ब्राह्मणग्रन्थों में तवै प्रत्ययान्त ही केवलमात्र एक ऐसा चतुर्थी प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त है जो सामान्यतया प्रयुक्त हुआ है। अन्यथा ए वाले (देखिये टि० ६) पांच या छः रूप, तवे वाले दो रूप: अ'वितवे और स्र्तवे और ध्यै वाला एक रूप: सा'ह्यै जीतने के लिये (√सह्) ब्राह्मणग्रन्थों में देखने में आये हैं। सप्तमी प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त रूप का वहां सर्वथा लोप हो चुका है।

अन्तिम आ से मिल कर ऐं रूप में परिणत हो जाता है।

यह बनता है:

(क) धातुओं से। इनके लगभग साठ रूप पाये जाते हैं। लगभग एक दर्जन उन धातुओं से बनते हैं जिनके अन्त में दीर्घ अच् आता है और एक उनसे जिसके अन्त में इ आता है। इन सभी का (सिवाय भू के वैकल्पिक रूप के) पूर्वपदों के साथ समास होता है यथा—परादै छोड़ने के लिए प्रहे भेजने के लिये (√हि)-मिये कम करने के लिये (√मी),-भ्वे और भुवे होने के लिये,-तिरे पार करने के लिये।

शेष हलन्त धातुओं से बनते हैं। एक दर्जन के लगभग असमस्त रूप में पाये जाते हैं। यथा—महे प्रसन्न होने के लिये, मिहे पानी बहाने के लिये, भुजे उपभोग करने के लिये, दृशे देखने के लिये। पर समस्त रूपों का प्रयोग प्रचुरतर है। यथा-ग्रभे पकड़ने के लिये, -इधे प्रज्वलित करने के लिये,-नुदे धकेलने के लिये,-पृछे पूछने के लिये,-वाचे बोलने के लिये,-विधे बाँधने के लिये, -स्यदे बहने के लिये।

---

१. सिवाय श्रद्धे (विश्वास करने के लिये) और प्रमे बनाने के लिये के जिनमें आ का लोप हो जाता है।

२. सम्प्रसारण होने पर।

३. अच् के दीर्घ होने पर।

४. अनुनासिक लोप होने पर (√स्यन्द्)।

५. ब्राह्मणग्रन्थों में हलन्त धातुओं से ए लगकर बने आधी दर्जन तुमर्थक कृदन्त रूप पाये गये हैं जिनमें सिवाय एक के शेष सभी समस्त होते हैं: दृशे (तै० सं०), देखने के लिये, प्रतिधृषे सहारने के लिये, (तै० सं०) प्रम्रदे कुचलने के लिये (श० ब्रा०), आरभे पकड़ने के लिये (श० ब्रा०), आसदे (किसी चीज) पर बैठने के लिये (ऐ० ब्रा०), अतिसृपे सरककर लांघ जाने के लिये (मै० सं०)। सिवाय प्रम्रदे के ये सभी के सभी ऋग्वेद में पाये जाते हैं।

(ख) धातुज नामपद, जिनका निर्वचन नाँ भिन्न-भिन्न प्रत्ययों से किया जाता है। कुल मिलाकर इनकी संख्या कहीं अधिक है।

१. पच्चीस के लगभग असन्त[1] प्रकृतियों के चतुर्थी प्रतिरूपक तुमर्थक कृदन्त रूप हैं। यथा—अ॑यसे *जाने के लिये*, च॑क्षसे *देखने के लिये*, च॑रसे *चलने के लिये या चरने के लिये*, पु॑ष्यसे *पुष्टि के लिये*, भियसे *डरने के लिये*, श्रिय॑से *शोभायुक्त होने के लिये*।

२. इकारान्त प्रकृतियों के पाँच या छः चतुर्थी प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त ऋग्वेद मे पाये जाते हैं और एक या दो उत्तरवर्ती संहिताओं में; तुर्ज॑ये *(पशु आदि) पालने के लिये*, दृश॑ये *देखने के लिये*, मह॑ये *आनन्द मनाने के लिये*, युध॑ये *युद्ध करने के लिये*, सन॑ये *हासिल करने के लिये*, गृह॑ये *पकड़ने के लिये* (का०), चित॑ये *समझने के लिये* (वा० सं०)।

३. चार या पांच उन प्रकृतियों के चतुर्थी प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त रूप हैं जिनके अन्त में ति आता है: इष्ट॑ये *ताजगी के लिये*, पीत॑ये *पीने के लिये*, वीत॑ये *आनन्द मनाने के लिये*, सात॑ये *प्राप्त करने के लिये*।

४. तीस से भी अधिक उन प्रकृतियों के चतुर्थीप्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त रूप हैं जिनके अन्त में तु आता है[2] (तु उस धातु से आता है जिसे गुण हो चुका हो, कभी-कभी इसके साथ सम्बन्धक इ भी रहता है) यथा—अ॑त्तवे *खाने के लिये*, ए॑तवे *जाने के लिये*, ओ॑तवे *बुनने के लिये*, (ऊ=वा), क॑र्तवे *बनाने के लिये*, ग॑न्तवे *जाने के लिये*, पा॑तवे *पीने के लिये*, भ॑र्तवे *भरण करने के लिये*,

---

१. जिस पर सामान्यतया स्वर रहता है पर लगभग आधी दर्जन के ऐसे उदाहरण हैं जिनमें स्वर धातु पर रहता है।

२. इस तुमर्थ कृदन्त के केवलमात्र उदाहरण, जो ब्राह्मणग्रन्थों में देखने में आये हैं: अ॑वितवे और स्त॑र्तवे हैं।

यष्टवे यज्ञ करने के लिये, वक्तवे बोलने के लिये, वस्तवे चमकने के लिये, वोळ्हवे पहुँचाने के लिये (√वह्) अवितवे ताजगी के लिये, चरितवे चलने या चरने के लिये, सवितवे उत्पन्न करने के लिये (√सू), स्रवितवे बहने के लिये (√स्रु) हवितवे आवाहन करने के लिये (√हू), जीवातवे जीने के लिये, स्तरीतवे नीचे गिराने के लिये, (स्√तृ)।

एक दर्जन से भी अधिक रूप उन प्रकृतियों के चतुर्थी प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त हैं जिनके अन्त मे तवै आता है (जोकि तु के समान ही उस धातु से सम्पृक्त किया जाता है जिसे गुण हो चुका हो)। उनकी यह विशेषता है कि उनमें उदात्तद्वय पाया जाता है। यथा—एतवै, जाने के लिये, ओतवै बुनने के लिये, गन्तवै जाने के लिये, पातवै पीने के लिये, मन्तवै सोचने के लिये स्रतवै बहने के लिये, यमितवै पथ प्रदर्शन करने के लिये, स्रवितवै बहने के लिये।

(अ) यह रूप ब्राह्मणग्रन्थों तक में भी नियमित रूप से प्रयुक्त होता रहा है जहां कि इसके निम्नलिखित उदाहरण देखने में आये हैं: एतवै और यातवै जाने के लिये. कर्तवै करने के लिये, दीबितवै उड़ जाने के लिये, द्रोग्धवै षड्यन्त्र करने के लिये, मन्तवै सोचने के लिये मन्थितवै शासन करने के लिये, स्तर्तवै नीचा होने के लिये, अविचरितवै उल्लङ्घन करने के लिये, आनेतवै लाने के लिये, निरस्तवै बाहिर फेंकने के लिये, परिस्तरीतवै चारों ओर बिखेरने के लिये, संह्वयितवै एक साथ बुलाने के लिये।

६. त्या वाली प्रकृति से बने चतुर्थी प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त का केवल यही एकमात्र असन्दिग्ध उदाहरण उपलब्ध होता है: इत्यै जाने के लिये।

७. पैंतीन से भी अधिक उन प्रकृतियों के चतुर्थी प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त रूप हैं (जो कि लगभग ऋग्वेद तक ही सीमित हैं) जिनमें ध्या अकारान्त धातुज प्रकृतियों से (सामान्यतया स्वरयुक्त) सम्पृक्त कर दिया जाता है। यथा-इयध्यै जाने के लिये (√इ), गमध्यै जाने के लिये, चरध्यै चलने या चरने के लिये, शयध्यै लेटने के लिये (√शी), स्तवध्यै स्तुति करने के लिये (√स्तु), पिबध्यै पीने के लिये (√पा), पृणध्यै भरने के लिये (√पॄ), हुवध्यै

आवाहन करने के लिये (√ हू)[1]; वावृधध्यै[1] *शक्तिशाली बनाने के लिये,* नाशयध्यै[3] नष्ट करने के *लिये,* वर्तयध्यै मोड़ने के *लिये।*

(अ) इस प्रकार के तुमर्थ कृदन्त रूपों में से ब्राह्मणग्रन्थों में केवल एक ही दृष्टिगोचर होता है : सादध्यै जीतने के लिये (√ सह्)। तै० सं० में एक ऐसा उदाहरण उपलब्ध होता है जिसके अन्त में ऐ के स्थान पर ए पाया जाता : गमध्ये जाने के लिये।

८. पांच शब्द मन्नन्त प्रकृतियों के चतुर्थी प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त रूप हैं : त्रामणे रक्षा *करने के लिये,* दामने देने के *लिये* (ग्रीक दोमेनइ), धर्मणे धारण करने के *लिये.* भर्मणे, सुरक्षित रखने के *लिये,* विद्मने (ग्रीक हिंद्मेनइ) जानने के *लिये।*

९. तीन शब्द वन्नन्त प्रकृतियों के चतुर्थीप्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त रूप हैं : तुर्वणे *अभिभव करने के लिये* (√ तृ) दावने (ग्रीक दोवनइ=दोनइ) देने के *लिये,* धूर्वणे[4] हानि पहुँचाने के *लिये।*

२. द्वितीया प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त

इसकी रचना की दो पद्धतियाँ हैं :

(क) एक तो वह (जिसके एक दर्जन से भी अधिक उदाहरण ऋग्वेद में एवञ्च इनसे अतिरिक्त बहुत से और अथर्व वेद में पाये जाते हैं) जिसमें लगभग सदैव हलन्त (सिवाय धा, मी, और तृ के) धातु के दुर्बल रूप के साथ अम् लगता है। यथा—समिधम् उद्दीप्त करने के *लिये,* सम्पृछम् पूछने के *लिये,* आरभम् पहुँचने के *लिये,* आरुहम् चढ़ने के *लिये,* शुभम् चमकने के

---

१. अन्त के तीन नियमित सविकरणक प्रकृतियों से बनते हैं।

२. साभ्यास लिट् प्रकृति से।

३. णिजन्त प्रकृति से जिससे लगभग दस ऐसे रूप बनते हैं।

४. अच् और अन्तःस्थ के स्थानपरिवर्तन के कारण : ऋर्=वृ। देखिये, पृ० २२५ टि० १।

लिये, प्रतिरम् देर करने के लिये (√तॄ), प्रतिधाम् ऊपर रखने के लिये, प्रमियम् पर्वाह न करने के लिये (√मी)।

(ख) दूसरी वह जिसमें कि तुमर्थ कृदन्त रूप त्वन्त (=लैटिन सुपाइन) प्रकृतियों से बनता है। इसका प्रयोग उसी श्रेणी की प्रकृतियों के चतुर्थी प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त रूपों से कहीं कम है। केवल पाँच उदाहरण ऋग्वेद और लगभग उतने ही और अथर्व० में उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद : ओतुम् बुनने के लिये, दातुम् देने के लिये (लै० दतुम्), प्रष्टुम् पूछने के लिये, प्रभर्तुम् उपहार देने के लिये, अनुप्रवोळ्हुम् आगे बढ़ने के लिये। अथर्व० : अत्तुम् खाने के लिये, कर्तुम् बनाने के लिये, द्रष्टुम् देखने के लिये, याचितुम् माँगने के लिये, स्पर्धितुम् स्पर्धा करने के लिये। का०, वा० सं० : खनितुम् खोदने के लिये।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में द्वितीया प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त चतुर्थी प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्तों की अपेक्षा लगभग दो गुना अधिक प्रचुर हो चुका है। अम् वाला रूप अप्रायिक नहीं है जबकि तुम् वाले रूप पर्याप्त प्रचुर हैं।

३. पञ्चमी और षष्ठीप्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त

इस तुमर्थ कृदन्त का प्रयोग विरल है। संहिताओं में इसके बीस से कम उदाहरण उपलब्ध होते हैं। इसका स्वरूप शुद्ध तुमर्थ कृदन्त की अपेक्षा धातुज नामपद का अधिक है। द्वितीया प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त रूपों के समान ही यह दो प्रकार से बनता है : धातु (हलन्त) प्रकृति से एवञ्च त्वन्त धातुज नामपद से। इसलिये इसके अन्त में अस् या तोस् आता है। चूँकि इनमें से प्रत्येक पञ्चमी और षष्ठी दोनों का प्रतिनिधित्व करता है इसलिये वाक्यरचना के आधार पर ही इनमें विभक्ति-भेद किया जा सकता है।

(क) असन्तरूप का अर्थ लगभग अनपवाद रूप से पञ्चमी विभक्ति का होता है। ऋग्वेद में इसके छः उदाहरण उपलब्ध होते हैं : आतृदस् चुभाया जाता हुआ, अवपदस् गिरता हुआ, सम्पृचस् सम्पृक्त होता

हुआ, अभिर्भिवस् *बांधता हुआ*, अभिध्वंसस् *फूँकता हुआ*, अतिष्कंदस् *फाँदता हुआ*। ऐसा दीखता है कि षष्ठी विभक्ति का केवल एक असन्दिग्ध उदाहरण है : निर्मिषस् *आँख झपकने के लिये*।

(ख) तोसन्त रूपके ऋग्वेद में पञ्चम्यर्थक छः उदाहरण पाये जाते हैं : एंतोस् और गन्तोस् *जाता हुआ*, जनितोस् *उत्पन्न होता हुआ*, निंधातोस् *रखता हुआ*, शंरीतोस् *शीर्ण किया जाता हुआ*, सोतोस *अभिषव करता हुआ*, हंन्तोस् *प्रहार किया जाता हुआ*।

षष्ठ्यर्थक तीन उदाहरण हैं :

कर्तोस् *करता हुआ*, दांतोस् *देता हुआ*; योतोस् *परिहार करता हुआ*।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में पञ्चमी और षष्ठी प्रतिरूपक तुमर्थक कृदन्तों का प्रयोग उतना ही प्रचुर हो चुका है जितना कि चतुर्थी प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्तों का।

सप्तमीप्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त

इस प्रकार का तुमर्थ कृदन्त रूप विरल है। बहुत से सन्दिग्ध स्थलों का समावेश करने पर भी इसके उदाहरण शायद ही एक दर्जन से अधिक हों।

(क) पाँच या छः धातु प्रकृतियों के सप्तमी प्रतिरूपक रूप हैं : व्युषि *सूर्योदय के समय*, सञ्चक्षि *देखने पर*, दृशि और संदृशि *देखने पर*, बुधि *जागने पर*। चूंकि इन रूपों का कोई निजी तुमर्थक स्वरूप नहीं होता और इनके योग में केवल षष्ठी विभक्ति ही आती है अतः इन्हें धातुज नामपदों का सामान्य सप्तम्यन्त रूप मानना अधिक उपयुक्त होगा।

(ख) तरन्त प्रकृति से रूप बनते हैं धर्तरि *सहारा देने के लिये* और विधर्तरि *अर्पण करने के लिये*। पर ये वास्तव में शुद्ध तुमर्थक रूप हैं इसमें सन्देह है।

(ग) ऋग्वेद में सन्-अन्त प्रकृतियों के आठ सप्तमी प्रतिरूपक रूप पाये जाते हैं। इनका अर्थ शुद्ध तुमर्थक रूपों का ही होता है : नेषणि

नेतृत्व करने के *लिये*, पर्षणि *गुजरने के लिये*, अभिभूषणि *साहाय्य प्रदान करने के लिये*, सूर्षणि *सूजने के लिये*, सर्क्षणि *मानने के लिये* (√सच्); संयोजक ई के साथ: तरीषणि; सविकरणक प्रकृतियों से: गृणीषणि *गाने के लिये*, स्तृणीषणि *बिछाने के लिये।*

प्रक्रियारूप

१. णिजन्त

१६८. प्रक्रिया रूपों में इनका प्रयोग कहीं अधिक प्रचुर है। संहिताओं में ये (ण्यन्त) रूप दो सौ से अधिक धातुओं से एवञ्च ब्राह्मणग्रन्थों में सौ और भी धातुओं से बनते हैं। ऋग्वेद की १५० णिजन्त प्रकृतियों में कम से कम एकतिहाई का अर्थ प्रेरणा न होकर पौनःपुन्य है। निःसन्देह सारी की सारी प्रक्रिया का अर्थ मूल रूप में पौनःपुन्य रहा होगा। इसी से सम्भवतः यह समझ में आ सकता है कि किस तरह एक पौनःपुन्यार्थक रूप, साभ्यास लुङ्, णिजन्त रूपों के साथ विशेष रूप से आ चिपका। कभी-कभी एक ही धातु से पौनःपुन्यार्थक एवञ्च प्रेरणार्थक दोनों ही रूप बनते हैं। यथा पर्तयति=*उड़ता फिरता है* और पार्तयति=*उड़ाता है*, सामान्य क्रियापद: पतति=*उड़ता है।*

णिजन्तरूप धातु से अय प्रत्यय लगने से बनता है। उस स्थिति में उसे (धातु को) प्रायः सबल कर दिया जाता है।

१. आदि या मध्य के इ, उ, ऋ और लृ को (यदि वे संयोगवश गुरु न हों तो) गुण हो जाता है। यथा विद् *जानना* : वेदय *जतलाना*; क्रुध् *क्रुद्ध होना* : क्रोधय *क्रोधित करना*; ऋद् *खण्डित होना* (अकर्मक) : अर्दय *नष्ट करना*; तृप् *तृप्त होना* : तर्पय *तृप्त करना*, क्लृप् *तद्योग्य बनना* : कल्पय *रचना*।

(क) अधिकतर प्रेरणार्थरहित अनेक धातुओं में धात्वच् अपरिवर्तित

रहता है। यथा—रुच् *चमकना* : रुचंय वही अर्थ, (पर रोचंय *रोशन करना।*

(ख) आदि या मध्य के अ को (यदि वह संयोगवश गुरु न हो तो) लगभग तीस धातुओं में दीर्घ हो जाता है। यथा—अम् *हानिकारक होना;* आमंय *हानि उठाना;* नश् *खो जाना;* नाशंय *नष्ट करना।*

(अ) निम्नलिखित धातुओं के एयन्त रूपों में अ विकल्प से ह्रस्व रहता है, गम् जाना, दस् क्षीण होना, ध्वन् लुप्त हो जाना, पत् उड़ना, मद् मत्त होना, रम् विश्राम करना, यथा पत् उड़ना : पतंय उड़ते फिरना, केवल एक बार इसका अर्थ उड़ाना भी देखा जाता है : पातंय उड़ाना।

(आ) णिजर्थ के अधिकतर अविद्यमान रहने के कारण लगभग पच्चीस धातुओं में अ सदैव ह्रस्व रहता है। यथा—दम् दमन करना : दमंय वही अर्थ; जन् उत्पन्न होना : जनंय वही अर्थ।

(ग) अन्तिम इ, उ, ऊ और ऋ को गुण या वृद्धि हो जाते हैं। यथा—क्षि *अपने अधिकार में रखना;* क्षयंय[1] *सुरक्षित रूप से बसाना,* च्यु *अस्थिर होना* : च्यावंय *हिलाना;* भू *होना* : भावंय *होने की प्रेरणा देना;* घृ *बूंद-बूंद गिरना* : घारंय *बूंद-बूंद गिराना;* श्रु (*सुनना*) श्रवय और श्रावय *सुनाना;* जृ (*जीर्ण होना*) और सृ (*बहाना*) में गुण और वृद्धि दोनों ही पाये जाते हैं : जरंय और जारंय *जीर्ण होना,* सरंय और सारंय *बहाना,* दृ *भेदन करना* में केवल गुण ही होता है : दरंय *खण्ड-खण्ड करना।*

(घ) आकारान्त धातुओं से पंय लगता है[2]। यथा—धा *रखना* : धापंय *रखवाना।*

---

१. इकारान्त धातु का एकमात्र णिजन्तरूप (सिवाय जयार्थक जि के अनियमित जापंय और आश्रयार्थक श्रि के श्रापंय के)।

२. उन अन्य धातुओं के विषय में जिनसे पय लगता है देखिये 'अनियमितताएँ' २।

(छ) णिच् सभी के सभी तिङ्रूपों में तदवस्थ रहता है, सविकरणक रूपों के अतिरिक्त भी। इसके रूप गणों के अकारान्ताङ्गक तिङ्रूपों (१३२) के समान ही बनते हैं। लेट्[1], लोट्[2], लुं० लो०, लङ और णन्त और शानजन्त रूपों का प्रयोग प्रचुर है, पर विधिलिङ का परस्मैपद में प्रयोग अतिविरल है। आत्मनेपद में तो वह सर्वथा अनुपलब्ध है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में लृट् के केवल चार रूप उपलब्ध होते हैं: दूषयिष्यामि *मैं दूषित करूँगा*, धारयिष्यति *वह धारण करेगा*, वासयिष्यसे *तुम अपने को अलङ्कृत करोगे*, वारयिष्यते *वह बचादेगा*। लिट् में केवल एक आमन्त रूप (१३९,९ क) उपलब्ध होता है: गमयांचकार[3] (अथर्व०)। नाम्नाम लुङ के रूप केवल छः णिच् प्रकृतियों से सम्बद्ध हैं (पृ० २३१. क ३)। इसके अतिरिक्त तीन इष्लुङ के रूप भी हैं जोकि णिच् प्रकृतियों से बनते हैं; व्ययय *कुमित करना* से व्ययीत्; इलय (*शान्त होना*) से ऐलयीत्, ध्वनय (*छा जाना*) से ध्वनयीत्[4]।

(च) नामज रूपों के उदाहरण निम्नलिखित हैं: कर्मवाच्य शानजन्त रूप मार्ज्यमान; कतिपय क्तान्त रूप: घारित *लीपा गया*, चोदित *प्रेरित किया गया*, वेशित *प्रविष्ट कराया गया*; आय्य वाले कतिपय कृत्यरूप (१६२,२) स्पर्हाय्य *रक्षणीय*, पनयाय्य *स्तुत्य*, स्पृहयाय्य *स्पृहणीय*, ध्यैं वाले दस तुमर्थ कृदन्त नाशयध्यै *नष्ट करने के लिये*, इत्यादि (पृ० २५६, ७), अथर्व० में पाँच

---

१. आत्मने० द्वि० का एकमात्र उपलब्ध रूप है म० पु० मादयैते और ऋग्वेद में ऐ वाला आत्मने० का केवलमात्र रूप है (सिवाय उ० पु० द्वि० के) मादयाध्वै।

२. तात् वाला म० पु० एक० का रूप वेद और ब्राह्मण दोनों में ही पाया जाता है। आच्छादनार्थक वृ से का० सं० में म० पु० बहु० का एक अनन्यसामान्य रूप वारयध्वात् उपलब्ध होता है।

३. ब्राह्मणग्रन्थों में ये रूप अभी भी प्रचुर नहीं हैं, सिवाय श० ब्रा० के जहां कि इनकी संख्या कहीं अधिक है।

४. ब्राह्मणग्रन्थों में लगभग एक दर्जन णिजन्त प्रकृतियों से सन्नन्त रूप बनते हैं। यथा दिद्रापयिष *दौड़ाने की इच्छा*।

क्त्वान्त रूप : अर्पयित्वा *अर्पण* कर, कल्पयित्वा रच कर, सादयित्वा *स्थिर होकर*, स्रंसयित्वा *गिरा* कर ।

अनियमितताएँ

१. अथर्व० में तीन णिजन्त रूपों में पय से पूर्व आ को ह्रस्व हो जाता है : ज्ञपय जलाना, श्रपय पकाना, स्नपय स्नान कराना, अन्य रूप स्नापय (ऋग्वेद) ।

२. आकारभिन्न अच् जिन धातुओं के अन्त में आता है, अर्थात् ऋ अथवा इ, उन चार से पय लगता है : ऋ जाना : अर्पय जाने को प्रेरित करना, क्षि रहना : क्षेपय रहने को प्रेरित करना (अन्य रूप क्षयय)। जयार्थक जि एवञ्च आश्रयार्थक श्रि में इ के स्थान पर आ हो जाता है : जापय जिताना, श्रापय बढ़ाना[१] ।

३. भयार्थक भी धातु से एक सर्वथा अनियमित सी णिच् प्रकृति भीषय (डराना) बनती है ।

४. पानार्थक पा एवञ्च वृद्ध्यर्थक प्या धातुओं से अय लगता है अथच धातु और प्रत्यय के बीच य् आ जाता है : पायय पिलाना, प्याययय भरना। सम्भवतः इसके कारण में यह कल्पना है कि इन धातुओं का मूल रूप पै और प्यै था ।

५. ग्रभ (पकड़ना) के अच् का सम्प्रसारण के द्वारा दुर्बलीभाव होजाता है : गृभय पकड़ना जब कि दुष् (दूषित करना) के अच् को दीर्घ कर दिया जाता है : दूषय वही अर्थ । पूरणार्थक पॄ धातु के णिजन्त रूप में अपने आदि ओष्ठ्य वर्ण के प्रभाव से मध्यवर्ती आ को ऊ हो जाता है : पूरय पूर्ण करो ।

II. सन्नन्त

१६९. प्रक्रियारूपों में सर्वाधिक अप्रचुर सन्नन्त रूप स्वरयुक्त अभ्यास एवञ्च स प्रत्यय लगने से बनते हैं । यह स ऋग्वेद में कभी भी संयोजक

---

१. ब्राह्मणग्रन्थों में उगना इस अर्थ की रुह् धातु से हलन्तत्व होने पर भी ह् का लोप होकर पय लगता है : रोपय, उगाना (अन्य रूप, रोहय) ।

इ के नहीं साथ लगाया जाता है और नहीं अथर्ववेद में । इसके केवल मात्र अपवाद हैं अथर्व० का **पिपतिष**, वा० सं० का **जिजीविष** एवंच तै० सं०[1] का **जिगमिष** । संहिताओं में सन्नन्त रूप साठ से भी कम धातुओं से बनते हैं । ब्राह्मणग्रन्थों में वे और भी तीस धातुओं से बनते पाये गये हैं । अकारान्ताङ्गक तिङरूपों (१३२) की तरह ही इनके रूप भी बनते हैं ।

इनमें स्वर के *अभ्यास* पर रहने के कारण धातु सामान्यतया अपरिवर्तित रहती है । यथा—दा *देना* : **दिदास** *देने की इच्छा रखना*; भिद् *फोड़ना* : **बिभित्स**; नी *नेतृत्व करना* : **निनीष**, गुह् *छुपाना* : **जुगुक्ष** (६२क, ६९क), भू *होना* : **बुभूष**; दृश् *देखना* : **दिदृक्ष** । पर (इनमें)

१. अन्तिम इ और उ को दीर्घ हो जाता है और ऋ को ईर् । यथा—जि *जीतना* : **जिगीष**; श्रु *सुनना* : **शुश्रूष**; कृ *बनाना* : **चिकीर्ष** ।

२. तीन धातुओं में अन्तिम आ का ई रूप में अपकर्ष हो जाता है (देखिये १७१,३) और एक धातु में इ रूप में : गा *जाना* **जिगीष** (सा० वे०); पा *पीना* : **पिपीष** (अन्य रूप, पिपास); हा *आगे बढ़ना* : **जिहीष**; धा *रखना* **दिधिष** (अन्य रूप, धित्स) ।

द्वित्व का विशेष नियम

१७०. अभ्यास का निजी अच् इ है जो कि सभी प्रकृतियों में पाया जाता है सिवाय उन धातुओं के जिनमें उ या ऊ हो (इनमें अभ्यास में उ पाया जाता है) । यथा ज्या *अभिभव करना* : **जिज्यास**; मिश् *घुल मिल जाना* : **मिमिक्ष**; प्री *प्रेम करना* : **पिप्रीष**; वृत् *मुड़ना* **विवृत्स** पर (धातु में उ होने के कारण इन रूपों के अभ्यास में इ नहीं आता) गुह् *छुपाना* : **जुगुक्ष**; भू *होना* : **बुभूष** ।

---

१. ब्राह्मणग्रन्थों में लगभग एक दर्जन अन्य धातुओं की सन्नन्त प्रकृतियां इस प्रकार बनती हैं : चिक्रमिष, जिग्रहीष, विविदिष (विद् जानना) इत्यादि ।

अनियमितताएँ

२७१. १. पाँच धातुओं में उपधा अ को म् या न् परे आने पर दीर्घ हो जाता है: गम् जाना: जिगांस, हन् प्रहार करना: जिघांस (९९ घ २), विचारार्थक मन् धातु में अभ्यास को भी दीर्घ हो जाता है: मीमांस (९९ घ २); वन् (जीतकर) हासिल करना और सन् (प्राप्त करना) के न् का लोप हो जाता है: विवास और सिषास।

२. हिंसार्थक धृ में अपने अन्तःस्थ और अ् के स्थान पर उर् आ जाने के पश्चात् उ को दीर्घ हो जाता है: दुधूर्ष। देखिये पृ० २५६, टि० ४।

३. आधी दर्जन आकारवान् अथवा अकारवान् धातुओं के धात्वक्षर का एक विशेष प्रकार की लोप की पद्धति से ह्रस्वीकरण हो जाता है: दा (देना) और धा (रखना) में अच् का लोप हो जाता है: दित्स (=दिद् [आ]स), अन्य रूप दिदास; धित्स (=दिध् [आ]स), अन्य रूप दिधिष; दभ् (हानि पहुँचाना) लभ् (लेना), शक् (समर्थ होना) और सह् अभिभव करना में आदि धातु व्यंजन एवम् अच् का लोप हो जाता है: दिप्स[1] (=दि[द]भ्स), लिप्स[2] (=लि[ल]भ्स), शिक्ष (=शि[श]क्ष)[3]।

(अ) प्राप्त्यर्थक आप् एवम् पुष्ट्यर्थक ऋध् (जिसका स्वरूप प्रक्रिया दशा में अर्ध् मान लिया जाता है) धातुओं में अभ्यास के इ को धातु के आदि इ के साथ एकादेश होकर ई हो जाता है: ईप्स (=ई आप्स) और ईर्त्स (=ई अर्ध्स)।

४. चि ध्यान (देना), चित् (अनुभव करना), जि (जीतना) और हन् (हत्या करना) में आदि व्यञ्जन अपने मूल कण्ठ्य रूप में आ जाता है: चिकीष, चिकित्स, जिगीष, जिघांस।

५. भक्षार्थक घस् के अन्तिम स् को त् हो जाता है (६६ र १): जिघत्स (अ० वे०) खाने की इच्छा। तीन धातुओं के अभ्यास में दीर्घ अच् पाया जाता है: तुर् पार करना (=तृ): तूतुर्ष; बाध् पीडा पहुँचाना: बीभत्स[4]; मन् विचार

---

१. ब्राह्मणग्रन्थों में धीप्स भी।

२. ब्राह्मणग्रन्थों में लीप्स भी।

३. इसी तरह ब्राह्मणग्रन्थों में भी रूप बनते हैं: धीक्ष (दह् जलाना), पित्स (पद् जाना), रिप्स (रभ् पकड़ना)।

४. धात्वच् के ह्रस्वीभाव के साथ।

करना : मीमांस[1]। दूसरी ओर वचनार्थक यच् और प्राप्त्यर्थक नश् धातुओं में अभ्यासगत इ के लुप्त होजाने के कारण अभ्यास का अपकर्ष हो जाता है : ईयक्ष (यियक्ष के स्थान पर) और ईनक्ष (निनक्ष के स्थान पर)। प्राप्त्यर्थक आप् के एक रूप में अभ्यास का सर्वथा लोप कर दिया जाता है : अप्सन्त।

(ञ) भक्षणार्थक अश् और वृद्ध्यर्थक ऋध् इन दो अजादि धातुओं की सन् प्रकृति में अभ्यासगत (इ) द्वितीय प्रकार भाग में रहता है : अशिशिष (ब्राह्मण०) और ऋदिधिष (वा० सं०)।

सन्नन्त रूपों में सविकरणक रूपों के सभी प्रकार एवम् लङ् का प्रतिनिधित्व पाया जाता है, यद्यपि साकल्येन नहीं। शत्रन्त और शानजन्त रूपों के पच्चीस से भी अधिक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। उपलभ्यमान रूप, यदि वे विवास (जीतने की इच्छा) से बने हों; तो इस प्रकार होंगे—

परस्मै० निर्दे० लट् एक० उ० पु० विवासामि। म० पु० विवाससि। प्र०पु० विवासति। द्विव० म० पु० विवासथस्। प्र० पु० विवासतस्। बहु० उ० पु० विवासामस्। प्र० पु० विवासन्ति।

आत्मनेपद एक० उ० पु० विवासे। म० पु० विवाससे। प्र० पु० विवासते।

बहु० उ० पु० विवासामहे। प्र० पु० विवासन्ते।

परस्मै० लेट् एक० उ० पु० विवासानि। प्र० पु० विवासात्।

बहु० प्र० पु० विवासान्।

परस्मै० लु० लो० एक० प्र० पु० विवासत्।

आत्मने० बहु० प्र० पु० विवासन्त।

परस्मै० विधिलिङ् एक० उ० पु० विवासेयम्। प्र० पु० विवासेत्।

बहु० उ० पु० विवासेम।

आत्मने० एक० उ० पु० विवासेय।

परस्मै० लोट् एक० म० पु० विवास और विवासतात्। प्र० पु०

---

1. धात्वन्त के दीर्घाभाव के साथ।

विंवासतु। द्विव० म० पु० विंवासतम्। प्र० पु० विंवासताम्। बहु० म० पु० विंवासत। प्र० पु० विंवासन्तु।

शतन्त रूप—विंवासन्त्।

शानजन्त रूप—विंवासमान।

परस्मै० लङ् एक० म० पु० अंविवासस्। प्र० पु० अंविवासत्। बहु० प्र० पु० अंविवासन्।

(अ) सविकरणक रूपों से बाहर केवल दो सन्नन्त क्रियापद पाये गये हैं[1]। वे हैं अथर्व० के इष्-लुङ् के दो रूप—अंचिकित्सीस् और ईंर्त्सीस्[2]। तीन कृदन्त रूप भी उपलब्ध हुए हैं: क्तान्त रूप—मीमांसित[3] और कृत्यप्रत्ययान्त रूप दिदृक्षेंण्य देखने योग्य एवञ्च शुश्रूषेंण्य सुनने योग्य[4]। अन्त में, सन्नन्त प्रकृति से उ लग कर बने लगभग एक दर्जन से भी ऊपर धातुज विशेषण ऋग्वेद में उपलब्ध होते हैं। यथा- इयक्षुं यज्ञ करने का इच्छुक। भिवक्ति के नियामक रूप में शतन्त अथवा शानजन्त रूपों का जो कार्य होता है वही इनका भी होता है।

III यङ्लुगन्त और यङन्त

१७२. इन क्रियापदों का तात्पर्य किसी भी सामान्य धातु से अभिव्यक्त क्रिया का पौनःपुन्य अथवा भृशत्व द्योतन करना है। इनका प्रयोग प्रचुर है। संहिताओं में नब्बे धातुओं से अधिक से ये रूप बनते हैं और ब्राह्मण ग्रन्थों में

---

१. ब्राह्मणग्रन्थों में सन्नन्त प्रकृतियों से बने पाँच या छः लिट् के आनन्त रूप प्रयुक्त हुए देखे गये हैं।

२. ब्राह्मणग्रन्थों में आधी दर्जन सन्नन्त प्रकृतियों के इष्-लुङ् के रूप पाये जाते हैं। यथा—ऐप्सीत्, ऐप्सिष्म, अजिघांसीस्, अमीमांसिष्ठास्, दो एक लृट् और लुट् के रूप भी ब्राह्मणग्रन्थों में उपलब्ध हुए हैं। यथा- तितिक्षिष्यते (तिज तेज होना), दिदृक्षितारस् (दृश् देखना)।

३. इस प्रकार के रूप ब्राह्मणग्रन्थों में भी मिलते हैं: जिज्यूषित (जीव् जीना), धीक्षित (दह् जलाना), शुश्रूषित (श्रु सुनना)।

४. इस प्रकार के रूप ब्राह्मणग्रन्थों में भी मिलते हैं: लीप्सितव्य (लभ् लेना), दिध्यासितव्य (ध्या सोचना), जिज्ञास्य (ज्ञा जानना)।

और से भी। ये रूप हलादि धातुओं तक ही सीमित हैं और कभी भी प्रक्रिया रूपों की प्रकृतियों से नहीं बनते।

(यङ् रूपों में) विशेष प्रकार का सबल अभ्यास प्रकृति की एक निजी विशेषता है। इनमें प्रकृति के दो रूप हैं। यङ्लुगन्त और यङन्त। इनमें यङ्लुगन्त का प्रयोग कहीं अधिक प्रचुर है। इसमें पुरुषबोधक प्रत्यय तत्काल ही (=अनव्यवधानेन) अभ्यस्त प्रकृति से सम्पृक्त कर दिये जाते हैं (इनमें सबल रूपों में स्वर प्रथम एकाच् पर रहता है। परिशिष्ट III १२ ग)। जुहोत्यादिगण के रूपों की तरह (१३२) परस्मै० और आत्मने० इन दोनों में ही इनके रूप चलते हैं। यथा निज् *धोना* : प्र० पु० एक० नेनेक्ति। यङन्त विरलप्रयुक्त है। वहां अभ्यस्त प्रकृति से ठीक उसी प्रकार उदात्त यॅ लगता है जिस प्रकार कि कर्मवाच्य में (१५४)। कर्मवाच्य की तरह यङन्त रूप भी आत्मने० में ही चलते हैं। यथा विज् *कांपना* : वेविज्यते बुरी तरह काँपता है।

यङ्लुगन्त रूपों में धातु और हलादि प्रत्ययों के बीच विकल्प से ई का आगम हो जाता है। यह ई परस्मै० निर्दे० के उ० पु० एक० अथच लोट् के म० और प्र० पु० एक० और परस्मै० लङ् में पाया जाता है। यथा—चाकशीमि, चाकशीति। लोट् म० पु० चाकशीहि। प्र० पु० जोहवीतु। लङ् प्र० पु० अजोहवीत्।

द्वित्व के विशेष नियम

१७०.१. द्वित्व की दशा में धातु के इ, ई, उ और ऊ को अभ्यास में क्रमशः गुण अच् ए और ओ हो जाते हैं: दिश् *सङ्केत करना*, देदिश्; नी *नेतृत्व करना* : नेनी; शुच् *चमकना* : शोशुच्, नु *स्तुति करना* : नोनु, भू *होना* : बोभू।

२. द्वित्व होने पर धातु के अ, आ और ऋ और ॠ का अभ्यास में दो प्रकार से परिवर्तन देखा जाता है।

(क) एक दर्जन के लगभग (स्पर्शान्त अथवा ऊष्मान्त अथच एक

मकारान्त) अकारोपध अथवा आकारोपध धातु, किञ्च तीन ऋकारान्त धातुओं में द्वित्व होने पर अभ्यास में आ आजाता है : काश् *चमकना* : चाकश्; पत् *गिरना* : पापत्; गम् *जाना* : जागम्; गृ *जागना* : जागृ; दॄ *विदीर्ण करना* : दादृ, धृ *धारण करना* : दाधृ, एवंच चल् *सचेष्ट करना* : चाचल् ।

(ख) शेष सभी ऋकारवान् धातुओं (विकल्प से दृ और धृ भी) एवंच उन सभी अकारोपध धातुओं में जिनमें अ से परे र्, ल् या अनुनासिक आता है, द्वित्व होने पर अभ्यास में अर्, अल्, अन् या अम् आ जाता है । यथा— कृ *स्मृति स्थिर करना* : चर्कृ और चर्किर्; कृष् *घसीटना* : चर्कृष्; दृ *विदीर्ण करना* : दर्दृ और दर्दिर् (अन्य रूप : दादृ); धृ *धारण करना* दर्धृ (अन्य रूप दाधृ); हृष् *उत्तेजित होना* : जर्हृष्; चर् *चलना* चर्चर्; फर् *बिखेरना* : पर्फर्; चल् *सचेष्ट करना*: चल्चल् (अन्य रूप, चाचल्); गम् *जाना* : जङ्गम् (अन्य रूप, जागम्); जम्भ् *चबाना* : जञ्जभ्; दंश् *डसना* : दन्दश्; तन् *गर्जना* (बादल आदि का) : तंस्तन् (९६ य २) ।

३. बीस से ऊपर अनुनासिकान्त और अनुनासिकोपध, ऋकारवान् अथवा ऊकारवान् धातुओं में अभ्यास और धातु के बीच ई का आगम हो जाता है (या इ का यदि अच् संयोगवश गुरु हो) । यथा—गम् *जाना* : गनीगम्, (पर अच् के गुरु होने पर) गनिग्मत्; हन् *वध करना* : घनीघन्; क्रन्द् *चिल्लाना* : कनिक्रन्द् और कनिक्रद्; स्कन्द् *उछलना* : कनिष्कन्द् और चनिष्कद्; भृ *धारण करना* : भरीभृ; वृत् *मुड़ना* : वरीवृत् : नु *स्तुति करना* : नवीनु, धू *हिलाना* : दविध्व् ; द्युत् चमकना : दविद्युत् ।

अनियमितताएँ

१७४. आकारोपध धातुओं में धातच् को ह्रस्व हो जाता है : काश् चमकना : चाकश्; बाध् पीडा पहुँचाना : बाबध् : वाश् रँभाना : वावश् । कतिपय ऋकारवान् अथवा ऋकारवान् धातुओं में धातच् में भेद पाया जाता है यथा—गृ निगलना :

जर्गुर् और जल्गुल्; चर् चलना : चर्चुर्, अन्य रूप चर्चर्; तॄ पार करना : तर्तुर्, अन्य रूप तर्तर्)।

(अ) गमनार्थक ऋ धातु के अभ्यास में अल् आता है : अलर् (विषमीकरण प्रक्रिया के कारण) विलोडनार्थक गाह् के अभ्यास में अनुनासिक आता है : जङ्गह्;[1] पीडनार्थक बाध् के अभ्यास में इसका (बाध् धातु का) अन्तिम स्पर्शवर्ण आता है : बद्बध् (अन्य रूप, बाबध्); धारणार्थक भृ[2] और कम्पनार्थक भुर् के अभ्यास में तालव्य वर्ण आता है : जर्भृ, जर्भुर्। स्वागतार्थक भुर् और गुर् के अभ्यास में उ के स्थान पर अ आता है : जर्भुर्, जर्गुर्।

(आ) कण्ठ्य वर्ण से प्रारम्भ होने वाली धातुओं में धातु से पूर्व इ या ई का आगम होने पर अभ्यास में कण्ठ्य वर्ण तदवस्थ रहता है। यथा क्रन्द् चिल्लाना : कनिक्रद्; गम् जाना : गनीगम्; हन् (घन् के स्थान पर) वध करना : घनीघन्; कृ बनाना के दो रूप पाये जाते हैं : करिक्र्[4] और चरिक्र्[4]; स्कन्द् उछलना के भी दो रूप उपलब्ध होते हैं : कनिष्कन्द् और चनिष्कद्।

(ग) शोधनार्थक निज् धातु के जो यङ्लुगन्त रूप उपलब्ध होते हैं वे हैं :

(I) लट् निर्दे० परस्मै० एक० उ० पु० नेनेज्मि, नेनेजीमि। म० पु० नेनेक्षि। प्र० पु० नेनेक्ति, नेनेजीति। द्वि० म० पु० नेनिक्थस्[5]। प्र० पु० नेनिक्तस्। बहु० उ० पु० नेनिज्मस्, नेनिज्मसि। प्र० पु० नेनिजति।

---

१. ब्राह्मणग्रन्थों में (जप् धातु से) जञ्जप्यते यह रूप भी मिलता है। किन्तु यहां प्रापणार्थक वह् के अभ्यास में न् (एवंच आगम ई) पाया जाता है यद्यपि धातु में अनुनासिक का सर्वथा अभाव है : वनीवाह्यते।

२. इस प्रकार के द्वित्व का यह एकमात्र उदाहरण है।

३. इस धातु की लिट् में वही विशेषता पाई जाती है (१३९, ४)।

४. इस धातु की यङन्त प्रकृति केवल इन शत्रन्त रूपों में ही पाई जाती है : करिक्रत् और चरिक्रत्।

५. इस पुरुष में पाये जाने वाले इस एकमात्र रूप में ई का आगम और धात्वक्षर का सबलत्व पाया जाता है : वर्वर्तीयस्।

आत्मने० एक० उ० पु० नेनिजे॑ । प्र० पु० नेनिक्ते॑ । द्वि० प्र० पु० ने॑निजाते । बहु० प्र० पु० ने॑निजते ।

२. लेट् परस्मै० एक० उ० पु० ने॑निजानि ।[1] म० पु० ने॑निजस् । प्र० पु० ने॑निजत् । द्वि० उ० पु० ने॑निजाव ।

बहु० उ० पु० ने॑निजाम । प्र० पु० ने॑निजन् ।

आत्मने० द्वि० प्र० पु० ने॑निजैते ।

बहु० प्र० पु० ने॑निजन्त ।

३. *विधिलिङ्* । इसके ऋग्वेद में कोई असन्दिग्ध उदाहरण उपलब्ध नहीं होते । किन्तु अन्य संहिताओं में भी परस्मै० के केवल दो रूप ही उपलब्ध होते हैं :

एक० प्र० पु० वेविष्यात् (अ० वे०); बहु० उ० पु० जागृयाम (वा० सं०, मै० सं०, तै० सं०), जाग्रियाम (तै० सं०) ।

आत्मने० प्र० पु० एक० का रूप नेनिजीत का० सं० में पाया जाता है ।

४. *लोट्* । इसके परस्मै० में बीस रूप (आत्मने० में एक भी नहीं)[2] उपलब्ध होते हैं । जागृ से बनाये जाने पर ये इस प्रकार होंगे : एक० म० पु० जागृहि, जागरीहि, जागृतात् । प्र० पु० जागर्तु, जागरीतु । द्वि० म० पु० जागृतम् । प्र० पु० जागृताम् ।

बहु० म० पु० जागृत ।[3]

५. शतृ-शानजन्त रूपों की चालीस से भी अधिक प्रकृतियाँ पाई जाती हैं जिनमें से दो तिहाई शत्रन्त हैं ।

---

१. इस पुरुष में जो एकमात्र रूप वस्तुतः उपलब्ध होता है वह है जङ्घनानि (इसमें स्वर साभ्यास लट् के लेट् के रूपकी तरह रहता है) ।

२. ब्राह्मणग्रन्थों में आत्मने० म० पु० एक० का रूप नेनिक्ष्व (√निज्) उपलब्ध होता है ।

३. ऋग्वेद में ईकारागमवान् लोट् के रूप नहीं हैं पर अथर्व० और वा० सं० में म० और प्र० पु० एक० में कतिपय रूप पाये जाते हैं । यथा चाकशीहि, जोहवीतु । कतिपय उदाहरण ब्राह्मणग्रन्थों में भी दीख जाते हैं ।

उदाहरण हैं :

शत्रन्त—कॅनिक्रदत्, चे॑कितत्, जॅङ्घनत्, जॉग्रत्, दॅर्द्रत्, नॉनदत्, रो॑रुवत्, शानजन्त—जॅर्भु॑राण, दॅन्दशान, यो॑युवान (यु जोड़ना), सॅत्राण।

६. लङ्। इस लकार के तीस से भी कम रूप उपलब्ध होते हैं जिनमें से केवल तीन आत्मने० के हैं। उपलभ्यमान पुरुषों के उदाहरण हैं :

परस्मै० एक० उ० पु० अॅचकशम्। म० पु० अॅजागर्। प्र० पु० अॅदर्दर्, अॅवरीवर्, अॅजोहवीत्, दॅविद्योत्, नॅवीनोत्। द्वि० म० पु० अॅदर्दृतम्। बहु० उ० पु० मर्मृज्म। प्र० पु० अॅचर्कृपुर्, अदर्दिरुर्, अॅनोनवुर्।

आत्मने० एक० प्र० पु० अॅदेदिष्ट, अॅनन्नत[1]। बहु० प्र० पु० मॅर्मृजत।

(अ) सविकरण रूपों के बाहर कुछ ही यङन्त या यङ्लुगन्त रूप उपलब्ध होते हैं। चार ऐसे लिट् के यङ्लुगन्त या परस्मै० के यङन्त रूप पाये जाते हैं जिनका अर्थ लट् (धृ हिलाना), का होता है : एक० उ० पु० जागर, प्र० पु० जागार (ग्रीक हेग्रेगोरे), दविधाव नोनाव (नु स्तुति करना); एवंच दोद्राव (द्रु दौड़ना : तै० सं०), योयाव (यु पृथक् करना : मै० सं०); लेलाय (ली अस्थिर होना : मै० सं०। इनके अतिरिक्त क्तवत्वन्त रूप जागृवांस् उपलब्ध होता है। एक बार णिच् और शतृ प्रत्ययों के साथ एक यङन्त रूप उपलब्ध होता है : वरीवर्जयन्ती तोड़ती मरोड़ती हुई।[2]

यङन्त रूपों जिनका कर्मवाच्य के रूपों से भेद करना सम्भव नहीं की संख्या लगभग एक दर्जन है। ये कतिपय शानजन्त रूपों के अतिरिक्त निर्दे० लट् के म० और प्र० पु० एक० एवञ्च प्र० पु० बहु० में पाये जाते हैं। वे हैं

लट् निर्दे० एक० म० पु० चोॅस्कूयसे (स्कु फाड़ना)। प्र० पु० देदिश्यते,

---

१. झुकना इस अर्थ की नम् धातु से अनुनासिक लोप होने पर (अ= स्वरोन्मुख अनुनासिक), अॅनन्नन्त के स्थान पर।

२. ब्राह्मणग्रन्थों में यङ्लुगन्तों से बनी णिजन्त प्रकृतियां भी उपलब्ध होती हैं : जागरय दाधारय और धृ धारण करना)

नेनीयंते, मर्मृज्यते, रेरिह्यंते, वेविज्यंते, वेवीयंते, (वी *आनन्द मनाना*)। बहु० प्र० पु० तर्तूर्यन्ते (√तृ), मर्मृज्यन्ते।

शानजन्त—चर्चूर्यमाण (√चर्), नेनीयमान, मर्मृज्यमान।

IV *नामधातु*

१७५. ये क्रियापद जिनके रूप अकारान्तप्रकृतिक तिङन्त पदों के समान चलते हैं (१३२) नामपदों से प्रायः अनपवादरूपेण य प्रत्यय लगकर सिद्ध होते हैं एवञ्च उनके (नामपदों) के साथ कुछ ऐसे अर्थों को अभिव्यक्त करते हैं जैसे *तद्वत्* अथवा *तदाचरण युक्त होना, तद्वत् व्यवहार करना, तद्वत् परिवर्तित करना,* अथवा *तद्वत् उपयोग करना, इच्छा*। ऋग्वेद में सौ से भी अधिक नामधातु प्रकृतियाँ उपलब्ध होती हैं एवञ्च अथर्व०[1] में लगभग पचास। स्वर (इनमें) सामान्यतया प्रत्यय पर रहता है पर कुछ संख्या ऐसी असन्दिग्ध नामधातु प्रकृतियों की भी है, जैसे मन्त्रय *मन्त्रोच्चारण करना,* अर्थय *किसी चीज को विषय बनाना, चाहना,* जिनमें णिच् स्वर पाया जाता है। ये ही प्रकृतियां साधारण नामधातु रूपों एवंच णिजन्तों के बीच की कड़ी हैं।

(य) य प्रत्यय से पूर्व

१. अन्तिम इ[2] और उ को दीर्घ[3] हो जाता है। यथा—कवीर्य *बुद्धिमान् होना* (कवि); रयीर्य धन *चाहना* (रयि); ऋजूर्य *ऋजु होना* (ऋजु); वसूर्य धन *चाहना* (वसु); शत्रूर्य *शत्रुवत् व्यवहार करना* (शत्रु)।

---

१. ब्राह्मणग्रन्थों में नामधातु रूपों का प्रयोग उतना प्रचुर नहीं है। उदाहरण रूप में ऐ० ब्रा० में शायद ही बीस और श० ब्रा० में लगभग एक दर्जन नामधातु के रूप उपलब्ध होते हों।

२. सिवाय इन रूपों के—अरातिर्य शत्रुवत् आचरण करना, शत्रु होना, अन्य रूप : अरातीर्य) और जनिर्य पत्नी चाहना (अन्य रूप : जनीर्य), गातुर्य गतिशील बनाना (गातु)

३. पदपाठ में ई प्रायः और ऊ सदैव ह्रस्व लिखा जाता है।

२. अन्तिम अ प्रायः अपरिवर्तित रहता है पर बहुत बार इसे दीर्घ कर दिया जाता है। कभी-कभी इसे ई रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है; यदाकदा इसका लोप तक भी कर दिया जाता है। यथा—जार्य जार (=उपपति) की तरह समझना, देवर्य देवताओं की सेवा करना, ऋतय[1] ऋत के अनुसार आचरण करना, अश्वार्य घोड़ों की इच्छा रखना, ऋतार्य ऋत का पालन करना (अन्य रूप ऋतय), यज्ञार्य यज्ञ करना; अध्वरीर्य यज्ञ करना (अध्वर) पुत्रीर्य[2] पुत्र चाहना (पुत्र), रथीर्य[2] रथ में जाना (रथ); अध्वर्य[1] यज्ञ करना (अन्य रूप अध्वरीर्य), तविष्य शक्तिशाली होना (तविष : अन्य रूप तविषीर्य)।

३. अन्तिम आ अपरिवर्तित रहता है। यथा—गोपार्य ग्वाले की तरह आचरण करना, रक्षा करना, पृतनार्य[3] युद्ध करना। अन्तिम ओ को अपने एकमात्र उपलभ्यमान उदाहरण में अव् हो जाता है: गव्य गायें चाहना।

४. हलन्त प्रकृतियाँ जिनमें सन्त सर्वाधिक प्रचुर हैं लगभग सदैव अपरिवर्तित रहती हैं। यथा—भिषज्य वैद्यवत् आचरण करना, चिकित्सा करना, उक्षण्य बैल की तरह व्यवहार करना (उक्षन्), वधर्य[1] वज्रप्रहार करना (वधर्), सुमनस्य दयालु होना (सुमनस्), तरुष्य युद्धव्यापृत होना (तरुस्)।

(अ) कतिपय नामधातु रूप बिना किसी प्रत्यय के लगने के सीधे ही नामप्रकृतियों से बनते हैं। उन का प्रयोग लगभग सदैव य वाले सामान्य नामधातु रूपों के विकल्प के रूप में पाया जाता है। यथा—भिषज् से भिषक्ति, वैद्यवत् आचरण करना, अन्य रूप भिषज्य; तरुषेम, तरुषन्ते तरुषन्त (विजेतार्थक तरुष से), अन्य रूप तरुष्य।

---

१. स्विच् स्वर के साथ।

२. पद पाठ में इस और लगभग हरेक उदाहरण में ईर्य पाया जाता है। यहां तक कि ऋ० वे० के संहिता पाठ में भी प्रयोग उपलब्ध होता है पुत्रिर्य।

३. आ का लोप भी हो सकता है: पृतन्य युद्ध करना।

रूपावली

(र) यहाँ सविकरणक तिङरूपों के सभी लकार, प्रकार और शतृ-शानजन्त रूपों का प्रतिनिबिम्ब पाया जाता है। उपलभ्यमान रूप यदि नमस्कारार्थक नमस्यं से बने हों तो इस प्रकार होंगे :

१. लट् निर्दे० परस्मै० एक० उ० पु० नमस्यामि। म० पु० नमस्यसि। प्र० पु० नमस्यति। द्वि० म० पु० नमस्यथस्। प्र० पु० नमस्यतस्। बहु० उ० पु० नमस्यामसि-मस्। म० पु० नमस्यथ। प्र० पु० नमस्यन्ति।

आत्मने० एक० उ० पु० नमस्ये। म० पु० नमस्यसे। प्र० प्र० नमस्यते। द्वि० म० पु० नमस्येथे। प्र० पु० नमस्येते। बहु० उ० पु० नमस्यामहे। प्र० पु० नमस्यन्ते।

२. लेट् परस्मै० एक० उ० पु० नमस्या। म० पु० नमस्यास्। प्र० पु० नमस्यात्। द्वि० प्र० पु० नमस्यातस्। बहु० प्र० पु० नमस्यान्।

आत्मने० एक० म० पु० नमस्यासे। प्र० पु० नमस्याते।

३. लुङ् लो० परस्मै० एक० म० पु० नमस्यस्। बहु० प्र० पु० नमस्यन्।

४. विधिलिङ परस्मै० एक० म० पु० नमस्येस्। प्र० पु० नमस्येत्। बहु० उ० पु० नमस्येम।

आत्मने० एक० प्र० पु० नमस्येत।

५. लोट् परस्मै० एक० म० पु० नमस्य। प्र० पु० नमस्यतु। द्वि० म० पु० नमस्यतम्। प्र० पु० नमस्यताम्। बहु० म० पु० नमस्यत। प्र० पु० नमस्यन्तु।

आत्मने० एक० म० पु० नमस्यस्व। बहु० म० पु० नमस्यध्वम्। प्र० पु० नमस्यन्ताम्।

६. शत्रन्त-नमस्यन्त्। शानजन्त-नमस्यमान।

७. लङ परस्मै० एक० म० पु० **अंनमस्यस्** । प्र० पु० **अंनमस्यत्** । द्विव० प्र० पु० **नमस्यंताम्** । वहु० प्र० पु० **अंनमस्यन्** ।

आत्मने० एक० प्र० पु० **अंनमस्यत** । द्विव० म० पु० **अंनमस्येथाम्** । वहु० प्र० पु० **अंनमस्यन्त** ।

(क) सविकरणक रूपों से वाहिर पाये जाने वाले केवलमात्र पुरुषवचन-परिच्छिन्न रूपों में लुङ के चार रूप उपलब्ध होते हैं। दो तो लु० लो० हैं: म० पु० एक० ऊनयीस् (ऋग्वेद), जो कि अपूर्ण (ऊन) रहने देना इस अर्थ के **ऊनय** से वनता है; म० पु० वहु० **पापयिष्ट** (तै० सं०) जो कि पाप की ओर उन्मुख करना इस अर्थ के **पापय** से वनता है; और दो निर्देशक हैं: प्र० पु० एक० **अंसपर्यैत्** (अ० वे०) पूजा की है (एक अनियमित रूप सम्भवतः=**अंसपर्यीत्**); प्र० पु० वहु० **अंवृपायिषत** (वा० सं०) उन्होंने स्वीकार किया है[1]। तै० सं० में तीन भविष्यत्कृदन्त रूप उपलब्ध होते हैं: **कण्डूयिष्यंन्त्** खुजलाने को उद्यत; **मेघायिष्यंन्त्** मेघयुक्त होने को ही, **शीकायिष्यंन्त्**[2] बूँद-बूँद गिरने को ही। वहाँ इन्हीं प्रकृतियों से वने क्तान्त रूप भी पाये जाते हैं: कण्डूयिर्त, मेघिर्त, शीकिर्त।[3]

---

१. ब्राह्मणग्रन्थों में इष-लुङ् का रूप **अंसूयीत्** (कुड़कुड़ाया है) भी पाया जाता है।

२. ब्राह्मणग्रन्थों में लृट् का रूप **गोपायिष्यति** भी उपलब्ध होता है।

३. ब्राह्मणग्रन्थों में कतिपय अन्य क्तान्त एवञ्च क्त्वायन्त रूप भी उपलब्ध होते हैं।

पञ्चम अध्याय

अव्ययशब्द

उपसर्ग

१७६. उपसर्गों का दो श्रेणियों में विभाग करना आवश्यक है। प्रथम श्रेणी में शुद्ध अथवा क्रियाविशेषणीभूत उपसर्ग पाये जाते हैं। ये वे शब्द हैं जो देशवाची थे और मूल में क्रियापदों के अर्थों को विशिष्ट करने में प्रयुक्त होते थे और पीछे क्रियापदों के योग में प्रयुक्त होने वाली विभक्तियों के साथ स्वतन्त्र रूप में जुड़ गये। इनमें (तिरस् और पुरस् को छोड़ कर) सुप्-विभक्त्यन्त रूपों से अथवा क्रियाविशेषक प्रत्ययों से बने रूपों से व्युत्पन्न होने के कोई चिन्ह दिखाई नहीं देते। दूसरी श्रेणी में ऐसे उपसर्ग हैं जो नामयोगी कहलाते हैं, क्योंकि ये क्रियापदों के साथ समस्त नहीं होते अपितु केवल नामपदों की विभक्तियों को ही नियमित करते हैं। ये प्रायः एकान्ततः विभक्त्यन्त होते हैं अथवा क्रियाविशेषण प्रत्ययान्त होते हैं।

१. क्रियायोगी उपसर्ग

ये चौदह या (सम् भी यदि सम्मिलित किया जाये तो) पन्द्रह ही शुद्ध उपसर्ग हैं जोकि क्रियापदों से स्वतन्त्ररूपेण प्रयुक्त होने पर अपनी विभक्तियों के अर्थ को परिच्छिन्न करते हैं। प्रायः द्वितीया, पञ्चमी और सप्तमी विभक्तियों के योग में ही इनका प्रयोग सीमित है। चूंकि पञ्चमी से इनका सम्बन्ध गौण है अतः शुद्ध उपसर्ग मूलतः द्वितीया और सप्तमी के साथ ही स बद्ध प्रतीत होते हैं। साधारणतया उपसर्ग अपनी विभक्तियों के बाद (पर कभी-कभी पहले भी) आते हैं।

१. अंछ की ओर, अति परे, अनु पश्चात्, अभि की ओर, प्रति (ग्री०

प्रोर्ति) *विरोध में* और तिरस् *पार* (तु० लै० ट्रांस्) के योग में सदा द्वितीया का ही प्रयोग होता है।

(क) पॅरि(ग्री० पेरि) (*चारों ओर*) के योग में मुख्यतया द्वितीया आती है किन्तु गौणतया व प्रायिकतया पञ्चमी आती है जबकि इसका अर्थ *से लेकर* (चारों ओर) होता है।

(ख) उॅप (*को*) (गत्यर्थक धातुओं के साथ) के योग में प्रधान रूप में द्वितीया और उससे कम बार *पास*, *ऊपर*, *पर* अर्थ में सप्तमी आती है।

२. अॅपि (ग्री० हेपि (*ऊपर*) के योग में निरपवाद रूप में और अॅधि (*ऊपर*), अन्तॅर् (लै० इन्तर्) (*बीच में*), आॅ (*ऊपर*, *में*, *पर*, *को*), पुरॅस् (*पहले*) के योग में प्रधान रूप में सप्तमी ही आती है।

(अ) गौणतया और बहुत कम बार **से (ऊपर)** के अर्थ में अॅधि के योग में पञ्चमी का प्रयोग होता है।

(आ) अन्तिम तीन के साथ गौण रूप में दोनों—पञ्चमी तथा द्वितीया—आती हैं। पुरॅस् के योग में भी यही स्थिति है—अर्थ बिना बदले ही।

अन्तॅर् का पंचमी के योग में से **(में)** और द्वितीया के योग में **बीच में** अर्थ होता है।

आॅ का द्वितीया के योग में को अर्थ होता है जो गत्यर्थक धातुओं के योग में गन्तव्य स्थान को अभिव्यक्त करता है। पंचमी के साथ इसका **से (पर)** अर्थ होता है यदि पंचमी बाद में आती है[1]। यदि पहले आती है तो **तक** अर्थ होता है।[2]

३. *नीचे से* के अर्थ में अॅव के साथ एक या दो बार स्वतन्त्रतया भी पञ्चमी प्रयुक्त हुई दिखलाई देती है।

२. नामयोगी उपसर्ग

१७७. मूलतः क्रियाविशेषण होने से इन उपसर्गों के योग में सम्बोधन और प्रथमा से भिन्न विभक्तियां (चतुर्थी को छोड़कर) स्वतन्त्र रूप से पाई

---

१. यह कभी-कभी इस अर्थ में पञ्चमी से पहले भी आ जाता है।

२. ब्राह्मणग्रन्थों में आॅ का यह प्रायः अकेला ही प्रयोग है। लौकिक संस्कृत में इसके से और तक दोनों अर्थ हैं।

जाती हैं। उनमें से कुछ के योग में षष्ठी तथा तृतीया विभक्तियाँ प्रयुक्त होती हैं। ये विभक्तियाँ जहाँ तक व्यवहार का सम्बन्ध है संहिताओं में शुद्ध उपसर्गों के साथ कभी भी सम्बद्ध नहीं होतीं। इन उपसर्गों का जिन-जिन विभक्तियों के योग में प्रयोग देखा जाता है उन-उन विभक्तियों की दृष्टि से वर्गीकरण किया जा रहा है।

१. द्वितीया : अधस् *नीचे* (पञ्चमी और षष्ठी के साथ भी), अन्तरा *बीच में*, अभितस् *चारों ओर*, उपरि, *ऊपर*, *दूर*, परस् *दूर* (पञ्चमी और प्रायः तृतीया के साथ भी), परितस् *चारों ओर* (अथर्व०), सनितुर् *से अलग*[1]।

२. तृतीया : सह *साथ*, साकम् *साथ*, सुमद् *साथ*, स्मद् *साथ*; अवस् *नीचे* (पञ्चमी भी), परस् *बाहर* (द्वितीया और पञ्चमी भी)।

३. पञ्चमी : अधस् *नीचे* (द्वितीया और षष्ठी भी), अवस् *से नीचे* (तृतीया भी), आरे *से दूर* (षष्ठी भी), ऋते *बिना*, परस् *से अलग* (द्वितीया और तृतीया भी), पुरा *पहले*, बहिर्धा *से बाहर*, सनुतर् *से दूर*।

४. षष्ठी : पुरस्ताद् *के सामने*[2]।

५. सप्तमी : सचा (सहयोग में) *साथ*, *पास*, *पर* [समीप] में।

विभक्त्यन्त पद क्रियाविशेषण के रूप में

१७८. नाम और सर्वनाम प्रकृतियों के बहुत से प्रायः अन्यथा प्रयोग में न आने वाले विभक्त्यन्त पद क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं। क्रियाविशेषण का काम देने वाली सभी विभक्तियों के उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

---

१. ब्राह्मणग्रन्थों में दिग्देशवाची कुछ क्रियाविशेषणीभूत तृतीयान्त रूपों के योग में द्वितीया आती है : अन्तरेण *बीच में*, अवरेण *नीचे*, परेण *दूर*, उत्तरेण *उत्तर की ओर*, दक्षिणेन *दक्षिण की ओर*।

२. ब्राह्मणग्रन्थों में इस क्रियाविशेषण तथा परस्ताद् *बाद* के योग में षष्ठी आती है। यथा—सूक्तस्य पुरस्ताद् *सूक्त से पहले*, संवत्सरस्य परस्ताद् *वर्ष के बाद*।

१. प्रथमा : प्रथमम् *पहली वार*, द्वितीयम् *दूसरी वार*। ऐसे क्रियाविशेषण मूलतः धातुवाच्य क्रिया के सामानाधिकरण्य में प्रयुक्त किये जाते थे।

२. द्वितीया : इन क्रियाविशेषणों की तत्तद्विभक्तियों के नाना अर्थों में उपपत्ति मिल जाती है, वे प्रकट करते हैं—(क) सजातीय द्वितीया को, यथा-भूयस् *और अधिक* तथा [गम्यमान] क्रियायुक्त उपसर्गों के साथ तरम् अन्तवाले तुलनात्मक शब्द जैसे वितरम् (कम्) (*कदम रखना*) *और विस्तार से*। (ख) सामानाधिकरण्यवाची द्वितीया को : यथा—नाम *नाम से*, रूपम् *आकार में*, सत्यम् *सचमुच*। (ग) दिग्वाची द्वितीया को : जैसे अग्रम्, (इ) (*जाना*) *आगे की तरफ़, पहले*, अस्तम् (गम्) (*जाना*) *घर*; (घ) कालाध्व द्वितीया को: जैसे दूरम् *दूरी पर, दूर*; नक्तम् *रात को*; सायम् *साँझ में*, नित्यम्, *निरन्तर*, पूर्वम् *पहले*।

(अ) अप्रचलित नाम प्रकृतियों से निष्पन्न कुछ द्वितीयान्त क्रियाविशेषण भी हैं। जैसे अरम् पर्याप्त रूप में, नूनम् अब; कुछ सर्वनाम प्रकृतियों से हैं। जैसे अदस् वहाँ, इदम् यहाँ, अब, किम् क्यों ?, यद् जब।

३. तृतीया : इस विभक्तिवाले क्रियाविशेषण (कभी-कभी बहु०) विशेष्यों, विशेषणों और सर्वनामों से बनाये जाते हैं। ये सामान्यतया प्रकार या साथ की परिस्थितियों को प्रकट करते हैं, जैसे सहसा *बलपूर्वक*, नव्यसा *नई तरह से*, एना इस प्रकार। बहुधा ये देशकालविस्तार भी प्रकट करते हैं। जैसे अग्रेण *सामने*, अक्तुभिस् रात में, दिवा दिन में।

(अ) विशेष्य तृतीयान्तपद प्रधानतया आकारान्त स्त्रीलिङ्ग संज्ञापदों से बनते हैं। ये आकारान्त संज्ञापद वैसे प्रयोग में आते नहीं। जैसे ऋतया ठीक तरह से, नक्तया रात में।

(आ) तृतीयान्त विशेषण अकारान्त प्रकृतियों से बनते हैं, कुछेक चकारान्त प्रकृतियों से भी बनते हैं : जैसे उच्चा और उच्चैस् ऊँचाई पर, पश्चा पीछे, मध्या मध्यमें, शनैस् धीरे; प्राचा आगे की ओर। उकारान्त एवञ्च प्रकाय ईकारान्त प्रकृतियों से निष्पन्न कुछेक अनियमित स्त्रीलिङ्ग शब्द भी हैं। जैसे आशुया शीघ्रता से, रघुया वेग से, साधुया सीधे, दविया दूर।

(इ) सार्वनामिक तृतीयान्त अकारान्त प्रकृतियों से बनते हैं। एक उकारान्त प्रकृति से भी बनता है। जैसे अना´ इस प्रकार, अमा´ घर में, अया´ इस प्रकार, कया´ किस प्रकार ?; उभया´ दोनों तरह से; अमुया´ उस तरह।

४. चतुर्थी : चतुर्थी का क्रियाविशेषण के अर्थ में प्रयोग विरल है : अपराय *भविष्य के लिए* (अपर *परवर्ती* से), वराय *इच्छानुसार* (वर *पसन्द*)।

५. पञ्चमी : ये क्रियाविशेषण विशेष्यों से कदाचित् ही बनाये जाते हैं। जैसे आरात् *दूर से*, आरात् *समीप से*, या सर्वनामों से, अमात् *निकट से*, आत् *तब*, तात् *इस प्रकार*, यात् *जहाँ तक*। पर पर्याप्त बार ये विशेषणों से बनाये जाते हैं। जैसे उत्तरात् *उत्तर दिशा से*, दूरात् *दूर से*, पश्चात् *पीछे से*, सनात् *चिरकाल से*, साक्षात *प्रत्यक्ष रूप से*।

६. षष्ठी : ऐसे क्रियाविशेषण बहुत विरल हैं : अक्तो´स् *रात में*, व´स्तोस् *प्रातः काल में*।

७. सप्तमी : अग्रे *आगे*, अस्तमीके´ *घर में*, आके´ *निकट में*, आरे´ *दूर*, ऋते´ *बिना*, दूरे´ *दूर*; अपरी´षु *भविष्य में*।

प्रत्ययों से बने क्रियाविशेषण

१७२. क्रियाविशेषणों के बनाने में न्यूनाधिक बाहुल्य से प्रयुक्त प्रत्ययों का तृतीया, पञ्चमी, और सप्तमी विभक्तियों के द्वारा अभिव्यक्त अर्थों की दृष्टि से वर्गीकरण किया जा सकता है।

१. तृतीया : विशेष रूप से सार्वनामिक प्रकृतियों से *था* प्रत्यय लगाकर प्रकारवाची क्रियाविशेषण बनते हैं : अथा, और अधिक बाहुल्य से, अथ (यहाँ अच् को ह्रस्व कर दिया गया है) *तब*, इत्था *इस प्रकार*, इमथा *इस प्रकार से*, कथा *कैसे* ?, तथा *ऐसे*, यथा *जैसे*, अन्यथा *दूसरी तरह*, विश्वथा *हर तरह से*; ऊर्ध्व´था *ऊपर की ओर*, पूर्व´था *पहले की तरह*, प्रत्नथा *पहले की तरह*, ऋतुथा *नियमानुसार*, नामथा *नाम से*; एवथा *ठीक ऐसे ही*।

(अ) इसी प्रकार इत्थम् (ऐसे) और कथम् (कैसे) में थम् प्रत्यय प्रयुक्त होता है।

धा प्रत्यय लगकर सङ्ख्या शब्दों या सजातीय शब्दों से प्रकारवाची क्रियाविशेषण बनते हैं: एकधा एक-एक करके, द्विधा दो तरह से, कतिधा कितनी बार, पुरुधा नाना प्रकार से, बहुधा और विश्वधा बहुत तरह से, शश्वधा बार-बार। इसके द्वारा कुछेक सञ्ज्ञाशब्दों, क्रियाविशेषणों और सर्वनामों से भी क्रियाविशेषण बनते हैं: प्रियधा *प्रियतया*, मित्रधा *मैत्रीपूर्ण ढंग से*; बहिर्धा बाहर से, अधा तब, अद्धा (इस प्रकार =) *यथार्थ रूप से*। अध् को लम्ब करने पर इसी प्रत्यय से सध (एक तरह से =) (*साथ*) बनता है। यह शब्द कुछेक समासों के पूर्वपदों के रूप में प्रयुक्त होता है। स्वतन्त्र शब्द के रूप में यह सहं (*साथ*) का रूप ले लेता है।

(ख) ह प्रत्यय सम्भवतः इहं (यहाँ) (प्राकृत इध), कुह (कहाँ ?), विश्वह और विश्वहा (हमेशा), समह (ऐसे या वैसे) इन शब्दों में मूलभूत धा का प्रतिनिधित्व करता है।

प्रकारसादृश्यवाचक व प्रत्यय से दो क्रियाविशेषण बनते हैं—इव *तरह, जैसे*, और एव (प्रायः एवा) *इस प्रकार*; वम् एव के बाद के रूप एवम् (*इस तरह*) में आता है।

तरह के अर्थ में विशेषणों और विशेष्यों से वत् प्रत्यय लगकर क्रियाविशेषण बनते हैं। जैसे मनुवत् *मनु की तरह*; पुराणवत्, पूर्ववत्, प्रत्नवत् *पुराने की तरह*।

शस् प्रत्यय लगकर *वीप्सा* अर्थ में प्रकारार्थक क्रियाविशेषण बनते हैं: शतशस् *सौ सौ करके*, सहस्रशस् *हजार हजार करके*, श्रेणिशस् *अनेक श्रेणियों में*; ऋतुशस् *हर ऋतु में*, देवशस् *देवों में हरेक को*, पर्वशस् *पर्व पर्व करके*, मन्मशस् *हरेक जैसे कि वह सोचता है*।

स् प्रत्यय लगकर दो या तीन *अभ्यावृत्ति*वाचक क्रियाविशेषण बनते हैं: द्विस् *दो बार*, त्रिस् *तीन बार*। यह प्रत्यय कतिपय अन्य क्रियाविशेषणों में

भी पाया जाता है: अधस् नीचे, अवस् नीचे की ओर, द्युस् (द्यु दिन) से, अन्येद्युस् दूसरे दिन और उभयद्युस् दोनों दिन।

२. पञ्चमी : तस् प्रत्यय लगकर पञ्चमी के अर्थ में सर्वनामों, नामों और उपसर्गों से क्रियाविशेषण बनते हैं; जैसे अतस् यहाँ से, अमुतस् वहाँ से, इतस् यहाँ से, मत्तस् मुझसे; दक्षिणतस् दाहिनी ओर से, हृत्तस् हृदय से; अभितस् चारों ओर, परितस् चारों ओर। कभी-कभी ये क्रियाविशेषण पञ्चम्यन्तों के पर्याय हो जाते हैं। जैसे अतो भूयस् उससे अधिक।

तात् (त) [वह] का एक पुराना पञ्चम्यन्त रूप) प्रत्यय लगकर पञ्चमी के अर्थ में (जो कभी-कभी सप्तमी के अर्थ में लीन हो जाता है) क्रियाविशेषण बनते हैं। जैसे अधस्तात् नीचे, आरात्तात् दूर से, पश्चात्तात् पीछे से, पुरस्तात् आगे या आगे से, प्राक्तात् आगे से।

३. सप्तमी : अस् प्रत्यय लगकर प्रधान रूप से देशकालवाची क्रियाविशेषण बनते हैं: तिरस् पार, परस् परे, पुरस् पहले; सदिवस् और सद्यस् आज, श्वस् आने वाला कल, ह्यस् बीता कल, मिथस् गलती से।

त्रा या त्र प्रत्यय से प्रायः सार्वनामिक या सजातीय प्रकृतियों से देश-वाची क्रियाविशेषण बनते हैं: अत्र यहाँ, अन्यत्र दूसरी जगह, विश्वत्र सब जगह; अस्मत्रा हम में, सत्रा एक जगह, दक्षिणत्रा दाहिनी ओर, पुरुत्रा बहुत स्थानों में, बहुत्रा बहुतों में; देवत्रा देवों में, मर्त्यत्रा मर्त्यों में, शयुत्रा शय्या पर।

(अ) ये क्रियाविशेषण कभी-कभी सप्तम्यन्तों के पर्यायरूप में प्रयुक्त होते हैं। जैसे हस्त आ दक्षिणत्रा दाहिने हाथ में।

प्रायः निरपवादरूप से सार्वनामिक धातुओं से दा प्रत्यय लगकर कालबोधक क्रियाविशेषण बनते हैं: इदा अब, कदा कब?, तदा तब, यदा जिस समय, सदा और सर्वदा हमेशा।

(आ) दा के साथ-साथ दम् प्रत्यय भी देखा जाता है। जैसे सदम् हमेशा।

किन्च दा का परिवर्धित रूप दानीम् भी उपलब्ध होता है। जैसे इदानीम् अब, तदानीम् तब, विश्वदानीम् हमेशा।

(इ) कई तरह के विरल प्रयुक्त अन्य प्रत्ययों से बनने वाले तथा प्रायः अज्ञात मूल फुटकर क्रियाविशेषण भी पाये जाते हैं। जैसे पुरा पहले, मिथु गलती से।

संयोजक और क्रियाविशेषणीभूत निपात।

१८०. अङ्ग अपने पूर्ववर्ती (कभी-कभी हि या ईम् जैसे छोटे निपातों से व्यवहित) शब्द पर इस प्रकार बल देता है कि क्रिया विशेष रूप से या निरपवाद रूप से उस एक शब्द से सम्बद्ध है यह प्रकट होता है—*ठीक, केवल, अन्यथा*। जैसे यो अङ्ग *ठीक वही जो*; यदङ्ग *ठीक जब, ठीक इस कारण*; त्वमङ्ग *केवल तू*; किमङ्ग *अन्यथा कैसे? अन्यथा क्यों?*

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में अङ्ग का यह अर्थ अनुपलब्ध है; किन्तु कभी-कभी क्रिया को उदात्त बनाते हुए वह प्रार्थना के अर्थ में वाक्य के आदि में आ जाता है: अङ्ग नो यज्ञं व्याचक्ष्व कृपया हमें यज्ञ की व्याख्या करो (मै० सं०)।

अत्र कभी-कभी यद् (*जब*) के साथ सम्बन्धवाचक के रूप में आता है। जैसे विश्वे यदस्यां रणयन्त देवाः, प्र वोऽत्र सुम्नमश्याम् *जब सब देवता इसका आनन्द लेंगे, तब मेरी प्रार्थना है कि मैं आपकी अनुकम्पा प्राप्त करूं*।

अध के साथ-साथ प्रयोग में आने वाला अथ प्रधानतया ऋग्वेद के अधिक अर्वाचीन सूक्तों में आता है, और बाद के वेदों में प्राचीन ईपद्भिन्न द्वितीय रूप का पूर्णतया स्थान ले लेता है। वाक्यों या उपवाक्यों को जोड़ते हुए यह कालगत या हेतुहेतुमत्सम्बन्धी आनुपूर्वी को व्यक्त करता है। इसका साधारणतया (और) *तब*, (और) *इसलिए* इन शब्दों से अनुवाद किया जा सकता है। जब *विरोध* अर्थ हो, विशेषकर के किसी निषेध वाक्य के बाद, तब यह *प्रत्युत* का पर्याय होता है। बहुधा यह अपने अव्यवहितपूर्व उपवाक्य में स्थित यदा (*जब*) या हि (*क्योंकि, जैसे कि*) का समानार्थक होता है। अथ वाक्य या उपवाक्य के आदि में आता है। इसके अपवाद बहुत कम हैं। उदाहरण

है: मरुद्भिरिन्द्र, सख्यं ते अस्तु, अथेमा विश्वाः पृतना जयासि हे इन्द्र, मरुतों का मित्र बनो, तब तुम इन सब युद्धों को जीतोगे (८.९६[७]); हुवे वाम्, अथ मा (=मा आ) गतम् मैं तुम्हें पुकारता हूं, सो तुम मेरे पास आओ (८.१०[५]); यदीं देवीरसहिष्ट माया, अथाभवत्केवलः सोमो अस्य जब उसने देवविहीन कुटिलताओं पर काबू पा लिया (तब) सोम अनन्य रूप से उसका हो गया (७.९८[५]); माकिर्नेशन्, माकीं रिषन्, माकीं सं शारि केवटे; अथारिष्टाभिरागहि कोई भी न खोया जाये, किसी की भी हानि न हो, किसी का भी गड्ढे में अङ्ग भङ्ग न हो, किन्तु उनके साथ अक्षत रूप में लौट आओ (६.५४[७])। ब्राह्मणग्रन्थों से: पतिं नु मे पुनर्युवाणं कुरुतम्, अथ वां वक्ष्यामि मेरे पति को पुनः युवा कर दो, तब मैं तुम्हें बतलाऊंगी (श० ब्रा०); अहं वृत्रं हन्तास्म्यथ कस्त्वमिति मैं वृत्र को मारने वाला कहलाता हूं: पर तुम कौन हो? (मै० सं०)।

(अ) अथ किसी-किसी अवसर पर क्त्वाप्रत्ययान्त कृदन्तों के (जोकि अन्यथा इति-पूर्ववर्ती उपवाक्य के समानार्थक ही होते हैं) बाद भी प्रयुक्त होता है: सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाथास्तं वि परेतन उसके सौभाग्य की कामना करके, तब घर जाओ (१०.८५[३३]) ब्राह्मणग्रन्थों में जहाँ कि यह शतृशानजन्त प्रातिपदिकों और भावलक्षण सम्बन्धों के बाद भी आता है, इसका यह प्रयोग अधिक है।

(आ) भी के अर्थ में अथ विशेष्यों को जोड़ता है, किन्तु यह प्रयोग एक संक्षिप्त वाक्य के स्थान में आता है [जिसे समझना चाहिए]: इमे ते सोमा अधि तुर्वशे, यदौ, इमे कण्वेषु वामथ ये सोम तुर्वश के पास, यदु के पास (और) कण्वों के पास भी तुम्हारे लिए हैं (८.९[१४])। ब्राह्मणग्रन्थों से: इदं हि पिताऽग्रेऽथ पुत्रोऽथ पौत्रः क्योंकि यहाँ पहले पिता आता है, तब पुत्र, तब पौत्र (श० ब्रा०)।

(इ) ब्राह्मणग्रन्थों में अथ उपवाक्य की अनेककर्तृक सापेक्ष क्रियाओं को जोड़ता भी है: यस्य पिता पितामहः पुण्यः स्यात्, अथ तन्न प्राप्नुयात्, जिसके पिता और दादा पवित्र हैं किन्तु जो इसे नहीं प्राप्त कर सकता (तै० सं०)।

अथो (=*अथ उ*) का अर्थ साधारणतया *और भी, अपितु* होता है: अर्वावतो न आगह्यथो, शक्र परावतः *ओ शक्तिशाली, हमारे पास निकट से आओ और दूर से भी* (८.३७[११])। ब्राह्मण ग्रन्थों से : संमिन्द्ध आ नखेभ्योऽथो लोमभ्यः *वह अपने आपको पूरी तरह, नखों और रोओं तक भी, जलाता है* (श० ब्रा०)।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में अथो का अर्थ कभी-कभी किन्तु भी होता है, जैसे ते वै द्वे भवतः···अथो अपि त्रीणि स्युः उनमें से दो हैं किन्तु तीन भी हो सकते हैं (श० ब्रा०)।

अध केवल ऋग्वेद में आता है, और उसमें भी प्राचीनतर सूक्तों में *अथ* के स्थान में केवल यही पाया जाता है। *अथ* की तरह इसका अर्थ *तब* होता है और यह कालगत और हेतुहेतुमत्सम्बन्धी दोनों आनुपूर्वियों को व्यक्त करता है। जब कोई विरोध होता है तब इसका अर्थ *किन्तु* होता है। अध...अध *दोनों...और*, अध द्विता *और वह विशेष रूप से*; अध नु *अभी-अभी, अन्त में अब, और भी*; अध स्म *खास कर तब*। *अथ* के विपरीत *उ* के साथ यह कभी भी प्रयुक्त नहीं होता।

और, भी के अर्थ में *अपि* जिस पर बल देता है सामान्यतया उससे पूर्व आता है : यो गोपा अपि तं हुवे *वह जो पशुपाल है, उसे भी मैं पुकारता हूं* (१०.१९[४]); ओषधीर्वप्सदग्निर्न वायति पुनर्यन्तरुणीरपि *तरुण पौधों की तरफ लौटते हुए भी अग्नि पौधों को चबाने से थकता नहीं है,* (८.४३[७])। ब्राह्मणग्रन्थों से : तद्धैतदप्यविद्वांस आहुः *जो नहीं जानते वे भी यही कहते हैं* (श० ब्रा०); अद्यापि *आज भी* (ऐ० ब्रा०)।

उचित रूप से, तैयार इन अर्थों में *अरम्* क्रियाविशेषण है। कभी-कभी विशेषण की तरह प्रयुक्त हुआ यह चतुर्थी के साथ अन्वित होता है; जैसे तांवां अयं पातवे सोमो अस्तु, अरं मनसे युवभ्याम् *इस प्रकार का यह सोम (तुम्हारे) पीने को हो, तुम लोगों के मन के अनुसार, तुम दोनों के लिए* (१.१०८[२]); सास्मा अरम् *यह उसके लिए तैयार है*। जब यह

कृ के उपपद रूप में आता है तो इसका अर्थ *परोसना, (कोई चीज) के लिए तैयार करना* होता है, गम् के साथ प्रयुक्त होने पर इसका अर्थ *परोसना* होता है एवञ्च भू के साथ (किसी को) *उचित रूप से या पर्याप्त रूप से प्राप्त होना*। इस स्थिति में इसके योग में तब चतुर्थी आती है

(अ) पूर्वनिर्दिष्ट शब्द अ॑रम् का अ॑लम् यह रूप ब्राह्मणग्रन्थों में उपलब्ध होता है एवं लगभग उसी प्रकार प्रयुक्त होता है जिस प्रकार कि अ॑रम्। जैसे सा॑ नालमाहुत्या आस नालं भक्षा॑य वह न तो आहुति के योग्य था और न खाने के (श० ब्रा०)।

ऋग्वेद और अथर्व० में अ॑ह पूर्ववर्ती शब्द पर बल देता है चाहे वह क्रियापद, विशेष्य, सर्वनाम, विशेषण, क्रियाविशेषण या उपसर्ग कोई भी क्यों न हो। इसका अर्थ साधारणतया *निश्चय से, ध्रुवम्, वस्तुतः, ठीक* इन शब्दों से या केवल बल देकर व्यक्त किया जा सकता है। यह बल देने वाले ईद्, घेद्, उतो॑, ईम् इन दूसरे निपातों के बाद भी आता है। इसके प्रयोग के उदाहरण हैं: क्वा॑ह *कहाँ कृपया?* (१०.५१[३]); ना॑ह *बिल्कुल नहीं* (१.१४७[३]); य॑स्या॑ह शक्रः सु॑तेषु र॑ण्यति *जिस किसी [सोमयाजी] के भी निष्पीडन पर शक्तिशाली आनन्द मनाता है* (१०.४३[३])।

ब्राह्मणग्रन्थों तक अ॑ह का यह प्रयोग मिल जाता है; पर इनमें यह सामान्यतया किञ्चिद्विरोधार्थक दो वाक्यों में से पहले में आता है। पहले वाक्य का क्रियापद लगभग सदैव उदात्त होता है जबकि दूसरे वाक्य में अर्थविरोध या तो बिल्कुल कहा ही नहीं जाता या अ॑थ, उ या तु॑ इन निपातों से सूचित किया जाता है। जैसे प॑राङ्॑ह देवे॑भ्यो यज्ञं॑ वहत्यर्वा॑ची मनुष्यो॑नवति उधर से प्रेरित किया हुआ यह यज्ञ को देवों के पास ले जाता है; इधर प्रेरित किया हुआ यह मनुष्यों को आगे बढ़ाता है (श० ब्रा०)। कभी-कभी (मै० सं० और तै० सं० में) अ॑ह का प्रयोग दो वाक्यों में से पहले के साथ किया जाता है। जैसे क॑स्य वा॑ह श्वो॑ भविता॑ क॑स्य वा कल यह या तो इसका होगा या दूसरे का (मै० सं०)।

वेदों में अ॑भि (जोकि वैसे तो उपसर्ग है) पूर्णता के अर्थ में संख्या या कोटिवाचक शब्दों या कभी-कभी साधारण विशेषणों और विशेष्यों पर बल

देते हुए प्रयुक्त होता है। जैसे त्रिरा दिवः *हर रोज़ तीन बार* (१. १४२[3]); को वो वंषिष्ठ आ नरः *हे वीरो, आप में अत्यन्त समर्थ कौन है* (१. ३७[6]); प्र बोधया पुरन्धिं जार आ ससतीमिव *चतुर पुरुष को जगाओ, जैसे कि कोई प्रेमी सोती हुई बाला को (जगाता है)* (१. १३४[3])।

आद् (मूलरूप में सर्वनाम अ का पञ्चम्यन्त रूप=से या उसके बाद) क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है जब यह कालानुपूर्वी=उस पर, तब को व्यक्त करते हुए बहुधा यद्, यदा, यदि (जब) के सहयोगी के रूप में एवञ्च क्वाचित्कतया इन संयोजकों का पर्याय होने पर किसी दूसरे सम्बन्धवाची के सहयोगी के रूप में व्यवहृत होता है: यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते *ज्यों ही कि वह घुड़साल से अपने घोड़ों को जोत लेता है तो रात अपना पल्ला फैला देती है* (१. ११५[4]); अंवा यो विश्वा भुवनान्यभवत्, आदो दसी ज्योतिषा वह्निरातनोत् *अब (जो=) जब उसने सब भूतों का अतिक्रमण कर लिया तब रथी ने द्युलोक और पृथ्वीलोक को प्रकाश से भर दिया* (२. १७[6])।

(क) यह कभी-कभी और एवञ्च अपिच के अर्थ में शब्दों और उपवाक्यों को जोड़ता है: असौ च या न उर्वरा—आदिमां तन्वं मम वह हमारा खेत और यह मेरा शरीर (८.९१[6]); यदिन्द्र, अहन्प्रथमजामहीनाम्, आन्मायिनामभिनाः प्रोत मायाः हे इन्द्र, जब तुमने सर्पों में सबसे पहले उत्पन्न हुए को मारा और कुटिलों की कुटिलताओं को नष्ट किया (१. ३२[4])।

(ख) जब इसका अर्थ तब और कृपया होता है तब यह सदा कदा प्रश्नवाचक शब्दों के साथ प्रयुक्त होता है: किमादमत्रं सख्यम् तब मित्रता कितनी सशक्त है? (४. २३[5])।

(ग) प्रश्नवाचकों के साथ प्रयुक्त न होने पर आद् प्रायः नित्य पाद के आरम्भ में आता है।

(घ) जब इसका अर्थ ठीक तब, तब एकदम, तब इतना अधिक जितना कभी नहीं था होता है तो इसके बाद बहुधा इद् आता है।

इति (इस प्रकार) भाषणचिन्तनार्थक क्रियापदों के साथ, जिनका कई बार अध्याहार करना पड़ता है, प्रयुक्त होता है। यह निपात साधारणतया

क्रियापद के : उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः हे इन्द्र, तुम ऊखल के द्वारा प्रवाहित बूंदों को उत्सुकता से निगल जाओ (१.२८[१])।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में यह निपात इसी तरह प्रयुक्त होता है : न ता इव सद्योऽन्यस्मै श्रति दिशेत् वह (बिल्कुल उन्हीं=) उन्हीं (गायों) को उसी दिन दूसरे को नहीं दे (श० ब्रा०); तथा—इन्न्वर्नर्नसार अब यह इस प्रकार घटित हुआ (श० ब्रा०)।

इव एक निहत [सर्वानुदात्त] निपात के रूप में प्रयुक्त होता है। इसके दो प्रकार के प्रयोग पाये जाते हैं :

१. समानाधिकरण संक्षिप्त उपमानों में यथा की तरह किसी उपवाक्य का कभी-कभी उपक्रम न करने पर इसका अर्थ *मानों, जैसे* या *तरह* होता है। यह उपमान के बाद आता है। यदि उपमा में अनेक शब्द हों तो यह निपात प्रायः पहले शब्द के बाद आता है, उनसे कम बार दूसरे के बाद। उपमा प्रायेण पूर्ण होती है, पर बहुधा यह पूर्णतया शब्दोक्त नहीं होती। इव का यह प्रयोग वेदों में तो प्राधिक है पर ब्राह्मणग्रन्थों में इसकी अपेक्षा विरल है। इस प्रयोग के उदाहरण हैं : दूरे चित्सन्तळिदिवाति रोचसे *दूर होते हुए भी तुम ऐसे चमकते हो जैसे कि बिल्कुल निकट हो* (१.९४[७]); तत्पदं पश्यन्ति दिवीव चक्षुराततम् *वे उस चरण को आकाश में लगाई हुई आँख की तरह देखते हैं* (१.२२[२०]); स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव *हे अग्नि, तू हमें इसी प्रकार प्राप्य हो जैसे पिता अपने पुत्र को* (१.१[९]); द्विषो नो अति नावेव पारय *हमें अपने शत्रुओं के पार ले जाओ जैसे (समुद्र के पार) किसी पोत में* (१.९७[८]); ताभी राजानं परिगृह्य तिष्ठति समुद्र इव भूमिम् *इनसे वह राजा को घेरकर रखता है, जैसे समुद्र पृथिवी को* (ऐ० ब्रा०)।

२. जब यह किसी उक्ति को जिसे अपने सही अर्थ में न समझना हो विशिष्ट करता है तो इसका अर्थ *मानों कि* होता है। यह प्रायशः विशेषणों, क्रिया-विशेषणों, उपसर्गों या क्रियापदों के बाद आता है, इव का यह प्रयोग वेद में विरल है, किन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में प्राधिक है, उदाहरण हैं : इहेव शृण्वे मैं

[इसे ऐसे] सुनता हूं मानों कि यह बिल्कुल निकट ही हो (१.३७[३]); तदिन्द्र प्र_इव वीर्यं चकर्थ हे इन्द्र, उस शूरतापूर्ण कार्य को तूने (मानों=) बिल्कुल उत्कृष्टता से कर दिया (१.१०३[५]); यो प्र_इव नश्यसि जो तू (मानों=) अपने आपको लगभग खोता है (१.१४६[१]); यदि तन्न_इव हर्यथ अगर तुम उससे बिल्कुल प्रसन्न नहीं हो (१०.१६१[८]); ब्राह्मणग्रन्थों से : तस्मात्सब्भ्रुकं इव इस लिए वह (मानों=) पिङ्गल (है) पुकारा जा सकता है (श० ब्रा०)। रेभति_इव वह बकता सा लगता है (ऐ० ब्रा०)। नन्न सर्व इव_अभिप्र पद्येत न कि हरेक ही ठीक उस तक पहुंचे (श० ब्रा०); उर्दरि_इव वै तद्यदूर्ध्वं नाभेः जो नाभि से ऊँचा है वह ऊर्ध्व कहलायेगा (श० ब्रा०)।

ईम् (सार्वनामिक धातु इ का एक पुराना निहत द्वितीयान्त रूप) केवल वेद में आता है और प्रायः ऋग्वेद तक ही सीमित है।

१. यह प्रायः सब लिङ्गों के द्वितीया एक० (=उस पुरुष को, उस स्त्री को, उस वस्तु को), एवञ्च द्वि० या बहु० के रूप में प्रयुक्त होता है। यह या तो किसी नाम के स्थान में आता है, या आने वाले नाम को बुद्धि में उपस्थापित करता है, अथवा दूसरे सर्वनामों (तम्, यम्, एनम्, एनान्) के साथ आता है। जैसे आ गच्छन्ति_ईमवसा वे उसके पास सहायता के साधन लिए आते हैं (१.८५[११]); आ_ईमाशुं माशवे भर उस वेगवान् को वेगवान् के पास ले आ (१.४[७]), तमीं हिन्वन्ति धीतयः उसे भक्तिपूर्ण स्तोत्र प्रेरित करते हैं (१.१४४[५]); यदीमेनाँ उशतो अभ्यवर्षीत् (७.१०३[३]) उन वर्षा के लिए उत्सुकों पर वर्षा हुई।

२. ईम् संयोजक शब्दों (कोई) यद् (जब भी), प्रश्नवाचकों (कौन?, कृपया?) किंचन (बिल्कुल कुछ नहीं) के योग में साधारणीकरणार्थक निपात के रूप में आता है। जैसे य ईम् भवन्ति आजयः जो भी युद्ध हों (७.३२[१७]); क ईं व्यक्ता नरः कहिये कौन तेजस्वी पुरुष हैं? (७.५६[१]);

उ एक निहत निपात है जोकि असंयुक्त हल् से पूर्व छन्द की दृष्टि से दीर्घ अक्षर की आवश्यकता या अपेक्षा होने पर, विशेष करके पाद के दूसरे

अक्षर में, ऊ लिखा जाता है। यह पूर्ववर्ती अ या आ (प्रायेण निपातों या उपसर्गों, तथा सर्वनाम एवं और कभी-कभी क्रियारूपों के अन्त्यवर्णों) के साथ मिलकर संहिताओं में ओ (तु० २४) के रूप में आता है। ऋग्वेद में मुख्यतया इसके दो प्रकार के प्रयोग उपलब्ध होते हैं:

१. क्रियापदों और सर्वनामों के साथ यह उपलक्षक के रूप में प्रयुक्त होता है।

(क) क्रियापदों के साथ यह किसी कार्य के सद्यःप्रारम्भ को व्यक्त करता है: वर्तमान के साथ=*अब, पहले ही*; भूतकाल के साथ=*बिल्कुल*; प्रार्थनार्थ में प्रयुक्त लोट्, लुङ्मूलक लोट् या विधिलिङ के साथ=*तत्काल*; यहाँ सु॑ बहुधा लगा दिया जाता है, ऊ षु॑=*एक दम*। क्रियापद के साथ उपसर्ग का योग होने पर यह निपात नियमतः उपसर्ग के बाद आता है। इसके प्रयोग में उदाहरण हैं: उ॑दु॒ त्यं जा॒तवे॑दसं दे॒वं॑ वहन्ति के॒तवः॑ *उसकी किरणें अब सब भूतों को जानने वाले उस देवता को ऊपर ले जाती हैं* (१.५०¹); अभू॑दु भाः *प्रकाश अभी हुआ है* (१.४६¹⁰), तप‿उ ष्व॑ग्ने अ॑न्तराँ अमित्रान् *हे अग्नि, हमारे पड़ोसी शत्रुओं को क्षणभर में जला डाल* (३.१८²)।

(अ) क्रियापदों के साथ उ का यह प्रयोग ब्राह्मणग्रन्थों में प्राप्त होता नहीं दीखता।

(ख) यह उपलक्षक सर्वनामों पर बल देता है। तब इसका प्रयोजन केवल बल देना होता है। जब इसका अनुवाद *कृपया* से किया जा सके तो यह प्रश्नवाचक सर्वनामों पर बल देता है, जैसे अ॒यमु॑ ते सरस्वति, व॑सिष्ठो द्वा॑रावृ॒तस्य सुभगे व्यावः *हे दानशील, सरस्वती, इस वसिष्ठ ने तुम्हारे लिए यज्ञ के दो द्वार खोले हैं* (७.९५⁶); कं॑ उ श्रवत् *कहिये, कौन सुनेगा?* (४.४३¹)।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में उपलक्षक सर्वनामों के साथ यह प्रयोग बहुत विरल है, पर प्रश्नवाचकों के साथ विरल नहीं है। जैसे इ॒दमु॑ नो भविष्यति य॑दि नो जेष्य॑न्ति यह कम से कम हमारे पास रहेगा यदि वे हमें जीतें (तै० सं०); किंमु स॑ य॒ज्ञेन॑ यजेत यो॑ गामिव य॒ज्ञं॑ न॑ दुहीत॑ कहिये, वह कैसा यज्ञ करेगा यदि वह यज्ञ को गाय की तरह नहीं दुहे (मै० सं०)।

२. जब कोई शब्द (प्रायः पहला) दूसरे वाक्य में दुबारा आता है उन वाक्यों को जोड़ने के लिए उ यह निपात *भी* के अर्थ में अन्वादेश बुद्धि से प्रयुक्त किया जाता है। जैसे त्रिर्नक्तं यार्यस्त्रिरु अश्विना दिवा *हे अश्विनो, तुम तीन बार रात में आते हो, [और] तीन ही बार दिन में भी* (१.३४[२]); त्वं त्राता त्वमु नो वृधे भूः *तू हमारा रक्षक बन, तू हमारी वृद्धि के लिए भी हो* (१.१७८[५])। द्विरुक्त शब्द का हमेशा वही रूप हो यह आवश्यक नहीं है: यो नो द्वेष्ट्यधरः सस्पदीष्ट, यमु द्विष्मस्तमु प्राणो जहातु *वह जो हमसे द्वेष करता है नीचे गिरे; हम भी जिससे द्वेष करते हैं, उसे भी उसका प्राण छोड़ दे* (३.५३[२१])। उ कभी-कभी दोनों वाक्यों में आता है और कभी-कभी केवल पहले में: वयमु त्वा दिवा सुते वयं नक्तं हवामहे *अभिषुत सोम के निमित्त हम तुझे दिन में बुलाते हैं और रात में भी* (८.६४[६])।

(क) कई बार यह निश्चित रूप से पूर्वनिर्दिष्ट वस्तु का परामर्श न करते हुए उसमें ही किसी समान गुण या क्रिया की अभिवृद्धि करते हुए प्रयुक्त हुआ देखा जाता है=*और भी; और*। जैसे स देवो देवान्प्रति पप्रथे पृथु, विश्वेदु ता परिभूर्ब्रह्मणस्पतिः *उस देवता ने अपने आपको दूर देवताओं तक प्रसारित किया, और वह प्रार्थनाओं का स्वामी इस समूचे विश्व को व्याप्त करता है*। (२.२४[११])।

(ख) यह कभी वाक्य में विरोधार्थ को भी व्यक्त करता है=*इसके विपरीत* या इससे भी अधिक बार सम्बन्धवाचक य के अनुरूप उपलक्षक त के साथ=*पुनः, बदले में,*। यथा—स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः *इसके विपरीत वे जो स्त्रियां हैं उन्हें वे मुझे पुरुष (के रूप में) बताते हैं* (१.१६४[१६]); यो अध्वरेषु होता...तमु नमोभिराकृणुध्वम् *जो यज्ञों में होता है उसे इसके बदले में भक्तिपूर्वक इधर ले आओ* (१.७७[१])।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में, प्रधानतया श० ब्रा० में, अन्वादेशार्थक यह प्रयोग प्रायिक है। जैसे तस्माद्वा इन्द्रोऽबिभेत्, तस्मादु त्वष्टाऽबिभेत् उससे इन्द्र डरता था, त्वष्टा भी उससे डरता था (तै० सं०)।

(आ) यहां उपलक्षक, उ के सम्प्रयोग में प्रायः पीछे कही गयी बात का परामर्श करता है: उतो पञ्चावर्त्तमेव भवति; पाङ्क्तो यज्ञः, पाङ्क्तः पशुः, पञ्चर्तवः संवत्सरस्य; एषा उ पञ्चावर्त्तस्य सम्पत् किन्तु यह भी पाँच भागों में बाँटा गया है; यज्ञ पञ्चावयव हैं, पशु पञ्चावयव हैं, वर्ष की ऋतुएं पांच हैं; यह उसका योग है जो पांच भागों में विभाजित है (श० ब्रा०)। इसी प्रकार तदु ह स्माह इसके विषय में वह कहा करता था, तदु होवाच इसके बारे में उसने कहा; तदु तथा न कुर्यात् उसे इस प्रकार नहीं करना चाहिए—ये वचन पाये जाते हैं।

(आ) दूसरे वाक्य में उ के द्वारा थोड़ा सा विरोध व्यक्त किया जाता है: यदि नोऽश्नाति पितृदेवत्यो भवति, यद्यु अश्नाति देवान् अत्यश्नाति यदि वह नहीं खाता है तो वह पितरों की पूजा करने वाला हो जाता है, पर यदि खाता ही है तो वह देवों से पहले खाता है (श० ब्रा०)।

(इ) किम् के सम्प्रयोग में उ दूसरे उपवाक्य में चरमोत्कर्ष को अभिव्यक्त करता है—और कितना अधिक: मनुष्या इन्न्वा उपस्तीर्णमिच्छन्ति, किमु देवा येषां नवावसानम् मनुष्य भी किसी फैलाई हुई वस्तु को चाहते हैं, वे देवता तो और कितना अधिक (चाहते होंगे) जिनका कोई नया निवासस्थान है (तै० सं०)

उत का अर्थ ऋग्वेद में *और* है। यह दो या दो से अधिक शब्दों अथवा वाक्यों को जोड़ता है।

(क) यह निपात प्रायः दो शब्दों को जोड़ता है। जैसे यः...पृथिवीमुत द्यामेको दाधार *जिस अकेले ने ही द्युलोक और पृथिवी को धारण किया है* (१.१५४⁴)। दो से अधिक विषयों के परिगणन की स्थिति में उत सबसे अन्त में निर्दिष्ट विषय के बाद आता है। जैसे अदिते, मित्र, वरुण उत *हे अदिति, मित्र और वरुण* (२.२७¹⁴)। जब कोई शब्द किसी उपवाक्य का प्रारम्भिक शब्द होता हुआ वाक्यान्तर के प्रारम्भ में दुहराया जाता है तो उत (उ की तरह) दुहराये हुए शब्द के बाद आता है? त्रिः सौभगत्वं त्रिरुत श्रवांसि नः *हमें तीन बार सौभाग्य (दो) और तीन बार यश* (१.३४⁵)।

(ख) जब उत किसी वाक्य को अपने से पूर्ववर्ती वाक्य से जोड़ता है तो उत्तरवर्ती वाक्य के आदि में रखा जाता है: एते नाम्ने ब्रह्मणा वावृधस्व...

उर्त प्र नेष्यभि वस्यो अस्मान् हे अग्नि, इस प्रार्थना से अपने आपको दृढ़ कर, और महत्तर भाग्य की ओर हमें ले चल (१.३१[१८])।

(ग) उर्त...उर्त का अर्थ है दोनों..और; उर्त वा या; उर्त वा...उर्त वा या तो...या। जैसे उर्त‿इदानीं भगवन्तः स्याम‿उर्त प्रपित्व उर्त मध्ये अह्नाम् अब दोनों समय—सायम् और मध्याह्न में—हम भाग्यशाली हों (१.४१[६]); समुद्रादुर्त वा दिवस्परि समुद्र से या द्युलोक से (१।४७[६]), या आपो दिव्या उर्त वा स्रवन्ति खनित्रिमाः या तो वह पानी जो आकाश का है या वह जो नहरों में बहता है (१.४९[२])।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में उर्त का अर्थ और न होकर भी है। यह वाक्य में सामान्यतया प्रतिपाद्यार्थ पर बल देता है न कि (अपि की तरह) किसी एक ही मन्तव्य पर : उर्त यदि‿इतासुर्भवति जीवत्येव तब भी जबकि उसका प्राण जा चुका है, वह जीता है (तै० सं०)। विशेष्य से पूर्व आने पर भी उर्त समूचे वाक्यार्थ को सङ्केतित करता है : उर्त मत्स्य एव मत्स्यं गिलति यह बात भी देखी जाती है कि एक मछली दूसरी मछली को निगल जाती है (श० ब्रा०)।

(आ) विधिलिङ् के साथ उर्त का अर्थ होता है—कोई कार्य आखिर हो सके : उर्त‿एवं चिद् देवानभि भवेम आखिर हम इस प्रकार देवों पर काबू पा सकें (श० ब्रा०)।

(आ) उर्त...उर्त का अर्थ ब्राह्मणग्रन्थों में (और वेद में भी) दोनों.....और होता है : उर्त ऋतव उर्त पशव इति ब्रूयात् उसे कहना चाहिए दोनों—'ऋतुएं और पशु' (श० ब्रा०)।

(इ) उत नियमतः वाक्य के आदि में आता है। इसका अपवाद केवल उसी स्थिति में पाया जाता है जब इससे पूर्व किम् या तं अथवा यं के रूप आते हैं। तस्मादुर्त बहुरपशुर्भवति इसलिए वह चाहे धनी ही क्यों न हो पशु-रहित हो जाता है (श० ब्रा०)।

उतो (=उर्त उ) का अर्थ ऋग्वेद में और भी होता है : उतो नो अस्या उषसो जुषेत हि और वह आज प्रातः हमसे प्रसन्न भी हो जाये (१.१३१[६])।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में उतो का अर्थ पर भी या भी है। आहवनीये हवींषि श्रपयेयुः...उतो गार्हपत्य एवं श्रपयन्ति उन्हें हवि आहवनीय अग्नि पर पकानी चाहियें, पर वे इसे गार्हपत्य पर भी पकाते हैं (श० ब्रा०)।

एवं का प्रयोग ऋग्वेद और अथर्ववेद में दो प्रकार से उपलब्ध होता है:

१. जब वाक्यों या उपवाक्यों के आदि में आने पर यह या तो पिछले या अगले का संकेत देता है तो इसका अर्थ *इस प्रकार* होता है। जैसे, एवाग्निर्गोतमेभिरस्तोष्ट *इस प्रकार अग्नि की गोतमों द्वारा स्तुति की गई है* (१.७७), एवा तमाहुरिन्द्र एको विभक्ता *इस प्रकार वे उसके बारे में कहते हैं 'इन्द्र ही एक बांट कर देने वाला है'* (७.२६)। यह प्रायः यथा (*जैसे*) के सहयोगी के रूप में भी आता है: यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम् *जैसे उत्तरवर्ती पूर्ववर्ती को नहीं छोड़ता है वैसे ही हे स्रष्टा, उनके जीवनों को व्यवस्थित कर* (१०.१८) लोट् के साथ एवं = ऐसे, *तब*: एवा वन्दस्व वरुणं बृहन्तम् (८.४२) *तब उस महान् वरुण की स्तुति करो (जिसने ये महान् कार्य किये हैं)*।

२. बल दिये हुए शब्द के पीछे आने वाले तथा बलावायक निपात के रूप मे एवं के विभिन्न प्रकार से अर्थ किये जा सकते हैं: *बिल्कुल*, *ठीक*, *केवल*, इत्यादि। बल देकर भी इसे व्यक्त किया जा सकता है। जैसे तमेव *केवल उसे*; एक एवं *बिल्कुल अकेला*; अत्रैव *ठीक यहां*, स्वयमेव *बिल्कुल स्वतः*; जातं एवं *अभी अभी पैदा हुआ*; न‿एवं *बिल्कुल नहीं*।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों मे ऊपर के प्रयोगों में से पहला पूर्णतया लुप्त हो गया है (यहां एवम् ने एवं का स्थान ले लिया है), जब कि दूसरा अत्यधिक प्रचुर है। यह निपात किसी कारणवश बल की अपेक्षा रखने वाले सभी प्रकार के शब्दों के बाद आता है; यह कथन विशेष रूप से वहां के लिए है जहां कोई शब्द दुहराया जाता है। जैसे यमग्रेऽग्निं होत्राय प्रावृणत, स प्राधन्वद्, यं द्वितीयं प्रावृणत, स प्र‿एव‿अधन्वत् अग्नि, जिसे उन्होंने पहले होतृत्व के लिए चुना, नष्ट हो गया; वह जिसे उन्होंने दूसरी बार चुना उसी तरह नष्ट हो गया (श० ब्रा०)। जब दो भावों में विरोध से या और किसी तरह सम्बन्ध जोड़ा जाता है तो एवं या तो पहले या अगले के साथ जा सकता है। जैसे अमूमेव देवा उपायन्, इमामसुराः

(श० ब्रा०) देवों ने उस लोक (द्यु) को रिक्थ रूप में प्राप्त किया, असुरों ने इस लोक (भू) को; सोमो युष्माकं, वागेवास्माकम् सोम तुम्हारा (हो), वाणी हमारी (श० ब्रा०)।

एवम् (इस प्रकार) ऋग्वेद में केवल एक बार (यथा (जैसे) के सहयोगी के रूप में) आता है। अथर्व० में यथा के साथ इसके प्रयोग का सर्वथा अभाव है। हाँ, केवल क्रियाविशेषण के रूप में ज्ञानार्थक विद् धातु के साथ इसका प्रयोग पाया जाता है। य एवं विद्यात् वह जो ऐसा ज्ञान प्राप्त कर सके।

ब्राह्मणग्रन्थों में एवम् का प्रयोग पर्याप्त प्रचुर है। यह दो प्रकार से प्रयुक्त हुआ है :

१. यह यथा (जैसे) का सहयोगी है और प्रायः यथा के योग में जिस क्रिया का प्रयोग होता है, उसी क्रिया के रूप का उसके साथ भी प्रयोग होता है। जैसे यथा वै पर्जन्यः सुवृष्टिं वर्षत्येवं यज्ञो यजमानाय वर्षति जिस प्रकार मेघ जोर से बरसता है उसी प्रकार यज्ञ यजमान के लिए बरसता है (तै० सं०)। जब दूसरा क्रियापद छोड़ दिया जाता है तो यथा...एवम् का वही अर्थ हो जाता है जो इव का है। जैसे ते देवा अभ्यसृज्यन्त यथा वित्तिं वेत्स्यमाना एवम् वे देवता ऐसे दौड़े जैसे कि सम्पत्ति प्राप्ति के इच्छुक (श० ब्रा०)।

२. यह क्रियापदों के साथ क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है, विशेषतः प्रचुर प्रयुक्त य एवं वेद वह जो ऐसे जानता है इस उक्ति में; उतैवं विन्न लभेरन् आखिर वे इसे इस प्रकार नहीं छूएंगे (श० ब्रा०)।

कम् उदात्त और अनुदात्त निपात के रूप में प्रयुक्त होता है। पहले प्रकार का प्रयोग वेद और ब्राह्मणग्रन्थ दोनों में ही मिलता है और दूसरा केवल ऋग्वेद में ही।

१. (क) क्रियाविशेषण के रूप में कम् का यावन्मात्र तात्पर्य [जिस अधिक से अधिक अर्थ का वह कह सकता है] अच्छी तरह है (यह वैदिक शम् का पर्याय है)। यह केवल ब्राह्मणग्रन्थों में आता है। जैसे कम्मेऽसत् यह मेरे साथ अच्छी तरह हो (श० ब्रा०)। यह निषेधक रूप में भी आता है; अकम्भवति वह ठीक तरह से नहीं है (तै० सं०)।

(ख) व्यक्तिवाची चतुर्थ्यन्त (प्रायः पादान्त में) पदों के बाद=के *लाभ के लिए* (तादर्थ्ये चतुर्थी) या भाववाचक संज्ञाओं (अन्त्य चतुर्थी) के बाद कम् का यही अर्थ कुछ संकुचित हो जाता है। जैसे युवमेतं चक्रथुः सिन्धुषु प्लवं तौग्र्याय कम् *तुम दोनों ने उस पोत को तुग्र के पुत्र के लाभ के लिए जल में रखा* (१.१८२[५]), त्वां देवासो अमृताय कम्पपुः *अमरता में प्रीति के कारण देवों ने तुझे पिया है* (९.१०६[८]) समानमञ्जयञ्जते शुभे कम् (७.५७[३]) *वे अच्छी तरह चमकने के लिए उसी रङ्ग से स्वयं को सजाते हैं*; ब्राह्मण-ग्रन्थों से : कस्मै कमग्निहोत्रं हूयत इति *किसके लाभ के लिए अग्निहोत्र किया जाता है?* (मै० सं०); तेजसे कम्पूर्णमा इज्यते *तेज के लिए पौर्णमासेष्टि की जाती है* (मै० सं०)।

२. अथर्व० के एक स्वतन्त्र स्थल को छोड़कर अनुदात्त कम् ऋग्वेद में ही आता है। यह सदा ही नु, सु, हिं इन निपातों के बाद गौण रूप में प्रयुक्त होता है। इसका अर्थ होता है *इच्छापूर्वक, प्रसन्नता से, निश्चित*। परन्तु यह अर्थ प्रायः इतना क्षीण होता है कि इसका अनुवाद नहीं किया जा सकता।

नु कम् लु० लो०, लोट्, लेट्, निर्देशक तथा सम्बद्ध उपवाक्यों में आता है। जैसे अंसो नु कमजरो वर्धाश्च *वृद्धावस्था रहित होओ और बढ़ो* (१०.५०[५])। सु कम् केवल लोट् के साथ आता है : तिष्ठा सु कम्मघवन्, मा परा गाः *हे बहुप्रद देव! स्थिर खड़े होइये, आगे न जाइये*। (३.५३[२])। हिं कम् प्रायः निर्देशक (यदाकदा लुप्त) एवञ्च कभी-कभी लोट् या लेट् के साथ आता है : राजा हिं कम्भुवनानामभिश्रीः *क्योंकि वह निस्सन्देह ऐसा राजा है जो प्राणियों पर शासन करता है* (१.९८[१])।

किम् (किं का नपुं०=कं) के दो प्रयोग हैं। पहले स्थान पर इसका अर्थ होता है *क्यों?* जैसे किमु श्रेष्ठः किं यविष्ठो न आजगन् *हमारे पास सबसे अच्छा और सबसे छोटा क्यों आया है?* (१.१६१[१])। यह (प्रश्नवाचक चिन्ह का समकक्ष एक) निरा प्रश्नवाचक निपात भी है, जैसे

किम्मे हव्यमहृणानो जुषेत *क्या वह क्रोध से रहित होकर मेरी आहुति का सेवन करेगा?* (७.८६[३]); किं रंजस एना परो अन्यदस्ति *क्या अन्तरिक्ष से परे भी और कुछ है?* (अथर्व० ५.११[५])।

(आ) ब्राह्मणग्रन्थों में भी किम् का इसी तरह का प्रयोग है। यहां उत्तरवर्ती उ के साथ मिलकर यह दूसरे वाक्य के अर्थ में चरमोत्कर्षरूप अर्थ की अभिव्यक्ति कर देता है=क्या कहना? (देखो उ)। उत्तरवर्ती उत और लिङ् के साथ इसका अर्थ आखिर क्यों होता है। जैसे किमुत त्वरेरन् आखिर वे जल्दी क्यों करें? (श० ब्रा०)।

वेद में विरलतया प्रयुक्त किल यह निपात *वस्तुतः, अवश्यमेव* के अर्थ में है और पूर्ववर्ती शब्द (नाम, सर्वनाम, विशेषण और निषेधक न) पर (ऋग्वेद और अथर्व० में) अधिक बल देता है, स्वादुष्किलायम् (६.४७[१]) *यह (सोम) वस्तुतः मधुर है;* तादीत्ना शत्रुं न किला विवित्से *तब तुझे कोई शत्रु बिल्कुल नहीं मिला* (१.३२[८])।

(आ) ब्राह्मणग्रन्थों में इसका प्रयोग ऐसे ही है। क्षिप्रं किलास्तृणुत (श० ब्रा०); तब, जल्दी (कुशा) फैला दो। पर यहाँ किल प्रायः दूसरे निपातों वै या (ह) वाव के बाद आता है। एष वै किल हविषो यामः वस्तुतः यह यज्ञ का रास्ता है (श० ब्रा०); तव ह वाव किल भगव इदम् आर्य! यह आपका ही है (ऐ० ब्रा०)।

सार्वनामिक प्रश्नार्थक निपात कुविद् उन वाक्यों के आदि में आता है जो यों तो स्वतन्त्र लगते हैं पर अस्वतन्त्ररूप में व्यवहृत होते हैं, क्योंकि क्रियापद (ऋग्वेद में दो बार को छोड़कर) नियमेन उदात्त होता है। इस प्रकार के प्रयोग का कारण यह प्रतीत होता है कि यह साकाङ्क्ष निपात सन्देहोक्ति के रूप में प्रयुक्त किया जाता है जिसका अनुवाद *"मैं आश्चर्य करता हूं (कि)"* द्वारा किया जा सकता है। जैसे तमिन्द्र, मदमा गहि कुविन्न्वस्य तृप्णवः *हे इन्द्र, इस पान-महोत्सव में आओ! (यह देखने के लिए कि) क्या इसका उपभोग तुम करोगे* (३.४२[२]); कुवित्सोमस्यापामिति *क्या सचमुच मैंने सोम पिया है?* (१०.११९[१])=*(मुझे आश्चर्य है) कि मैंने सोम पिया है।*

(क) ब्रा० में कुविद् इसी प्रकार प्रयुक्त हुआ है. जैसे कुविन्मे पुत्रमवधीत् क्या उसने वस्तुतः मेरे पुत्र को मार डाला है? (श० ब्रा०); कुविन्तूष्णीमास्ते क्या वह सचमुच चुपचाप बैठा है? (श० ब्रा०)।

खलु (वस्तुतः, सचमुच) के प्रयोग का अथर्व० में सर्वथा अभाव है और ऋग्वेद में भी यह केवल एक बार पाया जाता है जहांकि यह लोड्थ पर बल देता है: मित्रं कृणुध्वं खलु कृपया, मित्रता कीजिये! (१०.३४[१४])।

(ख) ब्राह्मणग्रन्थों में यह नितान्त प्रायिक है। इसका अकेले का प्रयोग विरल ही है। बहुधा यह दूसरे निपातों के साथ ही प्रयुक्त हुआ है।

(क) यह अकेला लोट्, लेट् या निर्देशक के साथ आता है। जैसे अत्र खलु रमस्व कृपया, यहीं रहिये (श० ब्रा०); ऋध्नोत्येव खलु स यो मद्देवत्यमग्निमाधत्ते वह वस्तुतः ऋद्धि प्राप्त करेगा जो उस अग्नि का आधान करेगा जिसका मैं देवता हूँ (तै० सं०): अस्माकमेवेदं खलु भुवनम् वस्तुतः यह लोक हमारा ही है (श० ब्रा०)।

(ख) उ या अथो के बाद और वै से पहिले या बाद में यह संयुक्त निपातों से पूर्ववर्ती शब्द पर बल देता है। जैसे एष उ खलु महायज्ञो भवति ऐसे वस्तुतः वह महायज्ञ होता है (श० ब्रा०)।

(ग) अथो खलु या तो किसी (प्रायः अनिश्चित) विकल्प = अथवा, अपितु, पर अपितु निश्चय ही को व्यक्त करने के लिए या किसी आक्षेप की उदस्थापना के लिए प्रयुक्त होता है. जैसे वैश्वदेवमिति ब्रूयात्. अथो खलु ऐन्द्रमिति ब्रूयात्. उसे कहना चाहिये 'सब देवताओं के लिए' अथवा कहना चाहिये 'इन्द्र के लिए' (तै० सं०); दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम्. अथो खल्वाहुः कोऽर्हति मनुष्यः सर्वं सत्यं वदितुमिति दीक्षित पुरुष को केवल सत्य बोलना चाहिए; अब वे इस पर आक्षेप उठाते हैं: 'कौन मनुष्य पूर्ण सत्य बोल सकता है?' (ऐ० ब्रा०)।

(घ) केवल वै से वै खलु में अन्तर यह है कि वै खलु स्वतन्त्र वै का अर्थ देता है। पर तै० सं० और ऐ० ब्रा० में खलु वै केवल वै से प्रारम्भ होने वाले पहले उपवाक्य के पश्चात् दूसरे हेतु वाक्य का प्रारम्भ करने के लिए किया जाता है। यह कारणार्थ (हेतुमान् अर्थ) पूर्व के साथ आता है। जैसे प्राजापत्यो वै

पुरुष; प्रजापतिः खलु वै तस्य वेद; प्रजापतिमेव स्वेन भागधेयेन उपधावति अब मनुष्य प्रजापति से आता है; फिर प्रजापति उसके विषय में जानता है; सो वह उसके (यज्ञ के) भाग को लिए हुए प्रजापति के पास जाता है (तै० सं०)। पूर्ववर्ती उपवाक्य के वै के साथ प्रारम्भ न होने पर भी यह प्रयोग कभी-कभी आ जाता है।

घ निहत निपात है जिसका प्रयोग लगभग ऋग्वेद तक ही सीमित है। यह प्रायः पाद में द्वितीय स्थान ग्रहण करता है। कतिपय अपवादों को छोड़कर यह छन्दोऽनुरोधात् दीर्घ होकर घा बन जाता है। यह पूर्ववर्ती शब्द पर बल देता है जोकि लगभग सर्दव या तो निषेधार्थक नं या कोई (निर्देशक या व्यक्तिवाचक) सर्वनाम, या कोई क्रियायोगी उपसर्ग होता है। इसका अर्थ नाना प्रकार से *बिल्कुल*, *केवल*, *ही* इत्यादि के द्वारा या केवल बल देकर ही व्यक्त किया जाता है। ऋग्वेद में यह नाम पर केवल दो बार और क्रियापद पर एक बार बल देता है। तृतीये घा सवने *कम से कम सोम की तीसरी आहुति में* (१.१६१[८]); उशन्ति घा ते अमृतास एतत् वे *अमर्त्य इसे चाहते हैं* (१०.१०[७])।

च (ग्रीक ते, लैं० कुए) (*और*) एक निहत संयोजक निपात है जो शब्दों तथा वाक्यों में सम्बन्ध स्थापित करने के काम में आता है। यह नियमतः किसी उदात्त शब्द के बाद आता है, पर जब यह किसी उपवाक्य को जोड़ता है तो उस उपवाक्य के आदिम शब्द के बाद आता है।

१. च विशेष्यों (जिनमें सर्वनाम और संख्या शब्द भी शामिल हैं) और क्रियाविशेषणों को सम्बद्ध करता है। जैसे मित्रं हुवे वरुणं च मैं *मित्र और वरुण का आवाहन करता हूँ* (१.२[७]); मघवानो वयं च *संरक्षक और हम* (१.७३[८]); शतमेकं च *सौ और एक* (१.११७[१८]); अद्या नूनं च *आज और अब* (१.१३[६])। कुछ स्थलों में (पर ब्राह्मणग्रन्थों में कदापि नहीं) च दूसरे शब्द के बजाय पहले के बाद आता है: नक्ता च....उषसा *रात्रि एवं प्रातःकाल* (१.७३[७])।

(अ) च...च बहुत कुछ इसी प्रकार प्रयुक्त होते हैं। जैसे गिरयश्च द्यावा च

भूमा पर्वत और द्युलोक तथा पृथिवी (१.६१[१४]); दि॒वश्च॒ ग्मश्च॑ द्युलोक और पृथ्वी का (१.३७[६]); अ॒स्मांश्च॒ तांश्च॑ हमें और उन्हें (२.१[१६]); नव॑ च॒ नव॒तिं च॑ नौ और नब्बे (१.३२[१४]); आ च॒ परा॑ च॒ चर॑न्तम् इधर और उधर चलते हुए [को] (१.१६४[३१])।

इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में : दे॒वाश्च॒_अ॑सुराश्च देवता और असुर (श० ब्रा०); ष॒ष्टिश्च॒ त्रीणि च श॒तानि साठ और तीन सौ; पु॒रस्ता॑च्च_उ॒परि॑ष्टाच्च आगे से और पीछे से।

(आ) च...च कभी-कभी विरोध प्रकट करते हैं : नक्ता॑ च च॒क्रुरु॒षसा॒ विरू॑पे; कृ॒ष्णं च॒ वर्ण॑मरु॒णं च॒ सं धुः उन्होंने विभिन्न रूपों के रात-दिन बनाये हैं; उन्होंने काले और अरुण वर्ण को साथ रक्खा है (१.७३.[७])।

इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में : उ॒भयं॑ ग्रा॒म्यं॑ च॒_आर॒ण्यं॑ च जुहोति वह जंगली और पालतू दोनों की बलि देता है (मै० सं०)।

(क) ऋग्वेद में च का एक विचित्र प्रयोग वह है जहाँ कि यह प्रथमान्त रूप में पठित दूसरे सम्बोधन को पहले से सम्बद्ध करता है। जैसे वाय॒विन्द्र॑श्च॒ आ या॑तम् *हे वायु और हे इन्द्र, तुम दोनों आओ* (१.२[५])।

(ख) च का वेद और ब्राह्मणग्रन्थों में एक अन्य विचित्र प्रयोग वह है जहाँ कि यह किसी संज्ञा को (जोकि लगभग प्रथमा में ही पायी जाती है) दूसरी अध्याहार्य संज्ञा के साथ जोड़ता है। जैसे आ यदिन्द्र॑श्च॒ दद्व॑हे *जब हम दोनों, मैं और इन्द्र, लेते हैं* (८.३४[१६]); इन्द्र॑श्च॒ सोमं॑ पिबतं बृहस्पते *हे बृहस्पति, तुम (तू) और इन्द्र सोम पियो (पी)* (४.५०[१०])।

ब्राह्मणग्रन्थों से तौ बृ॒हस्पति॑श्च॒_अन्व॑वैताम् *वे दो—(वह) और बृहस्पति—उनके पीछे गये* (तै० सं०) : तत् सं॒ज्ञां कृ॑ष्णाजि॒नं च॑ वदति *सो वह (इसके) और काले मृगचर्म के (बीच में) अविरोध (संवाद) को कहता है* (श० ब्रा०)।

(ग) ब्राह्मणग्रन्थों में च का प्रयोग वाक्य के अन्त में और (इस प्रकार किया) के अर्थ में किसी एक शब्द को जोड़ने के काम आता है। जैसे श्रमेण ह स्म वै तद् दे॒वा जयन्ति यदे॑षां जय्य॒मास॒_ऋष॑यश्च देवता लोग जो उन्हें जीतना होता था श्रम से जीता करते थे और इसी प्रकार ऋषि किया करते थे (श० ब्रा०)।

(ग) प्रश्नार्थक कः या सम्बन्धार्थक यः तथा प्रश्नार्थक कः इन दोनों संयुक्त शब्दों के बाद आने वाला च उन्हें अनिश्चयवाचक बना देता है: कश्च अथवा यः कश्च कोई, जो कोई (तु० ११९ ख)।

२. च प्रधान वाक्यों और सहयोगी उपवाक्यों—दोनों—को जोड़ता भी है: आ देवेभिर्याहि यक्षि च *देवताओं के साथ आओ और यज्ञ करो* (१.१४[२]); या व्यूषुर्याश्च नूनं व्युच्छान् *वे जो चमक चुकी हैं और वे जो अब चमकेंगी* (१.११३[१०]), योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः *जो हमें घृणा करता है और जिससे हम घृणा करते हैं* (श० ब्रा०)।

(क) च ...च उन समान क्रियारूपों द्वारा परस्पर विपर्यय को व्यक्त करने के लिये जो या तो एक ही रूप वाले हैं या कम से कम उसी पुरुष या वचन में आते हैं वाक्यों को परस्पर सम्बद्ध करते हैं। उस स्थिति में पहला क्रियापद सदैव उदात्त होता है: परा च यन्ति पुनरा च यन्ति *वे दूर चले जाते हैं और फिर आ जाते हैं* (१.१२३[१२])।

(ख) ब्राह्मणग्रन्थों में च...च का प्रयोग इसी प्रकार का है। जैसे वत्सं च‿उपावसृजत्युखां चाधि श्रयति वह बछड़े को आने देता है और बरतन को आग पर चढ़ाता है (तै० सं०), दूसरे क्रियापद के छूट जाने पर भी स्वरनियम लागू होता है: अग्नये च हविः परिददाति गुप्त्या अस्यै च पृथिव्यै रक्षा के लिए वह अग्नि को एवञ्च इस पृथिवी को हवि प्रदान करता है (श० ब्रा०)। यह जोड़ने का प्रयोग इसी प्रकार के संक्षिप्त सम्बन्ध-प्रतिपादक वाक्यों में विशेष रूप से व्यापक है: सर्वान्पशून्निर् दधिरे ये च ग्राम्या ये च‿आरण्याः उन्होंने उन सब पशुओं को नीचे रख दिया जो पालतू हैं और जो जंगली हैं (श० ब्रा०)।

३. च वेद में लेट् और निर्देशक के साथ *यदि* के अर्थ में कुछ बार प्रयुक्त हुआ है: इन्द्रश्च मृळयाति नो, न नः पश्चादघं नशत् *यदि इन्द्र हम पर कृपालु हो तो हम पर आज के बाद विपत्ति नहीं पड़ेगी* (२.४१[११]); इमां च वाचं प्रतिहर्यथा, नरो, विश्वेद्वामा वो अश्नवत् *हे वीरो, यदि कृपया आप इस गान को स्वीकार करलें, तो, यह आपसे तमाम वस्तुओं को प्राप्त कर लेगा* (१.४०[६])।

चर्न, जिसका ठीक-ठीक अर्थ *भी नहीं है*, अनेकानेक बार किसी निषेधार्थक शब्द के पश्चात् प्रयुक्त हुआ है। जैसे तृतीयमस्य नकिरा दधर्षति, वयश्चर्न पतयन्तः पतत्रिणः *उसके तीसरे (कदम) को पहुँचने का साहस कोई नहीं करता है, वे पांखों वाले पक्षी भी नहीं, यद्यपि वे उड़ते हैं* (१.१५५⁵)। इस प्रकार के पूरे उपवाक्यों में, जहाँ इसका अनुवाद *भी* से भी किया जा सकता है, इसके प्रयोग से किसी अकेले उपवाक्य रूप वाक्य में निषेधार्थक शब्द के बाद इसका दूसरा अर्थ (*भी*) स्वाभाविक तथा आवश्यक हो जाता है। जैसे यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चर्न *जिसके बिना विद्वान् पुरुष का भी यज्ञ सफल नहीं होता* (१.१८⁷); इन्द्रं न मह्ना पृथिवी चर्न प्रति *महिमा में पृथिवी भी इन्द्र के तुल्य नहीं है* (१.८१⁵)। क्योंकि अकेले उपवाक्य रूप वाक्य में दो निषेधों में से एक व्यर्थ ही होता है, इस लिए चर्न कभी-कभी, अकेला ही निषेधक का काम करता है: महे चर्न त्वा परा शुल्काय देयाम् *किसी बहुत बड़े लाभ के लिए भी मैं तुझे प्रदान नहीं करूंगा* (८.१⁵)।

(क) कुछ स्थलों में यह निषेधार्थक पद के अभाव में अपने निषेधार्थ का त्याग करके *भी* एवञ्च, *और* इन अर्थों को कहता है: अहं चर्न तत्सूरिभिरानश्याम् *मैं भी संरक्षकों के साथ इसे प्राप्त करूं* (६.२६⁷), अधा चर्न श्रद्दधति *इसलिए भी वे श्रद्धा करते हैं* (१.५५⁵)।

(ख) ब्राह्मणग्रन्थों में चर्न एकमात्र उपवाक्य रूप वाक्य में केवल किसी निषेधार्थक पद के बाद आता है, जहाँ कि न चर्न का अर्थ भी नहीं होता है। जैसे न हैनं सपत्नस्तुस्तूर्षमाणश्चर्न स्तृणुते कोई शत्रु उसे गिराता नहीं है चाहे वह उसे गिराना चाहता ही हो (श० ब्रा०)।

(क) चर्न प्रश्नार्थक को अनिश्चयार्थक बना देता है: कश्चर्न *कोई*, न कश्चर्न *कोई नहीं* (तु० ११९ ख)।

चिद् एक ऐसा अनुदात्त निपात है जो पूर्ववर्ती शब्द पर बल देने के लिए अत्यधिक प्रयुक्त हुआ है। इसके दो अर्थ हैं:

१. प्रायः इसके द्वारा यह व्यक्त किया जाता है कि बल दिये हुए शब्द के विषय में किसी उक्ति की आवश्यकता नहीं है। इस स्थिति में इसका अर्थ

भी होता है। जैसे आ दृढं चिदरुजो गव्यमूर्वम् तुमने दृढ़ गोष्ठ को भी तोड़ डाला है (३.३२[२२])। परन्तु यह भाव कभी-कभी इतना दुर्बल होता है कि इसे केवल थोड़ा बल देने मात्र से ही व्यक्त किया जा सकता है। जैसे त्वं चिन्नः शम्यै बोधि स्वाधीः तू हमारे आयास के प्रति ध्यान दे। (४.३[३])।

२. सामान्यतया इसके द्वारा निर्देश=कोई, हर एक, सब को अभिव्यक्त किया जाता है। जैसे कृतं चिदेनः प्र मुमुग्ध्यस्मत् (१.२४[९]) (हमारे द्वारा) किये हुए किसी (हरेक, सब) पाप को हम से हटा दे। इसी प्रकार प्रश्नवाचकों के साथ इसका अर्थ है कोई। सम्बन्धवाचकों के साथ इसका अर्थ है कोई भी। जैसे कश्चिद् कोई: शृणोति कश्चिदेषाम् कोई भी (=हरेक) उन्हें सुनता है (१.३७[१३]); सुन्वद्भ्यो रन्धया कं चिदव्रतम् हरेक पापी (व्रतहीन) मनुष्य को उनके अधीन करदे जो सोम निकालते हैं (१.१३२[४]); न या भी कश्चिद् (कोई नहीं=) कोई भी नहीं; कदाचिद् कभी भी=किसी भी समय अर्थात् हमेशा; यश्चिद् जो कोई; यच्चिद् यदि कभी; यथा चिद् हमेशा।

(क) ब्राह्मणों में प्रश्नार्थक सर्वनामों के साथ साधारणीकरण रूप का प्रयोग ही अवशिष्ट है=कोई, कुछ; जैसे अथ कंचिदाह तब वह किसी को कहता है (श० ब्रा०), यच्चे कश्चिद्ब्रवीत् जो किसी ने आपको कहा (श० ब्रा०)।

चेद् (=च इद्) (यदि) ऋग्वेद में केवल तीन बार आता है, किन्तु बाद में प्रायिक हो जाता है। ऋग्वेद और अथर्व० में यह निर्देशक, वर्तमान, और लृङ में मिलता है। अथर्व० में यह एक बार लिङ के साथ भी आता है। उदाहरणार्थ नि चेद्दुर्छन्त्यश्विना, उषासः, प्र वां ब्रह्माणि कारवो भरन्ते अश्विनौ, जब उषायें चमकती हैं तब गायक तुम्हें प्रार्थनायें अर्पण करते हैं (७.७२[४]); ब्राह्मा चेद्धस्तमग्रहीत्स एव पतिरेकधा यदि किसी ब्राह्मण ने उसका हाथ पकड़ा है तो वही केवल उसका स्वामी है (अ० वे० ५.१७[८]); इति मन्वीत याचितः वशां चेदेनं याचेयुः जिससे याचना की गई है वह इस प्रकार सोचेगा यदि वे उससे एक गाय मांगें (अ०वे० १२.४[४८])।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में चेद् निर्देशक, लट्‌लुङ्, लृट्, और लिङ् के साथ आता है। जैसे अंतश्चेदेवं नैति नास्य यज्ञो व्यध्यते यदि वह वहाँ से नहीं जाता है तो उसका यज्ञ विफल नहीं होता है (मै० सं०), स होवाच तुरीयं तुरीयं चेन्मामवोचंस्तुरीयमेवं नाहिं वाङ् निरुक्तं वदिष्यतीति वह बोला 'यदि उन्होंने मुझे हर बार चौथाई मात्र दिया है तो वाणी केवल चौथाई मात्र ही सुस्पष्ट बोलेगी, (श० ब्रा०); तं चेन्मे न विवक्ष्यसि, मूर्धा ते विपतिष्यति यदि तुम इस (पहेली) की व्याख्या मेरे आगे न कर सकोगे तो तुम्हारा सिर फट जायेगा (श० ब्रा०); एतं चेदन्यस्मा अनुब्रूयास्तत एव ते शिरश्छिन्द्याम् यदि तुम यह किसी और को बताओगे तो मैं तुम्हारा सिर काट डालूंगा (श० ब्रा०)।

ततस् ऋग्वेद में स्थानसङ्केतिका पञ्चमी के अर्थ में क्रियाविशेषण के रूप में कई बार आता है =वहाँ से। जैसे ततो विषं प्र वावृते *वहाँ से विष चला गया है*। इसका उसके बाद, तब यह कालनिर्देशक अर्थ भी (किन्तु बहुत विरल) होता है। जैसे यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते, ततः सूर्यो.... आजनि *अथर्वा ने यज्ञों से पहले रास्तों का विस्तार किया, तब सूर्य उत्पन्न हुआ* (१.८३[5])।

(अ) दूसरी ओर, ब्राह्मणग्रन्थों में उसके बाद यह कालनिर्देशक अर्थ अत्यधिक प्रचलित है। यहां बहुधा यह पिछले वाक्य से जुड़े हुए वाक्य के आरम्भ में इस लिए, परिणामस्वरूप के अर्थ में भी आता है, जैसे सा यज्ञमेव यज्ञपात्राणि प्र विवेश, ततो हैनां न शेकतुर्निर्हन्तुम् वह यज्ञीय पात्रों में एवञ्च स्वयं यज्ञ में ही प्रविष्ट हो गई, फलतः वे (दोनों) इसे बाहर नहीं निकाल सके (श० ब्रा०)।

तथा ऋग्वेद में सो और *इस प्रकार* या *ऐसा* के अर्थ में आता है। जैसे तथा ऋतुः *ऐसा नियम है* (१.८३[4])। यह यथा के नित्यसम्बद्ध के रूप में (यद्यपि एव की अपेक्षा बहुत कम) भी आता है, जैसे श्यावाश्वस्य सुन्वतस्तथा शृणु यथाशृणोरत्रेः यज्ञ (सोमयाग) करते हुए *श्यावाश्व की बात वैसे ही सुन जैसे कि तूने अत्रि की सुनी थी* (८.३६[7])।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में भी इसका ऐसा ही प्रयोग पाया जाता है, जैसे तथा इन्नूनं तदास निश्चय से, यह इस प्रकार घटित हुआ (श० ब्रा०), यथा के

नित्यसम्बद्ध के रूप में (यद्यपि पूर्ववत् की अपेक्षा कम बार): नं वैं तथा_अभूद्यथा_अमन्यत अर्थात् वह ऐसा नहीं बना जैसे कि मैंने सोचा था (श० ब्रा०)।

(आ) तथो (=तथा_उ) ब्राह्मणग्रन्थों में और इसी प्रकार, किन्तु ऐसे के अर्थ में आता है जैसे तथो एवोत्तरे निर्वपेत् और इसी तरह वह पिछले दो को प्रदान करे (तै० सं०); सा यद् दक्षिणा-प्रवणा स्यात्, क्षिप्रं ह यजमानोऽमुं लोकमियात्, तथो ह यजमानो ज्योग्जीवति यदि यह (वेदि) दक्षिण की ओर झुकी हो तो यजमान उस लोक को शीघ्र जायेगा, किन्तु ऐसे (जैसे कि यह है) यजमान लम्बी उम्र तक जीता है। (श० ब्रा०)।

तद् ऋग्वेद में बहुधा क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है। इसके तब तीन विभिन्न अर्थ होते हैं:

१. यद् (जब) के नित्यसम्बद्ध के रूप में इसका अर्थ बहुधा तब होता है; जैसे यज्जायथा वृत्रहत्याय तत्पृथिवीमप्रथयः जब तू वृत्र युद्ध के लिए पैदा हुआ तब तूने पृथ्वी को विस्तृत किया (८.८९^{५}) :

२. यह बहुधा उधर (लक्ष्य का कर्म) के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। जैसे तद्दिंस्त्वा युक्ता हरयो वहन्तु जुते हुए घोड़े तुझे उधर ले जायें (३.५३^{१})

३. कभी कभी इसका अर्थ इसलिए होता है। जैसे तद्वो देवा अब्रुवन् तद्व आगमम् चूंकि देवों ने तुम्हें कहा इसलिए मैं तुम्हारे पास आया हूँ (१.१६१^{३}); प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण इसलिए शूरता के लिए विष्णु की प्रशंसा की जाती है (१.१५४^{२})।

(इ) ब्राह्मणग्रन्थों में तद् के क्रियाविशेषण के रूप में चार विभिन्न प्रयोग हैं:
१. यद् (जब, क्योंकि)=उससे, और यत्र (जहाँ)=वहाँ के नित्यसम्बद्ध के रूप में, जैसे यन्न्वै राजानमभिषुण्वन्ति, तत्तं घ्नन्ति अब जब वे राजा (सोम) का अभिषव करते हैं तो वे उस क्रिया से उसे मारते हैं (श० ब्रा०) यत्रान्या ओषधयो म्लायन्ति तदेते मोदमाना वर्धन्ते जहाँ कि दूसरे पौधे मुर्झा जाते हैं वहाँ यह (गेहूँ) मजे से बढ़ता है (श० ब्रा०)।

२. उसके बाद, तब के अर्थ में, जैसे अथ_इतिथीं समां तदौघ आगन्ता, तन्मा नावमुपकल्प्य_उपासासै उसके बाद इस अमुक अमुक साल में एक बाढ़ आयेगी, तब तुम एक नाव बनाकर मेरे पास आना (श० ब्रा०)।

३. पूर्ववर्ती कथन का निरन्तर परामर्श करते हुए, उसके बारे में, उसके द्वारा, इस प्रकार के अर्थ में, जैसे यज्ञमेवं तद् देवा उपायन् देवताओं ने इस प्रकार यज्ञ को प्राप्त किया (श० ब्रा०), तत्तद्वक्लृप्तमेव यद् ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात् सो यह बिल्कुल उचित ही है कि ब्राह्मण बिना राजा के हो (श० ब्रा०), तदाहु उसके बारे में वे कहते हैं, तदु तत् अब इसके बारे में (श० ब्रा०) ।

४. पूर्ववर्ती कथन का परामर्श करते हुए यद् से पूर्ववर्ती किसी व्याख्या वाक्य को जोड़ने के लिए और आशय यह है कि, अब के अर्थ में, जैसे तद्य देष एतत्तपति तेन एष शुक्रः अब, क्योंकि वह यहाँ तपता है, इसलिए वह चमकीला है (श० ब्रा०) । यही अर्थ इस उक्ति में भी पाया जाता है : तद्य त्तथा आशय यह है कि, यह ऐसा क्यों है (यह निम्न प्रकार से है) = इसका कारण निम्न निर्दिष्ट है (श० ब्रा०) ।

तर्हि (उस समय, तब) ऋग्वेद में केवल एक बार पर अथर्व० में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है : न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि तब उस समय वहाँ न मृत्यु थी और न अमरता (१०.१२९) । अथर्व० में यह शब्द यदा (जब) के तथा ब्राह्मणग्रन्थों में यत्र, यद्, यदा, यर्हि (जब) और यदि (अगर) के नित्यसम्बद्ध के रूप में देखा जाता है । जैसे रक्षांसि वा एनं तर्ह्यालभन्ते यर्हि न जायते तब उसे राक्षस पकड़ लेते हैं जब (अग्नि) नहीं पैदा होता (ऐ० ब्रा०); यदि वा ऋत्विजोऽलोका भवन्त्यलोक उ तर्हि यजमानः यदि ऋत्विज् के पास स्थान नहीं होता तो यजमान के पास भी वह (स्थान) नहीं होता (श० ब्रा०) ।

तस्माद् (इसलिए) ऋग्वेद में क्रियाविशेषण के रूप में उपलब्ध नहीं होता, पर अथर्व० में इस रूप में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है और ब्राह्मणग्रन्थों में तो इसका इस प्रकार का प्रयोग सार्वत्रिक है । यद् (क्योंकि) के नित्यसम्बद्ध के रूप में यह अथर्व० में एक बार आता है और ब्रा० में अनेक बार । जैसे यद्ध तद्वरुणगृहीतान्यः कर्मभवत्तस्मात्कायः (मै० सं०) क्योंकि जो वरुण द्वारा पकड़े गये उन्होंने सुख अनुभव किया, इसलिए इसे काय (शरीर) कहा जाता है ।

तु॑ उदात्त होने पर भी वाक्य या पाद के आदि में कदापि प्रयुक्त नहीं होता। इसके दो प्रकार के प्रयोग हैं :

१. यह एक ऐसा निपात है जिसके द्वारा (वाक्य के अर्थ पर) बल दिया जाता है। ऋग्वेद में, जहाँ यह लगभग पचास बार प्रयुक्त हुआ है, यह इसी अर्थ तक सीमित दिखाई देता है।

(क) अपने लगभग दो तिहाई प्रयोगों में (तु॑) म० पु० लोट् (प्र० पु० या लोडर्थक लेट् में विरलतया) में प्रेरणा पर बल देता है—*कृपया सो*। जैसे आ॒ त्वे॑ता॒ नि षी॑दत *कृपया आओ, नीचे बैठ जाओ* (१.५¹); न ते॑ दू॒रे प॑र॒मा चि॒द्रजां॒स्या तु॑ प्र या॑हि हरि॒भ्याम् *सबसे ऊंचे लोक भी तेरे लिए दूर नहीं हैं, सो तुम अपने (दो) घोड़ों के साथ इधर आओ* (३.३०²)।

(ख) कतिपय स्थलों में यह (तु॑) *निश्चय ही, वस्तुतः* के अर्थ में प्रतिज्ञा वाक्य पर (प्रायः निर्देशक त॑ के बाद आते हुए) बल देता है। जैसे त॑त्त्व॑स्य *वह निश्चय ही उसका काम है* (३.३०¹²)

२. *पर* के अर्थ में यह एक विरोधार्थक निपात है, इसका यह भाव अथर्व० के केवल एक स्थल में जहां कि यह प्रयुक्त है, पाया जाता है। ब्राह्मणग्रन्थों में तो केवल यही अर्थ है। जैसे च॒कार॑ भ॒द्रम॒स्मभ्य॑मा॒त्मने॒ त॑पनं॒ तु॑ सः *उसने वह किया है जो हमारे लिये अच्छा है, पर उसके लिए दुःखदायी है* (अथर्व० ४.१८³); त॑दे॒वं वे॑दि॒तोर्नं॑ त्वे॒वं॑ क॑र्त॒वै॑ *उसे इस प्रकार जानना चाहिए पर इस प्रकार करना नहीं चाहिए* (मै० सं०)। पूर्ववर्ती अवान्तर वाक्य में यह अ॑ह या नु॑ के सम्प्रयोग में *यह सही है...किन्तु* का भाव व्यक्त करता है : जैसे त॑द॑ह ते॑ऽपां॑ व॑चोऽन्य॑था त्वे॑वा॑तः स्थि॑तिः *यह वस्तुतः वही है जो वे कहते हैं, पर परम्परागत व्यवहार उससे भिन्न है* (श० ब्रा०)।

ते॑न ब्राह्मणग्रन्थों में य॑द् (क्योंकि) के नित्यसम्बद्ध क्रियाविशेषण के रूप में आता है। य॑द् ग्रा॒म्य॑स्य॒न॒ अ॑श्नाति ते॑न ग्रा॒म्या॑न॒वरुन्द्धे क्योंकि वह कोई

पालतू पशु नहीं खाता, इसलिए वह अपने लिए पालतू पशुओं को प्राप्त कर लेता है (मै० सं०)।

कभी-कभी ब्राह्मणग्रन्थों में प्रयुक्त त्वाँव (तु वाँव का समस्त रूप) इस निपात का वाँव से अर्थतः स्पष्ट रूप से कोई भेद नहीं है। जैसे त्रयो ह त्वाँव पशवोऽमेध्याः तीन ही प्रकार के पशु यज्ञ के अयोग्य (अयज्ञिय) हैं (श० ब्रा०)।

किन्तु वस्तुतः के अर्थ में त्वै (तु वै का समस्त रूप) कभी-कभी ब्राह्मणग्रन्थों में मिल जाता है।

द्विता यह निपात केवल ऋग्वेद तक ही सीमित है और वहां भी प्रायः तीस बार ही प्रयुक्त हुआ है। निस्सन्देह यह एक पुराना तृतीयान्त रूप है जिसका व्युत्पत्त्यर्थ *दुहरी तरह* होता है। यह अक्षरार्थतः=*दो प्रकार से* या उपचारेण=*बलपूर्वक, विशेषरूप से, पहले से अधिक* लिया जाने पर उन सभी स्थलों में जहाँ कि यह पाया जाता है, समीचीन प्रतीत होता है। जैसे भरद्वाजायाव धुक्षत द्विता धेनुं च विश्वदोहसमिषं च विश्वभोजसम् *हे मरुतो तुम भरद्वाज पर सब कुछ दुहने वाली गाय और सब प्रकार से पुष्टिकारक भोजन—इन दोनों को दो बार दुहो* (६.४८[१३]); राजा देवानामुत मर्त्यानां द्विता भुवद्रयीणाम् *देवों और मर्त्यों के राजा के रूप में वह सम्पत्तियों का दुहरी तरह से स्वामी हो* (१.२७[११]); द्विता यो वृत्रहन्तमो विद इन्द्रः शतक्रतुः उप नो हरिभिः सुतम् *वह इन्द्र शतक्रतु जो सबसे बढ़कर वृत्रघातक के रूप में जाना जाता है, हमारे सोमाभिषव पर अपने घोड़ों के साथ (आये)* (८.९३[३२]); गवामेषे सख्या कृणुत द्विता (१०.४८[२]) *गायों की खोज में उसने विशेषरूप से (मेरे साथ) मित्रता की*।

(अ) अध के साथ यह शब्द कई बार आता है और तब इसका अर्थ होता है *और वह भी दुहरी तरह या विशेष रूप से*। जैसे वि तद्वोचेरध द्विता *इसकी व्याख्या करिये, और विशेषरूपेण (व्याख्या करिये)* (१.१३२[४])।

न के वेद में दो अर्थ हैं (किन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में दो में से केवल पहला ही):

१. निषेधवाची निपात के रूप में जब इसका अर्थ *नहीं* होता है तो यह प्रतिज्ञा का निषेध करता है एवञ्च प्रधान वाक्यों में सब कालों के

निर्देशकों, लेट्, लिङ् और लु० लो० (भविष्यत् के अर्थ में) के साथ आता है, किन्तु लोट् के साथ नहीं आता। यह सम्बद्ध तथा संयुक्त अवान्तर वाक्यों में भी प्रयुक्त होता है। यह या तो समूचे वाक्य के (जब यह यथासम्भव वाक्य के आदि पद के निकट आता है, वेद में सम्बन्धवाचक पद से पूर्व भी) प्रतिज्ञातार्थ का निषेध करता है या केवल क्रियापदोक्त अर्थ का। यह केवल उस वाक्य में प्रयुक्त हो सकता है जहां कोई पुरुषवचनपरिच्छिन्न क्रिया—(तिङन्त) पद हो या जहाँ उसका अध्याहार होना हो। इसका क्रियापद-व्यतिरिक्त अन्य किसी शब्द (जैसे कि निपात या विशेषण) का निषेध करने का कोई असन्दिग्ध उदाहरण दिखाई नहीं पड़ता। ब्राह्मणग्रन्थों में इस निषेधार्थक **न** का प्रयोग वेद के जैसा ही है।

(अ) सामान्य वाक्यों में किसी क्रिया (जैसे कि अस्ति है) का इस निषेधार्थक निपात के साथ प्रायः अध्याहार करना पड़ता है, विशेष कर कृत्यप्रत्ययान्त, तुमर्थक कृदन्त या तुमर्थक कृदन्तों के पर्यायवाची चतुर्थ्यन्त पदों के साथ, जैसे **तन्न दुर्ष्यम्** उसके बारे में कष्ट नहीं उठाना (है) (मै० सं०); **न यो वराय** जो निवारण के लिए नहीं (है)=जो अप्रतिरोध्य है (१.१४३.५) या द्वितीय वाक्य में प्रथम वाक्य गत क्रिया का अध्याहार करना पड़ता है। जैसे **नक्तमुपतिष्ठते, न प्रातः** वह रात में पूजा करता है, (वह) प्रातः (पूजा) नहीं (करता) (मै० सं०)।

(आ) दो निषेधार्थक (नकार) एक सबल प्रकृतार्थ को व्यक्त करते हैं। जैसे **न हिं पशवो न भुञ्जन्ति** क्योंकि पशु हमेशा खाते हैं (मै० सं०)।

२. वेद में (ऋग्वेद में बहुधा, अथर्व० में अपेक्षाकृत विरल, ब्राह्मणग्रन्थों में सर्वथा नहीं) **न** उपमार्थक निपात के रूप में ठीक इव (जैसे, तरह) के समान प्रयुक्त होता है। ऐसा लगता है कि यह अर्थ उस वस्तु के विधेय के निषेधक *नहीं* से लिया गया है जिसके साथ कि इसका उचित रूप से सम्बन्ध है, जैसे वह (*हिनहिनाता है*), *घोड़ा नहीं हिनहिनाता है*=*यद्यपि वह घोड़ा नहीं तो भी हिनहिनाता है*=*वह घोड़े की तरह हिनहिनाता है*। अर्थ में पूर्ववर्ती शब्द से अच्छी तरह से सम्बद्ध (उपमार्थक) **न** की उच्चारण में उत्तरवर्ती अच् से कभी भी सन्धि नहीं होती (यद्यपि लिखने में वह पायी जाती है) जबकि निषेधार्थक **न** की सन्धि प्रायिक है। यह (उपमार्थक)

र्न सदा सम्बद्ध उपमान के पश्चात् आता है, यदि उपमा में कई शब्द हों तो यह प्राय: पहले के बाद आता है, उससे कम बार दूसरे के, जैसे *अरान्नं नेमिः परि ता बभूव* वह उनके चारों तरफ उसी प्रकार है जैसे *पहिया अरों के* (१.३२[१५]); *पक्वा शाखा नं* पके फलों वाली टहनी की तरह (१.८[८])।

(अ) जब उपमेय सम्बोधन में होता है (जिसका कि कभी-कभी अध्याहार करना पड़ता है) तो उपमान भी कभी-कभी सम्बोधन में ही प्रयुक्त कर दिया जाता है। यह समानविभक्तिकत्व आकर्षण [सन्निहित पदान्तर की विभक्ति के प्रभाव] के कारण होता है। जैसे **उषो नं शुभ्र आ भरा (हे यजमान), चमकती उषा की तरह लाओ** (१.५७[३]); **अश्वे नं चित्रे अरुषि चमकती घोड़ी की तरह हे अरुणवर्ण उषा!** (१.३०[२१])।

(आ) जब उपमेय शब्दोक्त नहीं होता तो र्न का अर्थ **मानों** होता है। जैसे **शिवाभिर्न स्मयमानाभिरागात् वह ऐसे आया है मानों कल्याणकारिणी मुस्कराती स्त्रियों के संग आया हो** (१.७९[२])।

(इ) कभी-कभी र्न इव के स्थान पर आता है, जैसे **रथं न तष्टेव तत्सिनाय** जैसे कि कोई बढ़ई रथ चाहने वाले के लिए रथ (बनाता है) (१.६१.[४])।

र्न-किस्[१] (कोई नहीं) वेद में ही आता है और वहाँ भी लगभग ऋग्वेद तक ही सीमित है जहाँ कि इसका प्रयोग बहुल है। इसका सही अर्थ होता है *कोई नहीं*, जैसे *नकिरिन्द्र त्वदुत्तरः हे इन्द्र, तुझसे बढ़कर कोई नहीं है* (४.३०[१]); *यथा कृमीणां नकिरुच्छिष्यातै कि कीड़ों में से कोई नहीं बचेगा* (अथर्व २.३१[३])। जब यह अपने आने प्रथमा विभक्ति के अर्थ का[२] परित्याग कर देता है तो इसका प्रयोग एक प्रबल निषेधार्थक क्रियाविशेषण के रूप में पाया जाता है, तब इसका अर्थ *बिल्कुल नहीं, कदापि नहीं* होता है, पर इस प्रकार का प्रयोग उतना प्रचुर नहीं है, उदाहरण के रूप में : *यस्य*

---

१. प्रश्नवाचक कि (लै० क्विस्) का प्र० एक० जिसका नपुं० किम् प्रायिक है (देखिये ११३)।

२. सम्भवतः इस कारण कि प्रथमा की वर्तमान में कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसके साथ यह भी एक तथ्य है कि सर्वनाम कि केवल एक रूप किम् को छोड़कर प्रयोग का विषय नहीं रहा है।

शर्मन्नकिर्देवा वारयन्ते न मर्ताः *जिसकी शरण में देवता उसे कदापि बाधा नहीं देते और न ही मर्त्य* (४.१७[११]) । तुलना करिये माकिस् ।

नकीम्[१] केवल दो बार ऋग्वेद के एक सूक्त में प्रबल निषेधवाची क्रिया-विशेषण (= *बिल्कुल नहीं, कभी नहीं*) के अर्थ में आता है : नकीमिन्द्रो निकर्तवे *इन्द्र को कभी नीचा नहीं दिखाया जा सकता* (८.७८[८]) ।

नन्नु ऋग्वेद में केवल दो बार आता है जहाँ इसका अर्थ प्रबल रूप से निषेध करना है = *किसी तरह नहीं, कभी नहीं* । ब्राह्मणग्रन्थों में स्वीकाराकाङ्क्षी (*क्या नहीं*) प्रश्नवाचक के रूप में यह कुछेक बार आता है। जैसे नन्नु शुश्रुम *क्या हमने नहीं सुना ?* (श० ब्रा०) ।

न हिं के समस्त रूप में न-हिं केवल वेद में आता है जहाँ इसका अर्थ कभी-कभी *क्योंकि नहीं* होता है : जैसे नहिं त्वा शत्रुः स्तरते *क्योंकि कोई शत्रु तुम्हें प्रहार करके नहीं गिराता* (१.१२९[४]) । और भी अधिक प्रायिक रूप में यह वाक्यार्थ का प्रबल रूप से निषेध करता है और उसे कुछ ऐसे उपस्थित करता है जैसे कि वह पहले से ही विदित हो = *निश्चय ही नहीं, किसी तरह नहीं*, जैसा कि किसी सूक्त के प्रारम्भ में स्पष्टतम रूप में प्रतीत होता है। जैसे नहिं वो अस्त्यर्भको देवासः *हे देवो, आपमें से कोई भी छोटा नहीं है* । (८.३०[१]) ।

(ऋ) ब्राह्मणग्रन्थों में जहां कि केवल न हिं मिलता है, इस समस्त रूप का सर्वथा अभाव है ! दूसरी ओर न हिं वेद में कभी भी प्रयुक्त हुआ नहीं दिखाई देता ।

नाम का क्रियाविशेषण के रूप मे निम्नलिखित दो अर्थों में प्रयोग पाया जाता है :

१. नाम से, जैसे स ह श्रुत इन्द्रो नाम देवः *वह इन्द्रनाम से प्रसिद्ध देव* (२.२०[६]); को नाम_असि *तुम नाम से कौन हो ?* (वा० सं० ७.२९)।[२]
२. *अर्थात्, वस्तुतः, निश्चित ही*, जैसे अजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम *मैं अनवरत* ·

१. सम्भवतः यह न-किस् का द्वितीया नपुं० रूप है जहां स्वर को दीर्घ कर दिया गया है ।

ऊष्मा *अर्थात् हवि हूं* (३.२६[७]); **मां धुरिन्द्रं नाम देवता** *उन्होंने मुझे देवताओं में निश्चित ही इन्द्र के रूप में रक्खा है* (१०.४९[२])।

नु[१] या **नू**[२] का अर्थ होता है १. अब : **सं न्वीयते** *अब उसकी प्रार्थना की जाती है* (१.१४५[१]); **इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम्** *अब मैं इन्द्र की शूरता के कार्यों का बखान करूंगा* (१.३२[१]); **यो जा न्विन्द्र, ते हरी** *हे इन्द्र, अब (=तत्काल) अपने दो घोड़े जोतो* (१.८२[१]); **उवासोषा उच्छाच्च नु** (१.४८[१]) *उषा (भूतकाल में) चमकी और अब (=आगे भी)* चमकेगी; **अस्माभिरू नु प्रतिचक्ष्या अभूत्** *हमें वह अभी अभी दिखायी दी है* (१.११३[११]), २. *अब भी, और भी* : **पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्** *हम अब भी सूर्य को उदय होता देखें* (६.५२[५]); **महाँ इन्द्रः परश्च नु** *इन्द्र महान् है और इससे भी अधिक* (१.८[५]), ३. प्रश्नार्थकों के साथ *कृपया* के अर्थ में : **कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि** *कृपया कब (तक) (आखिर) मैं वरुण (के संसर्ग) में होऊंगा* (७.८६[२])। ४. सम्बन्धवाची शब्दों के साथ कोई के अर्थ में : **या नु कृणवै** *जो कोई (कार्य) मैं करूंगा* (१.१६५[१०])। ५. *हमेशा, बिल्कुल* इस अर्थ में निषेधार्थकों के साथ : **न अस्य वर्ता न तरुता न्वस्ति** *उसे रोकने वाला कोई नहीं है, न कोई उस पर काबू पाने वाला है* (६.६६[८])। ६. चिद् के साथ इसका अर्थ होता है (क) *अब भी, इस पर भी* जैसे **नू चिद् दधिष्व मे गिरः** *अब भी अपने तईं मेरे गीत ले लो* (१.१०[९]); **दशस्या नो, मघवन्नू चित्** *हे दाता, अब भी हम पर कृपा कर* (८.४६[११]); (ख) *कभी नहीं* । जैसे **नू चिद्धि परिमम्नाथे अस्मान्** *क्योंकि कभी भी तुमने हमारी अवज्ञा नहीं की* (७.९३[६]) ।

(अ) **नु** के ब्राह्मणग्रन्थों में पाये जाने वाले अर्थ निम्नलिखित हैं :

१. जब विधिवाक्यों में प्रायः किसी पहले कही गयी बात में संशोधन किया जाता है तब इसका अर्थ होता है **अब वस्तुतः**, जैसे **निर्दशो न्वभूद्, यजस्व मा अनेन** अब वह वस्तुतः दस दिन से अधिक का है : उसे मुझे बलि दो (ऐ० ब्रा०),

१. वाक्य के आदि में कभी नहीं आता ।

२. बहुधा वाक्य के प्रारम्भ में आता है ।

२. लेट्, लोट्, या मा के योग में लु० लो० के साथ प्रेरणा देने के लिए इसका अर्थ होता है तब, कृपा करके, जैसे श्रद्धा देवो वै मनुरावं नु वेदाव मनु ईश्वर भीरु है; आओ, तब हम दोनों मिलकर उसकी जांच करें (श० ब्रा०), जब इस प्रकार के वाक्यों के बाद अथ आता है तो नु का अनुवाद पहले किया जा सकता है : निर्दशो न्वस्त्वथ त्वा यजै पहले उस शिकार को दस दिन से अधिक का हो लेने दो तब मैं उसे तुम्हारे लिए बलि चढ़ा दूंगा (ऐ० ब्रा०), ३. किसी प्रश्नवाची शब्द के योग में या उसके बिना ही किये गये प्रश्न में इसका अर्थ होता है कहिये, जैसे क्वं नु विष्णुरभूत् कहिये विष्णु का क्या हुआ ? (श० ब्रा०); त्वं नु खलु नो ब्रंह्मिष्ठोऽसि कहिये क्या आप वस्तुतः हम सबसे अधिक ज्ञानी हैं ? (श० ब्रा०), अथ (इसके बाद) के पूर्ववर्ती इति के पश्चात् इसका अर्थ होता है अब : इति नु पूर्वं पटलमथोत्तरम् अब यह पहला खण्ड है; इसके बाद दूसरा आता है (ऐ० ब्रा०)। ५. जब दो विरोधी वाक्यों में दूसरा तु या किमु से प्रारम्भ होता है तो पहले वाक्य में इसका अर्थ वस्तुतः होता है, जैसे यों न्वे॑व ज्ञातंस्तस्मै ब्रूयाद्, न त्वे॑व सर्वस्मा इव वह इसे वस्तुतः उसे बता सकता है जिसे कि वह जानता है; किन्तु हर किसी को नहीं (श० ब्रा०)।

नूनम् (*अब*) ऋग्वेद में तीन प्रकार से प्रयुक्त होता है :

१. निर्देशक लट् के साथ इसका अर्थ पूर्वकाल में या भविष्य काल में (*यह विरोध प्रायः* पुरा (*पहले*) *और* अपरम् (*बाद*) *से अभिहित होता है*) के विपरीत *अब* होता है। जैसे न नूनमस्ति नो श्वः न *अब है और न कल* (१.१७०[१]) ।

कोई क्रिया भूतकाल में हो चुकी है और अब भी हो रही है इस अर्थ को प्रकट करने के लिए पुरा के योग मे प्रयुक्त लिट् के साथ इसके कतिपय प्रयोग उपलब्ध होते हैं। जैसे पुरा नूनं च स्तुतय ऋषीणां पस्पृध्र इन्द्रे *ऋषियों की प्रार्थनाएँ पहले भी और अब भी इन्द्र के प्रति स्पर्धापूर्वक बढ़ीं। [अर्थात् उसके प्रति स्पर्धा उत्पन्न की है।]* (६.३४[१])।

२. लेट्, लोट्, विधिलिङ् या लु० लो० के साथ यह प्रकट करता है कि *कोई क्रिया तत्काल होने को ही है।* जैसे वि नूनमुछात् *वह अब चमकेगी* (१.१२४[११]); प्र नूनं पूर्णवन्धुरस् स्तुतो याहि *प्रशंसित हुआ (तू) लदे हुए रथ के साथ अब आगे बढ़* (१.८२[१]) ।

ऋग्वेद में यह लिट् के साथ *किसी क्रिया के अभी अभी पूर्ण होने के* अर्थ को प्रकट करने के लिए कुछेक बार प्रयुक्त हुआ है। जैसे उ॑प नू॒नं॑ युयुजे हरी *उसने दो घोड़ों को अभी अभी जोता है* (८.४¹¹)।

२. कभी-कभी यह प्रश्नार्थकों के साथ आता है। तब इसका अर्थ होता है *कहो, कहिए*; जैसे कर्दा नू॒नं॑ ते दाशेम *कहो, कब हम तुम्हारी सेवा करें?* (७.२९)।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में इन प्रयोगों में से कोई भी बचा नहीं दिखाई पड़ता, जब कि *अवश्य, निश्चय से* का एक नया अर्थ (सम्भवतः एक बार अथर्व० में प्रयुक्त) प्रकट हुआ है। जैसे तथा ई॒न्नू॒नं॑ तदा॑स *निश्चय से वह बिल्कुल ऐसे ही हुआ* (श० ब्रा०)।

ने॑द् (=नं ईद् और पदपाठ में समस्त न माना हुआ) के वेद और ब्राह्मण दोनों में दो प्रकार के प्रयोग हैं: १. कभी-कभी सबल निषेधक के रूप में—*निश्चित ही नहीं*। जैसे अ॒न्यो॑ नेत्सू॒रिरो॑हते भूरि॑दावत्तरः *और कोई भी संरक्षक वस्तुतः अधिक उदार नहीं समझा जाता* (८.५¹⁰); अ॒हं वदामि ने॑त्त्वम् *मैं बोल रहा हूँ; न कि तू* (अथर्व ७.३८⁴); ने॑दनु॑हूतं प्राश्नामि *मैं निश्चय ही आवाहन किये जाने से पूर्व इसे नहीं खाता* (श० ब्रा०)। २. अन्तिम उपवाक्य में लेट् के साथ *ऐसा न हो कि* इस अर्थ को प्रस्तुत करते हुए इसका प्रयोग कहीं अधिक प्रचुर है (=लै० ने)। जैसे व्यु॑च्छा दुहितर्दिवो, ने॑त्त्वा त॒पाति सू॒र॑: *हे द्युलोक की पुत्री, चमक, ऐसा न हो कि सूर्य तुझे भून डाले* (५.७९⁹); ने॑न्मा रु॒द्रो॑ हि॒नस॑त् *ऐसा न हो कि रुद्र मुझे हानि पहुंचाए* (श० ब्रा०)। ब्राह्मणग्रन्थों में क्रियापद लु० लो० में भी पाया जाता है: ने॑दि॒दं॑ ब॒हिर्धा॑ य॒ज्ञाद् भ॑वत् *ऐसा न हो कि यह यज्ञ से बाहर हो* (श० ब्रा०)।

(अ) न्वै॑ (=नु॑ वै॑ जैसा कि तै० सं० के पदपाठ में अवग्रह किया गया है) का प्रयोग ब्राह्मणग्रन्थों में *वस्तुतः* के अर्थ में कम प्रायिक नहीं है, जैसे इ॒ति न्वा॑ ए॒तद् ब्राह्मणमुच्यते ब्राह्मण *वस्तुतः जैसे कहा जाता है वैसे है* (श० ब्रा०)।

मा निरपवाद रूप से लु० लो० के साथ पाया जाने वाला प्रतिषेध-बोधक नकारार्थक पद (ग्री० ते॑) है। लोट् के साथ यह कदापि प्रयुक्त

नहीं होता । लिङ् के साथ यह केवल भुजेम (ऋग्वेद) इस एकमात्र रूप में पाया जाता है और लेट् के साथ केवल एक बार (श० ब्रा०) में उपलब्ध होता है, जैसे मा नो वधीः *हमें मत मार* (१.१०४[८]); मा हृणीथाः अभ्यस्मान् *हम लोगों के प्रति क्रुद्ध मत हो* (८.२[१९]) ।

(अ) मा के बाद आने वाले प्रश्नवाचक शब्द का ऋग्वेद के थोड़े से स्थलों में अनिश्चित अर्थ होता है, यथा मा कस्मै धातमभ्यमित्रिणे नः हमें किसी शत्रु के हवाले न कर (१.१२०[८]) ।

मा-किस् (*कोई नहीं*, ग्री० मे-तिस्) ऋग्वेद तक ही सीमित है और वहाँ लगभग एक दर्जन बार प्रयुक्त हुआ है । यह लु० लो० वाले प्रतिषेध वाक्यों मे दो अर्थों में पाया जाता है :

१. *कोई नहीं* : माकिस्तोकस्य नो रिषत् *हमारी सन्तान में से किसी की भी हानि न हो* (८.६७.[११]) ।

२. इससे भी अधिक प्रचुर मात्रा में सबल निषेधार्थक के रूप में जब इसका अर्थ होता है *किसी तरह नहीं, कभी नहीं* : माकिर्देवानामप भूः *देवों से कभी दूर न हो* (१०.११[२]) । तु० न-किस् ।

मा-कीम् लु० लो० के साथ प्रयुक्त सबल निषेधार्थक निपात है और ऋग्वेद में केवल दो स्थलों में प्रयुक्त हुआ है : माकीं सं शारि केवटे *किसी का भी गड्ढे में अङ्गभङ्ग न हो* (६.५४[७]) ।

यत्र दो प्रमुख अर्थों में प्रयुक्त होता है : १. सामान्यतया सम्बन्धवाचक क्रियाविशेषण के रूप में *जहाँ* के अर्थ में, किन्तु यदा कदा *जिधर* के अर्थ में, जैसे यज्ञे नरो यत्र देवयवो मदन्ति *जहाँ कि यज्ञ में देवभक्त मनुष्य आनन्दित होते हैं* (७.९७[१]); यत्रा रथेन गच्छथः *जिधर तुम अपने रथ से जाते हो* (१.२२[४]) । इसका नित्यसम्बद्ध शब्द सामान्यतः तत्र है, पर कभी-कभी अत्र या तद् है ।

(अ) यदा कदा किसी सप्तम्यन्त सम्बन्धवाचक पद के पर्याय रूप में (भी इसका प्रयोग देखा जाता है)। जैसे आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः

कृर्णवन्नंजामिं वे बाद की पीढ़ियां आयेंगी जो भाई बन्धु होते हुए भी वे कार्य करेंगी जो भाई बन्धुओं को शोभा नहीं देते (१०.१०[१०]) ।

२. वेद और ब्राह्मण इन दोनों में इसका प्रयोग कालसंयोजक के रूप में जब इस अर्थ में बहुत बार पाया जाता है । जैसे यंत्र प्र सुदासमावतम् जब *तुमने सुदास् की सहायता की* (७.८३[१]) । वेद में अंध, अंत्र, तद् ये इसके नित्यसम्बद्ध के रूप में आते हैं : यंत्र शूंरासस्तन्वो वितन्वते ...अंध स्मा यछ तन्वे तंने च छर्दिः जब *शूर लोग (युद्धों मे) शारीरिक व्यायाम करते हैं....तब विशेष रूप से हमें और हमारे पुत्रों को रक्षा प्रदान करो* (६.४६[१२]) । ब्राह्मणों मे प्रायः तद् नित्यसम्बद्ध शब्द है, कभी-कभी तंतस् भी, जैसे तं यंत्र देवा अंघ्नंस्तंन्मित्रंमब्रुवन् जब *देवों ने उसे मारा, (तो) उन्होंने मित्र को कहा* (श० ब्रा०) ।

यंथा के वेद और ब्राह्मण इन दोनों में दो प्रकार के स्पष्ट प्रयोग हैं :

१. सम्बन्धवाचक क्रियाविशेषण के रूप में जबकि इसका अर्थ जैसे होता है । जैसे नूनं यंथा पुरां *जैसे पहले वैसे अब* (१.३९[७]); यंथा वर्यमुश्मंसि तंत्कृधि *जैसे हम चाहते हैं वैसे करो* (१०.३८[१]); यंथा वैं पुरुषो जीर्यंत्येवं-मग्निराहितो जीर्यति *जैसे मनुष्य बूढ़ा होता है वैसे ही आधान किया हुआ अग्नि भी बूढ़ा हो जाता है* (तै० सं०) । ऋग्वेद में जब इसका नित्यसम्बद्ध शब्द आता है तो वह प्रायः एवं होता है एवञ्च यदा कदा तंथा होता है। ब्राह्मणों में प्रायः एवंम् तथा कभी-कभी तंथा होता है।

२. जब यह पूर्ववर्ती वाक्य का परामर्श करता है तब इसका अर्थ *ताकि, जिससे कि* होता है । उस समय यह संयोजक के रूप में, प्रायेण लेट् के साथ और विरलतया विधिलिङ्‌ के साथ प्रयुक्त होता है। जैसे हविंष्कृणुष्व सुभंगो यंथा‿ अंससि *हवि तैयार कर ताकि तू सफल हो सके* (२.२६[२]); आ दैंव्या वृणीमहेऽवांसि, यंथा भंवेम मीळ्हुंषे अंनागाः (७.९७[२]) *हम देवताओं की सहायता की कामना करते हैं जिससे कि, हम उस कृपालु देव को निरपराध लगें;* तथा मे कुरु यथा‿ अहमिमां सेनां जयानि *मेरे लिए ऐसा*

प्रबन्ध कर जिससे कि मैं इस सेना को जीत सकूं (ऐ० ब्रा०); तथैवं होतव्यं यथा—अग्निं व्यवेर्यात् *इसे [ऐसे] उंडेलना चाहिए जिससे कि यह अग्नि को विभक्त कर सके* (श० ब्रा०)।

(अ) ऋग्वेद में ज्ञानार्थक और कथनार्थक धातुओं के पश्चात् यथा किसी स्पष्टीकरण को प्रस्तुत करता है—कैसे? जैसे कस्तद् ब्रूयादनुदेयी यथा—अभवत् यह हमें कौन बतला सके (कि) उपहार कैसा था? (१०.१३५⁶)। कभी-कभी यह ऐसी धातुओं के बिना भी प्रयुक्त होता है: न प्रमिये सवितुर्दैव्यस्य तद्यथा विश्वं भुवनं धारयिष्यति दिव्य सविता की वह (शक्ति) नष्ट (होने को) नहीं है जिससे कि वह समस्त संसार को धारण करेगा (४.५४⁴)।

यद् (सम्बन्धवाचक य शब्द का नपु० रूप) चार सुस्पष्ट अर्थों में प्रयुक्त होता है:

१. जब यह पूर्ववर्ती प्रधान उपवाक्य में स्थित किसी शब्द के अर्थ का विस्तार करता है तो इसका अर्थ *कि* होता है। जैसे गृणे तदिन्द्र ते शव उपमं देवतातये यद्धंसि वृत्रम् *हे इन्द्र मैं तेरे उस बल पूर्ण कार्य की प्रशंसा करता हूं जो कि तू वृत्र को मारता है* (८.६२⁸); किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत्स्तोतारं जिघांससि सखायम् *हे वरुण, ऐसा कौन सा बड़ा अपराध हो गया कि तू प्रशंसा करने वाले अपने मित्र को भी मारना चाहता है?* (७.८६⁴)। वेद में यह प्रयोग प्रायिक नहीं है।

(अ) ब्राह्मणों में यद् इसी प्रकार पूर्ववर्ती तद् (प्रायः लुप्त) का परामर्श करते हुए प्रयुक्त होता है। जैसे तद्यत्पयसा श्रीणाति: वृत्रो वै सोम आसीत् जो (=वह कारण जिससे कि) वह सोम को दूध में मिलाता है (यह है) कि वृत्र सोम था (श० ब्रा०), कुछ धातु विशेषों के पश्चात् यह प्रयोग ब्राह्मणग्रन्थों में भी मिलता है: अव कल्पते यह उचित है, उत्सहते समर्थ है, इच्छति चाहता है, युक्तो भवति तत्पर है, वेद जानता है, और ईश्वरं यह सम्भव है; जैसे न हि तदवकल्पते यद् ब्रूयात् क्योंकि यह उचित नहीं कि वह कुछ कहे (श० ब्रा०)।

२. जब यह निर्देशक, लट्, लोट्, लिट्, लुङ्, लृट् और लेट् के साथ प्रयुक्त होता है तब इसका अर्थ *जब* होता है। यद्ध यान्ति मरुतः सं ह ब्रुवते जब

मरुत् एक साथ चलते हैं, वे एक साथ बोलते हैं (१.३७[13]); कमपश्यो यंत्ते भी रंगछत् तुमने किसे देखा था जब तुम्हें भय लगा? (१.३२[14]); इन्द्रश्च यद्युयुधाते अहिश्च मघवा वि जिग्ये जब इन्द्र और साँप लड़े तो वह बहुप्रद देव जीता (१.३२[13]); चित्रो यदभ्राट् जब वह शुभ्रतया चमकता है (१.६६[6]); तिग्मा यदन्तरशनिः पताति, अध नो बोधि गोपाः जब वह तीक्ष्ण वज्र पड़े, तब हमारा रक्षक बन (४.१६[17])। व्याकरणसम्मत आनुपूर्वी से रहित वाक्यों में यह विरल रूप से शतृ, शानच् और क्त के साथ बहुत कुछ अंग्रेजी की पद्धति से ही प्रयुक्त होता है। जैसे पचन्ति ते वृषभाँ, अत्सि तेषां यन्मघवन्हूयमानः वे तुम्हारे लिये बैल पकाते हैं, हे बहुप्रद, तुम जब बुलाये जाते हो (तो) उनका (अंश) खाते हो (१०.२८[3])।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में यद् लट्, लृट् और लुङ् के साथ जब के अर्थ में आता है; और लङ् के साथ जब कभी या जबकि के अर्थ में।

३. निर्देशक, लट्, लेट् या विधिलिङ के साथ यह यदि अर्थ देता है। जैसे यदिन्द्र उदङ् न्यग्वा हूयसे, आ याहि तूयम् हे इन्द्र यदि तुम ऊपर या नीचे बुलाये जाते हो (तो) जल्दी आओ (८.६५[1]); यदूर्ध्वस्तिष्ठा, द्रविणेह धत्ताद्यद्वा क्षयः यदि तू सीधे खड़ा हो तो यहां धन प्रदान कर या यदि तू लेटे (३.८[1])। जब शर्त का पूरा न होना कल्पित किया जाता है तब विधिलिङ का प्रयोग होता है। जैसे यदग्ने स्यामहं त्वं, त्वं वा घा स्या अहम्, स्युष्टे सत्या इहाशिषः हे अग्नि, यदि मैं तू हो जाऊँ तो तुम्हारी [तुझ से की गई हमारी] प्रार्थनाएँ यहाँ पूरी हो जायें (८.४४[23])।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में यद् वेद के समान ही विधिलिङ के साथ (जब कि यदि के साथ शर्त का पूरा होना प्रायः समझ लिया जाता है) और लुङ् के साथ प्रयुक्त होता है: स यद् भिद्येत आर्तिमार्च्छेद्यजमानः यदि वह टूट जाये तो यजमान दुःख का भागी होगा (तै० सं०), यदीत्थं नावक्ष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत् यदि तू ऐसे न बोलता तो तेरा सिर टुकड़े-टुकड़े होकर गिर जाता (श० ब्रा०)।

४. वेद में पश्चाद्वर्ती अवान्तरवाक्यों में लेट् के साथ एवं अत्यन्त विरल रूप में विधिलिङ् के साथ यद् ताकि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे आ वह देवताति गर्भो यद्यश्व दिव्यं यजासि देवों के समूह को इधर ला ताकि तू दिव्य समूह की पूजा कर सके (३.१९⁶); यन्नूनमश्यां गतिं मित्रस्य यायां पथा जिससे कि मैं अब शरण प्राप्त कर सकूं (इसलिए) मैं मित्र के रास्ते पर चलूंगा (५.६४³)।

(क) ब्राह्मणों में यद् का यह प्रयोग अतिविरल है, लेट् के साथ यह केवल कुछेक बार ही आता है, जैसे तद्यमन्विहि यत्ते प्राणो वातमपिपद्याते तू इसे प्राप्त कर ताकि तेरा प्राण वायु में चला जाय (श० ब्रा०)।

यदा (जब) वेद और ब्राह्मणों में निर्देशक, लिट्, लङ्, लट् और लेट् के साथ प्रयुक्त होता है। केवल वेद में यह निर्देशक, लुङ् और लु० लो० के साथ पाया जाता है। (इसी प्रकार) यह ब्राह्मणग्रन्थों में लृट् तथा विधिलिङ् के साथ प्रयुक्त होता है। वेद में (जहां कहीं इसके साथ) किसी नित्यसम्बद्ध शब्द का प्रयोग मिलता है वहाँ (केवल) आद्, अथ, अध, तद् और तर्हि ही पाये जाते हैं। ब्राह्मणों में (ये नित्यसम्बद्ध शब्द) अथ और तर्हि हैं।

१. यदा का सर्वाधिक प्रचुर प्रयोग ऋग्वेद में निर्देशक लुङ् के साथ पाया जाता है जबकि क्रिया के आरम्भ पर बल देने के कारण इसका अर्थ ज्यों ही, जैसे ही होता है। जैसे यदेदंदेवीरसहिष्ट मायाः, अथाभवत्केवलः सोमो अस्य ज्यों ही उसने आसुरी छल कपटों पर काबू पाया त्यों ही सोम केवल उसका हो गया (७.९८⁵); अभि गृणन्ति राधो यदा ते मर्तो अनु भोगमानट् जैसे ही मर्त्य ने तेरे दान को पाया है वे तेरी सम्पत्ति की प्रशंसा करते हैं (१०.७³)। जब प्रधानवाक्य में कोई आख्यानपरक लकार होता है तब यदा के साथ लुङ् का अर्थ लिट्प्रतिरूपक का होता है।

(क) वेद में यदा के साथ लु० लो० केवल एक बार मिलता है: यदा मह्यं दीधरो भागमिन्द्र आदिन्मया कृणवो वीर्याणि हे इन्द्र, जब तू मेरे लिए मेरे

भाग को प्राप्त कर चुकेगा तब तू मेरी सहायता से शूरता के कृत्य करेगा (८.१००[१])।

२. (क) लङ् और लिट् के साथ। जैसे यदा विष्णुस्त्री॑णि पदा विचक्रमे॑, यदा सूर्यं दिवि·····अधारय आदित्ते हरी ववक्षतुः जब *विष्णु ने अपने तीन कदम उठाये, जब तूने द्युलोक में सूर्य को स्थित किया, तब तेरे (दो) घोड़ों की शक्ति बढ़ी* (८.१२[२७-३०]); तस्य यदा मर्म अगच्छन्नथ अचेष्टत् *जैसे ही उन्होंने उसके मर्मस्थल को छुआ वह काँप उठा* (मै० सं०); स यदा आन्यामनूवाच अथ अस्य तदिन्द्रः शिरश्चिच्छेद *जैसे ही वह उन्हें कह चुका था इन्द्र ने उसका सिर काट डाला* (श० ब्रा०)।

(ख) निर्देशक लट् के साथ : यदा सत्यं॑ कृणुते॑ मन्यु॑मिन्द्रो विश्वं दृळ्हं भयते एजदस्मात् *जब इन्द्र अपना सच्चा क्रोध दिखाता है, वह सब जोकि स्थिर है, उससे काँपते हुए डरता है* (४.१७[१०]); यदा वै पशुर्निर्दशो भवत्यथ स मेध्यो भवति *जैसे हो [बलि] पशु दस दिन से अधिक का हो जाता है वह यज्ञ के योग्य हो जाता है* (ऐ० ब्रा०); स यदा केशश्मश्रु॑ वपत्यथ स्नाति *जब वह अपने केशों और दाढी को काट चुकता है तब वह स्नान करता है* (श० ब्रा०)।

(ग) लेट् के साथ (यहाँ=पूर्ण भविष्य): यदा शृतं॑ कृणवोऽथ ईमेनं प्र हिनुतात् पितृ॑भ्यः *जब तू उससे करवा चुकेगा[१] तब उसे पितरों को प्रदान कर देना* (१०.१६[१]) यदा तामतिवर्धा, अथ कर्षू॑ खात्वा तस्यां मा बिभरासि *जब मैं उससे बहुत बढ़ चुकूँगा तो तुम एक गड्ढा खोद कर मुझे उसमें रख देना* (श० ब्रा०)।

३. (अ) लृट् के साथ : यदैव होता परिधास्यत्यथ पाशान्प्रतिमोक्ष्यामि जब होता समाप्त कर चुकेगा तो मैं पाश कस दूँगा [बाँध दूँगा] (ऐ० ब्रा०)।

(आ) विधिलिङ् के साथ : स यदा सङ्ग्रामं जयेदथ ऐन्द्राग्नं निर्वपेत् जैसे ही वह कोई युद्ध जीत चुका हो (वैसे ही) उसे इन्द्र और अग्नि को हवि देनी चाहिये (मै० सं०)।

---

१. हमारी समझ में 'जब तू पका चुकेगा' अर्थ होना चाहिए—अनु०

यदि अगर (कभी-कभी भूतकाल की क्रिया के साथ जब) के अर्थ में लिट् और लङ् के साथ केवल वेद में मिलता है, निर्देशक लट्, लुङ्, लृट् और लेट् के साथ वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थों में और विधिलिङ् के साथ केवल ब्राह्मण-ग्रन्थों में।

१. आख्यानपरक लिट् के साथ और लङ् के साथ यदि का अर्थ जब होता है। तब क्रिया में लिट्प्रतिपादक का अर्थ आ जाता है। जैसे उदस्तम्भीत्समिधा नाकमृष्वोऽग्निर्भवन्नुत्तमो रोचनानाम्। यदी भृगुभ्यः परि मातरिश्वा गुहा सन्तं हव्यवाहं समीधे जब मातरिश्वा ने भृगुओं से [प्राप्त] हवि धारण करने वाले [अग्नि] को जलाया [तब] अग्नि ने द्युलोक को समिधा से स्तब्ध कर दिया (३.५[10]) यदि सहस्रं महिषाँ अघः, आदित्त इन्द्रियं महि प्र वावृधे जब तुमने हजार बैलों को खा लिया तब तुम्हारी शक्ति बहुत बढ़ी (८.१२.[8]). किन्तु जब लिट् का अर्थ पूर्ण वर्तमान (हो चुका है) होता है तो यदि का सुविदित अर्थ अगर होता है: ग्राहिर्जग्राह यदि वैतदेनं तस्या, इन्द्राग्नी, प्र मुमुक्तमेनम् हे इन्द्र और अग्नि, अथवा यदि रोग उसे पकड़ चुका है तो उसे उससे छुड़ाओ (१०.१६१[1])।

२. (क) लट् के साथ : यदी मन्यन्ति बाहुभिर्वि रोचते जब वे भुजाओं से रगड़ते हैं तो वह चमकता है (३.२९[6]); अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि मैं जादूगर होऊँ तो मैं आज मर जाऊँ (७.१०४[15]); यदि न अश्नाति पितृदेवत्यो भवति यदि वह नहीं खाता है तो वह पितरों का भक्त हो जाता है (श० ब्रा०)।

(ख) लुङ् के साथ : यदी मातुरुप स्वसा···अस्थित, अध्वर्यु मोदते माता के पास से (आती हुई) बहिन के पहुँच चुकने पर अध्वर्यु प्रमुदित होता है (२.५[6]); यद्यह एनं प्राञ्चमपर्यावर्त्यं यथा पराच आसीनाय पृष्ठतोऽन्नाद्यमुपाहरेत् यदि तुमने इसे आगे से इकट्ठा किया है तो यह ऐसा हुआ मानो किसी ने मुख मोड़कर बैठे हुए किसी को पीछे से खाना दिया हो (श० ब्रा०)।

(ग) लृट् के साथ : यद्येवं करिष्यथ, साकं देवैर्यज्ञियासो भविष्यथ यदि

तुम ऐसा करोगे तो देवताओं के साथ पूजा के योग्य हो जाओगे (१.१९१⁶); यदि वा इर्ममभिमंस्ये कनीयोऽन्नं करिष्ये यदि मैं उसके प्रति द्रोह करूंगा तो मैं कम अन्न लाऊंगा (श० ब्रा०)।

(ब) लेट् के साथ : यजाम देवान्यदि शक्नवाम हम यदि समर्थ होंगे तो देवों की पूजा करेंगे (१.२७¹³); यदि स्तोमं मम श्रवद्, अस्माकमिन्द्रमिन्दवः···मन्दन्तु यदि वह मेरे स्तोत्र को सुने तो हमारी (सोम की) बूंदें इन्द्र को प्रसन्न करें (८.१¹⁵); यदि त्वा एतत् पुनर्ब्रुवतस्त्वं ब्रूतात् यदि वे दो तुम्हें फिर यह कहें तो तू भी कह (श० ब्रा०)।

(स) विधिलिङ् के साथ यदि (सामवेद में आये एकमात्र प्रयोग को छोड़कर) केवल ब्राह्मणग्रन्थों में मिलता है जहांकि यह प्रयोग बहुत प्रायिक है। यहां उदाहरण में प्रायः प्रधान उपवाक्य में विभक्ति के विषय में लागू होने वाले नियम के अनुसार विभक्ति की कल्पना की जाती है। जैसे यदि न शक्नुयात्सोऽग्नये पुरोडाशं निर्वपेत् यदि वह यह न कर सके तो अग्नि को पुरोडाश प्रदान करे (ऐ० ब्रा०)।

२. ज्ञानार्थक विद् धातु के पश्चात् यदि आयाकि के अर्थ में ऋग्वेद के एक स्थल (१०.१२९⁷) में आया है पर ब्राह्मणों में प्रायः प्रयुक्त हुआ है। जैसे हन्त न एको वेत्तु यदि हतो वा वृत्रो जीवति वा आओ, हममें से कोई ढूंढे आयाकि वृत्र मर गया है या जीवित है (श० ब्रा०)।

(अ) या अगर के अर्थ में यदि वा केवल पूर्ववर्ती यदि के पश्चात् ही नहीं प्रयुक्त हुआ है अपितु या के अर्थ में अकेला भी प्रायेण नियमित रूप से बिना किसी क्रिया के प्रयुक्त हुआ है। जैसे सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद केवल वही जानता है या वह नहीं जानता (१०.१२९⁷); यं वहन्ति शतमश्वा यदि वा सप्त जिसे सौ घोड़े ले जाते हैं या सात (अ० वे० १३.२⁶); यदि वा इतरथा या और तरह (श० ब्रा०)।

यर्हि (उस समय) जब के अर्थ में केवल ब्राह्मणों में आता है। वहां यह निर्देशक लट् या निर्देशक लङ् और विधिलिङ् के साथ प्रयुक्त हुआ है। प्रायः निरपवादतया तर्हि या एतर्हि इसका नित्यसम्बद्ध शब्द है। जैसे स तर्ह्येव जायते यर्ह्यग्निमाधत्ते वह उसी क्षण जन्मता है जब वह अग्नि का आधान करता है (मै०सं०);

र्यहिं प्रर्जाः क्षु॑धं निर्गच्छेयुस्तर्हिं नवरात्रे॑ण यजेत जब उसकी प्रजायें क्षुधार्त हों तो वह नवरात्र याग करे (तै० सं०)।

र्यस्माद् संयोजक के रूप में वेद में नहीं आता, किन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में इस रूप में क्यों के अर्थ में कुछेक बार आता है। जैसे **अ॑थ र्यस्मात्समिष्टयजू॑ंषि नाम** अब (कारण कहा जाता है कि) वे समिष्टयजुस् क्यों कहाते हैं (श० ब्रा०)।

र्याद् (**र्य** का एक प्राचीन पञ्चम्यन्त रूप) केवल वेद में मिलता है। यह निर्देशक लट् या निर्देशक लङ् और लेट् के योग में आता है। निर्देशक के साथ ऋग्वेद में इसका अर्थ *जहाँ तक* होता है। जैसे **अ॑र्चामसि र्यादेर्व विद्म॑ तात्त्वा महा॑न्तम्** (६.२१[६]) *हम तुझ महान् की स्तुति करते हैं, जहाँ तक कि हम (स्तुति करना) जानते हैं*। ऐसा प्रतीत होता है कि अथर्व० में इसका अर्थ *जबसे* है : **र्य आ॑क्षियन्पृथिवी॑ र्याद॑जायत** *जबसे पृथ्वी उत्पन्न हुई तब से इस पर किन्होंने शासन किया ?* (अथर्व० १२.१[५३])। लेट् के साथ **र्याद्** का अर्थ *जब तक* होता है। जैसे **अनानुकृत्य॑मपुनश्चकार र्यात्सू॑र्यामासा मिथ॑ उच्चरा॑तः** *उसने उस कार्य को सदा के लिए कर डाला है जोकि जबतक सूर्य और चन्द्र बारी बारी उगेंगे अननुकरणीय है* (१०.६८[१०])।

र्यावत् वेद में क्रियाविशेषण के रूप में *जहाँ तक कि, जब तक कि* के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। यह (अर्थ) इसके द्वितीयान्त प्रयोग का ही प्रपञ्च होता है। जैसे **र्यावद् द्यावापृथिवी॑ तावदि॑त्तत्** (१०.११४[८]) *जहाँ तक धरती और आकाश है वहाँ तक यह (विस्तृत) है;* **जुहो॑मि हव्यं॑ र्यावदी॑शे** *जब तक कि समर्थ हूं मैं हवि प्रदान करता हूं* (३.१८[३]); **अ॑जातो वै॑ तावत् पु॑रुषो र्यावदग्नि॑ न आधत्ते॑** *मनुष्य तब तक जन्मा ही नहीं जब तक कि वह अग्न्याधान नहीं करता* (मै० सं०)।

वा (*या*) बहुत कुछ उसी प्रकार प्रयुक्त होता है जैसे **च** (*और*)। यह निहत है तथा उस शब्द के बाद आता है जिससे कि यह सम्बद्ध होता है। यह शब्दों, उपवाक्यों या वाक्यों को परस्पर अन्वित करता है। जैसे **अ॑त आ॑ गहि दिवो॑ वा रोचना॑दधि** *यहाँ से आओ या चमकने वाले द्युलोक*

से (१.६¹); यस्य भार्या गौर्वा यमौ जनयेत् *जिसकी पत्नी या गाय जुड़वां बच्चे देती है* (ऐ० ब्रा०); प्रति यः शासमिन्वति उक्था वा यो अभिगृणाति *जो शासन की वृद्धि करता है या स्तुति गीतों का अभिनन्दन करता है* (१.५४⁷)।

(अ) वा...वा इसी प्रकार बहुधा प्रयुक्त होता है। उदाहरण—शक्ती वा यत्ते चकृमा विदा वा कि हमने तुझे हमारी शक्ति या ज्ञान के अनुसार हवि प्रदान की है (१.३१¹⁸); नक्तं वा हि दिवा वा वर्षति क्योंकि रात में या दिन में वर्षा होती है (तै० सं०); यद्वा‿अहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उत‿अनृतम् मैंने जो द्रोह किया है या झूठी सौगन्ध खाई है (१.२३²²)।

(आ) किन्तु वा...वा का या तो...या अर्थ भी होता है। जब वे पूर्ण विकल्पों को ध्वनित करते हुए, इस अर्थ में दो मुख्य वाक्यों में तुलना करते हैं तो पहले वाक्य की क्रिया बाद के वाक्य के अधूरा रहने पर भी उदात्त होती है। जैसे अहये वा तान्प्रददातु सोम आ वा दधातु निर्ऋतेरुपस्थे सोम उन्हें या तो साँप को देदे या विनाश [की देवता] की गोद में रख दे (७.१०४.⁹), तद्वा जज्ञौ तद्वा न जज्ञौ वह या तो उससे सहमत हुई या सहमत नहीं हुई (श० ब्रा०); तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तव या तो तू उसका मन देख या वह तेरा (१०.१०¹⁴)।

वाव (निस्सन्देह दो निपातों का संक्षिप्त रूप) केवल ब्राह्मणग्रन्थों में मिलता है। यह दो परस्पर सम्बद्ध अवान्तर वाक्यों में से पहले में विशेषतया आता है और निश्चित ही बिल्कुल के अर्थ में पूर्ववर्ती शब्द पर बल देता है। जैसे एष वाव सो ऽग्निरित्याहुः वे कहते हैं यह निश्चित ही वही अग्नि है, (तै० सं०)।

वै वस्तुतः, सचमुच के अर्थ में एक बलाधायक निपात है।

१. ऋग्वेद में यह निपात केवल २८ स्थलों में आया है, इनमें से तीन को छोड़कर सबमें यह वाक्य के प्रथम शब्द के पश्चात् प्रयुक्त हुआ है। जैसे भद्रं वै वरं वृणते *सचमुच वे अच्छा चुनाव करते हैं* (१०.१६४²); इति वा इति मे मनः *ऐसा, वस्तुतः, ऐसा मेरा मन है* (१०.११९¹) न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति *वस्तुतः, स्त्रियों के साथ कोई मित्रता नहीं* (१०.९५¹⁵)। बल समूचे वाक्य पर दिया जाता है न कि किसी खास शब्द पर। इस निपात के

वाद वहुत वार उ (वां उ) आता है जबकि अर्थ में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं पड़ता ।

(अ) अथर्ववेद में सिवाय इस वात के कि यह निपात प्रायः किसी वस्तूपलक्षक (सर्वनाम) या सम्बन्धवाचक शब्द के वाद आता है, इसका प्रयोग एक सा ही है। जैसे तस्माद्वै स पराभवत् इसलिए, वस्तुतः, वह नष्ट हुआ (१२.४[४१]) यो वै तां विद्यात्प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत् जो कोई उन्हें स्पष्ट रूप से जान सकता है, वह निश्चय ही, आज जोर से बोल सकता है (११.८.[३])

२. ब्राह्मणों में वै की प्रायः वही स्थिति है, पर वहुधा चेद्, हि, खलु इसके वाद दूसरे स्थान पर आते हैं। और इव, उ, च, स्म, ह इन निहत निपातों का तो स्वभावतः सदैव दूसरा स्थान है। जब वाक्यारम्भ में अथो आता है तो वै दूसरे स्थान पर आता है।

यहाँ किसी आख्यान के प्रथम वाक्य में वै का एक अनूठा ही प्रयोग है। जैसे यमो वा अम्रियत; ते देवा यम्या यममपाब्रुवन् *यम मर गया; (तब) देवों ने यमी को यम (का चिन्तन करने) से हटाया* (मै० सं०)।

(अ) किसी शास्त्रार्थ के अन्तिम वाक्य में यह निपात वहुधा पाया जाता है। जैसे तस्माद्वा अप उपस्पृशति वस्तुतः यही कारण है कि वह जल का आचमन करता है (श० ब्रा०)।

(आ) वहुधा यह उत्तरवर्ती वाक्य का कारण प्रतिपादित करने वाले वाक्य के आदि के पद के वाद रखा जाता है, जैसे श्रद्धादेवो वै मनुर्; आवं नु वेदाव अब मनु देवभीरु है, इसलिए हम दोनों जानेंगे (श० ब्रा०)। वै के इस प्रकार प्रयुक्त होने पर वह उपवाक्य जिसमें वै पाया जाता है, प्रायः अनन्वित वाक्य के समकक्ष होता है। जैसे ते वायुमब्रुवन् (अयं वै वायुर्योऽयं पवते) वायो त्वमिदं विद्धि—इति उन्होंने वायु (यहाँ वायु उसे कहते हैं, जो वहता है) को कहा 'हे वायु, तुम उसे जानो' (श० ब्रा०)। इस अर्थ में वै उन वाक्यों में जिनमें तीन उपवाक्य हैं विशेष रूप से आता है जब वै वाले वाक्य के द्वारा हेतु का अभिधान किया जाता है और पूर्व वाले वाक्य के द्वारा निष्कर्ष का। जैसे तां एताभिस्तनूभिः समभवन्; पशवो वै देवानां प्रियास्तन्वः, पशुभिरेव

सॅमभवन् वे इन शरीरों के साथ थे, अव पशु देवों के प्रिय शरीर हैं : इसलिए वे पशुओं के साथ हुए (मै० सं०)।

(ट) ब्राह्मणग्रन्थों में वै´ और एवं के प्रयोग में निम्ननिर्दिष्ट अन्तर है : प्रथम शब्द के बाद आने वाला वै´ समूचे वाक्य पर बल देता है, जब कि एवं वाक्य के किसी भाग में विद्यमान शब्द विशेष पर ही। वै´ आख्यान का प्रारम्भ करने वाले वाक्य के पहले शब्द के बाद आता है, एवं के साथ ऐसा कभी नहीं पाया जाता; एक कालप्रविभाग में हेतु प्रतिपादक उपवाक्य में वै´ का एक अनूठा ही प्रयोग है, एवं उसमें निर्णय को प्रकट करता है।

सॅ बहुधा ब्राह्मण ग्रन्थों में सम्बन्धवाचक शब्दों से पहले अधिक पद के रूप में प्रयुक्त होता है। जैसे सॅ यो´ नो वाँचं व्याहृतां मिथुने´न नॅ—अनुनिर्क्रामात् सॅ सॅर्वं´ परा जयातॅ जो *तत्समानलिङ्ग शब्दान्तर के साथ हमारे द्वारा उच्चारित शब्द का अनुक्रमण नहीं करेगा वह सब कुछ खो बैठेगा* (श०ब्रा०)। इस प्रयोग के कारण एक व्यवस्थित शैली के रूप में सॅ का न केवल अधिक पद की तरह ही प्रयोग होने लगा अपितु लिङ्ग या वचन के परामर्श के बिना भी। जैसे—तॅस्य ताँनि शीर्षा´णि प्रॅ चिच्छेद, सॅ यॅत्सोमपॅानमास तॅतः कॅपि´ञ्जलः सॅमभवत् *उसने उसके सिर काट डाले। अब जो सोम पीने वाला सिर रहा उससे कपिञ्जल पैदा हुआ* (श०ब्रा०); सॅ यॅदि नॅ विन्दॅन्ति किंमाॅ द्रियेरन् *अब यदि वे इसे नहीं पाते, तो वे बुरा क्यों मनाएँ* (श०ब्रा०)।

सीम् एक निहत निपात है जोकि ऋग्वेद तक ही सीमित है। मूलतः यह कीम् जैसे कॅ से सम्बद्ध है ऐसे ही सॅ से सम्बद्ध एक सर्वनाम का द्वितीया एकवचन का रूप है। यह साधारणतया (बहुत कुछ ईम् की तरह) प्रथम पुरुष के सब लिङ्गों एवं वचनों के द्वितीयान्त रूप की तरह—*उस, उन पुरुष, स्त्री, वस्तु को*—किसी विशेष्य के (जोकि कभी-कभी बाद में आता है) स्थान पर प्रयुक्त होता है, और बहुधा किसी उपसर्ग और क्रिया के मध्य में रखा जाता है, कभी कभी किसी सम्बन्धवाचक शब्द के पश्चात् भी। जैसे पॅरि षीं नयन्ति *वे उसे चारों ओर ले जाते हैं* (१.९५^५); प्रॅ सीमादित्यो´ असृजत् *आदित्य ने उन (नदियों) को बहा दिया* (२.२८^४); निं षीं वृत्रॅस्य

मर्मणि वज्रमिन्द्रो अपीपतत् *इन्द्र ने इस अपने वज्र को वृत्र के मर्मस्थलों पर गिराया* (८.१००[३]); यं सीमकृण्वन्तमसे विपृचे, तं सूर्यम् *उस सूर्य को जिसे उन्होंने अन्धकार को दूर करने को पैदा किया* (४.१३[३])।

(अ) कभी-कभी सीम् के कारण सम्बन्धवाचक शब्द में कोई का भाव आ जाता है। जैसे यत्सीमागश्चकृमा, शिश्रथस्तत् हमने जो कोई पाप किया है उसे हटाओ (५.८५[७])।

दृढोक्ति के रूप में प्रयुक्त (=*पूरी तरह, अच्छी तरह, निश्चित ही*) एवञ्च सदैव क्रिया का सङ्केत करते हुए सु, सू (=*अच्छी तरह*) एक स्वतन्त्र निपात के रूप में प्रायः संहिताओं तक ही सीमित हैं। ऋग्वेद में ये प्रायिक है, पर दूसरी संहिताओं में विरलतया प्रयुक्त हुए हैं। जैसे—जुषस्व सू नो अध्वरम् *हमारे यज्ञ का पूरी तरह सेवन कर* (३.२४[२]); नमः सु ते *निश्चय ही तेरे लिए (तुझे) नमस्कार (हो)* (वा० सं० १२.६३); जरां सु गच्छ *सुरक्षित रूप से बुढापा प्राप्त कर* (अ० वे० १९.२४[८])।

(अ) पूर्ववर्ती उ के साथ इस निपात का अर्थ बिल्कुल अच्छी तरह होता है: इमा उ षु श्रुधी गिरः इन गीतों को बिल्कुल अच्छी तरह सुन (१.२६.[५]); विद्मो ष्वस्य मातरम् हम उसकी माता को बिल्कुल अच्छी तरह जानते हैं (अ० वे० १.२.[१])।

(आ) पूर्ववर्ती मा के साथ यह किसी तरह नहीं, बिल्कुल नहीं, कभी नहीं इन अर्थों को समर्पित करता है। जैसे मो षु त्वा... अस्मन्नि रीरमन् कोई भी किसी भी तरह तुझे हमसे दूर न रखे (७.३२.[१])।

(इ) सु कम् सिवाय इसके कि यह केवल लोट् के साथ आता है, अकेले सु की तरह प्रयुक्त होता है। जैसे तिष्ठत.. सु कम् बिल्कुल शान्त खड़े रहो। (१.१९१.[६])।

स्म एक निहत एवं तनिक सा बल देने वाला निपात है। ऋग्वेद में इसके दो अर्थ हैं:

१. यह सामान्यतया (निम्नलिखित पर) बल देता है:

(क) वस्तूपलक्षक या पुरुषोपलक्षक सर्वनाम, सम्बन्धवाचक शब्द या संज्ञा शब्द। इसका अनुवाद *ठीक, विशेषरूप* से या केवल *बलाधान* से किया जा सकता है। जैसे तस्य स्म प्राविता भव *उसका सहायक बन* (१.१२^८); स घा यः स्मा पृतनासु कासु चित्…शूरैः स्वैः संनिता *तू जो विशेष करके सब युद्धों में वीरों के साथ प्रकाश को जीतता ही है, सुन* (१.१२९^२)।

(ख) वह क्रिया जिसके बाद या (यदि वह समस्त है तो) जिसके उपसर्ग के बाद वह आता है (सामान्यतया वाक्य के आरम्भ में)। जैसे स्मसि स्मा वयमेषाम् *हम निश्चय ही उनके हैं* (१.३७^१५); अधि स्मा रथं तिष्ठसि *तू वस्तुतः, अपने रथ पर चढ़ता है* (१.५१^१२), क्रिया निर्देशक लट् में या लोट् में पाई जाती है, पर विरलतया लिट् में। केवल एक ही उदाहरण (६.४४^१८) पर जहाँ कि क्रिया वाक्य का आदिम शब्द नहीं है, विचार करने से ऐसा मालूम पड़ता है कि स्म से पूर्व आने वाली क्रिया उदात्त होती है (परिशिष्ट ३, १९ य)।

(ग) क्रियाविशेषण और निपात। जैसे उत स्म *और विशेष रूप से*; न स्म और मा स्म *किसी तरह नहीं*।

(अ) अथर्ववेद में बलाधान के ये प्रयोग समान ही हैं। किन्तु ब्राह्मणों में वे पूर्णतया लुप्त हो गये हैं।

२ ऋग्वेद में कुछेक उदाहरणों में स्म निर्देशक लट् से युक्त पुरा से *पूर्व भूत काल से लेकर वर्तमान तक की क्रिया स्वभावतः हो चुकी है* यह प्रकट करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। जैसे ये स्म पुरा गातूयन्ति *जिन्होंने हमेशा सहायता की है=जो अब मदद करता है और पहले करता था* (१.१६९^५)*।

(अ) यह प्रयोग अथर्ववेद में प्राप्त नहीं होता, किन्तु ब्राह्मणों में जहां कि

---

*हमारी समझ में यहाँ किया मुद्रणदोष से एकवचनान्त (who aids now) है। मन्त्र के अनुरोध से तो बहुवचन (who aid now) ही उचित है।

स्म से पूर्व सदा ह आता है, नितान्त बहुल हो गया है। यहां अर्थ यह है कि भूत काल में स्वाभाविक रूप से कुछ हुआ (किन्तु ऋग्वेद की तरह वह वर्तमान काल को संगृहीत नहीं करता)। जैसे नं ह स्म वैं पुरा॒ऽग्निरपरशुवृक्णं दहति प्राचीन काल में अग्नि उसे जो कुल्हाड़े से नहीं काटा होता था, नहीं जलाया करता था (तै० सं०)।

(आ) तो भी, इससे कहीं अधिक वार पुरा छोड़ दिया जाता है और ह स्म–– ये निपात इसके (पुरा के) साथ अपने वहुल साहचर्य के कारण पुरा का अ ले लेते हैं, जैसे ते ह स्म यद् देवा असुरान्जयन्ति, ततो ह स्म॒ एवं॒ एनान्पुन- रुपो'त्तिष्ठन्ति जितनी वार देवों ने असुरों को हराया, उतनी वार असुरों ने पुनः उनका विरोध किया (श० ब्रा०)। ह स्म का यह प्रयोग पूर्ण वर्तमान के आह के साथ बहुत प्रायिक है। जैसे एतद्ध स्म वा आह नारदः इनके बारे में नारद कहा करता था (मै० सं०)। ऐ० ब्रा० में लट् से भिन्न लकार भी ह स्म के साथ मिलते हैं। वहां दो या तीन स्थलों में लिट् तथा लङ इनके साथ इसी अर्थ में प्रयुक्त हैं।

स्विद् एक निहत निपात है और वाक्य के आदि में आने वाले शब्द, प्रायः प्रश्नार्थक सर्वनाम या क्रियाविशेषण, पर वल देता है। इसका अनुवाद सामान्यतया *कहिये* से किया जा सकता है। कः स्विद्वृक्षो निष्ठितो मध्ये अर्णसः *कहिये कौन वृक्ष था जो समुद्र के मध्य में खड़ा था?* (१.१८२⁷)। ऋग्वेद के एक स्थल में यह निपात प्रश्नार्थक शब्द को अनिश्चितार्थक वना देता है : माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित् *जो विचरता रहता है उस पुत्र की माता कौन जानता है कहाँ है?* (१०.३४¹⁰)। वहुत विरल रूप में (दुहरे प्रश्नों में) यह निपात प्रश्नार्थक शब्द के विना आता है: अस्ति स्विन्नु वीर्यं तत्त इन्द्र न स्विदस्ति; तदृतुथा वि वोचः हे इन्द्र, *क्या यह तेरा वीरता का कर्म है या नहीं; इसे ठीक ऋतु में घोषित कर* (६.१८³)।

(अ) कुछ उदाहरणों में स्विद् अप्रश्नार्थक वाक्यों में आता है: त्वया ह स्विद्युजा वयमभि ष्मो वाजसातये तुम्हें सहचर के रूप में पाकर हम तेरे साथ लूट का सामान हासिल करने को तैयार हैं (८.१०२.³)।

(आ) ब्राह्मणग्रन्थों में स्विद् का प्रयोग इसी प्रकार है। जैसे कंमु स्विदितो'-ऽधि वरं वरिष्यामहे कहिये, इससे अच्छा कौनसा वर हम चुनेंगे? (मै० सं०); त्वं स्विन्नो ब्रह्मिष्ठोऽसि वता, क्या तू हममें सबसे अधिक विद्वान् है? (श० ब्रा०), यदङ्गारेषु जुहोति तदग्नौ स्विदग्नौ जुहोति जो आहुति वह अङ्गारों पर डालता है, उसे ही वह अग्नि पर डालता है (मै० सं०)

ह, वाक्यारम्भ में आने योग्य सभी शब्दों के पश्चात् आने वाला एक निहत निपात है। इसका अर्थ *तनिक सा बल देना और गम्भीरतापूर्वक कहना* है। मूल में यह सम्भवतः घ ही था, पर इस निपात के विपरीत यह अपने दीर्घीकृत अच् के साथ ऋग्वेद में कदाचित् (केवल दो बार) ही प्रयुक्त हुआ है। व्यक्तिवाचक वस्तूपलक्षक, प्रश्नार्थक और सम्बन्धवाचक सर्वनामों, नामों, क्रियाओं, उपसर्गों और क्रियाविशेषणों के बाद आने वाला यह निपात ऋग्वेद में बाहुल्येन प्रयुक्त हुआ है।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में इसका प्रयोग कहीं अधिक, कहीं कम हुआ है। तै० सं० में, यह अपेक्षतया विरल है। वहाँ यह स्म अथवा पूर्ण क्रियावाची लकारों के साथ आता है। श० ब्रा० में इसका प्रयोग कहीं अधिक है। यह अन्वय पर बल देने के लिए या आख्यान में किसी नये या महत्त्वपूर्ण क्रम का सङ्केत करने के लिए वाक्यों के प्रथम शब्द पर बल देता है। जैसे इति मरीमृज्येत, आजरसं ह चक्षुष्मान्भवति य एवं वेद इन शब्दों के साथ वह (अपनी आँखें) पोंछे, जो यह जानता है बुढ़ापे तक उसकी दृष्टि बनी रहती है (ऐ० ब्रा०)।

(आ) यह वै' के साथ या उसके बिना कहानी के पहले शब्द के बाद प्रयुक्त होता है। श० ब्रा० और ऐ० ब्रा० के उन भागों में जो लिट् के साथ, अधिकांश रूप में कथनार्थक धातुओं के साथ, वृत्त का कथन करते हैं, यह मुख्यतया लिट् के साथ आता है। इस प्रकार जबकि यहां स ह—उवाच आता है, अन्यत्र सोऽब्रवीत् आता है।

हन्त प्रेरणाओं में सम्बोधनादि बोधक निपात के रूप मे ऋग्वेद में तीन बार आया है। जैसे यजामहै यज्ञियान्हन्त देवान् *आओ, हम पूजा के योग्य देवों की पूजा करेंगे* (१०.५३)।

(अ) ब्राह्मणों में भी यह इसी प्रकार प्रयुक्त होता है: हन्त—इमं यज्ञं सम्भराम, अच्छा, हम इस यज्ञ की तैयारी करेंगे (ऐ० ब्रा०)।

मूल रूप में हिं सम्भवतः एक बलाधायक निपात है। यह सर्वत्र एक गौणताद्योतक संयोजक के रूप में प्रयुक्त होता है और नियमेन क्रिया को उदात्त बना देता है। यह लगभग सदैव वाक्य के पहले शब्द के बाद आता है, जब प्रथम दो शब्द आपस मे बहुत सम्बद्ध होते है तो दूसरे के बाद आता है। वेद मे यह दो प्रकार से प्रयुक्त है:

१. यह निर्देशक वाक्यों में (जहाँ कि कई बार क्रिया का अध्याहार करना पड़ता है) कारण को (ग्रीक गर् की तरह) अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। यदि एतद्युक्त अवान्तरवाक्य बाद में आता है तो इसका अर्थ *क्योंकि* होता है, यदि पहले आता है तो इसका अर्थ *इस कारण,*[१] *यतः* होता है। जैसे **बलं धेहि तनूषु नो, त्वं हि बलदा असि** *हमारे शरीरों को शक्ति दे क्योंकि तू शक्तिदाता है* (३.५३[१८]); **श्रुष्टिवानो हि दाशुषे देवास्, तानां** वह देव *पवित्र पुरुष की ओर कान देते हैं, इस कारण उन्हें इधर ले आ* (१४५[२])।

प्रेरक वाक्यों में (बहुधा लोट् से युक्तों) में एक बलाधायक निपात के रूप में भी इसका प्रयोग पाया जाता है=*कृपया, वस्तुतः*। जैसे **युक्ष्वा हि केशिना हरी** *कृपया अपने दो लम्बी अयाल वाले भूरे घोड़ों को जोतो* (१.१०[३])।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में हिं के तीन प्रकार के प्रयोगों में तीन भेद किये जा सकते हैं:

१. वेद के प्रथम प्रयोग की तरह यह हेतु को व्यक्त करता है। केवल हिं वाला उपवाक्य सदा बाद में आता है (=क्योंकि केवल), और क्रिया श्रूयमाण न होकर प्रायः गम्यमान होती है। जैसे **तदिन्द्रोऽमुच्यत, देवो हि सः** उससे इन्द्र ने स्वयं को छुड़ा लिया, क्योंकि वह देव है) (श० ब्रा०)। हिं को प्रबल बनाने के लिए इसके साथ वै यह निपात बहुधा जोड़ दिया जाता है। जैसे **वज्रो हि वा आपः** क्योंकि जल वस्तुतः वज्र है (श० ब्रा०)।

---

१. मूल में अंग्रेजी के because, for, since—ये तीनों शब्द हेत्वर्थक ही हैं; केवल व्यवहार के अनुसार इनका स्थानभेद से प्रयोग होता है—अनु०।

२. कभी-कभी यह किसी प्रश्नार्थक पर बल देने के काम में भी लिया जाता है। इसका अर्थ होता है। बताओ। जैसे कथं हिं करिष्यसि बताओ, तुम इसे कैसे करोगे? (श० ब्रा०)।

३. जब पूर्ववर्ती किसी प्रश्न से किसी पद की आवृत्ति की जाती है और उस आवृत्ति के पश्चात् उस प्रश्न का उत्तर दिया जाता है तो उन उत्तर वाक्यों में यह अनुमति प्रकट करता है। जैसे तमेव त्वं पश्यसि—इति; तं हिं 'क्या तुम उसे देखते हो'? 'हाँ (मैं) उसे (देखता हूँ) (श० ब्रा०)।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में जब पूर्वोक्त वक्तव्य को स्पष्ट करने वाले किसी महावाक्यान्तर्गत सम्बन्धार्थक अवान्तर वाक्य में हिं आता है तब प्रधान वाक्य की क्रिया (जिसमे कि हिं का उचित रूप मे सम्बन्ध होता है) कभी-कभी नियम के विरुद्ध निहत हो जाती है। जैसे इदं हि यदा वर्षत्यथ—ओषधयो जायन्ते चूँकि जब यहां वर्षा होती है तब पौधे उग आते हैं (श० ब्रा०)।

१८१. संहिताओं मे उद्गाराभिव्यंजक निपातों के सदृश थोड़े से शब्द आते हैं। वे दो प्रकार के हैं, या तो हर्षादि के उद्गार हैं या अनुकरणात्मक ध्वनियाँ।

(क) हर्षादि के उद्गार हैं: बट् (ऋग्वेद) *सचमुच*, बत (ऋग्वेद) *हा-शोक!* हन्त (*आओ*) जो कि लेट् के साथ प्रेरकवत् प्रयुक्त होता है और हये (*आओ*) जोकि *सम्बोधनों से पूर्व आता है*। हिंरुक् और हुरुक् (ऋग्वेद) दूर! है (अथर्व०) हे।

(ख) अनुकरणात्मक जाति के निपात हैं: किकिरा (ऋग्वेद), जो कि कृ-आवाज करना के साथ प्रयुक्त है=किकिरा=*चिथड़े चिथड़े फाड़ने की आवाज करना*; किक्किटा (तै० सं०) आवाहनों में प्रयुक्त; चिश्चा (ऋग्वेद) *हिस् (बाण की सनसनाहट)*, कृ के साथ प्रयुक्त, *सनसनाने की ध्वनि करना*; फट् (अथर्व०, वा० सं०) *धड़ाम्!* फल् (अथर्व०) *छप्!* बाल् *फटाक्!* भुक् (अथर्व०) *तड़ाक्!* शल् (अ० वे०) *तड़्, तड़्!*

षष्ठ अध्याय

नामरूप प्रकृतियों की रचना और समास

(क) नामरूप प्रकृतियाँ

१८२. रूपावतार के योग्य प्रातिपदिक, यद्यपि ये बहुधा केवल प्रकृति (क्रियागत या सर्वनामगत) रूप ही होते हैं, प्रधानतया प्रकृतियों के साथ प्रत्यय लगाने से बनाये जाते हैं। ये प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं: प्राथमिक अर्थात् वे जो सीधे धातुओं के साथ लगाये जाते हैं (ये प्रत्यय साथ ही उपसर्गों के साथ सम्बन्ध भी हो सकते हैं); और द्वितीय अर्थात् वे जो प्रत्यय-निष्पन्न प्रातिपदिकों और सार्वनामिक प्रकृतियों के साथ (जो कि इस प्रकार कृदन्त प्रातिपदिकों की तरह व्यवहृत होते हैं) लगाये जाते हैं।

१. कृदन्त व्युत्पन्न प्रातिपदिकों में नियमतः धातु में गुण पाया जाता है। जैसे वेद पुं० *ज्ञान* (विद् *जानना*); सरण नपुं० *दौड़ना* (√सृ); कार्य *बनाना* (√कृ); ग्राभ पुं० *पकड़ने वाला* (√ग्रभ्)। अर्थ की दृष्टि से उन्हें दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है: भाववाचक संज्ञाएं (अर्थ में तुमर्थ प्रत्ययान्तों से मिलती जुलती) और विशेषणों या विशेष्यों के रूप में प्रयुक्त द्रव्य-वाचक कर्त्रर्थक संज्ञाएँ (अर्थ में शतृ, क्वसु आदि प्रत्ययान्तों से मिलती हुई) जैसे मति स्त्री० *विचार* (मन् *सोचना*); योध पुं० *योद्धा* (युध् *लड़ना*), अन्य अर्थ इन दो के ही विकार हैं। जैसे दान (=दा‿अन) नपुं० *देने की क्रिया तदनन्तर दी गई वस्तु*।

(क) जब केवल धातु रूपावतार योग्य प्रातिपदिक के रूप में प्रयुक्त होती है तो प्रायः अविकृत रहती है। जैसे दा पुं० *देने वाला*; स्रिध् स्त्री० *नाश करने वाली*, युज् पुं० *साथी*, स्पश् *गुप्तचर*; वृध् विशेषण, *बढ़ाने वाला*।

इदुदन्त धातुओं के साथ रूप परिच्छेदक त् लगता है। जैसे मित् स्त्री० *स्तम्भ*, स्तु॑त् स्त्री० *स्तुति*। धातु को द्वित्व भी हो सकता है: चिकि॑त् *चतुर*, जो॑ग *जोर से गाना*।

धातु की प्रक्रिया से सम्बद्ध कुछ प्राथमिक नामिक प्रत्ययों का पर्याप्त वर्णन पहले किया जा चुका है: अन्त् (८५; १५६), आन और मान (१५८); वांस् (८९; १५७); तन तथा न (१६०); कृत्य प्रत्यय: य, आय्य, एन्य, त्व, तव्य॑[1] और अनी॑य[2] (१६२)। उन प्रातिपदिकों की रचना भी जिनके साथ तुलनात्मक और अतिशयार्थक ईयांस् और इष्ठ प्राथमिक प्रत्यय लगते हैं, पहले ही प्रतिपादित की जा चुकी है (८८; १०३,२)। बाकी प्रत्ययों में से वर्णानुक्रम से अधोलिखित प्रत्यय सर्वाधिक प्रायिक एवं महत्वपूर्ण हैं:

अ: जैसे भाग॑ पुं० *हिस्सा* (√भज्); मेघ॑ पुं० मेघ (मिह *पानी बरसाना*); चोद॑ पुं० प्रे॑रक (√चुद्); सर्ग॑ पुं० *निकास* (√सृज्); नाय॑ पुं० *नायक* (√नी); प्रिय॑ *प्रसन्न करने वाला* (√प्री); हव॑ पुं० *आवाहन* (√हू); जार॑ पुं० *जार* (√जॄ); वेवि॑ज *शीघ्रगामी* (विज् *तेजी से चलना*); चरा-चर॑ *दूर तक विस्तृत*। विशेष्य प्रायः निरपवाद रूप से पुं० है; किन्तु युग॑ नपुं० है (ग्रीक जुगो॑न्; लै० जुगुम्)।

अन्: पुं० कर्त्रर्थक नाम और एक दर्जन के लगभग सदोष नपुं० प्रातिपदिकों के साथ पाया जाता है। जैसे उक्ष॑न् पुं० *बैल*; मूर्ध॑न् पुं० *मूर्धा*; रा॑जन् पुं० *राजा*; अ॑सन् नपुं० *रक्त*, अ॑हन् नपुं० *दिन*; उद॑न् नपुं० *पानी*, ऊ॑धन् नपुं० *लेवटी*।

---

१. इस प्रत्यय का दूसरा भाग, य, तद्धित (१८२,२) है, किन्तु समूचा प्रत्यय कृत् (१६२,५) के रूप में प्रयुक्त होता है, पहला हिस्सा, तव्, सम्भवतः पुराने तवे इस तुमर्थक प्रत्यय से व्युत्पादित है (पृ० २५४,४)।

२. इस प्रत्यय का उत्तरार्ध, ईय, तद्धित है, पर समूचा प्रत्यय कृत् (१६२,६) के रूप में प्रयुक्त होता है।

अन : नपुं० क्रियासंज्ञाओं में पाया जाता है : भो॑जन नपुं० चाह से खाना (√भुज्) : सा॑दन नपुं० आसन (√सद्); क॑रण नपुं० कार्य (√कृ); ह॑वन नपुं० आवाहन (√हू); भु॑वन नपुं० होना (√भू); वृज॑न नपुं० व्रज (बाड़ा), कर्त्रर्थक पुं० संज्ञाओं में भी। जैसे करण॑ करने वाला, मा॑दन प्रसन्न करने वाला (√मद्), सङ्ग॑मन इकट्ठे होने वाला; तुर॑ण त्वरा करने वाला।

अना : स्त्री० भावसंज्ञाओं में पाया जाता है : जर॑णा बुढ़ापा, यो॑षणा स्त्री, वध॑ना वध। यह अनप्रत्ययान्त विशेषणों का स्त्री० रूप भी है। जैसे तुर॑णा त्वरा करने वाली।

अनि : स्त्री० भावसंज्ञाओं और पुं०, स्त्री० कर्त्रर्थक संज्ञाओं में पाया जाता है : अर॑णि स्त्री० अरणि; वर्त॑नि स्त्री० रास्ता; चर्ष॑णि क्रियाशील; रुरुक्ष॑णि नष्ट करने का इच्छुक (रुज् नष्ट करना की सन्नन्त प्रकृति से)।

अस् : नपुं० भावसंज्ञाओं (उदात्त धातु से युक्त) और कर्त्रर्थक संज्ञाओं (उदात्त प्रत्यय से युक्त) में पाया जाता है। जैसे अ॑पस् नपुं० कार्य (लै० ओपुस्), अप॑स् क्रियाशील; र॑क्षस् नपुं० राक्षस, रक्ष॑स् पुं० (अर्थ वही)।

आ : स्त्री० भावसंज्ञाओं (धातुओं और सनाद्यन्त प्रकृतियों) में पाया जाता है। जैसे निन्दा॑ निन्दा; जिगीषा॑ जीतने की इच्छा; गमया॑ भिजवाना; अश्वया॑ घोड़ों को प्राप्त करने की इच्छा।

इ : भावसंज्ञाओं (लगभग सदैव स्त्री०); कर्त्रर्थक संज्ञाओं (विशेषण और विशेष्य); और कतिपय अज्ञातमूल नपुं० शब्दों में पाया जाता है। जैसे कृषि॑ स्त्री० खेती, आजि॑ पुं० स्त्री० मुकाबला; च॑क्रि कर्मठ (√कृ); शु॑चि चमकीला; पाणि॑ पुं० हाथ; अ॑क्षि नपुं० आँख; अ॑स्थि नपुं० हड्डी; द॑धि नपुं० दही।

इस् : नपुं० भावसंज्ञाओं (अधिकांश द्रव्यार्थक) में पाया जाता है। जैसे अ॑र्चिस् लौ; ज्यो॑तिस् ज्योति, क्र॑विस् कच्चा मांस, ब॑र्हिस् कुशा।

उ : कर्तृवाचक संज्ञाओं, विशेषण एवं विशेष्य (प्रायः पुं० किन्तु कुछ स्त्री० तथा नपुं०) में पाया जाता है। जैसे तनु॑ कृश (लै० तेनुइस्); बाहु॑ पुं० बाँह (ग्रीक पेखुस्); पादु॑ पुं० पाँव; ह॑नु स्त्री० जबड़ा; जा॑नु नपुं० घुटना (ग्रीक गोनु)।

उन : विशेषण तथा पुं० नपुं० विशेष्यों में पाया जाता है। जैसे त॑रुण तरुण; ध॑रुण धारक, पुं० नपुं० धारण; मिथु॑न जोड़ा बनाने वाला, पुं० युगल; व॑रुण पुं० देव विशेष; शकु॑न पुं० पक्षी।

उस् : नपुं० भाव संज्ञाओं और पुं० कर्तृवाचक संज्ञाओं में पाया जाता है। जैसे ध॑नुस् नपुं० धनुष; जयु॑स् विजयी; वनु॑स् पुं० आकांक्षी।

ऊ : स्त्री०, प्रायः उकारान्त पुं० और नपुं० के सहित शब्दों में पाया जाता है। जैसे तनू॑ शरीर; धन्व॑ रेतीला किनारा (नपुं० धनु); स्वतन्त्रतया रचित : चमू॑ थाली; वधू॑ दुलहिन।

क (कृत् के रूप में विरल, किन्तु तद्धित के रूप में बहुत अधिक) विशेषण और पुं० विशेष्यों में पाया जाता है : शु॑ष्क सूखा; अ॑त्क पुं० परिधान; श्लो॑क पुं० पुकार; स्तो॑क पुं० बूँद; वृ॑श्चिक पुं० बिच्छू।

त : सामान्यतया भूत भूतार्थक कर्मवाच्य कृत् कृदन्त शब्दों की रचना के अतिरिक्त असंकुचित अर्थ को लिए हुए यह कतिपय क्रियार्थक विशेषणों और विशेष्यों के प्रत्यय के रूप में आता है। जैसे तृ॑ष्ट खुरदरा; शीत॑ शीतल; दू॑त पुं० दूत; ग॑र्त पुं० रथ की बैठक; म॑र्त पुं० मर्त्य; ह॑स्त पुं० हाथ; घृत॑ नपुं० घी; न॑क्त नपुं० रात्रि; इ के मध्यागम के साथ : अ॑सित काला, पलित॑ सफेद, रो॑हित लाल।

ति : मुख्यतया स्त्री० भावसंज्ञाओं में पाया जाता है। जैसे इष्टि॑ इच्छा, ऊति॑ सहायता (√अव्), कीर्ति॑ प्रशंसा (कृ याद करना), राति॑ दान; इष्टि॑ बलि; ग॑ति गति; दा॑ति॑ दान; दी॑धिति भक्ति (धी सोचना); अं॑हति दुःख,

१. यह शब्द जब समास का अन्तिम पद होता है तब अन्त लोप के कारण चि रूप में अवशिष्ट रह जाता है : सं॑गचि स्त्री० भाग्यवान्, सवचि स्त्री० धनप्राप्ति, व॑सुचि स्त्री० सम्पत्ति प्राप्ति।

अंमति *दीनता* । इससे विशेषण रूप में या पुं० विशेष्य रूप में प्रयुक्त कोई बीसेक कर्त्रर्थक संज्ञाएँ भी बनती हैं, जैसे रार्ति *देना चाहता हुआ*, वंष्टि *इच्छुक (उत्सुक)*; ज्ञार्ति पुं० *भाई वन्द*, दृ॑ति पुं० *खाल*, धू॑ति पुं० *हिलाने वाला*, मु॑ष्टि पुं० *मुट्ठी*, सं॑प्ति पुं० *घोड़ा*, अभिष्टि॑ पुं० *सहायक* (पर अभिं॑ष्टि स्त्री० *सहायता*); अंनति *दरिद्र*, अरर्ति पुं० *सेवक*, वृकंति पुं० *घातक* ।

तु से प्रधानतया चतुर्थी, पंचमी, पष्ठी, द्वितीयाप्रतिरूपक तुमुन्नन्त और तुमर्थक रूपों की प्रकृति बनती है। जैसे दा॑तु : चतुर्थी प्रति० दा॑तवे और दा॑तवै॑; पंच० पष्ठी प्रति० दा॑तोस्; द्वितीया प्रति० दा॑तुम् । किंच कुछेक स्वतन्त्र भावसंज्ञाएँ और उनसे भी कम कर्त्रर्थक संज्ञाएँ भी इसी तु से बनते हैं : ओ॑तु पुं० *बुनाई* (वा *बुनना*), तं॑न्तु पुं० *धागा*; अक्तु॑ पुं० *किरण* (अञ्ज् *लीपना*), ऋतु॑ पुं० *ऋतु*, जन्तु॑ पुं० *जन्तु*; वं॑स्तु स्त्री० *प्रातः काल* (वस् *चमकना*); वा॑स्तु नपुं० *मकान* (वस् *रहना* : ग्रीक ह्स्तु) ।

तृ : बहुधा द्वितीया के नियामक कालकृदन्त के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले (जब धातु प्रायः उदात्त होती है) कर्त्रर्थक संज्ञा पद में पाया जाता है। जैसे गं॑न्तृ *को* (द्वि०) *जाने वाला*, किन्तु कर्तृ॑ पुं० *करने वाला*, यष्टृ॑ *याजक* (√यज्); उष्टृ॑ *खेत जोतने वाला बैल* । इ (ट्) आगम के साथ इसका प्रयोग कम प्रायिक है : चोदितृ॑ *प्रेरक*, सवितृ॑ *प्रोत्साहक*; आमरीतृ॑ *मारक*; तं॑रुतृ *जीतने वाला*, तरुतृ॑ पुं० *पराजित करने वाला*; वरूतृ॑ *रक्षक*; मनो॑तृ तथा मनोतृ॑ *आविष्कारक* । इस प्रत्यय से कुछ सम्बन्धवाचक नाम भी बनते हैं। जैसे पितृ॑ पुं० *पिता*, मातृ॑ स्त्री *माता* (१०१) ।

त्नु से एक दर्जन से अधिक कर्त्रर्थक संज्ञाएं, जोकि प्रायः विशेषण की तरह प्रयुक्त होती हैं, बनती हैं। जैसे कृत्नु॑ *कर्मठ*; पीयत्नु॑ *निन्दक*; मादयित्नु *मादक*; स्तनयित्नु॑ पुं० *गड़गड़ाहट* ।

त्र : कर्त्रर्थक संज्ञापदों में पाया जाता है। इनमें से कुछ विशेषण होते हैं और शेष लगभग सभी करण या साधन के वाचक नपुं० विशेष्य । जैसे जैं॑त्र *विजयशील*, यं॑जत्र *पूजा के योग्य*; क्षे॑त्र नपुं० *खेत*, पा॑त्र नपुं० *प्याला*,

वॅस्त्र नपुं० *वस्त्र*; खनि॑त्रन पुं० *फावड़ा*, कुछ पुं० शब्द भी हैं, जैसे दं॑ष्ट्र *दाँत (हाथी का)* (दंश् *काटना*), मॅन्त्र *मन्त्र*, मित्र॑ *मित्र* (पर नपुं० में *मित्रता*)।

त्रा : पूर्वोक्त (त्र) प्रत्यय के स्त्री० के रूप में कुछ वार आता है : अॅष्ट्रा *अङ्कुश* (अश् *पहुँचना*), मॉत्रा (ग्रीक में त्रोन्) ।

थ : भावसंज्ञाओं में पाया जाता है जोकि नपुं० की अपेक्षा पुं० में अधिक होती है । जैसे गाथॅ पुं० *गीत*, भृथ पुं० *वलि*, रॅथ पुं० *रथ*, हॅथ पुं० *हत्या*; अर्थ॑[1] नपुं० *उद्देश्य*, उक्थॅ नपुं० *कहावत* (√वच्), तीर्थ॑ नपुं० *घाट* (√तॄ *पार करना*), रिक्थॅ नपुं० *दाय भाग* (√रिच्); आगम अच् के साथ : उचॅथ नपुं० *स्तुति*, स्तवॅथ पुं० *स्तुति* ।

था : थ के स्त्री० रूप में कुछ वार पाया जाता है : कॉष्ठा *रास्ता*, गॉथा *गीत*, नी॑था *चाल* ।

न : साधारणतया पूर्ण भूतार्थक कर्मवाच्य कालकृदन्त रूपों (१६०.१) में पाये जाने के अतिरिक्त कई विशेषणों (स्त्री० ना) और विशेष्यों के प्रत्यय के रूप में आता है, अधिकतर विशेष्य पुं० में होते हैं पर कुछेक नपुं० में भी । जैसे उष्णॅ *गर्म*, कृष्णॅ *काला*, नग्नॅ *नङ्गा*; वुध्नॅ पुं० *तला*, यज्ञॅ पुं० *यज्ञ*, वॅर्ण पुं० *रङ्ग*; पर्ण॑ नपुं० *पँख*, वस्नॅ नपुं० *मूल्य* ।

ना : न के स्त्री० रूप इस से कुछ विशेष्य वनते हैं : तृ॑ष्णा *तृष्णा*; धे॑ना *धेनु*, से॑ना *अस्त्र*, स्थू॑णा *थूणा (खम्भा, खूँटा)* ।

नि : पुं० और स्त्री० भाव और कर्त्रर्थक संज्ञा (कर्त्रर्थकों में से कुछ विशेषण) शब्दों में पाया जाता है : यो॑नि पुं० *आधार*, जूर्णि॑ स्त्री० *गर्मी*; पृ॑श्नि *चितकवरा*; प्रेणि॑ *प्रिय* (√प्री), भू॑र्णि *उत्तेजित*; अग्नि॑ पुं० *अग्नि*, वॅह्नि पुं० *वोझ ढोने वाला पशु* ।

नु : प्रायः सदा पुं० भाव तथा कर्त्रर्थक संज्ञाओं में (जिनमें कुछ

---

१. अॅर्थ प्रायः ऋग्वेद में आता है, किन्तु पुं० के रूप में केवल तीन वार (दशम मण्डल में) आता है; परवर्ती भाषा में इसका प्रयोग केवल पुं० में रहता है ।

विशेषण भी शामिल हैं) पाया जाता हैं। जैसे क्षेप्णु॑ पुं० *धक्का*, भानु॑ पुं० *प्रकाश*, सूनु॑ पुं० *पुत्र*; धेनु॑ स्त्री० *गाय*; दा॑नु नपुं० *बूंद* (पुं० स्त्री० *दानव*)।

म : विशेषण और (प्रायः निरपवाद रूप से पुं०) विशेष्यों में पाया जाता है। जैसे जिह्म॑ *टेढा*, शग्म॑ *शक्तिशाली*; इध्म॑ पुं० *इन्धन*, घर्म॑ पुं० *गर्मी*, स्तो॑म पुं० *स्तुति*, हिम॑ पुं० *शैत्य*; वि॑ल्म नपुं० *टुकड़ा*; हि॑मा स्त्री० *हेमन्त*।

मन् : भावसंज्ञाओं (जिनकी संख्या बहुत अधिक है) में पाया जाता है। इनमें से अधिकांश नपुं० और धातु स्वर से उदात्त हैं, जब कि बहुत से पुं० हैं एवं प्रत्यय स्वर से उदात्त हैं। जैसे अ॑ज्मन् नपुं० *रास्ता* (लै० अग्मेन्), ना॑मन् नपुं० *नाम* (लै० नोमेन्), भू॑मन् नपुं० *जगत्*, श॑स्मन् नपुं० *स्तुति* (लै० चर्मेन्); ज॑निमन् नपुं० *जन्म*; व॑रीमन् नपुं० *विस्तार*; भूम॑न् पुं० *प्रचुरता*, विद्म॑न् पुं० *ज्ञान*, प्रथिम॑न् पुं० *पृथुत्व*। कुछ विरलप्रयुक्त प्रायः उदात्त प्रत्यय वाले कर्त्रर्थक संज्ञापदों में भी यह पाया जाता है। जैसे वद्म॑न् पुं० *वक्ता*, सद्म॑न् पुं० *बैठने वाला*; अ॑श्मन् पुं० *पत्थर* (ग्रीक हे॑क्मेन्); जे॑मन् *जेता*। इनमें से कुछ स्वप्रतिरूप भावसंज्ञाओं से स्वर में ही भिन्न हैं (तु० अस्) : दाम॑न् पुं० *दाता* : दा॑मन् नपुं० *दान*, धर्म॑न् पुं० *विधायक* : ध॑र्मन् नपुं० *विधि*; ब्रह्म॑न् पुं० *ब्रह्मा ऋत्विज्* : ब्र॑ह्मन् नपुं० *पूजा*; सद्म॑न् पुं० *बैठने वाला* : स॑द्मन् नपुं० *आसन*।

मि : विशेषण और पुं० (एक स्त्री० भी) विशेष्य शब्दों में पाया जाता है : जा॑मि *सम्बन्धी*; ऊ॑र्मि पुं० *लहर*, रश्मि॑ पुं० *किरण*; भू॑मि स्त्री० *भूमि*।

मी : कुछ स्त्री० विशेष्य शब्दों में पाया जाता है : भू॑मी *भूमि*, लक्ष्मी॑ *चिह्न*, सूर्मी॑ *नलिका*।

यु : थोड़े से विशेषण और पुं० विशेष्य शब्दों में पाया जाता है : य॑ज्यु *देवपूजक*, शुन्ध्यु॑ *विशुद्ध*, स॑ह्यु *दृढ़*; मन्यु॑ पुं० *क्रोध*, मृत्यु पुं० *मृत्यु* द॑स्यु पुं० *शत्रु*, शि॑म्यु पुं० *शत्रु*।

र : बहुत से विशेषण पदों में पाया जाता है जिनमें अधिकांश प्रत्यय स्वर से उदात्त होते हैं। जैसे उग्र *सशक्त*, पतरं *उड़ने वाला*, अजिरं *वेगवान्*, गृ॑ध्र *लोभी*; विप्र *प्राप्तप्रेरण*। विभिन्न लिंगों के कुछ विशेष्यों में भी यह उपलब्ध होता है (स्त्री० रा)। जैसे क्षुरं पुं० *उस्तरा*, वम्र पुं० *चींटी*; खदिरं पुं० *खैर का वृक्ष*; अज्र पुं० *क्षेत्र* (ग्रीक हेग्–रो॑स्), वज्र पुं० *गाज*, शू॑र पुं० *शूर*; अभ्रं नपुं० *बादल*, क्षीरं नपुं० *दूध*; अग्र नपुं० *अग्रभाग* (*नोंक*), रन्ध्र नपुं० *पोल, थोथ*; शरीर नपुं० *शरीर*; धारा स्त्री० *धार*, सु॑रा स्त्री० *सुरा*।

रि : विशेषणों अथच पुं० एवं स्त्री० विशेष्यों में पाया जाता है। जैसे भू॑रि *प्रचुर*, वध्रि, *वधिया किया हुआ*; जमुरि *थका हुआ*; अङ्घ्रि पुं० *चरण*, सूरिं पुं० *संरक्षक*; अश्रि स्त्री० *किनारा, धार*, उ॑स्रि, स्त्री० *उषा*; अङ्गु॑रि स्त्री० *उँगली*।

रु : विशेषणों तथा कुछेक नपुं० विशेष्य शब्दों में पाया जाता है : चारु *प्रिय* (चारुस्), भीरु॑ *भीरु*; पतरु *उड़ने वाला*; वन्दारु *स्तुति करने वाला*; सने॑रु *प्राप्त करने वाला*; अश्रु नपुं० *आँसू*, श्मश्रु नपुं० *दाढ़ी*।

व : विशेषण और (प्रायः पुं०) विशेष्य शब्दों में पाया जाता है। जैसे ऊर्ध्व॑ (ग्री० होऌ वोस्), पक्व *पका हुआ*, पूर्व *पिछला*, सर्व *सब* (लै० सल्वुस्); अश्व पुं० *अश्व* (लै० एकुउस्), स्रुवं पुं० *स्रुवा*; अमीवा स्त्री० *रोग*।

वन् : विशेषण और विशेष्य (अधिकांश पुं० किन्तु कुछेक नपुं०) शब्दों में पाया जाता है। जैसे ऋ॑क्वन् *स्तोता*, कृ॑त्वन् *कर्मठ*, यज्वन् *यजमान*; अध्वन् पुं० *मार्ग*, ग्रावन् पुं० *पत्थर*; पर्वन् *जोड़, पोरुवा*।

स : (सभी लिंगों के) विशेषणों और विशेष्यों में पाया जाता है। जैसे गृ॑त्स *निपुण*, पृक्ष *चितकबरा* ($\sqrt{}$पृच्); महिषं *प्रबल*; ऋजीषं *वेगवान्*; अरुषं *लाल*; उ॑त्स पुं० *फव्वारा*, द्रप्सं पुं० *बूंद*, पु॑रुष पुं० *पुरुष*; पु॑रीष नपुं० *कूड़ा*; मनीषा स्त्री० *भक्ति*।

स्नु : (मूल या ण्यन्त प्रकृति से बने) विशेषणों में पाया जाता है। जैसे जिष्णु´ *विजयशील*; बवस्नु´ *हत्यारा*; चरिष्णु´ *विचरणशील*; मादयिष्णु´ *मादक* ।

२. द्वितीय नामिक प्रत्यय

इन प्रत्ययों का एक बड़ा भाग *उसका* या *उससे सम्बद्ध* इस सामान्य अर्थ में विशेषण बनाने के काम आता है।

अ : प्रकृति (मूलभूत शब्द) से उसका या उससे सम्बन्ध को व्यक्त करते हुए बहुत से विशेषणों में पाया जाता है। उनमें से बहुत से पुं० में द्रव्यनाम बन गये हैं और नपुं में भाववाचक संज्ञाएं। उदाहरणों में अधिकांश के आदिम अक्षर में वृद्धि होती है (इस स्थिति में स्त्रीप्रत्यय सदा ई लगता है), जैसे मारुत *मरुतों का* (मरुत्); दैव *देवता का* (देव *देवता*); पार्थिव *पृथिवी का* (पृथिवी *पृथ्वी*); मानव *मनुष्य का* (मनु) पुं० *मनुष्य*; तान्व *शरीर का* (तनू); दाशराज्ञ नपुं० *दश राजाओं का युद्ध* (दश-राजन्); माघोन नपुं० *धनवत्ता* (मघवन् *धनवान्*)। वृद्धि रहित : भेषज, विशेषण, *स्वस्थ करने वाला*, नपुं० *औषध*; सख्य नपुं० *मित्रता* (सखि *मित्र*); होत्र नपुं० *होतृकर्म* (होतृ)।

आ : पुं० तथा नपुं० में अकारान्त विशेषणों के स्त्री० रूपों को बनाने के काम आता है। जैसे नवा स्त्री०, नव पुं० नपुं० *नया*; प्रिया स्त्री०; प्रिय पुं० नपुं० *मित्र*; गता स्त्री०, गत पुं० नपुं० *गया हुआ* ।

आनी : इससे अकारान्त पुरुष-नामों के स्त्री० रूप या चेतनत्वारोपबोधक स्त्री० शब्द बनते हैं। जैसे इन्द्राणी´ *इन्द्र की पत्नी*, मुद्गलानी *मुद्गल की पत्नी*, अरण्यानी´ *वन की अप्सरा* (अरण्य); ऊर्जानी *शक्ति* (ऊर्ज् *शक्ति*)।

आयन : इस प्रत्यय से आदिवृद्धि वाले अपत्यार्थक शब्द बनते हैं। जैसे काण्वायन *कण्व का वंशज* ।

इ : इससे अकारान्त नामों से आदिवृद्धियुक्त पुं० अपत्यार्थक शब्द बनते हैं। जैसे पौरुकुत्सि *पुरुकुत्स का अपत्य*; सांवरणि *संवरण का*

अपत्य। इसी प्रकार बनने वाला शब्द है **सारथि** पुं० *सारथि* (जोकि **सरथ** *उसी रथ पर चलने वाला* से बनता है)।

इन् : इससे *से युक्त (वाला)* के अर्थ में प्रायः निरपवाद रूपेण अकारान्त प्रकृतियों से असङ्ख्य विशेषण बनते हैं। जैसे **अर्किन्** *स्तोता* (अर्क *स्तुति*)। अन्य प्रकृतियों से : **अर्चिन्** *चमकीला* (अर्चि *किरण*), **वर्मिन्** *कवच पहने हुए* (वर्मन्), अनियमित रूप से बने हुए : **रेतिन्** *प्रचुर वीर्य वाला* (रेतस्), **हिरण्यिन्** *सुवर्ण से भूषित* (हिरण्य)।

इय (संयुक्त व्यंजनों के बाद=य) : इससे सम्बन्धार्थक विशेषण बनते है। जैसे **अभ्रिय** *बादलों से लिया हुआ* (अभ्र), **इन्द्रिय** *इन्द्र का*, **समुद्रिय** *समुद्र का*।

ई : इससे उन पुं० प्रकृतियों का स्त्री० रूप बनता है जोकि हलन्त प्रत्ययों (९५) से या तृ (१०१ ङ) लगने से बनतीं हैं या बहुधा उकारान्त (९८ ग) अथवा अकरान्त (जो सदैव वृद्धि होने से बनती हैं) होती हैं। जैसे **अदती** *खाना*, **अवित्री** *रक्षिका*, **पृथिवी** *पृथु* (पृथु), **देवी** *देवी* (देव)। तु० १०७।

ईन : इससे अञ्च् धातु से निष्पन्न शब्दों की दुर्बल प्रकृतियों (लुप्त-नकारक) से विशेषण, प्रधानतया दिग्वाचक, बनते हैं। जैसे **अर्वाचीन** *की ओर झुका हुआ* (अर्वाञ्च् *इधर की ओर*); सम्बन्धमात्रवाचक अन्य विशेषण भी इससे बनते हैं। जैसे **विश्वजनीन** (अथर्व०) *हर प्रकार के लोगों के लिये हुए*।

ईय : इससे साधारण विशेषण, प्रधान रूप से परवर्ती संहिताओं में, बनते हैं। जैसे **गृहमेधीय** *घरेलू यज्ञ से सम्बद्ध*, **पर्वतीय** *पर्वत का*; **आहवनीय** *आहुति के लिए प्रयुक्त* (आहवन), पुं० में *यज्ञिय अग्नि* अथर्व०।

एय : इससे अपत्यार्थक पुं० तथा थोड़े से सामान्य से विशेषण बनते हैं। जैसे **आदितेय** पुं० *अदिति का पुत्र*; **पौरुषेय** *पुरुष से संबद्ध* (पुरुष)।

क : इससे विशेषण तथा अल्पार्थक शब्द बनते हैं। जैसे **अन्तक** *अन्त करने वाला* (अन्त), **दूरक** *दूर का*, **ममक** *मेरा*; **पादक** पुं० *छोटा पैर*, **राजक**

पुं० छोटा सा राजा, रजवाड़ा। वृद्धि होने तथा संयोजक इ लगने पर: वासन्तिक वसन्त में होने वाला (वसन्त)। कुछ अन्तार्थकों का स्त्री० रूप इका लगकर बनता है। जैसे कुमारिका स्त्री० छोटी लड़की (कुमारक पुं० छोटा लड़का)।

तन और (इसका स्वर लोप युक्त रूप) त्न: इससे क्रियाविशेषणों और उपसर्गों से काल अर्थ में विशेषण बनते हैं। जैसे नूतन तथा नूत्न वर्तमान (नू अब); सनातन तथा सनत्न अनादि (सना पुराने समय से); प्रत्न प्राचीन (प्र पहले)।

तम: से अतिशयार्थक (नाम प्रकृतियों और उद् इस उपसर्ग से) तथा पूरणार्थक शब्द बनते हैं। जैसे पुरुतम बहुत अधिक; उत्तम उच्चतम; शततम सौवाँ।

तर: से विशेषणों, विशेष्यों और उद् इस उपसर्ग से तुलनार्थक शब्द बनते हैं: तवस्तर बलवत्तर; रथीतर प्रशस्यतर रथी; उत्तर उच्चतर।

ता: से अंग्रेजी के—ship (शिप) और—ness नेस् [हिन्दी पन, पा] प्रत्ययों से प्रकटित अर्थ में भावार्थक स्त्री० विशेष्य बनते हैं। जैसे बन्धुता बन्धुत्व, वसुता धनाढ्यता; देवता देवत्व, पुरुषता मानव प्रकृति।

ताति और (इससे कम बार) तात्: इनसे (ता की तरह) भावार्थक स्त्री० विशेष्य बनते हैं। जैसे ज्येष्ठताति ज्येष्ठता, सर्वताति पूर्ण योगक्षेम (जें० सल्रुताति); देवतात् देवपूजा, सर्वतात् पूर्णता (लैटिन सलुतात्)।

त्य: क्रियाविशेषणों तथा उपसर्गों से यह प्रत्यय लगकर कुछेक विशेष्य तथा विशेषण बनते हैं: अमात्य पुं० सहचर (अमा घर पर); अपत्य नपुं० सन्तति; नित्य नित्य, निष्ट्य बाहरी (निस् बाहर)।

त्व: से (ता की तरह) नपुं० भावार्थक विशेष्य बनते हैं। जैसे अमृतत्व नपुं० अमरता, मघवत्व उदारता।

त्वन (=त्व-न): इससे नपुं० भावार्थक विशेष्य (इनमें प्रायः सब

अन्य त्व प्रत्ययान्तों के दुहरे रूप हैं) बनते हैं। जैसे जनित्वन॑ पत्नीत्व; सखित्वन॑ सख्य।

थ : से थोड़े से पूरणार्थक तथा सामान्य संख्या के अर्थ में विशेषण (सार्वनामिक प्रकृतियों से) बनते हैं। जैसे चतुर्थ॑ *चौथा*, सप्तथ *सातवाँ*; कतिथ॑ *कितनवाँ* ?

नी : से पति (*स्वामी*) और पर्व (*गँठीला*) तथा कुछ वर्णवाचक विशेषणों का, जिनके अन्त में त आता है, स्त्री० रूप बनता है। जैसे पत्नी *स्वामिनी* (ग्री० पोटनिआ); परुष्णी *एक नदी का नाम*; एणी *चितकबरी, रंग बिरंगी* (एत)। वर्णवाचक विशेषणों में कुछ में अन्त्य अ के स्थान में नी आ जाता है जब कि त् के स्थान में क् आता है। उदाहरण—असिक्नी *काली* (असित)।

भ : से पशुओं के पुं० नाम बनते हैं। जैसे ऋषभ और वृषभ *बैल*; गर्दभ और रासभ *गधा*।

म : से अतिशयार्थक (अंशतः उपसर्गों से) तथा कुछेक पूरणार्थक शब्द बनते हैं। जैसे अवम *सबसे नीचा*; मध्यम *सब के बीच का*; नवम *नवाँ* (लै० नोविमुस्), दशम *दसवाँ* (लै० देसिमुस्)।

मन्त् : से *वाला* के अर्थ में विशेष्यों से (अकारान्त और आकारान्त प्रकृतियों के सिवाय) विशेषण बनते हैं। जैसे अशनिमन्त् *वज्रवाला*, क्रतुमन्त् *शक्तिशाली*; गोमन्त् *गायों से समृद्ध*, चक्षुष्मन्त् *आँखों वाला*।

मय : से से *युक्त* के अर्थ में विशेषण (स्त्री० ई) बनते हैं। जैसे मनस्मय *मनोमय*, मृन्मय *मिट्टी का बना* (मृद्)।

मन : से नामों अथवा निपातों से कुछ नपुं० भाववाचक शब्द बनते हैं : द्युम्न॑ *दीप्तता*, सुम्न॑ *सुख*।

य : से सम्बन्धार्थक विशेषण, अपत्यार्थक पुं० और भावार्थक नपुं० शब्द बनते हैं। परवर्ती दो वर्गों (अपत्यार्थकों तथा भावार्थकों) में से अधिकांश में आदि वृद्धि पाई जाती है, किन्तु विशेषणों में केवल एक चौथाई के लगभग में ही ऐसा होता है। जैसे पशव्य॑ *पशुओं* (पशु॑) से

सम्बद्ध; आदित्यं पुं० *अदिति का पुत्र*; तौर्य्यं पुं० *तुर्य का पुत्र*, अन्य रूप तुर्य्य; आधिपत्य नपुं० *स्वामित्व* (अधिपति से)।

र : से (उपसर्गों से) तुलनार्थक (पद) तथा साधारण नाम, जोकि अधिकांश तथा विशेषण होते है, बनते हैं : अंधर *नीचे का*; धूम्र *धूसर* (धूम *धुआँ*); रथिरं *रथ में चढ़ा हुआ* (रथ)।

ल : से विशेषण एवं च कुछ अल्पार्थक पुं० शब्द बनते हैं। जैसे कपिलं (*कपि के से रंग का =*) *भूरा*, बहुलं *प्रचुर*; वृषलं पुं० *क्षुद्र मनुष्य*, शिशूलं पुं० छोटा बच्चा।

वत् : से निरपवाद रूप में उपसर्गों से लग कर कतिपय भाववाचक स्त्री० विशेष्य बनते हैं। जैसे उद्वत् *ऊंचाई*, निर्वत् *गहराई*।

वन् : से *वाला* के अर्थ में विशेषण और कुछ पुं० विशेष्य बनते हैं। उदाहरण—मघवन् *धनवान्*, श्रुष्टीवन् *विनीत*, समद्वन् *लड़ाकू*; अथर्वन् पुं० *अग्नियाजक*।

वन्त् : से *वाला* के अर्थ में हर प्रकार की नामप्रकृति से विशेषण बनते हैं। उदाहरण—अश्वावन्त् और अश्ववन्त् *घोड़ों वाला*; सखिवन्त् *मित्रों वाला*; विष्णुवन्त् *विष्णुसहचरित*; रोमण्वन्त् *रोमों वाला* (रोमश); पयस्वन्त् *दूधवाला* (दुधारु)। इनमें से कुछ प्रातिपदिकों से, विशेषकर सर्वनाम प्रकृतियों से, व्युत्पन्न शब्दों का अर्थ *सदृश* होता है। जैसे मावन्त् *मेरी तरह*; नृवन्त् *मनुष्य सदृश*। इसी अर्थ से नपुं० द्वितीया का तुलनार्थक क्रियाविशेषण के रूप में प्रयोग निकला है। जैसे मनुष्वत् *मनुस् की तरह*।

विन् : से अ (जिस को दीर्घ हो जाता है), आ और अस् अन्त वाली प्रकृतियों से विशेषण बनते हैं। जैसे उभयाविन् *दोनों* (उभय) *में भागवाला*, अष्ट्राविन् *अङ्कुश को मानने वाला*, यशस्विन् *यशस्वी*। अपवाद रूप में बनने वाले हैं : धृषद्विन् *धृष्ट* (धृषत्) और वाग्विन् *वाग्मी* (वाच्)।

श : से विशेषण तथा पुं० विशेष्य बनते हैं। इनमें कभी-कभी अर्थ परिवर्तन नहीं भी देखा जाता। जैसे एतश *चितकबरा* (एत वही अर्थ), युवश

युवा (युवन् वही अर्थ), रोमर्श *रोमों वाला* (रोमन् *रोयें*); अङ्कुर्श पुं० *अङ्कुश*, कर्लश पुं० कलसा ।

१८३. उपरिलिखित प्रत्ययावली व्यावहारिक रूप में वैदिक नामों के लिंगनिर्धारक नियमों का निर्देश करती हैं। इनका संक्षेप निम्न प्रकार से किया जा सकता है ।

सामान्य रूप से धातुरूप प्रतिपादिक यदि भावसंज्ञाएँ हों तो स्त्री० होते हैं, और यदि कर्त्रर्थक संज्ञाएँ हों तो पुं० होते हैं ।

आ, ई, ऊ अन्त वाले व्युत्पन्न प्रातिपदिक स्त्री० होते हैं; अ, त्, न् अन्त वाले पुं० नपुं० हो सकते हैं; इ, उ, अन्त वाले प्रातिपदिकों का कोई भी लिंग हो सकता है ।

(क) जिनके अंतमें आ, ई,[1] ऊ, ता, तात्, ताति, ति[2] या त्रा प्रत्यय आते हैं वे सब प्रातिपदिक स्त्री० होते हैं ।

(ख) इस् त्व, त्वन से बनने वाले सब प्रातिपदिक नपुं० होते हैं। अन, अस्, उस् से बने विशेषण या कर्त्रर्थक संज्ञाओं से बने शब्द भी नपुं० होते हैं जब तक कि वे विशेषण[3] या कर्त्रर्थक संज्ञाएँ[4] न हों ।

(ग) वे सब प्रातिपदिक पुंल्लिग (जब तक कि वे विशेषण रूप में प्रयुक्त न हों) है जो यु, व; आयन, इ,[5] क, भ, ल प्रत्ययों से बनते हैं।

(घ) वे सब प्रातिपदिक पुं० या स्त्री० हैं जो नि, नु, मि, तृ[6]

---

१. सात पुंल्लिङ्ग ईप्रत्ययान्त प्रातिपदिकों को छोड़कर; देखें १००, १ (ख) ।

२. किन्तु तिप्रत्ययान्त प्रातिपदिक कर्त्रर्थक संज्ञाओं के रूप में आने पर पुं० होते हैं और विशेषण के रूप में आने पर पुं० और स्त्री० होते हैं ।

३. जब वे स्वभावतः पुं० एवञ्च नपुं० होते हैं ।

४. जब वे पुं० में होते हैं।

५. अपत्यार्थकों में ।

६. तृ अन्त वाले प्रातिपदिक जब कर्त्रर्थक संज्ञापद होते हैं तो सदैव पुं० होते हैं।

प्रत्ययों से बनते हैं। मात्र धातुओं से[1] बनने वाले प्रातिपदिक भी पुं० या स्त्री० होते हैं।

(ङ) अ, त, थ, न, उन, म, य, र, त्य, त्र, तु, अन्, मन्, वन् से बने प्रातिपदिक पुं० या नपुं होते हैं और इन् विन्, ईन, ईय, तन, तम, तर, मय, मन्त्, वन्त् से बने विशेषण पुं० तथा नपुं० होते हैं।

(च) इ या उ से बने प्रातिपदिक पु०, स्त्री० या नपुं० होते हैं।

(र) समास

१८४. क्रियापदों के समास धातुओं को बीस उपसर्गो और कुछेक क्रियाविशेषणों के साथ जोड़ने से बनते हैं। समस्त क्रिया की (जोकि उपसर्ग के धातु से अव्यवहित पूर्व आने पर वस्तुदृष्ट्या अपने तिङन्त रूपों में केवल गौण वाक्यों में ही समस्त होती है) रूपरचना असमस्त क्रिया की तरह होती है। इस प्रकार गम् (*जाना*) सम् (*साथ*) के साथ मिलकर सङ्गम् (*साथ जाना, संयुक्त होना*) बनती है। प्र० पु० एक० सङ्गच्छति। समस्त धातु को ऊपर (१८२,१) गिनाए प्राथमिक प्रत्ययों के द्वारा नाम प्रकृतियां बनाने के लिए काम में लाया जा सकता है। जैसे सङ्गर्म पुं० *सङ्गम* (*मेल*)।

(क) धातुओं के साथ समस्त होने वाले उपसर्ग निम्नलिखित हैं : अ॑च्छ *की ओर*, अ॑ति *परे*, अ॑धि *ऊपर*, अ॑नु *पश्चात्*, अन्त॑र् *बीच में*, अ॑प *दूर*, अ॑पि *पर*, अ॑भि *सामने*, अ॑व *नीचे*, आ[2] *समीप* (इधर), उ॑द् *ऊपर की ओर*, नि॑ *नीचे*, *अभ्यन्तर*, नि॑स् *बाहर*, प॑रा *दूर*, *परे*, प॑रि *चारों ओर*, प्र॑ *आगे*, प्र॑ति *की तरफ* वि॑ *अलग*, स॑म् साथ।

(ख) कुछ क्रियाविशेषण भी धातुओं की एक सीमित-सी सङ्ख्या के साथ समस्त होते हैं :

---

१. ये जब विशेषणत्वेन प्रयुक्त होते हैं तो नपुं० होते हैं।

२. आ उपसर्ग गमनदानार्थक धातुओं का अर्थ बदल देता है। जैसे आगम् आना, आदा लेना।

अरम् (पास) कृ (=उपस्थित करना (चतुर्थी), तैयार करना (द्वितीया), गम् (=सेवा करना) और भू (=सेवा करना, के लिए सहायक होना (चतुर्थी) के साथ समस्त होता है।

आविस् (खुले रूप में) केवल अस्, भू और कृ के साथ समस्त होता है; पहली दो धातुओं के साथ इसका अर्थ *दृष्टिगोचर होना, आविर्भूत होना* होता है, जैसे आविस्सन्ति *प्रकट होते हुए*; आविरग्निरभवत् *अग्नि आविर्भूत हो गया*; कृ के साथ इसका अर्थ *प्रकट करना* होता है। जैसे आविष्कर्त्त *प्रकट करो*।

तिरस् (एक तरफ) केवल भू (होना) तथा धा[1] (रखना) के साथ समस्त होता है। जैसे मा तिरोऽभूत् *यह अन्तर्हित न हो*।

पुरस् (सामने) केवल कृ (करना) और धा (रखना) के साथ समस्त होता है। जैसे कृणोतु रथं पुरः *वह (हमारे) रथ को आगे रख दे*।

श्रद् (ग्री० कर्दिअ, तथा कर्दिए, लै० कोर्-) हृदय के अर्थ में एक प्राचीन शब्द है तथा क्रियाविशेषण का स्वरूप प्राप्त करके एक बार कृ के तथा बहुधा धा (रखना) के साथ *श्रद्धा करना, विश्वास करना* (=लै० क्रेड्डो के स्थान में केदो) के अर्थ में समस्त होता है, किन्तु लगभग अनन्यरूपेण इसके और धातु के बीच अन्य शब्दों का व्यवधान पाया जाता है। जैसे श्रदस्मै धत्त *इसमें विश्वास रखो*; श्रद्विश्वा वार्या कृधि *(हमें) समस्त वर विश्वासपूर्वक दो*।

प्रादुर् (द्वार के सामने) का अथर्व० में भू (=प्रकट होना, आविर्भूत होना) के साथ समास इदम्प्रथमतया उपलब्ध होता है।

(ग) क्रियाविशेषण का धर्म अङ्गीकार करके कुछ विशेष्य उपसर्गों के समान सप्तम्यन्तों के साथ समस्त होकर अथर्ववेद में आते हैं, वे हैं: अस्तम्[2] (घर), इ (जाना) के साथ : अस्तं यन् *छुपता हुआ*, अस्तमेष्यन् *छुपने*

---

1. शा० ब्रा० में तथा उसके बाद तिरस् कृ करना के साथ भी समस्त होता है।
2. यह शब्द ऋग्वेद में भी विशेष्य ही है।

को अस्तमित छुपा हुआ; नमस् (नमन) कृ के क्त्वाद्यन्त रूप के साथ: नमस्कृत्य नमन करके।

ऋग्वेद में कुछ शरीरावयववाचक विशेष्य ग्रह् (पकड़ना) के ल्यबन्त रूपों के साथ समस्त होते हैं: कर्णगृह्य कान से पकड़ कर, पादगृह्य पाँव से पकड़ कर, हस्तगृह्य हाथ से पकड़कर।

(घ) हिंङ् यह निपात कृ के साथ *हिङ् का शब्द उच्चारण करना, अस्फुट शब्द बोलना* अर्थ में समस्त होता है। जैसे हिङ्कृण्वती *रंभाती हुई*। कुछ आम्रेडित निपात भी हैं जो अधिकांश अनुकरणात्मक तथा लगभग आकारान्त हैं और भू तथा कृ के साथ समस्त होते हैं: अललाभवन्त् *प्रसन्नता से शब्द करते हुए;* जञ्जनाभवन्त् *चमकते हुए;* मल्मलाभवन्त् *चमचमाते हुए;* भर्भराभवत् *सम्मूढ हो गया;* बिबिबाभवन्त् *कड़कड़ाते हुए;* किकिरा कृणु *चिथड़े-चिथड़े कर दे;* मय्मषा करम् *मैंने चकना चूर कर दिया है;* मस्मसा कुरु और मृस्मृसा कुरु *चूर चूर कर;* अख्खलीकृत्य *टर टरा कर*।

(अ) कृ या भू से पहले आ के स्थान में ई के आने का ऋग्वेद में यह बाद का समास (अख्खलीकृत्य) ही एकमात्र उदाहरण है। अथर्व० में वातीकृत नपुं० *रोगविशेष का नाम (वात वायु से)* पाया जाता है।

नामपदों के समास

१८५. भारोपीय समय से ही वैदिक भाषा ने दो या दो से अधिक पदों को जोड़कर स्वर, रूपावतार, और रचना के विषय में अखण्ड एकपद के रूप में व्यवहृत करने की शक्ति को दाय रूप में पाया है। समासों की बहुलता तथा लम्बाई में वैदिक भाषा होमर की ग्रीक से मिलती जुलती है। ऋग्वेद और अथर्व० में तीन स्वतन्त्र पदों से अधिक का भी समास उपलब्ध नहीं होता, एवंच त्रिपद समास भी विरल ही है। जैसे पूर्वकामकृत्वन् *पहली इच्छाओं की पूर्ति करने वाला*।

समास के ऐकस्वर्य तथा पूर्वपद (या पूर्वपदों) में अविभक्तिक प्रकृति का प्रयोग [अर्थात् ऐकपद्य] ये दो असाधारण धर्म होते हैं; पर ये दोनों नियम सापवाद हैं। कभी-कभी समास के पदों में पदान्तरों का व्यव-

घात भी आ जाता है।[1] इसके अतिरिक्त समासगत पदों की सन्धि वाक्यगत पदों की सन्धि से कभी-कभी भिन्न होती है।

(क) यदि समास के अन्त में विशेष्य है तो उसका लिंग कतिपय अपवादों को छोड़कर, अन्तिम पद का ही होता है। समाहारार्थक समासों का लिंग सदा नपुं० होता है। समस्तपदों में वचन अर्थ पर निर्भर करता है पर समाहारार्थक समास नित्य एकवचनान्त ही होते हैं। जब पूर्वपद की दो प्रकृतियां हों तो दुर्बल प्रकृति का प्रयोग होता है, जब तीन हों तो मध्यम प्रकृति का (७३क)। विशेष्य समासों में उत्तर पद के लिंग, रूप तथा विभक्त्यन्त रूप ही नियमतः सुरक्षित रहते हैं। विशेषण समासों में उत्तरपद के लिंग तथा विभक्ति रूप स्वभावतः बदलते रहते हैं।

(ख) वर्गीकरण—वैदिक समासों को तद्गतपदों के परस्पर सम्बन्ध के आधार पर तीन प्रधान वर्गों में बांटा जा सकता है।

१. उभयपदप्रधान या वह समास जिसमें समासघटक पद समान रूप से प्रधान होते हैं; २. सम्बन्धावच्छेदक या वे समास जिनमें पूर्वपद उत्तरपद का अवच्छेदन करता है अथवा उसे विशिष्ट करता है; ३. मत्वर्थीय या विशेषणात्मक जिनका साधारण अर्थ तद्वत्ता होता है (जैसे बह्वन्न *बहुत अन्न वाला*)। वैदिक समासों के वर्गीकरण को पूर्ण करने के लिए इनके साथ तीन छोटे वर्ग भी जोड़ने चाहिएँ। ४. नियामक समास या विशेषण जिनमें पूर्वपद अर्थ की दृष्टि से उत्तरपद का नियमन करता है (जैसे क्षयद्वीर *शासक लोग*); ५. वाक्य रचना निर्भर समास या वाक्य में दो शब्दों के सन्निकर्ष के कारण होने वाली अनियमित रचनाएँ; ६. द्विरुक्त पद रूप या संहिताओं में समस्त रूप से व्यवहृत द्विरुक्त शब्द, क्योंकि उनमें एक ही उदात्त होता है और इस प्रकार सहोच्चरित हो जाने पर उनका एक विशिष्ट अर्थ हो जाता है।

---

१. प्रधानतया द्विवचनान्त समासों में। जैसे द्यावा ह क्षामा द्युलोक और पृथ्वी; कुछ और समासों में भी। जैसे नराशंसम् के स्थान पर नरा वा शंसम्। यह तभी होता है जब समास के दोनों पद उदात्त हों।

समस्त रूप में व्यवहृत द्विरुक्त शब्द क्योंकि उनमें एक ही उदात्त होता है और इस प्रकार सहोच्चारित होने पर उनका एक विशिष्ट अर्थ होता है।

१. उभयप्रधान (द्वन्द्व)[1] समास

१८६ इनमें *और* इस अर्थ द्वारा सम्बद्ध दो विशेष्य होते हैं, विशेषण बहुत ही कम होते हैं ।

(य) १. ऋग्वेद में सर्वाधिकसंख्यक वर्ग (सब द्वन्द्वों में लगभग तीन चौथाई) में वे समास हैं (प्रायः सदैव देवताद्वन्द्व) जिनमें समास का प्रत्येक पद द्विवचनान्त है और प्रत्येक का पृथक् पृथक् स्वर है । जैसे **मित्रा॑वरुणा** *मित्र और वरुण*; **मात॑रापित॑रा** *मां और बाप*; **द्यावापृथिवी॑** *द्युलोक और पृथिवी* । ऋग्वेद में दोनों द्विवचनान्त पदों में प्रायः व्यवधान पाया जाता है, जैसे कि इस पंक्ति में—**आ नक्ता बर्हिः सदतामुषासा** *रात्रि और उषा उस कुशास्तरण पर बैठें*। ऐसे समासों का उचित षष्ठ्यन्त रूप ऐसे होता है जैसे **मित्रयो-र्व॑रुणयोः**। पर चूंकि इन समप्रधान द्विवचनान्त पदों की सत्ता बहुत प्राचीन काल से ही एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में समझी जाने लगी थी इसलिए पूर्वपद का साधारणतम प्रत्यय—प्रथमा तथा द्वितीयाविभक्ति का—दूसरी विभक्तियों में भी अपरिवर्तित ही रखा जाने लगा। जैसे षष्ठी—**मित्रा॑वरुणयोः**, तृ० **मित्रा॑वरुणाभ्याम्** । कतिपय उदाहरणों में एकीकरण की ओर एक कदम और उठाया गया है। इन स्थलों में पूर्वपदगत उदात्त हट जाता है और उत्तरपद का अन्त्य अक्षर (उत्तरपद का वास्तविक स्वर चाहे जो कुछ हो) उदात्त हो जाता है। जैसे **सूर्याचन्द्रमसा** *सूर्य और* चन्द्र (**चन्द्रमस्**) । ऋग्वेद में [एकीकरण की] चरमावस्था चार उदाहरणों में देखी जाती है जहाँ पूर्वपद अपने निजी रूप में रहता है, जैसे **इन्द्रवायू॑** *इन्द्र और वायु* । परवर्ती संहिताओं

---

१. परवर्ती हिन्दू वैयाकरणों द्वारा उभयप्रधानों के लिए प्रयुक्त इस संज्ञा का अर्थ जोड़ा या युगल होता है।

तथा ब्राह्मणों में नवीन शब्दरूपों में इसी पद्धति का प्रचलन है। जैसे दक्षक्रतू॑ पुं० *इच्छा और समझ* (तै० ब्रा०)।

२. दूसरे प्रकार का निदर्शन वे बहुवचनान्त द्वन्द्व[1] हैं जो समुदाययुगल का अभिधान करते हैं। इनमें पूर्वपद अपने रूप में होता है और उत्तरपद का अन्तिम अक्षर उदात्त होता है। ऋग्वेद में इसके उदाहरण केवल दसवें मण्डल में आते हैं। जैसे अहोरात्राणि॑ *दिन और रातें*, अजाव॑यस् *बकरियाँ* (अजं) *तथा भेड़ें* (अवि)। पर उत्तरवर्ती संहिताओं में यह पद्धति बिल्कुल प्रायिक हो गयी है। जैसे भद्रपार्पाः (अथर्व.) *अच्छे और बुरे*[2]।

३. संहिताओं में कुछेक द्वन्द्व एकवचनान्त, समाहारवाचक और नित्य नपुंसक[3] हैं तथा इनका अन्त्य अक्षर उदात्त होता है। जैसे इष्टापूर्त॑म्[4] *जो आहुतिरूप में समर्पित या अन्यथा प्रदान किया गया है।* कृत‿अकृत॑म (अथर्व०) *जो किया जा चुका है और जो नहीं किया गया*; केशश्मश्रु॑ नपुं० *बाल और दाढ़ी* (अथर्व०); भद्रपाप॑म् (अथर्व०) *भला और बुरा*; समिष्टयजु॑स् (वा० सं०) *यज्ञ और यजुर्मन्त्र।*

(२) विशेषणों से बने द्वन्द्व विरल हैं। वे तीन प्रकार के हैं :

१. विशेषण रंगों के नाम होते हैं, उनका योग दो रंगों के मिश्रण को बताता है, जैसे नीललोहित॑ *गहरा नीला और लाल=गहरा लाल।*

---

१. तु० लै० सु-ओवे-तौरिलिआ, तीन वर्गों को कहने वाला एक परवर्ती प्रकार।

२. इस द्वन्द्व में दुहरी अनियमितता है : पूर्वपद का लिङ्ग ही उत्तरपद का लिङ्ग हो जाता है तथा रात्री इस स्त्री० शब्द का रात्र हो जाता है।

३. संख्याशब्दों में कई पुराने द्वन्द्व हैं, जैसे द्वा॑दश बारह (दो और दस) द्वा एक पुराना द्विवचनान्त रूप है; त्रयोदश तेरह (तीन और दस)।

४. तु० ग्री० हिप्पोद्मोस्।

५. मूलतः निस्सन्देह इष्टापूर्ता॑; दोनों पद द्विवचनान्त हैं।

२. वे विरोध को प्रकट करते हैं। जैसे उत्कूलनिकूल (वा० सं०) *पहाड़ी के ऊपर की ओर और नीचे की ओर जाने वाला।*

३. वे द्विवचनान्त विशेष्यों के साथ प्रयुक्त होते हैं। तब इनका अर्थ होता है कि समास का प्रत्येक पद विशेष्य के द्वारा अभिव्यक्त एकार्थ का विशेषण है। जैसे पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्याम् (अथर्व०) *दो पैरों—दाहिने और बायें—के साथ।*

(क) प्राचीन द्विवचनान्त द्वन्द्व (१८६) बहुधा संक्षिप्त रूप में आते हैं। इनमें युगल में से द्विवचनान्त एक अवशिष्ट रहता है पर अर्थ दोनों का लिया जाता है। जैसे द्यावा=*द्युलोक और पृथिवी;* मित्रा=*मित्र और वरुण;* पितरा=*पिता और माता;* मातरा *माता और पिता, माँ बाप।*

२. सम्बन्धावच्छेदक

१८७. समासों की इस बहुसङ्ख्यक जाति की दो श्रेणियां हैं, बड़ी श्रेणी (२ क) में पूर्वपद प्रथमा तथा सम्बोधन से इतर विभक्तियों का अर्थ लिये रहने पर भी उत्तरपद पर निर्भर रहने वाले विशेष्य का काम देता है। यह उत्तरपद या तो धातुज नामपद होता है या साधारण विशेष्य ही। इसे परतन्त्र सम्बन्धावच्छेदक श्रेणी (जिसे परवर्ती हिन्दू वैयाकरणों ने तत्पुरुष नाम दिया है) कहा जा सकता है। दूसरी श्रेणी में (२ ख) उत्तरपद यदि साधारण विशेष्य है तो पूर्वपद उसका विशेषण होता है, या यदि कोई धातुज नामपद है तो वह क्रियाविशेषण होता है। इसे वर्णनपरक सम्बन्धावच्छेदक (परवर्ती हिन्दू वैयाकरणों द्वारा कर्मधारय संज्ञा से निर्दिष्ट) श्रेणी कहा जा सकता है।

२. (क) परतन्त्र (तत्पुरुष) सम्बन्धावच्छेदक

(अ) पूर्वपद (विशेष्य या सर्वनाम) का अर्थ (और बहुधा रूप भी) किसी प्रथमा तथा सम्बोधन से भिन्न विभक्ति का हो सकता है। जब इसका

द्वि०, तृ०, पं० या स० [विभक्ति] का अर्थ होता है तब उत्तरपद प्रायः धातुज नाम[1] होता है; जब चतु०[1] या षष्ठी[2] का अर्थ होता है, तब यह नित्य ही सामान्य नामपद[4] होता है। समस्त पद उत्तरपद के अनुसार विशेष्य या विशेषण होता है।

१. पराश्रयी द्वितीया समासों में उत्तरपद नित्य ही धातुज नाम होता है, जैसे हविरद् *हवि खाने वाला*; गोघ्न *गो वध करने वाला*; अश्वहय[5] *घोड़ों को हाँकने वाला*; देवमादन *देवों को मस्त करने वाला*; गरगीर्ण (अ०वे०)[6] *विष निगले हुए*; भूरिदावन् *पर्याप्त देने वाला*; भद्रवादिन् *शुभ बोलने वाला*; वाजसाति स्त्री० *लूट का धन प्राप्त करने का कार्य*; वृत्रहत्य नपुं० *वृत्र की हत्या*।

२. तृतीया : इन्द्रपातम *इन्द्र के द्वारा सर्वाधिक पिया हुआ*; अग्निदग्ध *आग से जला*; देवत्त[7] *देवों द्वारा दत्त*; अरित्रपरण (विशेषण) *चप्पू से पार करने वाला*; तनूशुभ्र *शरीर से द्युतिशील*; वलविज्ञाय *अपनी शक्ति से पहिचाना जाने वाला*।

३. चतुर्थी : ब्रह्मराजसत्य *सूक्तों के कर्ताओं के प्रति श्रद्धालु*; विश्वशम्भू *सबके लिए कल्याणप्रद*।

४. पञ्चमी : गोजा *गायों से उत्पन्न*; तीव्रसुत् *उफनी हुई सामग्री से अभिषुत*।

---

१. धातुजनामान्त उपश्रेणी को 'धातुज पराश्रयी' कहा जाता है।

२. इस अर्थ के उदाहरण बहुत विरल हैं। उत्तरपद साधारण विशेष्य या विशेषण होता है।

३. षष्ठी पराश्रयी समासों का उत्तरपद सदा साधारण विशेष्य होता है।

४. साधारण विशेष्यान्त उपश्रेणी को 'नामिक पराश्रयी' कहा जा सकता है।

५. तु० ग्री० हिप्पोद्मोस् *घोड़ों को पालतू बनाने वाला*।

६. सकर्मकार्थ में क्तान्त का विरल प्रयुक्त उदाहरण।

७. दत्त के स्थान में त्त (१६०, २ आ)।

५. षष्ठी (सर्वाधिक प्रयुक्त अर्थ) : राजपुत्र *राजा का पुत्र*; विश्पति *कबीलों का स्वामी*; देवकिल्बिष पुं० *देवों के प्रति अपराध*;[1] द्रुपद नपुं० *काष्ठ का स्तम्भ*।[2]

सप्तमी : अहर्जात (अथर्व०) *दिन में पैदा हुआ*; उदप्लुत (अथर्व०) *पानी में तैरता हुआ*; पुरुभू *बहुत से स्थानों में होने वाला*; बन्धुक्षित् *बन्धुओं में रहने वाला*।

(क) बहुत से पराश्रयी समासों में पूर्वपद में विभक्ति का अलुक् होता है, सबसे अधिक द्वि० का, बहुत बार स० का शेष का। अलुक् विरले ही होता है। एक० (द्वि० और तृ०) विभक्तियों का बहु० अर्थ हो सकता है। (द्वि० और तृ०) बहु० प्रत्यय कभी-कभी आते हैं, पर द्विव० प्रत्यय इन समासों में कभी नहीं आते।

द्वितीया प्रायः किसी सकर्मक धातु के कर्म को बतलाती है। ऋग्वेद में धातुजनामों से पूर्व अमन्त रूप नियमतः आता है :—कर *बनाने वाला*, -चय *चयन करने वाला*, -जय *जीतने वाला*, -तर *अभिभव करने वाला*, -दर *विदारण करने वाला*, -भर *भरणकरने वाला*, -रुज *तोड़ने वाला*, -सनि *प्राप्त करने वाला*, -सह *हावी होने वाला*। जैसे अभयङ्कर *अभय देने वाला*, धनञ्जय *धन जीतने वाला*, पुरन्दर[3] *किलों को नष्ट करने वाला*, सुतम्भर[4] *अभिषुत सोम लेने वाला*। यह दूसरे धातुज नामों से पहले भी आता है, बहुत बार उनसे जो अजादि हैं। जैसे धियन्धा *भक्त*, विश्वमिन्व *सर्वप्रेरक*, अश्वमिष्टि[5] *घोड़े खोजने वाला*। सजातीय द्वितीया का एक उदाहरण है शुभंया-

१. कर्मषष्ठी का एक उदाहरण।

२. यहाँ षष्ठी का अर्थ प्रकृतिरूप पदार्थ है।

३. बहु० के अर्थ में द्वि० एक० का रूप।

४. पुष्टिम्भर *समृद्धि को लाने वाला* और हरिम्भर *कपिल (वज्र) को धारण करने वाला* में इम् भी।

दीप्ति-युक्त हो कर जाने वाला, तथा क्रियाविशेषणरूप द्वि० का उग्रम्पश्य (अथर्व०) *उग्रता से देखने वाला।* द्वि० बहु० के उदाहरण हैं काचित्कर *हर प्रकार के कार्य करने वाला;* प॑श्व-इष्टि[1] *पशुओं को चाहने वाला।*

तृतीया : गिरा-वृ॑ध् *गीत से आनन्द लेने वाला;* शु॑नेषित *कुत्तों से* (शु॑ना)[2] *खेंचा हुआ;* विद्म॑नापस् *चतुराई से* (विद्म॑ना) *काम करने वाला* (अप॑स्); क्षुधामार॑ (अथर्व०) पुं० *भूख से मृत्यु;* वाचा॑स्तेन[3] *वाणी से चोर, गुप्तरूपेण शब्दों से चोट पहुँचाने वाला।*

चतुर्थी : इसका एकमात्र उदाहरण द॑स्यवे वृ॑क *दस्युओं के लिए भेड़िया* है जो एक शिथिल वाक्यार्थपरक समास है तथा व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

पञ्चमी : दिवो॑जा *द्युलोक से उत्पन्न;* दिवो॑रुच् *आकाश से चमकने वाला।*

षष्ठी : प॑ति (*पति या स्वामी*) से पूर्व बहुल प्रयुक्त है। जैसे ग्ना॑स्प॑ति *दिव्य स्त्री का पति;* जा॑स्प॑ति *कुटुम्ब का स्वामी;* ब्र॑ह्मणस्प॑ति *प्रार्थना (मन्त्र) का स्वामी*[4]। यह व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में भी आता है: दि॑वोदास *द्युलोक का दास* और शु॑नःशे॑प *कुत्ते की पूंछ।*

सप्तमी : ऋग्वेद में धातु मात्र से बनने वाली कर्त्रर्थक संज्ञाओं से पूर्व भी। जैसे दिवि॑यज् *द्युलोक में यजन करने वाला;* रथे॑ष्ठा *रथ में खड़ा,* कहीं-कहीं अप्रत्ययान्तों से पूर्व भी। जैसे दिविक्ष॑य *द्युलोक में रहने वाला।*

---

१. यह और अ॑श्वमिष्टि तत्पुरुष (१८६, २) हैं।

२. बहु० के अर्थ में एक० प्रत्यय।

३. उत्तरपद के रूप में साधारण विशेष्य के साथ प्रयुक्त [पूर्वपदगत] तृतीय का एक विरल उदाहरण।

४. इन शब्दों के मिथ्या साम्य के आधार पर अकारान्त प्रातिपदिकों से भी शब्द बनते हैं: ऋ॑तस्प॑ति पवित्र कृत्यों का पति और र॑थस्प॑ति रथ का स्वामी। द॑म्पति (गृह का स्वामी) सम्भवतः=द॑म्स्पति।

बहु० के कुछ उदाहरण भी मिलते हैं। जैसे अप्सुषद् *पानी में रहने वाला*; गोषुयुध् *गायों में (=के निमित्त) लड़ने वाला*; हृत्स्वस् *हृदय को बेंधने वाला*। एकवचन भी किसी साधारण विशेषण या विशेष्य से पूर्व कुछेक बार आता है। जैसे मदिरघ् *शीघ्र मस्ती लाने वाला*; स्वप्नेदुःष्वप्न्यं (अथर्व०) नपुं० *नींद में बुरा सपना*।

(अ) यदि तत्पुरुष के उत्तरपद में कोई धातु हो तो अन्त्य दीर्घ स्वरों (आ, ई, ऊ) में कोई परिवर्तन नहीं होता, जबकि ह्रस्व स्वरों[1] (इ, उ, ऋ) के अन्त में प्रायः स्वरूपावधारक त् लग जाता है। जैसे अग्रेपा *पहले पीने वाला*; यज्ञनी *यज्ञ का नेता*; राजभू *राजा बनाने वाला*, किन्तु [ह्रस्व अच् के बाद त् लग कर रूप बनते हैं] दिविक्षित् *द्युलोक में रहने वाला*; सोमसुत् *सोम का सवन करने वाला*; ज्योतिष्कृत् *ज्योति पैदा करने वाला*। इनमें एक अपवाद वनर्गु (*जङ्गल में घूमने वाला*)[2] है जहाँ कि कोई त् नहीं लगाया जाता।

२. (ख) वर्णनपरक (कर्मधारय)[3] समास

१८८. सम्बन्धावच्छेदक समासों की यह श्रेणी संहिताओं में अपेक्षाकृत विरल है। उत्तरपद प्रायः कोई साधारण विशेष्य होता है, किन्तु कभी-कभी धातुज या साधारण विशेषण होता है। पूर्वपद का उत्तरपद के साथ सामानाधिकरण्य सम्बन्ध रहता है या वह उसका विशेषण अथवा क्रिया-विशेषण होता है। इस सम्बन्ध को तीन प्रकार से प्रकट किया जाता है :

१. किसी विशेष्य के द्वारा। यदि विशेष्य [रूप पूर्वपद] से परे उत्तरपद भी विशेष्य हो तो पूर्वपद का अर्थ पुंस्त्वादि अथवा जातिसङ्कर को

---

१. आ के ह्रस्व रूप में धातु का अ प्रायः अन्त में पाया जाता है, विशेष रूप से परवर्ती संहिताओं में : अग्रेग *आगे चलने वाला*, नामर्ध (अथर्व०) *नाम देने वाला*।

२. अन्त्य उ कुछ तत्पुरुषों में ऊ के ह्रस्व रूप में आता है : धीजु *बुद्धि को प्रेरणा देने वाला*; पुरुसु *बहुत से स्थानों में होने वाला*।

३. परवर्ती हिन्दू वैयाकरणों द्वारा समासों की इस श्रेणी को यह नाम दिया गया है।

बताने वाले विशेषण के समान *विशेषाधान* का हो जाता है। जैसे पुरुषमृग (वा० सं०) पुं० (*मनुष्य*=) *नर बारहसिंगा*; उलूकयातु पुं० उल्लू दैत्य यानी दैत्य उल्लू के रूप में; पुरुषव्याघ्र (वा० सं०) पुं० नर बाघ, *एक प्रकार का दैत्य*; वृषाकपि पुं० नर बन्दर।

यदि उत्तरपद में धातुज विशेषण है तो पूर्वपद रूप विशेष्य का अर्थ प्रायः सामानाधिकरण्य होता है। जैसे ईशानकृत् *शासक का कार्य करने वाला*; स्तोमतष्ट *स्तोम के रूप में बनाया हुआ*। किन्तु कभी-कभी यह क्रियाविशेषण होता है। जैसे ऋत्विज् *ऋतु में=नियमित रूप से यजन करने वाला*, सर्गतक्त *अतिवेग से जाने वाला*।

(अ) धातुज नाम से पूर्व में आने वाला विशेष्य उपमान रूप होता है, जैसे धारवाक धारा की तरह शब्द करने वाला, श्येनजूत बाज की तरह वेगवान्। किसी साधारण विशेषण से पूर्व (भी) इस प्रकार (पाया जाता है): शुकबभ्रु (वा० सं०) तोते की तरह लाल।

२. किसी विशेषण के द्वारा। यदि उत्तरपद में साधारण विशेष्य आता है तो विशेषण का विशेषाधान रूप सुविदित अर्थ होता है। जैसे चन्द्रमस् या चन्द्रमास् पुं० (*प्रकाशमान*) चन्द्र; कृष्णशकुनि (अथर्व०) कौवा (शब्दार्थ *काला पक्षी*); नवज्वार पुं० *नया दर्द*; महाग्राम[1] पुं० *बड़ा झुण्ड*; यावयत्सख पुं० *रक्षक मित्र*।[2] कई बार गुणावायक विशेषण उत्तरपद के अर्थ के एक भाग को कहता है। उदाहरण—अधरकण्ठ (वा० सं०) पुं० *निचला गर्दन* (का हिस्सा); अर्धदेव पुं० *आधा देवता*; पूर्वाह्ण[3] पुं० *दिन का पहला भाग*; मध्यन्दिन[4] पुं० *दिन का मध्य*।

---

१. कर्मधारयों (और बहुव्रीहि के) पूर्वपद के रूप में महत् महा के रूप में आता है। किन्तु अथर्व० में महत्काण्ड बड़ा काण्ड का प्रयोग है।

२. यहां सखि (मित्र) को सख हो जाता है। तु० १८९ ४३ १८६ य, २ क।

३. यहां अहन् (दिन) में स्वर लोप होता है तथा अ और बढ़ जाता है; यही स्थिति अपराह्ण (अथर्व०) दिन का उत्तरार्द्ध भाग, न्यह्न (अथर्व०) दिन का ढलाव की भी है।

४. पूर्वपद में विभक्ति का अलुक् हुआ है।

यदि उत्तरपद में धातुज नाम है तो पूर्वपदस्थ विशेषण क्रिया को विशिष्ट करता है।[1] उदाहरण—आशुपत्वन्[2] *तेज उड़ने वाला अर्थात् तेजी से उड़ने वाला;* आशुहेमन् *शीघ्रता से चलने वाला;* सनजा *प्राचीन काल में (=सना) उत्पन्न;* सत्ययज् *सचमुच (=सत्यम्) यज्ञ करने वाला;* द्विजा (अथर्व०) *दो बार उत्पन्न*[3]। साधारण विशेषणों से पूर्व भी यही स्थिति है: विश्वश्चन्द्र *सारे का सारा चमकने वाला;* हरिश्चन्द्र *पीला चमकने वाला;* त्र्यरुष[4] (अथर्व०) *तीन स्थानों पर अरुण।*

(अ) एकवृष (अथर्व०) पुं० अकेला वृष, महावृष (अथर्व०) पुं० महान् वृष भद्राहं[5] (अथर्व०) नपुं० मङ्गल दिवस—इन कर्मधारयों के अन्नन्त प्रातिपदिकों के न् का लोप हो जाता है।

३. किसी क्रियाविशेषण (निपातों तथा उपसर्गों समेत) के द्वारा: अन्यथाद्रुह् *गलत तरह से हानि करने वाला;* अनुत्रभूय (अथर्व०) नपुं० *वहाँ होना;* एवार *बिलकुल (एव) तैय्यार (अर);* पुनर्नव *स्वयं नया होने वाला;* पुनर्भू *पुनः होने वाला;* पुरोयावन् *अग्रगामी;* पुरोहित *अग्रस्थापित,* सतोमहत् *समान रूप से (सतत्) महान्;* सत्यमुग्र *सचमुच बलवान्;* सायम्भव (अथर्व०) पुं० *साँझ होना;* पश्चादोषं (वा० सं०)[6] पुं० *सन्ध्या का उत्तर भाग;* इदावत्सरं[6] पुं० *वर्तमान वर्ष;* पुरोअग्नि[6] (वा० सं०) पुं० *सम्मुखस्थ अग्नि;* सुदा *अपनी इच्छा से देने वाला;* दुश्शेव

---

१. पूर्वपा पहला (होकर) पीने वाला, वामजात प्रिय के रूप में उत्पन्न अर्थात् स्वभावतः प्रिय में सामानाधिकरण्य अर्थ की कुछ अधिक प्रतीति होती है।

२. तु० ग्री० हेरुकुपेतोस् तेज उड़ाका।

३. यहाँ सङ्ख्याशब्दों का प्रयोग क्रियाविशेषण रूप संख्याशब्दों द्विस्, त्रिस् के लिए हुआ है।

४. षडह (अथर्व०) पुं० छः दिन का समय (१८६,४) में भी।

५. बहुव्रीहि (१८६, ४) में यह बहुत प्रायिक है।

६. यहाँ सामान्य विशेष्यों से पूर्व आने वाले क्रियाविशेषण विशेषणों के समकक्ष होते हैं।

[*कृपा किये जाने के*] *अननुकूल*; अमित्र पुं० *जो मित्र नहीं, शत्रु*; सुवसन नपुं० *सुन्दर वस्त्र*; अतिकृष्ण *अत्यन्त काला*; प्रणपात् पुं० *प्रपौत्र*; अधिराज पुं० *राजाधिराज*; प्रवीर पुं० *उत्कृष्ट वीर*; संवत्सर पुं० *पूरा वर्ष* ।

३. मत्वर्थीय (बहुव्रीहि) समास ।

१८९. ये समास गौण विशेषण और परिच्छेदक (प्रायः कर्मधारय) होते हैं। इनके अन्त में ऐसे विशेष्य आते हैं जो विशेषणों के रूप में परिवर्तित कर दिये जाते हैं। इन विशेष्यों का दूसरे श्रुत अथवा गम्यमान विशेष्यों के साथ लिङ्ग, वचन और विभक्ति के विषय में साम्य है। विशेष्य के इस विशेषण के रूप में परिवर्तन के साथ उदात्त भी उत्तरपद से हटकर पूर्वपद में आ जाता है। मत्वर्थीय यह संज्ञा सम्भवतः इन समासों के लिए प्रयुक्त होने वाली सर्वाधिक उपयुक्त संज्ञा है, क्योंकि यह उनके उदाहरणों की बहुत बड़ी सङ्ख्या में विद्यमान सामान्य अर्थ को व्यक्त करती है। कुछेक उदाहरणों में *उससे सम्बद्ध* इस अधिक व्यापक अर्थ की विशेष्य तथा विशेष्य के समानाधिकरण बहुव्रीहि समास के परस्पर सम्बन्ध को द्योतित करने के लिये अपेक्षा होती है : विश्वानर *सब मनुष्यों के साथ सम्बन्ध रखने वाला* । मत्वर्थीय दो प्रकार के हैं :

१. कर्मधारय मत्वर्थीय जिनमें कि पूर्वपद कोई गुणवाचक विशेषण (निपातों समेत), कोई समानाधिकरण विशेष्य या कोई क्रियाविशेषण (निपातों तथा उपसर्गों समेत) होता है। जैसे उग्रबाहु *प्रबल बाहुओं वाला*; हतमातृ *जिसकी माता मारी गई है*; रुशद्वत्स *दीप्तिमान् बछड़े वाला*; अश्वपर्ण *अश्वरूप पंखों वाला*; अर्थात् *जिसके पंख घोड़े हैं*; इन्द्रशत्रु *इन्द्र जिसका शत्रु है*; राजपुत्र *राजा जिसके पुत्र हैं*; हिरण्यनेमि *जिसके चक्र के घेरे स्वर्ण (के बने) हैं*; अष्टापद्[1] *आठ पाँवों वाला*, द्विपद्[2] *दो*

---

१. ग्रीक० होक्तोपोद् ।
२. लै० बिपेद् ।

पाँवों वाला; इत्थांघी इस प्रकार के विचार वाला, भक्तिमान्; पुरोरथ जिसका रथ आगे है; विग्रीव टेढ़ी गर्दन वाला; अनुद्र[1] निर्जल; अपद् पादरहित; कुयव बुरी फसल का हेतु; दुष्पद् बुरे पाँव वाला; सुपर्ण सुन्दर पंखों वाला।

(अ) समानाधिकरण कर्मधारय पर आधारित कुछ बहुव्रीहि समासों में पूर्वपद की उत्तरपद से तुलना अभिप्रेत होती है। जैसे घृताज्य (अथर्व०) जिसकी वृष्टि घृत (की तरह) है; वृक्षकेश जिसके वृक्ष केश (की तरह) हैं, वृक्षकेश=जङ्गलों से युक्त (पर्वत)।

(आ) अतिशयार्थक ज्येष्ठ (प्रधान) तथा श्रेष्ठ (उत्तम) तुलनार्थक भूयस् (और अधिक), तथा पर (उच्चतर), मत्वर्थीयों के उत्तरपद में विशेष्य के रूप में प्रयुक्त होते हैं: इन्द्रज्येष्ठ इन्द्र जिनमें प्रधान है, यमश्रेष्ठ (अथर्व०) जिनमें यम सबसे अच्छा है, अस्थिभूयांस् (अथर्व०) हड्डी जिसका प्रधान अङ्ग है, प्रधान रूप से हड्डी, अवरस्पर[2] (वा० सं०) जिसमें ऊपर का भाग निचला है, अधरोत्तर।

२. तत्पुरुष मत्वर्थीयों में पूर्वपद अत्यधिकतया षष्ठ्यर्थक तथा बहुधा सप्तम्यर्थक होता है, किन्तु तृतीयार्थक या द्वितीयार्थक विरल ही होता है। कुछ उदाहरणों में विभक्ति का अलुक् पाया जाता है। उदाहरण हैं: रायस्काम सम्पत्ति की इच्छा वाला; दिविर्योनि द्युलोक में अपने उद्भव वाला; भासाकेतु प्रकाश से पहिचानने योग्य; त्वाकाम तुझे चाहने वाला।

(अ) षष्ठी तत्पु० पर आधारित बहुव्रीहि में पूर्वपद का अभिप्राय प्रायः तुलना का होता है, किन्तु विभक्ति का अलुक् नहीं होता। अग्नितेजस् (अथर्व०) अग्निसदृश प्रकाशमान, ऋक्षग्रीव रीछ की सी ग्रीवा वाला; गोवपुस् गायसी आकृति वाला; मनोजव मन के से वेग वाला, मनसा शीघ्र; मयूररोमन् मयूरों के पंखों वाला।

(आ) जब सप्तमी का अर्थ अभिप्रेत होता है तो शरीरावयववाची पद उत्तरपद में आते हैं। जैसे अश्रुमुख (अथर्व०) मुँह पर आँसुओं वाली, अश्रुमुखी;

---

१. ग्री० ἄνυδρος।

२. यहाँ प्रथमा का स् सम्बन्धार्थक शब्द सन्निकर्ष में दो शब्दों के प्रयोग से बचा रहता है। तुलना कीजिए परवर्ती परस्पर और अन्योऽन्य।

घृतपृष्ठ जिसकी पीठ पर घी है; पात्रहस्त (अथर्व०) पात्र हाथ में लिए हुए; मणिग्रीव ग्रीवा पर मोतियों वाला; मधुजिह्व अपनी जीभ पर शहद वाला; वज्रबाहु अपने हाथ में वज्र लिए हुए।

२. बहुव्रीहि उस समय विशेष्य के रूप में भी प्रयुक्त होते हैं जब उनका समानाधिकरण नामपद लुप्त रहता है : इस प्रकार का उदाहरण है सुपर्ण *सुन्दर पंखों वाला, पुं० पक्षी*। इस प्रयोग के निम्नलिखित तीन विषय हैं :

(क) ये समास बहुत बार पुं० में और कभी-कभी स्त्री० में व्यक्ति-वाचक संज्ञाओं के रूप में आते हैं, विशेषणार्थ बहुधा बिल्कुल ही नहीं पाया जाता। इस प्रकार के उदाहरण हैं बृहदुक्थ (विशेषण) *बड़ी प्रशंसा वाला* पुं० *ऋषि विशेष का नाम;* बृहद्दिव (विशेषण) *ऊंचे आकाश में रहने वाला,* पुं० *ऋषि विशेष का नाम,* स्त्री० बृहद्दिवा *एक देवी का नाम।* पुं० केवल नाम के रूप में ही पाया जाता है : प्रियमेध (*जिसे यज्ञ प्रिय है*) और वामदेव *जिसे देवता प्रिय हैं*)।

(ख) उनका नपुं० विशेष्य के रूप में *भाव* (कभी-कभी *समाहार*) अर्थ में प्रयोग कम प्रायिक नहीं है। विशेष रूप से तब जब पूर्वपद में अभावार्थक निपात अ या अन् या सर्व (सब) यह विशेषण आता है। जैसे अनपत्य (विशेषण) *निस्सन्तान* (अथर्व०) नपुं० *निस्सन्तानता;* सर्ववेदस (अथर्व०) नपुं० *सारी सम्पत्ति;* निकिल्बिष नपुं० *पाप से मोक्ष;* मातृबन्धु (अथर्व०) नपुं० *मातृपक्षीय बन्धुता।*

(ग) इस प्रकार के बहुव्रीहि समास भी पाये जाते हैं जिनमें द्वि से आगे के संख्या शब्द पूर्वपद में रखे जाते हैं एवञ्च जो समाहारार्थक एकवचनान्त नपुं०[1] (सदा ही अन्तोदात्ताकारवान्) होते हैं। जैसे त्रियुग नपुं० *तीन आयुओं का समय;* द्विराज (अथर्व०) नपुं० *दो राजाओं का युद्ध;* दशाङ्गुल नपुं० दस *अङ्गुलियों की लम्बाई* (४ घ)।

---

१. अह से बने पुं० शब्दों को छोड़कर। जैसे षडह छः दिन का समूह।

४. बहुव्रीहि के उत्तरपद में कई एक परिवर्तन आ जाया करते हैं जिनके कारण प्रायः यह (उत्तरपद) अकारान्त बन जाता है।

(अ) कर्मन्,[1] धामन्, नामन्, पर्वन्, वृषन्, सक्थन् आदि कुछ अन्नन्त शब्दों में न् का साधारण बहुव्रीहि में लोप होता है, और अहन् के न् का संख्यान-समाहारार्थक शब्दों में। जैसे विश्वकर्म[2] सारा काम करने वाला, प्रियधाम इष्ट स्थानों पर अधिष्ठित, छन्दोनाम (वा० सं०) छन्द नामक, छान्दस, विपर्व[3] बिना जोड़ का; द्विवृष (वा० सं०) दो बैलों वाला, लोमशसक्थ (वा० सं०) रोओं वाली जङ्घा वाला; षडह (अथर्व०) पुं० छः दिन का समय।

(आ) बहुधा अ और य और कदाचित् क प्रत्यय भी लगाये जाते हैं। जैसे चतुरक्ष चार आँखों वाला, सुगव अच्छी गायों वाला, अन्योदर्य अन्य गर्भ से उत्पन्न, दशमास्य दस मास का, मधुहस्त्य मधुहस्त, त्र्यम्बक तीन माताओं वाला, विमन्युक (अथर्व०) क्रोधविमुक्त, अकर्णक (तै० सं०) बिना कान का।

(इ) इन् (वाला इस अर्थ का) अनपेक्षित प्रत्यय यदा कदा लगाया जाता है: महाहस्तिन् बड़े हाथों वाला, कुनखिन् (अ० वे०) बुरे नखों वाला, यशोभागिन् (वा० सं०) यशस्वी, सरथिन् (वा० सं०) उसी रथ में सवार।

(ई) कवासख (कृपण मित्र वाला) तथा दशाङ्गुल नपुं० दस अङ्गुलियों की लम्बाई (अङ्गुलि) [इन उदाहरणों में] इ के स्थान में अ आता है। दूसरी ओर कुछ गन्धशब्दान्त समासों तथा कुछेक अन्य समासों में अ के स्थान पर इ हो जाता है: धूमगन्धि धुएं की गन्ध वाला, कृष्टराधि (अथर्व०) कृषि में सफलता (राध) प्राप्त करने वाला, अर्धर्चि आधा जिसका अपना है। (अर्ध)

(उ) बहुव्रीहि समासों के स्त्री० में पति (पति या स्वामी) शब्द अपरिवर्तित रहने की बजाय दासपत्नी (दैत्यपति वाली), देवपत्नी (देव पति वाली) वृषपत्नी (प्रबल से शासित), शूरपत्नी (वीर पति वाली) में विशेष्य का स्त्री० (पत्नी) अपना लेता है।

---

१. किन्तु ऋग्वेद के सात समासों में इस शब्द का नकार शेष रहता है।

२. किन्तु विश्वकर्मन् भी।

३. किन्तु अपर्वन् और वृषपर्वन्।

४. अन्यथा ऋग्वेद में सखि बहुव्रीहि और कर्मधारय दोनों में अपरिवर्तित रहता है (१८८, २ को छोड़कर, तुलना कीजिए १८६, २ अ।

४. नियामक समास।

१८९. (य) इन पर्याप्तसंख्यक समासों की इस श्रेणी में उपसर्ग या धातुज नामरूप पूर्वपद उत्तरपदार्थ का नियमन करता है ये समास आकृति[1] में तथा विशेषणधर्मता में बहुव्रीहियों से मिलते जुलते हैं।

१. उपसर्गों वाले वर्ग में, जिसमें कि बीसेक उदाहरण ऋग्वेद में आते हैं, पूर्वपद विभक्ति का नियमन करने में समर्थ कोई उपसर्ग होता है। जैसे अतिरात्र[2] *बीती रात भर होने वाला*; अनुकाम *इच्छानुसार*; आपथि और आ-पथि *मार्गप्रस्थित*; परोमात्र *मात्रा से अधिक, अत्यधिक*।

(अ) बहुव्रीहि की तरह इस प्रकार के समास विशेष्य बन सकते हैं। जैसे उपानस (विशेषण) शकट पर स्थित, नपुं० (अथर्व०) शकटपर स्थान।

(आ) उत्तरपद के अनकारान्त होने पर इससे अ प्रत्यय लगता है। जब (यह) उत्तरपद पहले ही अकारान्त हो तो कभी-कभी य लगता है। जैसे अनुपथ रास्ते पर जाने वाला, अधस्पद पाँव के नीचे, परोक्ष (अथर्व०) आँख से दूर; पुरोगव पुं० नेता (गायों के आगे जाने वाला); अधिगर्त्य रथ की बैठक (गर्त) में, अन्तःपर्शव्य (वा० सं०) पसलियों के बीच, उपमास्य (अथर्व०) हर मास होने वाला (मास), तिरोअह्न्य (एक दिन से परे) बीते काल से पूर्व के दिन (अहन्) का।

२. जहाँ क्रिया नियामिका होती है उस वर्ग में पूर्वपद कर्त्रर्थक या भावार्थक नाम, उत्तरपद का कर्म के रूप में नियमन करने वाला होता है।

---

१. अन्यथा अर्थ बिल्कुल भिन्न होता है; क्योंकि सोपसर्ग समासवर्ग में पूर्वपद का अर्थ उपसर्ग का होता है (नकि विशेषण का), और धातुजपद वाले वर्ग में इसका अर्थ सकर्मक (नकि अकर्मक) होता है। धातुज पद वाले वर्ग में काल-कृदन्त का अन्त्य अक्षर सदा उदात्त होता है (किन्तु बहुव्रीहि में ऐसा तभी होता है जब उदात्त इसका अपना स्वतन्त्र स्वर हो।

२. यहाँ द्वन्द्व अहोरात्र नपुं० (दिनरात) की तरह रात्रि को रात्र हो जाता है।

एकमात्र अपवाद[1] को छोड़कर उनके साथ प्रत्यय कभी नहीं लगता। [इसके] तीन प्रकार (जिनमें सबमें ही व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के उदाहरण आते हैं) पाये जाते हैं।

(अ) लगभग ऋग्वेद तक ही सीमित प्रायिकतम प्रकार में पूर्वपद अ, अं, अंय अन्त वाली सकर्मक लट् प्रकृतियों से निष्पन्न अंत् प्रत्ययान्त शब्द होता है। जैसे ऋर्धद्वार[2] पदार्थों को बढ़ाने वाला, तरद्द्वेषस, शत्रुओं को काबू में करने वाला (तरंत्), धारयत्कवि बुद्धिमान् को सहारा देने वाला, मन्दयत्सख[3] अपने मित्र को प्रमुदित करने वाला। अधोलिखित उदाहरण व्यक्तिवाचकों की तरह प्रयुक्त होते हैं : ऋर्धद्रय[2] (सम्पत्ति को बढ़ाता हुआ), जमदग्नि[4] (अग्नि के पास जाता हुआ), भरद्वाज (पुरस्कार जीतने वाला)।

(आ) दूसरे प्रकार के, जिसमें कि पूर्वपद में साधारण लट् प्रकृति (सम्भवतः लोट् की स्थानापन्न) होती है, केवल तीन या चार उदाहरण मिलते हैं: रदावसु[5] धन देने वाला, शिक्षानर[6] मनुष्यों की सहायता करने वाला, किसी मनुष्य के नाम के रूप में : त्रसदस्यु शत्रुओं को त्रस्त करने वाला।

(इ) तीसरे प्रकार के कोई आधे दर्जन उदाहरण ऋग्वेद में आते हैं। इस प्रकार में पूर्वपद तिप्रत्ययान्त भावनाम होता है : दातिवार धन देने वाला, वीतिराधस् हवि को लेने वाला, वृष्टिद्यात् आकाश से वृष्टि करवाने वाला। पुरुष नाम के रूप में : पुष्टिगु पुं० (गोपालक)।

---

१. शिक्षा-नर; देखो नीचे टिप्पणी ६।

२. ऋर्धत् ऋध् (बढ़ना) का लुङ् शत्रन्त रूप।

३. दो अन्यनियामक समासों में सखि (मित्र) सख हो जाता है : द्रावयत्सख अपने मित्र को वेगयुक्त करता हुआ तथा श्रावयत्सख अपने मित्र को प्रसिद्ध करता हुआ। तुलना करें १८८, २ टि० २।

४. जमत् गम् (जाना) के लुङ् शत्रन्तरूप का तालव्यादेश वाला रूप है।

५. इस और अगले उदाहरण में रद् और शिक्ष के अ को छन्दोऽनुरोध से दीर्घ किया गया है।

६. यहाँ उत्तरपद की प्रकृति में अ और लगाया गया है।

५. वाक्यरचनानिर्भर समास ।

१८९. (र) कुछ अनियमित समासों की रचना-पद्धति उपरिवर्णित चार प्रकार के समासों में से प्रत्येक से भिन्न होती है। उनका एक पृथक् श्रेणी के रूप में वर्णन किया जा सकता है क्योंकि उनका कारण समान ही है: वाक्यरचना के कारण होने वाला प्रायिक पदसन्निकर्ष ।

(क) सम्बन्धवाचक क्रियाविशेषण यद् (नामपद रचित पञ्चम्यन्त पद (*जहाँ तक कि*) याच्छ्रेष्ठ' (*यथासम्भव श्रेष्ठ*) [अक्षरार्थ *जितना कि श्रेष्ठ*] विशेषण अतिशयार्थक (श्रेष्ठ) के साथ समस्त हुआ है तथा *याद्राध्येम्* (*यथा शक्य शीघ्रता से*) [*अक्षरार्थ जहाँ तक कि प्राप्तव्य*] इस क्रियाविशेषण में कृत्प्रत्ययान्त के साथ समस्त हुआ है।

(ख) मूलपाठ के प्रारम्भिक पदों का उत्तरवर्ती संहिताओं में उस पाठ का नाम निर्देश करने के लिए विशेष्य के रूप में समास होने लगा है। इस प्रकार ये यजामहं (वा० सं०) पुं० का प्र० बहु० में प्रयुक्त होने पर अर्थ ये' *यंजामहे से प्रारम्भ होने वाला पाठ* होता है ।

(ग) कुछ विशेष्य या विशेषण समास सन्निकर्ष में आने वाले दो शब्दों वाले वाक्यखण्डों से बने हैं। इस प्रकार अहमुत्तरं (अथर्व०) नपुं० *प्राथमिकता के लिए सङ्घर्ष*) (*अहम् उत्तरः मैं ऊंचा हूं से*) मम सत्यं नपुं० *स्वामित्व के विषय में विवाद* : ममसत्यर्य (*निश्चय ही यह मेरा है*); माम्पश्यं *किसी कामोत्तेजक पौधे का नाम* (माम्पश्य *मुझे देख से*); कुविंत्स कोई (*कुविंत् सं क्या यह वह है ? से*) अहंसना (सम्बो०) *लुटेरा* (*अहंम् सना मैं प्राप्त करूंगा से*) अहम्पूर्व' *प्रथम होने को उत्सुक* (*अहंम् पूर्वः, मैं प्रथम होऊं से*) किन्त्वं (वा० सं०) *वाचालता से पूछता हुआ* (*किं त्वंम् तू क्या कर रहा है ? से*)

६. आम्रेडित समास

१८९ (ल) जब विशेष्य, विशेषण, सर्वनाम, संख्याशब्द, क्रिया-विशेषण तथा उपसर्ग बहुधा द्विरुच्चारित हो जाते हैं तो वे समस्त पद के

रूप में माने जाते हैं तथा दूसरे समासों की तरह उनका आम्रेडित पद अनुदात्त हो जाता है और पदपाठ में दोनों पदों के मध्य अवग्रह दिया जाता है। इस वर्ग में और अन्य समासों में ऐकस्वर्य के कारण साम्य है, पर भेद इस अंश में है कि यहाँ पूर्वपद में केवल (विभक्तिरहित) प्रकृति की अपेक्षा विभक्त्यन्त नाम शब्द पाये जाते हैं। ऋग्वेद में द्विरुक्त (आम्रेडित) समासों की संख्या १४० से ऊपर है, उनमें भी आधे से अधिक विशेष्य हैं। आम्रेडन से द्योतित अर्थ *आभीक्ष्ण्य* या *निरन्तर कालानन्तर्य* या *देशाभिव्याप्ति* है। विभिन्न प्रकार के आम्रेडितों के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

विशेष्य : अ॑हरहर्,[1] दि॒वेदि॑वे[2], द्य॒विद्य॑वि *हर रोज*; मा॒सिमा॑सि, *हरमास*; गृ॒हेगृ॑हे, द॒मेद॑मे, वि॒शेवि॑शे *हर*[3] *घर में*; अङ्गा॑दङ्गात् *हर अङ्ग से*; दि॒शोदि॑शः (अथर्व०) *हर दिशा से*; य॒ज्ञस्य॑यज्ञस्य *प्रत्येक यज्ञ का*; प॒र्वणि॑ पर्वणि *हर पर्व में*; अ॒ग्निम॑ग्निम् (हुवस्यत) पुनः पुनः *अग्नि का यजन करो*; अ॒न्नम॑न्नम् (अथर्व०) *सदा अन्न ही अन्न*।

(ख) विशेषण : प॒न्यंप॑न्यं .... सो॒मम् *सोम जिसकी बार बार स्तुति करनी होती है*; प्रा॒चींप्रा॑चीम् प्र॒दिश॑म् *हरेक पूर्व दिशा*; उ॒त्तरामु॑त्तरां स॒माम् (अथर्व०) *हर अगला साल*।

(ग) सर्वनाम : त्वंत्व॑मह॒र्यथाः *तू सदा ही प्रसन्न हुआ*; य॒द्य॑द्यामि *जो कुछ मैं माँगता हूँ*; तत्त॑द्दवे *वह सदा यह प्रदान करता है*।

(घ) सङ्ख्या : प॒ञ्चप॑ञ्च *हर बार पाँच*; स॒प्तस॑प्त (त्रे॒धा *तीन बार*) *हर स्थिति में सात (=२१)*[4]।

---

१. अ॒हर्दि॑वि *रोज रोज* मिश्रित आम्रेडित का उदाहरण है।

२. अकारान्त प्रातिपदिकों के बहुलप्रयुक्त एकारान्त सप्तम्यन्त रूपों के प्रभाव के कारण दि॒वि॑दिवि तथा वि॒शि॑विशि के स्थान में।

३. श० ब्रा० में ऐसे शब्द वा के साथ द्विरुक्त होते हैं : या॒वद्वा यावद्वा तथा यतमे॑वा यतमे वा।

४. इस प्रकार के द्विरुक्तों से ब्राह्मणग्रन्थों में नियमानुसारी समासों की रचना हुई : ए॒क-एकः (अथर्व०) ए॒कैकः (श० ब्रा०); द्वा॒द्वा (ऋग्वेद); द्व॒न्द्वम् (मै० सं०) दो दो में, द्वन्द्व युग्म (ब्राह्मण०)।

(ङ) क्रियाविशेषण[1] : यथायथा जैसे हर हाल में; अद्याद्या श्वःश्वः हर *आज के दिन में*, हर *कल के दिन में*।

(च) उपसर्ग : वे चार उपसर्ग जो इस प्रकार प्रयुक्त मिलते हैं ये हैं उप, परा, प्र, सम् जैसे प्र—प्र....शस्यते यह *हमेशा कहा जाता है*।

(छ) क्रियापद के द्विरुक्त होने का पिबपिब (*पियो, पियो*)[2] एकमात्र उदाहरण है। अन्यथा द्विरुक्त क्रियापद को पृथक् पद के रूप में माना जाता है जैसे स्तुहि स्तुहि *स्तुति कर, स्तुति कर*।

---

१. कुछेक उदाहरणों में द्विरुक्त क्रियाविशेषणों को समस्त नहीं समझा जाता। वहां दोनों ही शब्द उदात्त होते हैं : नू नू अब, अब; इहेह (अथर्व०) यहाँ, यहाँ। किन्तु ऋग्वेद में सदा ही इहेह पाया जाता है।

२. शा० ब्रा० में यजस्व-यजस्व भी आता है।

सप्तम अध्याय

वाक्यविन्यास की रूपरेखा

१९०. इस व्याकरण के पहिले खण्डों में पृथक्-पृथक् शब्दों पर ध्वनि, निर्वचन एवं च रूपावली की दृष्टि से विचार कर चुकने पर अब हम वाक्य में उनकी स्थिति पर विचार करते हैं जिसका अर्थ है वाक्य रूप में जोकि एक सुनिश्चित एव सुग्रथित विचार के एकांश की अभिव्यक्ति है संग्रथित शब्दों का क्रम एवंच उनका पारस्परिक अर्थ-सम्बन्ध। वाक्य में पाये जाने वाले शब्दों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—एक सविभक्तिक और दूसरे निर्विभक्तिक। प्रथम में नाम (संज्ञा और विशेषण) क्रिया, शत्राद्यन्त रूप (जिनमें (पूर्वोक्त) दोनों ही भागों का स्वरूप उपलब्ध होता है) और सर्वनाम इन सब का समावेश किया जाता है। दूसरे में उपसर्ग, क्रियाविशेषण और संयोजक निपातों का समावेश किया जाता है। ऋग्वेद की वाक्यरचना का लौकिक संस्कृत की वाक्यरचना से तुलना करने पर पता चलता है कि (१) ऋग्वेद की वाक्यरचना में आत्मनेपद, लकार, प्रकार, सविभक्तिक शत्राद्यन्त रूप तुमुन्नन्त और तुमर्थक कृदन्त रूप एवंच उपसर्गों का प्रयोग कहीं अधिक प्रचुर अथवा जीवन्त है (२) और कर्मवाच्य एवंच अव्यय निपातों का प्रयोग बहुत कम विकसित है। भावलक्षणा षष्ठी और सप्तमी विभक्तियों और क्रिया-विशेषणीभूत सविभक्तक उपसर्गों का प्रयोग केवल अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है और आमन्त लिट् अथवा लुट् लकार के क्रियापदों के प्रयोगों का सर्वथा अभाव है। उत्तरवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणग्रन्थों में क्रमिक परिवर्तन की स्थिति पाई जाती है। वहाँ प्रथम कोटि के शब्दों में संकोच अथवा प्रयोग-विच्छेद के कारण एवंच द्वितीय कोटि के शब्दों में परिवृद्धि के कारण वही स्थिति आ जाती है जो कि लौकिक संस्कृत में पाई जाती है

शब्दों का क्रम

१९१. चूंकि संहिताओं में छन्दोऽनुरोध शब्दों के सामान्य क्रम में बहुत अधिक परिवर्तन कर डालता है इसलिये शब्दों के सामान्य क्रम का सबसे सुन्दर निदर्शन ब्राह्मणग्रन्थों का गद्य है जहाँ कि यह निस्सन्देह अपने मूलरूप में उपलब्ध है।

सामान्य नियम यह है कि वाक्य कर्ता से प्रारम्भ होता है और क्रियापद से समाप्त होता है। शेष पद इन दोनों के बीच रहते हैं।

(क) वाक्य कर्ता से प्रारम्भ होता है। यथा—**विशः क्षत्रियाय बलिं हरन्ति** *किसान राजा को कर देते हैं* (श० ब्रा०)। हाँ इससे पूर्व उत जैसा कोई निपात भी आ सकता है या कादाचित्कतया वाक्यगत कोई अन्य शब्द जिस पर बहुत अधिक बल देना अभीष्ट हो। यथा—**प्रयाजैर्वै देवाः स्वर्गं लोकमायन्** *प्रयाजों के द्वारा देवता स्वर्ग लोग को गये* (श० ब्रा०)।

(ख) क्रियापद पर जब बहुत अधिक बल दिया जाता है तो यह यदा कदा वाक्य के आदि में आ जाता है जैसे—**यन्ति वा आप, एत्यादित्य, एति चन्द्रमा, यन्ति नक्षत्राणि** *जल चलता है, सूर्य चलता है, चन्द्रमा चलता है, नक्षत्र चलते हैं* (श० ब्रा०)। विधेय नामपद, संयोजक अवयव के साथ (जिसका परिहार भी किया जा सकता है) क्रियापद के समकक्ष होने के कारण स्वाभाविक रूप से उसी स्थिति में[आदि में]रहता है। जैसे **सर्वे ह वै देवा अग्रे सदृशा आसुः** *सभी देवता आदि में एक से ही थे* (श० ब्रा०); **मित्रो वै शिवो देवानाम्** *मित्र निस्सन्देह देवताओं में दयालु है* (तै० सं०)। तोभी विधेय नाम पद बल दिये जाने पर नियमित रूप से वाक्य के आदि में आता है। यथा—**मर्त्या ह वा अग्रे देवा आसुः** *देवता आदि में मरणधर्मा थे* (श० ब्रा०); **पुरुषो वै यज्ञः** *यज्ञ पुरुष (है)* (श० ब्रा०)।

(ग) जहाँ तक विभक्तियों का सम्बन्ध है द्वितीया का प्रयोग क्रियापद से ठीक पहिले किया जाता है। यथा—**छन्दांसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञं**

वहन्ति जोते हुए छन्द यज्ञ को देवताओं तक पहुँचा देते हैं (श० ब्रा०)। क्रियाविशेषण और अव्यय निपातों की भी वैसी ही स्थिति है। कभी-कभी ये शब्द (भी) आदि में आ जाते हैं। जैसे दिवि वै सोम आसीद्, अथ इह देवाः सोम द्युलोक में था पर देवता यहां (श० ब्रा०)।

(ब) समानाधिकरण[विधेय]शब्द जिनमें कि अपत्यार्थक एवं च शत्राद्यन्त रूप शामिल हैं, उन शब्द के जिसकी वे व्याख्या अथवा परिभाषा प्रस्तुत करते हैं बाद आते हैं। जैसे सोमो राजा सोम जो कि राजा है। अपने निजी अर्थ को समर्पित करने वाले शत्राद्यन्त रूप पर यदि बल दिया जाय तो उसे वाक्य के आदि में रखा जा सकता है। जैसे स्वपन्तं वै दीक्षितं रक्षांसि जिघांसन्ति दीक्षित व्यक्ति की निद्रा की अवस्था में राक्षस उसे मारना चाहते हैं (तै० सं०)।

(ङ) विशेषण पद चाहे वह गुणवाची हो या षष्ठ्यन्त अपने विशेष्य पद से पूर्व आता है। यथा हिरण्ययेन रथेन सुवर्णमय रथ से (१.३५[२]); देवानां होता देवताओं का पुरोहित। केवल अभेदान्वय में ही विशेषण विशेष्य पदों के बाद आते हैं विशेषकर तब जब कि वे देवताओं के विशिष्ट नाम हों। यथा मित्राय सत्याय मित्र के लिये, जो सत्यस्वरूप है (तै० सं०)। किन्हीं पशुओं, विशेषकर गायों और घोड़ों, के रंगों के वाचक विशेषण पदों का प्रयोग विशेष्य पदों के बाद पाया जाता है। षष्ठ्यन्त पद से सम्बद्ध विशेष्य तभी षष्ठ्यन्त पद से पूर्व रखा जाता है जबकि इस पर बल देना हो।

(च) क्रियासम्बन्धी उपसर्ग ब्राह्मणग्रन्थों में सदा ही एवं च वेदों में सामान्यरूप से क्रियापद से पूर्व आता है। संहिताओं में तो यह कभी-कभी क्रिया पद से परे भी पाया जाता है (जैसे जयेम सं युधि स्पृधः हम युद्ध में अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करेंगे (१.८[३])। सामान्यतया उपसर्ग अव्यवहित रूप से क्रिया के आदि में पाये जाते हैं पर प्रायः इनका क्रियापद से एक अथवा एकाधिक शब्द से व्यवधान भी देखा जाता है। यथा आ सायकं

मंघवा_अदत्त दानशील [इन्द्र] ने *अपना अस्त्र उठाया (ग्रहण किया)* (१.३२[१]); अंप तंमः पाप्मानं हते *वह अन्धकार और पाप को नष्ट करती है* (तै० सं०)। जब समस्त क्रियापद बलयुक्त होता है तो नियमित रूप से उपसर्ग ही आगे को सरक आता है [अर्थात् वाक्य के आदि में आ जाता है] एवं च उसी स्थिति को प्राप्त कर लेता है जोकि एक सामान्य क्रियापद की होती। यथा प्रं प्रजंया जायेय *मैं चाहता हूं कि मैं सन्तान से बढ़ूं* (तै० सं०)।

संज्ञापदों के साथ प्रयुक्त होने पर शुद्ध उपसर्ग नियमित रूप से उनकी विभक्ति का अनुसरण करते हैं जबकि उपसर्ग रूप क्रियाविशेषण इससे पूर्व आते हैं। इसका कारण निस्सन्देह यह है कि पूर्वकोटि के उपसर्ग विभक्त्यर्थ के पूरक हैं जबकि उत्तर कोटि के उपसर्ग उस अर्थ में कहीं अधिक परिवर्तन ला देते हैं।

(छ) संख्यावाची क्रियाविशेषण स्वसम्बद्ध षष्ठ्यन्त शब्द से पूर्व आते हैं। यथा—त्रिः संवत्सरस्य *वर्ष में तीन बार*।

(ज) च आदि निपात स्वभावतः वाक्य के आदि में नहीं आ सकते। यदि वे किसी शब्द से सम्बद्ध हों तो वे उसके बाद आते हैं। उनकी प्रवृत्ति वाक्य में द्वितीय स्थान ग्रहण करने की है। च, वा, इव, चिद् वे निपात हैं जोकि उस शब्द के बाद आते हैं जिनके साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। कम् के विषय में वेद में यह नियम है कि वह नु, सु और हि के बाद ही आ सकता है। (इसी प्रकार) ब्राह्मणग्रन्थों में यह नियम है कि स्म ह के बाद ही आ सकता है। सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ के परामर्शक निहत निपात उ, घ, ह, और स्विद् का वाक्य में द्वितीय (अथवा तृतीय) स्थान रहता है।

(झ) उदात्त निपात भी अधिकतया वाक्य के आदि में नहीं आ सकते। वाक्य में किसी भी स्थिति में होते हुए वे उस शब्द के बाद आते हैं जिस पर वे बल देते हैं : आं, एवं, कंम्; अथवा समूचे वाक्यार्थ पर बल देने के कारण वाक्य

में उनका द्वितीय स्थान रहता है: अङ्ग, अह, इद्, किल, खलु, तु, नु, वै, हि।

अथ, अपि, उत ही वे केवल मात्र निपात हैं जो वाक्य के आदि में आ सकते हैं, यदि न सम्पूर्ण वाक्यार्थ को निषेधात्मकता प्रदान करता हो तो उसकी भी यही स्थिति होगी पर यदि क्रिया को ही निषिद्ध करता हो तो वह क्रियापद बाद आएगा।

(ञ) ब्राह्मणग्रन्थों में त इस सर्वनाम के रूपों की प्रथम स्थान ग्रहण करने की प्रवृत्ति है विशेष कर स की, जबकि यह संलापों में किसी नामविशेष का परामर्श करता हो, अथवा द्वितीयाविभक्तिगत तद् की जब कि इसके द्वारा प्रसिद्ध आचार्यों को उद्धृत किया जा रहा हो। यथा स होवाच गार्ग्यः (श० ब्रा०) *गार्ग्य ने (ऐसे) कहा*; तदु होवाच आसुरिः *आसुरि ने इस विषय में कहा* (श० ब्रा०)। अथ और अपि के प्रयोग में भी यही क्रम है [उनका भी प्रथम स्थान रहता है] : अपि होवाच याज्ञवल्क्यः (श० ब्रा०)

(ट) सम्बन्धबोधक अथच प्रश्नबोधक वाक्यों में कुछ भी विशेषता नहीं सिवाय इसके कि चूँकि इन दोनों वर्गों के शब्दों में वाक्य के आदि में आने की प्रवृत्ति है इसलिये उनके विभक्ति रूप आदि में आते हैं जब कि सामान्य वाक्यों में ऐसा नहीं पाया जाता। यथा—किं हि स तैर्गृहैः कुर्यात् *भला वह इस घर से क्या करे ?* (श० ब्रा०)।

(अ) अपवाद रूप से वाक्य के अन्त में आने वाले शब्द हैं (१) प्रायेण अन्तिम चतुर्थ्यन्त पद जो कि वाक्य के पूरक होते हैं। *यथा* तद् पशून्नेव अस्मै परि ददाति गुप्त्यै इस प्रकार वह पशुओं को रक्षा के लिये उसे सौंपता है (श० ब्रा०); (२) और कर्ता जो कि या तो किसी उद्धृत आचार्य का नाम होता है या फिर संयोजक वाक्यांश का समकक्ष होता है। यथा—स ह उवाच गार्ग्यः गार्ग्य ने ऐसा कहा; ऐन्द्रं चरुं निर्वपेत् पशुकामः जो पशु चाहता हो वह इन्द्र के निमित्त चरु अर्पण करे (तै० सं०)।

१९२. वैदिक भाषा में निश्चय और अनिश्चय वाचक उपपद दोनों का अभाव है। उनका अर्थ संज्ञापद में ही समाविष्ट रहता है बहुत कुछ उसी तरह जिस तरह कि पुरुषवाचक सर्वनामों युष्मद्, अस्मद् आदि का अर्थ मुख्य क्रियापद में समाविष्ट रहता है। इन दोनों में से कौन-सा अभिप्रेत है इसका पर्याप्त स्पष्टीकरण प्रकरण से हो जाता है। यथा—अग्निमीळे पुरोहितम् *मैं अग्नि की स्तुति करता हूं जो कि मेरा पुरोहित है* (१.१[१]) अग्निं मन्ये पितरम् *मैं अग्नि को पिता समझता हूं* (१०.७[३]) ब्राह्मणग्रन्थों में तं का पौनःपुन्येन प्रयोग बहुत कुछ निश्चयवाचक उपपद के समकक्ष ही है (१९५ र ३ ख)।

वचन

१९३.१ एकवचन शब्दों को जिनका अर्थ बहुवचन का अथवा समष्टि का होता है, सदैव केवल एकवचन ही माना जाता है और उनका अन्वय कभी बहुवचन क्रियापद से नहीं होता (देखिये १९४)।

२. द्विवचन नियमित रूप से प्रयुक्त होता है और सामान्य रूप से इसका प्रयोग विषय भी सुनिश्चित है। पर ऋग्वेद के कतिपय भागों में स्वाभाविक देवता-युग्मों के लिये बहुत बार बहुवचन भी प्रयुक्त हुआ है। कहीं-कहीं अन्यत्र [देवतायुग्मों से अतिरिक्त स्थलों में भी] द्विवचन के स्थान पर वह [बहुवचन] पाया है। यथा—समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ *समस्त देवता और जल हम दोनों के हृदयों को मिलायें* (१०.८५[४७])।

(क) उसी जाति की पुंव्यक्ति और स्त्रीव्यक्ति को अभिव्यक्त करने के लिये कभी-कभी पुंल्लिङ्ग अथवा स्त्रीलिङ्ग के द्विवचन का प्रयोग किया जाता है। यथा पितरा=*पिता और माता*, मातरा=*माता और पिता* इस प्रकार के द्विवचन का अधिकतम प्रयोग देवतायुग्मों के नामों को केवल एक ही देवता के नाम के द्वारा अभिव्यक्त करने की पद्धति में पाया जाता है जोकि दो नाम वाले द्वन्द्व समासों के समानार्थक होती है। यथा—

द्यावा *अन्तरिक्ष और पृथिवी* (=द्यावापृथिवी´), उषासा *सूर्योदय और रात्रि* (=उषासा-नक्ता), **मित्रा** *मित्र और वरुण* (=मित्रा-वरुणा)। कभी-कभी देवतायुग्म के अन्य सहचर का भी प्रथमा एक० में पृथक् से प्रयोग पाया जाता है। यथा **मित्रा तना न रथ्यो वरुणो यश्च सुक्रतुः** *मित्र (और वरुण) और बहुत बुद्धिमान् वरुण दो नित्यव्यापृत सारथियों की तरह* (८.२५[3])।

३. (क) बहुवचन का प्रयोग इस तरह किया जाता है (द्विवचन के समान ही) जिससे कि तीन के वर्ग में से केवल एक (नाम) के प्रयोग से ही शेष दो का भी बोध हो जाय। यथा द्यावः (तीन) *द्युलोक=द्युलोक अन्तरिक्ष लोक और पृथिवी लोक;* पृथिवी´ः *तीन पृथिवियां=पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक*[1]। इस अन्य समावेशक बहुवचन का प्रयोग वर्ग के प्रथमैकवचनान्त दो अन्य देवताओं के नामों के साथ पाया जाता है। यथा **अभि सम्राजो वरुणो गृणन्त्यभि मित्रासो अर्यमा सजोषाः** *हम सांमनस्य-युक्त होकर सम्राट् वरुण की ओर, मित्रों (=मित्र, वरुण और अर्यमा) की स्तुति करें* (७.३८[6])।

(ख) कभी-कभी नियमशैथिल्यवश एकवचन और द्विवचन के स्थान पर उत्तम पुरुष बहु० का प्रयोग पाया जाता है। उदाहरण के रूप में यम यमी के साथ वार्तालाप करते हुए कहता है: **न यत् पुरा चकृमा कद्ध नूनम् ऋता वदन्तो अनृतं वदेम** *जो हमने पहिले कभी नहीं किया उसे हम अब कैसे करें, न्याय्य बातें कहते हुए हम अन्याय्य बातें कैसे कहें* (१०.१०[4]) पुरुषवाचक सर्वनामों का बहुवचन का प्रयोग भी कभी-कभी इसी प्रकार पाया जाता है। उदाहरण के रूप में यम-यमी संवाद (१०.१०[4]) में शुद्ध **नौ** के साथ-साथ **नस्** का प्रयोग मिलता है: **सा नो नाभिः परमं जामि तन्नौ** *वही हमारी एकता का बन्धन है, वही*

---

१. हाथों सहित अपनी-अपनी ओर फैलाई हुई बाहुओं का मध्यभाग—अनु०

हमारा सर्वोच्च सम्बन्ध है। इस प्रकार के कादाचित्क नियमशैथिल्य का कारण सम्भवतः कुछ समय के लिये स्थितिविशेष को अधिक सामान्य मान लेना है जिससे कि उसमें औरों का भी समावेश हो सके। इस स्थिति में हम इसका अर्थ होगा *मैं और अन्य उपस्थितजन; हम दोनों और उसी परिस्थिति में अन्य लोग।* ब्राह्मणग्रन्थों में उन दोनों ही स्थितियों में जब कि अस्मद् इस सर्वनाम का पृथक् से प्रयोग पाया जाता है और जबकि क्रियापद में ही इसका अन्तर्भाव रहता है, इसमें एवंच उ० पु० में एकवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग पर्याप्त प्रचुर है। यथा—**स ह उवाच नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मः** *उसने उत्तर दिया : हम (=मैं) प्रकाण्ड विद्वान् को प्रणाम करता हूं* (श० ब्रा०); **वरं भवते गौतमाय दद्मः** *हम (=मैं, जैवलि) आदरणीय गौतम को वर देता हूं* (श० ब्रा०)।

संवाद

१९४. विभक्ति, पुरुष, लिंग और वचन के विषय में संवाद के नियम सामान्य रूप से वही है जोकि अन्य श्लिष्टयोगात्मक भाषाओं में पाये जाते हैं।

(ख) १. क्रियापद का पुरुष और वचन वही होता है जोकि संज्ञा शब्द का। इस नियम के अपवाद अतिविरल हैं। उदाहरण के रूप में बहुत इस अर्थ के त्व का एक० जिसका अर्थ बहुवचन का होता है केवल एक बार बहुवचन क्रियापद के साथ पाया जाता है: **जयान् उ त्वो जुह्वति** *बहुत से (लोग) विजय के लिये यज्ञ करते हैं* (मै० सं०)। दूसरी ओर ऋग्वेद में कतिपय ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जहां कि नपु० बहु० शब्द के साथ एक० के क्रियापद का प्रयोग पाया जाता है। यथा—**वृत्र्जवे धीयते धना** *साहसी व्यक्त के पास [युद्ध का] लूट का माल आता है* (१.८१[३])।

२. (क) जब दो एकवचनान्त कर्तृपदों का अन्वय एक क्रियापद से होता है तो बहुत से स्थलों में क्रियापद द्विवचन में प्रयुक्त होता है। यथा

इन्द्रश्च यद् युयुधाते अहिश्च जब इन्द्र और अहि ने युद्ध किया (१.३२[13]); ऊर्जं नो द्यौश्च पृथिवी च पिन्वताम् द्युलोक और पृथिवी हमारी शक्ति को बढ़ायें (६.७०[6]); इन्द्रश्च सोमं पिबत बृहस्पते हे इन्द्र और बृहस्पति आप दोनों सोमपान करें (४.५०[10])।

जब दो कर्तृपदों में से केवल एक ही उक्त रहता है और अन्य का अध्याहार करना होता है तो भी क्रियापद द्विवचन में प्रयुक्त होता है। यथा—आ यद् इन्द्रश्च दद्वहे जब (मैं) और इन्द्र लेते हैं (८.३४[16]); बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्य ईशाथे हे बृहस्पति तुम दोनों, तुम और इन्द्र, दिव्यधन के स्वामी हैं (७.९७[10])। ब्राह्मणग्रन्थों में ऐसा व्यवहार तभी पाया जाता है जबकि क्रियापद प्रथम पुरुष में रहता है। जैसे प्रजापतिः प्रजा असृजत; ता बृहस्पतिश्च अन्ववैताम् प्रजापति ने प्रजाओं की सृष्टि की : (उसने) और बृहस्पति ने उनका अनुसरण किया (तै० सं०)।

(अ) कुछ गिने चुने स्थलों में दो एकवचनान्त कर्तृपदों के साथ एकवचनान्त क्रियापद आता है जब कि वे अर्थ की दृष्टि से द्वन्द्व समास के समकक्ष हों। यथा—तोकं च तस्य तनयं च वर्धते उसकी सन्तान और परिवार समृद्ध होते हैं (२.२५[2])।

ब्राह्मणग्रन्थों में जब दो एकवचनान्त कर्तृपद च के द्वारा परस्पर सम्बद्ध होते हों तो क्रियापद द्विवचन में प्रयुक्त होता है पर यदि विरोध अभीष्ट हो तो वह एकवचन में प्रयुक्त होता है। यथा—तस्या धाता च अर्यमा च अजायेताम् उससे धाता और अर्यमा ने जन्म लिया (मै० सं०); पर पृथिव्यां वै मेध्यंच अमेध्यं च व्युदक्रामत् पृथिवी से एक ओर पवित्र और एक ओर अपवित्र (चीजें) उत्पन्न हुईं (मै० सं०)।

(ख) जब दो से अधिक कर्ता हों तो यह आवश्यक नहीं कि क्रियापद बहुवचन में ही हो। यह हो सकता है कि उसका अन्वय उन दोनों में से किसी एक से हो।

१. यदि दो कर्तृपदो में प्रत्येक एकवचन में हो तो क्रियापद एकवचन में प्रयुक्त होता है। यथा—मित्रश्च तन्नो वरुणो रोदसी च द्युभक्तमिन्द्रो

अर्यमा, ददातु *मित्र, वरुण, पृथिवी, द्युलोक, इन्द्र और अर्यमा हमें दिव्य धन दें।* (७.४०²)।

२. यदि कर्ता भिन्न-भिन्न वचनों में हो तो क्रियापद का अन्वय उन दोनों में से किसी भी एक के साथ हो सकता है। यथा—आवदिन्द्रं यमुना तृत्सवश्च *यमुना ने और तृत्सुओं ने इन्द्र की सहायता की* (१.१८¹¹); इन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च *इन्द्र और अङ्गिरस् इसे जानते हैं* (१०.१०८¹⁰)। द्विवचनान्त और बहुवचनान्त कर्तृपदों के साथ द्विवचनान्त और बहुवचनान्त क्रियापद आते हैं। यथा—गिरयश्च दृळ्हा द्यावा च भूम्ना तुजेते *सुदृढ़ पर्वत, पृथ्वी और द्युलोक कम्पायमान हो गये* (१.६१¹⁴); द्यावा च यत्र पीपयन्नह च *जहाँ द्युलोक, पृथिवी और दिवसों ने समृद्धि प्रदान की है* (७.६५³)।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में एकवचनान्त और द्विवचनान्त कर्तृपदों के साथ एकवचनान्त अथवा बहुवचनान्त क्रियापद आता है। यथा—व्याममात्रौ पक्षौ च पुच्छं च भवति *पंख और पूंछ दोनों ही लम्बाई में व्याम¹ भर हैं* (तै० सं०); तावश्विनौ च सरस्वती च अपां फेनं वज्रमसिञ्चन् *अश्वियों और सरस्वती ने जल के झाग को वज्र रूप में परिवर्तित कर दिया* (श० ब्रा०)। एकवचनान्त और बहुवचनान्त कर्तृपदों के साथ बहुवचनान्त क्रियापद आता है। यथा—देवाश्च वै यमश्च अस्मिन् लोकेऽस्पर्धन्त *देवताओं और यम ने इस संसार (के आधिपत्य) के लिये युद्ध किया* (तै० सं०)।

(आ) ब्राह्मणग्रन्थों में यदि एक, दो अथवा अनेक कर्ता अभीष्ट हों तो परस्परार्थक अन्योन्य के साथ क्रियापद एकवचन, द्विवचन और बहुवचन में आते हैं यथा—सोऽन्यः स निर्ऋच्छाद् यो नः प्रथमोऽन्योऽन्यस्मै द्रुह्यात् *इनमें वही वञ्चित रहेगा जो हममें सबसे पहिले दूसरे को ठगेगा* (तै० सं०); नेदन्योन्यं हिनसातः *ऐसा न हो कि वे एक दूसरे को क्षति पहुंचायें* (श० ब्रा०); तानि सृष्टान्यन्योन्येन अस्पर्धन्त *उत्पन्न हो चुकने पर उन्होंने एक दूसरे से युद्ध किया* (श० ब्रा०)।

३. जब भिन्न-भिन्न पुरुषों के दो या दो से अधिक कर्तृपदों के साथ क्रियापद द्विवचन अथवा बहुवचन में आता है तो मध्यम अथवा प्रथम पुरुष

---

१. हाथों सहित अपनी-अपनी ओर फैलाई हुई बाहुओं का मध्य भाग—अनु०

की अपेक्षा उत्तम पुरुष एवंच प्रथम पुरुष की अपेक्षा मध्यम पुरुष अधिक प्रयोग में आता है। यथा—अहं च त्वं च संयुज्याव *मैं और तुम दोनों एक दूसरे से मिलेंगे* (८.६२[11]); तं यूयं वयं च अश्याम *ऐसा हो कि तुम और हम उसे पा लें* (९.९८[12])। पर कभी-कभी उत्तम पुरुष की अपेक्षा प्रथम पुरुष को अच्छा समझा जाता है। यथा—अमी च ये मघवानो वयं च मिहं न सूरो अति निष्टतन्युः *ऐसा हो कि हमारे धनदाता और हम भेदन कर दें जैसे सूर्य कोहरे का भेदन कर डालता है* (१.१४१)[13]।

(र) १. गुणवाचक विशेषण के लिङ्ग, वचन और विभक्ति वही होते हैं जोकि इसके विशेष्य के। इस नियम के अपवाद विरल हैं और मुख्यतया छन्दोऽनुरोध पर निर्भर होने के कारण महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

(अ) पाँच से उन्नीस तक के सामान्य संख्यावाची शब्दों में विशेषण होने के कारण वाक्यविन्यास की कतिपय विशेषताएं हैं: वेद में सं० और प्र० से भिन्न विभक्तियों में वे न केवल अपने विभक्तिप्रत्यययुक्त रूप में ही पाये जाते हैं अपितु अनेक बार प्रथमा और द्वितीया में विभक्तिप्रत्ययरहित रूप में भी। यथा—सप्तभिः पुत्रैः और सप्त होतृभिः, पञ्चसु जनेषु और पञ्च कृष्टिषु। ब्राह्मणग्रन्थों में केवल विभक्तिप्रत्यययुक्त रूप ही प्रयुक्त हुए हैं।

(आ) २० से आगे के संख्यावाची शब्द रूप की दृष्टि से संज्ञा शब्द होने के कारण उपपद होने पर सामान्य षष्ठी विभक्ति का नियमन करते हैं। यथा—षष्टिमश्वानाम् *साठ घोड़े*, शतं गोनाम् *सौ गायें*, सहस्राणि गवाम् *हजारों गायें*। पर सामान्यतया उनमें विशेषण बुद्धि रहती है। समष्टिवाची होने के कारण बहुवचन विभक्तियों के साथ अन्वय होने की दशा में भी इनसे एकवचन के विभक्ति प्रत्यय ही आते हैं। यथा—त्रिंशद् देवाः *तीस देवता*, त्रिंशतं योजनानि *तीस योजन* (द्वितीया का रूप), त्रिंशता हरिभिः *तीस घोड़ों से*, त्रयस्त्रिंशतो देवानाम् *तैंतीस देवताओं का* (ऐ० ब्रा०)। बहुवचनान्तों के साथ प्रथमान्त और द्वितीयान्त रूप में शतम् और सहस्रम् का प्रयोग किया जाता है। यथा—शतं पुरः *सौ किले*, सहस्रं हरयः *हजार घोड़े*, सहस्रं

पशू॑न् हज़ार पशुओं को (तै० सं०)। इसी अर्थ में वे बहुवचन में भी पाये जाते हैं। यथा—शतां पु॑रः सौ दुर्ग, सहस्राण्य॑धिरथानि हजार लदे हुए रथ (१०.९८॰)। शतम् और सहस्रम् का प्रयोग तृतीया बहुवचन के साथ भी देखा जाता है (पर ब्राह्मणग्रन्थों में नहीं)। यथा शतं॑ पूर्भि॑ः सौ दुर्गों से, दूसरा रूप शते॑न ह॑रिभिः सौ घोड़ों से; सहस्रमृ॑षिभिः हजार ऋषियों से। सहस्र के साथ आने वाला नामपद कभी-कभी एक विशेष प्रकार के आकर्षण के द्वारा एकवचन में प्रयुक्त होता है: शु॑नश्चिच्छे॑पं नि॑दितं सहस्राद् यू॑पादमुञ्चः तुमने सहस्रयूपों से बँधे शुनःशेप को मुक्त कर दिया (५.२॰)। ब्राह्मणग्रन्थों में इस प्रकार का प्रयोग उपलब्ध होता नहीं दीखता।

२. अस् और भू जिनका प्रायः अध्याहार करना पड़ता है के साथ प्रयुक्त विधेय रूप विशेषण अपने कर्ता के लिंग और वचन का अनुसरण करता है।

ब्राह्मणग्रन्थों में समर्थार्थक ईश्वर का प्रथमा विभक्ति में इस प्रकार का प्रयोग एक क्रियापद के समकक्ष होता है। इसका अर्थ होता है समर्थ होना। संवाद यहां बहुसंख्यक स्थलों में यथाप्राप्त है। यथा—ईश्वरो॑ वा अश्वो॑ऽयतो॑ऽप्रतिष्ठितः परां परावतं गन्तोः यदि घोड़े की बाग न खींची जाये और उसे रोका न जाये तो वह दूर से दूर जा सकता है (तै० सं०); सा—एनमीश्वरा प्रदहः वह उसे जला सकती है (तै० सं०); ईश्वरौ॑ वा एतौ॑ निर्द॑हः वे दोनों ही जला सकते हैं (श० ब्रा०); तान्येनमीश्वराणि प्रतिनु॑दः वे उसे भगाकर ले जा सकते हैं (मै० सं०)। पर कभी-कभी लिङ्ग या वचन या दोनों के संवाद की उपेक्षा की जाती है। यथा तमीश्वरं॑ रक्षांसि हन्तोः राक्षस उसे मार सकते हैं (तै० सं०); तस्य—ईश्वरः प्रजा पापीयसी भवितोः उसकी सन्तान पापी हो सकती है (श० ब्रा०); ईश्वरो॑ ह—एना अनग्निचितं सन्तप्तोः ये (स्त्री० बहु०) मुझे जिसने अग्न्याधान नहीं किया, बहुत अधिक सन्तप्त करेंगी। ऊपर उद्धृत अन्तिम दो एवम् अन्य उदाहरणों में पुंलिङ्ग एकवचन सभी लिङ्गों और वचनों की प्रथमा विभक्ति के रूप में सुस्थिर हो गया है।

(आ) भिन्न-भिन्न लिङ्गों के दो या अधिक संज्ञापदों का परामर्श करने वाले विधेयरूप विशेषण का प्रयोग बहुत कम है। उस स्थिति में उसका लिङ्ग वही प्रतीत होता है जो कि उसके निकटतम संज्ञा पद का। अथवा ऐसा प्रतीत होता है कि नपुंसक लिङ्ग की

अपेक्षा पुंलिङ्ग को अधिक अपनाया गया है। यथा—त्रयो वै नैऋता स्त्रियः स्वप्नः (मै० सं०) पासे, स्त्रियां और निद्रा ये तीनों चीजें अनिष्ट हैं; एवा अस्य काम्या स्तोम उक्थं च शंस्या इस तरह ही उसके जो अभीष्ट स्तोम और उक्थ का उच्चारण किया जाना चाहिये (१.८१°)। क्ृ पर आधारित विधेय रूप विशेषण का अपने विशेष्य के साथ अन्वय पाया जाता है। यदि वे दो हों तो द्विवचन प्रयुक्त होता है। यथा—दैवीं च वा एष मानुषीं च—अस्मा एतद् विशं अववर्मानौ करोति तो वह दैवी और मानुषी प्रजा को अपने अनुकूल बनाता है (मै० सं०)।

३. ग्रीक और लैटिन भाषाओं की तरह यहां भी निर्देशक सर्वनाम का लिंग और वचन वही होता है जोकि विधेय नामपद का। यथा—ये तुषाः सा त्वक् जो *भुस (हैं) (वह) वे छाल (हैं)* (ऐ० ब्रा०); यदश्रु संक्षारितमासीत्तानि वयांसि—अभवन् जो *घनीभूत अश्रु थे (वह=) वे ही पक्षी गये* (श० ब्रा०)।

सर्वनाम

१९५. (अ) पुरुषवाचक (क) वैदिक भाषा की अत्यधिक श्लिष्टयोगात्मकता के कारण इसमें ग्रीक और लैटिन भाषाओं की तरह पुरुषवाचक सर्वनामों के प्रथमा विभक्ति के रूपों का प्रयोग आधुनिक यूरोपीय भाषाओं की अपेक्षा कहीं कम है। पुरुषवचनपरिच्छिन्न क्रियापद के मध्यम और उत्तम पुरुषों में पहिले से ही अन्तर्भूत होने के कारण इन सर्वनामों का पृथक् प्रयोग तभी किया जाता है जब कि इन पर बल देना अपेक्षित हो।

(ख) अहम् और त्वम् के निहत रूपों के (१०९ क) निपात मान लिये जाने के कारण इनका प्रयोग वाक्य के अथवा पाद के आदि में नहीं हो सकता और नहीं सम्बोधनों के बाद और नहीं बलाधायक संयोगार्थक अथवा वियोगार्थक निपातों से पूर्व।

(ग) त्वम् के नम्रताप्रदर्शक रूप भवान्, जिसका सर्वप्रथम प्रयोग ब्राह्मणग्रन्थों में उपलब्ध होता है, के साथ पाये जाने वाले क्रियापद का प्रथम

पुरुष एकवचन में प्रयोग होना ठीक ही है । पर वस्तुस्थित्या मध्यम पुरुष वाचक सर्वनाम के समकक्ष होने के कारण यह कभी-कभी मध्यम पुरुष के क्रियापद के साथ भी प्रयुक्त होता है। यथा—ईति वाव किल नो भवान् पुरा‿अनुशिष्टान् अवोचः (श० ब्रा०) *इस अर्थ में आपने पहिले हमारे (=मेरे) विषय में यह कहा है कि मैं अनुशासित था* (देखिये १९४, १) ।

निर्देशक १. अयम् (=यह) (यहाँ) एक निर्देशक सर्वनाम है जिसका पास में पाये जाने वाली चीज़, उपस्थिति और वक्ता का अधिकार अथवा आधिपत्य के विशेषण के रूप में प्रयोग किया जाता है । प्रायः इसका अनुवाद यहाँ इस शब्द से किया जा सकता है । यथा—अयं त एमि तन्वा पुरस्तात् *यहाँ मैं अपना शरीर तुम्हारे सामने किये चला आ रहा हूं* (८.१००[१]); इयं मतिर्मम *यह मेरी प्रार्थना है*; अयं वातः *यहाँ (पृथ्वी पर) वायु*; अयं जनः *यहाँ लोग* (७.५५[५]); इदं भुवनम् *यह संसार*, अयमग्निः *यहाँ (विद्यमान) अग्नि* । ऋग्वेद में अयम् का प्रयोग कभी-कभी दिव् (*द्युलोक*) तथा आदित्य (*सूर्य*) के साथ भी पाया जाता है मानों वक्ता के आसपास की चीजों में उनका भी समावेश कर दिया गया हो ।

२. अयम् का विरोधी शब्द है असौ (वह) (वहां) जिसका प्रयोग उन पदार्थों के लिये होता है जोकि वक्ता से दूरी पर होते हैं जैसे द्युलोक और तत्सम्बन्धी दृश्य एवं घटनाएँ, अमर (देवता), वे व्यक्ति जो या तो (साक्षात्) उपस्थित न हों या दूरी पर हों । यथा—अमी ये देवा स्थन त्रिषु‿आ पुरा रोचने दिवः *हे देवताओ जो कि तुम वहाँ द्युलोक के तीन चमकते हुए क्षेत्रों में हो* (१.१०५[५]); अमी च ये मघवानो वयं च *वे (अनुपस्थित) दाता और हम* (१.१४१[१३]) असौ य एषि वीरकः *तुम छोटे से पुरुष जो वहाँ जाते हो* ।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में प्रयोगसाम्य है केवल विरोध और अधिक सुस्पष्ट है: पृथ्वी के (इयम् के द्वारा) और द्युलोक के (असौ के द्वारा) उल्लेख में अथवा योऽयं पवते जोकि (=वायु) यहाँ बहता है, योऽसौ तपति जोकि (=सूर्य)

वहाँ जलाता है और असौवादित्यः वहां सूर्य इन वाक्यखण्डों में यह विशिष्ट रूप से पाया जाता है। इसके अतिरिक्त असौ का प्रयोग एक फार्मूले की तरह(=अमुक अमुक) किया जाता है जबकि इसके स्थान में प्रकृत व्यक्ति के निजी नाम का निर्देश करना हो। यथा—असौ नाम अयम् इदं रूपः यहां इस रूप के इसका अमुक नाम है (श० ब्रा०)। किसी व्यक्ति को सम्बोधन करने के लिये भी असौ इस सम्बोधन के रूप का इस प्रकार प्रयोग किया जाता है : यथा वा इदं नामग्राहमसा असा इति ह्वयति जैसे कि यहाँ (सामान्य जीवन में) कोई किसी का नाम लेकर बुलाता है तुम वहाँ, तुम वहाँ (मै० सं०)

३. असौ की तरह तं का अनुवाद वह किया जा सकता है पर इसका अर्थ भिन्न होगा। असौ की तरह यह आवश्यक रूप से निर्देशक या स्थानसूचक नहीं है, न ही यह विरोध को सूचित करता है (*यह यहाँ* के प्रतिकूल *वह वहाँ*); यह उस चीज का संकेत करता है जोकि अभी-अभी उल्लिखित होने के कारण अथवा सामान्यरूपेण परिचित होने के कारण पहिले ही ज्ञात होती है।

(क) इस अर्थ की एक अनेकशः पाई जाने वाली प्रवृत्ति यह है कि इसे पूर्ववर्ती संयोजक उपवाक्य के द्वारा ज्ञापित विषय के सम्बन्ध के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। यथा—यं यज्ञं परिभूरसि, स इद् देवेषु गच्छति *जिस यज्ञ को तुम अभिव्याप्त करते हो वह निश्चित ही देवताओं को जाता है* (१.१[४])। पर बहुत बार पूर्ववर्ती उपवाक्य नहीं पाया जाता और इसका मानसिक रूप से अध्याहार करना पड़ता है, बहुत कुछ इस तरह : *जो हमारे मन में है*। उस अवस्था में तं प्रसिद्ध का समानार्थक होता है। इस प्रकार का प्रयोग एक ऋचा के प्रथम मन्त्र में सुतरां स्पष्ट है। यथा—सं प्रत्नथा सहसा जायमानः, सद्यः काव्यानि बळधत्त विश्वा (१.९६[१]) देखो उसने (जो हमारे विचारों में है=प्रसिद्ध अग्नि) *शक्ति के साथ प्राचीन रूप से उत्पन्न किये जाने पर, तत्काल समस्त ज्ञान को आत्मसात् कर लिया* !; तां वां विश्वस्य गोपा यजसे (८.२५[१]) *मैं आप दोनों विश्व के रक्षकों की पूजा करता हूं*।

(ख) तं अन्वादेश में बहुत प्रचुर है। वहाँ यह प्रथम और मध्यम पुरुष के (ब्राह्मणग्रन्थों में उत्तम पुरुष के भी) पूर्वोल्लिखित नामों अथवा सर्वनामों का परामर्श करता है। तब उसका अनुवाद इस रूप में, *अतः* के द्वारा किया जा सकता है। यथा—त्वं वाजस्य श्रुत्यस्य राजसि, सं नो मृळ *तुम्हारा शोभन* [युद्ध में प्राप्त] *लूट के धन पर आधिपत्य है, अतः तुम हम पर दयालु होओ* (१.३६[१२]) ; सा तथा_इत्यब्रवीत्, सा वै वो वरं वृणा इति *उसने कहा हाँ : मैं इस रूप में (=इन प्रस्तावित परिस्थितियों में) तुमसे एक वर माँगूंगी* (ऐ० ब्रा०)। इस प्रकार का वाग्व्यवहार ब्राह्मणग्रन्थों की कथोपकथन शैली का महत्त्वपूर्ण एवञ्च कुछ-कुछ एकरस सा पहलू है। यथा—प्रजापतेस्त्रयस्त्रिंशद् दुहितर आसन्, ताः सोमाय राज्ञेऽददात्, तासां रोहिणीमुपैत्, ता ईर्ष्यन्तीः पुनरगच्छन् *प्रजापति की तीस* [तैंतीस ?] *कन्याएँ थीं, उसने उन्हें राजा सोम को दे* [ब्याह] *दिया; उनमें से वह (केवल) रोहिणी के पास ही गया; वे (शेष) ईर्ष्या के वशीभूत होकर वापिस लौट गईं* (तै० सं०)। जब इस तं और पहिले आ चुके नामपद, जिसका यह परामर्श करता है, (कभी-कभी केवल असाक्षात् रूप से) में पर्याप्त अन्तर हो तो इसका अनुवाद निश्चयवाचक उपपद के द्वारा किया जा सकता है जैसाकि उर्वशी की कहानी के प्रारम्भ का : उर्वशी ह_अप्सराः पुरूरवसमैडं चकमे *उर्वशी नाम की एक अप्सरा ने इडा के पुत्र पुरूरवस् से प्रेम किया* परामर्श कुछ वाक्यों के व्यवधान से इस वाक्य द्वारा किया गया है : तद्ध ता अप्सरस आतयो भूत्वा परि पुप्लुविरे *तब वे अप्सराएं जल के पक्षियों का रूप धर तैरती फिरीं* (श० ब्रा०)।

(ग) अन्वादेश में तं के बाद बहुत बार सभी पुरुषों के पुरुषवाचक सर्वनाम आते हैं (यदि उनका निपात रूप [वे, वस्] हो तो नियमित रूप से उसी में ही), यथा—तं मा सं सृज वर्चसा *तुम मुझे इस अवस्था से वर्चस्वी बनाओ* (१.२३[२३]), सा यज्ञाद् अन्तरगात; सो ऽहमेवं यज्ञसमुदुहम् *तुमने मुझे यज्ञ से बहिष्कृत रखा है : इसलिये मैंने तुम्हारे यज्ञ को गड़बड़ में डाल दिया है* (श०

ब्रा०); हविष्मन्तो विवेम ते; स त्वं नो अद्य सुमना इह—अविता भव हवि लाकर हम तुम्हारी परिचर्या करेंगे; सो तुम आज हमारे लिये दयालु सहायक बन जाओ (१.३६); यदि त्वा—एतद् पुनर्ब्रवतः, सा त्वं ब्रूतात् (श० ब्रा०) यदि वे (दोनों); तुमसे पुनः यह कहें : तब तुम (उनसे कहना); अस्य पीत्वा त्वमा वृत्राणामभवः—तं त्वा वाजयामः इसे पीकर तुम वृत्र-घातक बने : इसलिये हम तुम्हें शक्तिशाली बनाते हैं (२.४९)। इसी तरह प्रयुक्त अन्य रूप हैं : एक० द्वि० ताम्, त्वाम् (यहाँ इनका निपात रूप न होना अपवाद है), च० तस्मै, ते, षष्ठी तस्य, ते, तस्याः, ते; द्वि० तौ, वाम्; बहु० द्वि० तान्, वस षष्ठी तेषाम्, वस्।

(आ) इस प्रकार त के बाद चार निर्देशक सर्वनाम पाये जाते हैं : इदम्, अदस्, त स्वयं हो और उससे अधिक एतद्। यथा—ता—इयमस्मे सनजा पित्र्या धीः यह हम में हमारे पूर्वजों का पुराना स्तोत्र है (३.३९); तस्य वालो न्येजति; तमसु वातो धुनाति इसकी पूंछ लटकती है, उसे हवा हिलाती है (श० ब्रा०); तां ह—एतं न—अति ददाह; तां ह स्म तां पुरा ब्राह्मणा न तरन्ति उस (नदी को) उस (अग्नि) ने जलाते हुए पार नहीं किया उसी को ब्राह्मण पहिले तैर कर पार नहीं किया करते थे; भवत्यस्य—अनुचरो य एवं वेद; स वा एष एकातिथिः; स एष जुह्वत्सु वसति जो यह जानता है उसे अनुयायी मिल जाता है : वह (अनुयायी) ही यह एक अतिथि है; वही (अनुयायी, सूर्य) यज्ञ करने वालों में निवास करता है (ऐ० ब्रा०)।

(इ) प्रथमाविभक्ति के एक० स को ब्राह्मणग्रन्थों में कभी-कभी क्रियाविशेषण की तरह प्रयुक्त किया जाता है (देखिये १८०, पृ० ३३८)

४. यह इस अर्थ के एत का प्रयोग भी त की तरह ही होता है पर इसमें बल अधिक रहता है। इसके द्वारा उसका परामर्श होता है जो कि श्रोता की इन्द्रियों अथवा विचारों में विद्यमान होने के कारण उसे ज्ञात ही होता है।

(क) एत का परस्पर संयोजक रूप में प्रयोग ब्राह्मणग्रन्थों तक ही सीमित प्रतीत होता है। संयोजक उपवाक्य प्रायः इसके बाद आता है। यथा—यो वा एष प्रैति, यो यज्ञे मुह्यति वह पथभ्रष्ट हो जाता है जो यज्ञ में प्रमाद करता है (ऐ० ब्रा०)। जब क्रियापद के

अभाव में केवल किसी शब्दविशेष पर बल देने के लिये नपुं० एक० में संयोजक का प्रयोग भी इसके साथ किया जाय तो इसका स्वरूप कुछ विचित्र ही होता है : स्वर्गं वा एतेन लोकमुपप्र यन्ति यत्प्रायणीयः *लोग उससे स्वर्गलोक में जाते हैं जोकि प्रारम्भिक यज्ञ है* (ऐ० ब्रा०)। इन परिस्थितियों में एतं अकेला रहने पर सदैव संयोजक उपवाक्य के नामपद के लिंग का अनुसरण करता है पर जब कोई संज्ञा शब्द इसके साथ रहता है तो यह उसके लिंग का अनुसरण करता है। यथा—पशवो वा एते यदापः *जल पशु रूप ही हैं* (ऐ० ब्रा०)। इस प्रकार के व्यवहार में यंद् की सविभक्तिकता इस सीमा तक समाप्त हो जाती है कि यह एक व्याख्यात्मक निपात (=*अर्थात्*) ही बन जाता है। इसके बाद आने वाले संज्ञापद की विभक्ति वही होती है जो कि इससे पूर्व आने वाले (पद) की। यथा—एतै॑रत्र‿उभयैरर्थो भवति यद् दे॒वै॑श्च ब्राह्मणै॑श्च *यहाँ दोनों की आवश्यकता है अर्थात् देवताओं की भी और ब्राह्मणों की भी* (श० ब्रा०)।

तं के समान एतं का प्रयोग वेदों और ब्राह्मणग्रन्थों में प्रचुर है जबकि तत्सम्बद्ध पूर्ववर्ती यच्छन्द गम्यमान हो। यथा—एषो॑ उषा॑ व्यु॑च्छति *यह उषा (जिसे हम अपने सामने देख रहे हैं) चमकी है* (१.४६[१]); ते ह‿असुरा असूयन्त इव‿ऊचुर्; यावदेवै॑ष वि॑ष्णुरभिशे॑ते तावद् वो दद्म इति *असुरों ने कुछ अप्रसन्न होकर कहा : जितना (स्थान) यह (सामने विद्यमान) विष्णु लेट कर घेरता है उतना हम तुम्हें देंगे* (श० ब्रा०); युवमेतं॑ चक्रथुः सिन्धुषु प्लवम् *तुम दोनों ने समुद्र में उस नौका (जो हमारे विचारों में प्रत्यक्ष है) को बनाया* (१.१८२[५]); ते॑न‿एतमुत्तरं॑ गिरिमति दुद्राव *उसके साथ वह उस (प्रसिद्ध) उत्तर पर्वत को पार कर गया* (श० ब्रा०); ते एते॑ माये॑ असृजन्त सुपर्णी॑ च कद्रू॑ च *उन्होंने सुपर्णी और कद्रू इन दो (सुप्रसिद्ध) मायासम्भूत सत्त्वों को जन्म दिया* (श० ब्रा०)। अन्तिम दृष्टान्त में एते॑ को अपने अर्थ की पूर्ति के लिये बाद में आने वाले दो नामों के उल्लेख की आवश्यकता है।

(अ) कुछ इसी तरह इस सर्वनाम के बाद ब्राह्मणग्रन्थों में ऐसे शब्द या वाक्य आते हैं जो कि इसे स्पष्ट करते हैं। यथा **सं एताभिर्देवताभिः सयुंग् भूत्वा मरु॑-द्भिर्विशा॒ अग्निना॒ अनीकेन॒ उपप्लायत** वह इन देवताओं के साथ मिलकर मरुतों को सैनिकों के रूप में और अग्नि को नेता के रूप में लेकर आया (मै० सं०); **सं हैतद्दिदर्श; अनशनतया वै मे प्रजाः परा भवन्तीति** उसने यह देखा कि भूख के कारण मेरी प्रजाएं नष्ट हो रही हैं (श० ब्रा०)।

(ख) अन्वादेश में एतं त की अपेक्षा पूर्व-परामृष्ट वस्तु के साथ अपने तादात्म्य को अधिक दृढ़ रूप से अभिव्यक्त करता है। यथा : **अपेत वीत वि च सर्पत॒ अतो; अस्मा एतं पितरो लोकमक्रन्** *चले जाओ, बिखर जाओ, यहां से चल दो : यह स्थान (जिस पर तुम खड़े रहे हो) पितरों ने उसके लिये बनाया है* (१०.१४[९]); अन्तिम मन्त्र में **एष स्तोम इन्द्र तुभ्यम्** (१.१७३[१]) (*हे इन्द्र यह स्तुति आपके लिये है*) यह वाक्य अपने से पहिले की सम्पूर्ण ऋचा का परामर्श करता है; **तदुभयं सम्भृत्य मृदं च॒ अपश्च॒ इष्टकामकुर्वं स्; तस्मादेतदुभयमिष्टका भवति मृच्च॒ आपश्च** *मिट्टी और जल इन दोनों को मिलाकर उन्होंने ईंट बनाई : इसलिये ईंट में दोनों ही चीजें पाई जाती हैं : मिट्टी और जल* (श० ब्रा०)।

५. **त्य** का प्रयोग केवल उस (सुप्रसिद्ध) इस अर्थ में ही होता है। यथा—**क्व त्यानि नौ सख्या बभूवुः** *हम दोनों की उन मित्रताओं का क्या हुआ?* (७.८८[५])। अनेक बार यह **एत** और **इदम्** इन निर्देशक सर्वनामों के रूपों के बाद भी आता है। यथा—**एते त्ये भानव उषस आगुः** *यहाँ वे (पूर्वपरिचित) उषस् की किरणें आई हैं* (७.७५[३]); **इमम् उ त्यमथर्ववदग्निं मन्थन्ति** *वे अथर्वन् की तरह उस (प्रसिद्ध) अग्नि को मथ कर निकालते हैं* (६.१५[१७])। क्रियाविशेषणार्थ में नपुं० के **त्यद्** को कभी-कभी संयोजक **य** के बाद प्रयुक्त किया जाता है; **ह** इस निपात के बाद तो प्रायः ही ऐसा होता है। यथा—**यस्य त्यच्छम्बरं मदे दिवोदासाय रन्धयः** *जिसके (सोम के) मद में तुमने उस समय शम्बर को दिवोदास के अधीन कर दिया।* (६.१५[१७])

६. वह इस अर्थ के अ इस सर्वनाम का अनुदात्त होने पर अपने विशेष्यार्थ में (वह पुरुष वह स्त्री, यह, वे) बलहीन संयोजक के रूप में प्रयोग बहुत बार उपलब्ध होता है (जबकि उदात्तरूप निर्देशक विशेषण होता है।) यथा—यस्य देवँ रासदो बर्हिरग्ने, अहानि अस्मै सुदिना भवन्ति हे *अग्नि जिसकी कुशमयी शय्या पर तुम बैठे हो उसके अच्छे दिन आते हैं* (७.११[३]); या वां शतं नियुतः सचन्ते, आभिर्यातमर्वाक् *जो सौ दल तुम्हारे साथ हैं उनके साथ तुम दोनों यहाँ आना* (७.९१[६]); नकिरेषां निन्दिता मर्त्येषु, ये अस्माकं पितरो गोषु योधाः *मनुष्यों में उनकी निन्दा करने वाला कोई नहीं है जिन हमारे पितरों ने हमारी गायों के लिये युद्ध किया* (३.३९[४])।

विभक्तियां

प्रथमा विभक्ति

१९६. अन्य भाषाओं की तरह (वेद की भाषा में भी) प्रथमा विभक्ति का प्रयोग वाक्य के कर्ता के विषय में किया जाता है।

(क) कतिपय क्रियापदों के योग में कर्ता के साथ-साथ विधेय के रूप में एक द्वितीय प्रथमा विभक्ति का भी प्रयोग किया जाता है, अर्थात् उन क्रियापदों के योग में जिनका अर्थ है *होना, बनना, प्रतीत होना, समझे जाना,* अथवा *अपने को समझना*। यथा—त्वं हि रत्नधा असि *तुम ऐश्वर्य प्रदान करने वाले हो* (१.१५[३]); शिवासः सन्तो अशिवा अभूवन् *मित्र होते हुए वे अमित्र (शत्रु) हो गये हैं* (५.१२[५]); एकविंशतिः सम्पद्यन्ते *वे इक्कीस बन जाते हैं* (तै० सं०)[१]; गोकामा मे अच्छदयन् *वे मुझे ऐसे लगे कि मानों*

---

१. ब्राह्मणग्रन्थों में रूपकृ (रूप अपनाना), जोकि बनना इस अर्थ के भू के समानार्थक है, के योग में विधेय की प्रथमा विभक्ति प्रयुक्त होती है (यथा—विष्णुरूपं कृत्वा विष्णु का रूप धर कर (तै० सं०) :

गायें चाहते हो (१०.१०८[१०]); ऋषिः को विप्र ओहते कौन ऋषि अथवा गायक समझा जाता है (८.३[१४]); अप्रतिर्मन्यमानः अपने को अप्रतिवार्य समझता हुआ (५.३२[३]); सोमं मन्यते पपिवान् वह समझता है कि उसने सोम पिया है (१०.८५[३]); पराभविष्यन्तो मनामहे हम समझते हैं कि हम नष्ट होने को हैं (तै० सं०)।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में विधेयविषयक प्रथमा विभक्ति अपने को कहना इस अर्थ के (आत्मनेपद में ब्रू, वच् और वद्) क्रियापदों के योग में भी पाई जाती है: इन्द्रो ब्राह्मणो ब्रुवाणः इन्द्र अपने को ब्राह्मण कहता हुआ (तै० ब्रा०); हन्ता-वोचथाः तुमने अपने को कातिल कहा है (तै० सं०)।

(आ) ब्राह्मणग्रन्थों में इतिसहचरित प्रथमा विभक्ति का नाम निर्देश करने वाले क्रियापदों के योग में विधेयविषयक द्वितीया विभक्ति के अर्थ में भी प्रयोग होता है। यथा—रासभ इति ह्येतमृषयोऽवदन् चूंकि ऋषियों ने उसे गधा कहा (तै० सं०)।

(ख) कर्मवाच्य के क्रियापदों के योग में विधेय की प्रथमा विभक्ति कर्तृवाची क्रियापद के द्वितीयान्त कर्म के स्थान पर प्रयुक्त होती है। यथा—त्वम्...उच्यसे पिता तुम पिता कहे जाते हो (१.३१[१४])।

(ग) कभी-कभी विधेय की प्रथमा विभक्ति के स्थान पर सम्बोधन पद का प्रयोग भी देखा जाता है। यथा—यूयं हि ष्ठा सुदानवः चूंकि आप पर्याप्त देने वाले हो (१.१५[२]); त्वमेको रयिपते रयीणाम् तुम अकेले ही धन के स्वामी रहे हो (६.३१[१]); गौतम ब्रुवाण तुम जोकि अपने को गौतम कहते हो (श० ब्रा०)। देखिये (१८० नं के अन्तर्गत २ क)।

(अ) चूंकि यह स्पष्ट ही है कि दो सम्बोधनों को च से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता, अतः प्रथम या द्वितीय सम्बोधन के स्थान पर प्रायः प्रथमा का प्रयोग पाया जाता है। यथा—वायविन्द्रश्च चेतथः हे वायु और इन्द्र आपको ज्ञात है (१.२[५]): इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पते हे इन्द्र और बृहस्पति आप सोम पीजिये (४.५०[१०])। देखिये १८० च के अन्तर्गत, १ क, ख।

द्वितीया विभक्ति

१९७ (य) इस विभक्ति को प्रायः क्रियापदों के योग में अनेक प्रकार से प्रयुक्त किया जाता है। इसके सामान्य प्रयोग के अतिरिक्त जिसमें कि यह सकर्मक धातुओं के कर्म को अभिव्यक्त करती है इस का प्रयोग

१ गत्यर्थक धातुओं, उनमें भी विशेषकर गम् और इ और अनतिप्रचुरतया या, चर्, सृ और कतिपय अन्य धातुओं के योग में लक्ष्य को अभिव्यक्त करने के लिये पाया जाता है। कर्म कोई व्यक्ति भी हो सकता है, स्थान भी, चेष्टा भी और स्थितिविशेष भी। यथा—यमं ह यज्ञो गच्छति *यज्ञ यम के पास जाता है* (१०.१४[13]); देवाँ ईदेषि पथिभिः सुगेभिः *तुम सुगम मार्गों से देवताओं के पास जाते हो* (१.१६२[21]); इन्द्रं स्तोमाश्चरन्ति *स्तुतिगीत इन्द्र तक पहुंचते हैं* (१०.४७[7]); सरज्जारो न योषणाम् *जैसे एक प्रेमी प्रेमिका की ओर भागता है वैसे ही वह भी भाग लिया* (९.१०१[14]); मा त्वत् क्षेत्राण्यरणानि गन्म *ऐसा न हो कि हमें तुम्हारे पास से अपरिचित क्षेत्रों में जाना पड़े* (६.६१[??]) सभामेति कितवः *जुआरी सभा को जाता है* (१०.३४[6]); जरितुर्गच्छथो हवम् *तुम दोनों स्तोता के आवाहन पर जाते हो* (८.३५[13]); तव क्रतुभिरमृतत्वमायन् *तुम्हारी मानसिक शक्तियों से वे अमर हो गये* (६.७[4])।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में भी इसी प्रकार का व्यवहार है। यथा—प्रजापतिः प्रजा असृजत, ता वरुणमगच्छन् प्रजापति ने प्रजाओं की सृष्टि की; वे वरुण के पास गईं (तै० सं०); स न दिवमपतत् वह द्यु लोक की ओर नहीं उड़ा, (श० ब्रा०); श्रियं गच्छेयम् ऐसा हो कि मैं समृद्धि को जाऊं (=प्राप्त करूं) (श० ब्रा०)।

२. काल की अवधि (जोकि अपने मूल रूप में सजातीय कर्म का ही एक विशिष्ट रूप है) को अभिव्यक्त करने के लिये भी इसका [द्वितीया का]

प्रयोग पाया जाता है। यथा—शतं जीव शरदो वर्धमानः तुम [नित्य] बढ़ते हुए सौ साल तक जिओ (१०.१६१⁴); सोऽश्वत्थे संवत्सरमतिष्ठत् वह सौ साल तक पीपल में रहा (तै० ब्रा०); तस्मात् सर्वान् ऋतून् वर्षति इसलिये सब ऋतुओं में वर्षा होती है (तै० सं०); संवत्सरतमीं रात्रिमागच्छतात् (श० ब्रा०) एक साल के बाद आने वाली रात में तुम (मेरे पास) आओगे।

३. दूरी की इयत्ता को (जो कि अपने मूल रूप में सजातीय कर्म का ही एक विशिष्ट रूप है) अभिव्यक्त करने के लिए भी इसका प्रयोग पाया जाता है। वेदों और ब्राह्मणों में यह प्रयोग विरल है। यथा—यदाशुभिः पतसि योजना पुरु जब तुम शीघ्रगामी [घोड़ों] से अनेक योजन तय करते हो (२.१६³): स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् चारों ओर से पृथ्वी को आक्रान्त कर चुकने पर वह इससे दस अंगुल बढ़ गया (१०.९०²); सप्तदश प्रव्याधान् आजिं धावन्ति सत्रह बाणों की उड़ानों तक के (फासले तक) वे दौड़ लगाते हैं (तै० ब्रा०)।

४. अकर्मक क्रियापदों के निर्वचन की अथवा अर्थ की दृष्टि से सम्बद्ध सजातीय कर्मों को अभिव्यक्त करने के लिये भी इसका प्रयोग पाया जाता है। यथा—समानमञ्जिं अञ्जते वे एक से आभूषणों से अपने को भूषित करते हैं (७.५७³); यदग्ने यासि दूत्यम् हे अग्नि जब तुम सन्देश लेकर जाते हो (१.१२⁴); त्वया अध्यक्षेण पृतना जयेम तुम्हें साक्षी रूप में पाकर हम युद्धों में विजय प्राप्त करेंगे (१०.१२८¹); तस्माद् राजा संग्रामं जित्वा उदाजम् उद् अजते इसलिये राजा युद्ध जीत चुकने पर अपने लिये लूट का धन चुनता है (मै० सं०); तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरेत् उसे तीन रात तक व्रत रखना चाहिये (तै० सं०)।

(अ) वेद में बहना और चमकना इन अर्थों की धातुओं के योग में तत्त्वाभिधायिनी सजातीय द्वितीया आती है। यथा—ऋतस्य जिह्वा पवते मधु ऋत (सोम) की जिह्वा मधु बहाती है (९.७५²), तस्मा आपो घृतमर्षन्ति

उसके लिये जल घी बहाते हैं (१.१२५[५]), वि यत् सू॒र्यो न रोचते बृ॒हद् भाः जब सूर्य की तरह वह बृहद् ज्योति प्रसारित करता है (७.८[४])।

५. क्रियाविशेषणार्थ में भी इसका प्रयोग पाया जाता है। इस प्रकार के सभी के सभी क्रियाविशेषण द्वितीया के उन भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयोगों से उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने अब एक स्वतन्त्र रूप अपना लिया है। ये दो प्रकार से बनते हैं—(क) या तो विशेष्यों से, यथा—नक्तम् *रात को* (न कि कालवाची शब्द के द्वितीयान्त पद की तरह *रात के समय*), कामम् *स्वेच्छया* (जिसका प्रयोग ऋग्वेद में भी विरल है); यथा—कामं तद्धोता शंसेद् यद्धोत्रकाः पूर्वेद्युः शंसेयुः *होता यदि चाहे तो उसका उच्चारण कर सकता है जिसका कि उसके सहायक पिछले दिन उच्चारण कर सकते हों* (ऐ० ब्रा०); नाम *नाम का*। यथा—मां धुरिन्द्रं नाम देवता (१०.४९[२]) *मुझे उन्होंने देवताओं में इन्द्र इस नाम से* (अथवा *यथार्थ में*) *स्थान दिया है।*

(ख) या नाना प्रकार के विशेषणों से। जब वे *जल्दी, धीमे* (क्षिप्रम्, चिरम्), *बहुत* अथवा *जोर से* (बहु, बलवत्), *अच्छी या बुरी तरह*; *हिम्मत से* (धृष्णु) अथवा दिशा (यथा न्यक्=*नीचे की ओर* इत्यादि) इन अर्थों को अभिव्यक्त करते हैं तो मूल में वे गुणवाचक थे यह जानना चाहिये। यथा बलवद् वाति *जोर से बहता है* (श० ब्रा०); भद्रं जीवन्तः *सुख से जीते हुए* (१०.३७[६])।

(अ) ऐसा प्रतीत होता है कि पूरणप्रत्ययान्त संख्यावाची शब्दों से बने द्वितीयान्त क्रियाविशेषण मूलतः समानाधिकरण शब्द थे। यथा—तान् वा एतान् सम्पातान् विश्वामित्रः प्रथममपश्यत् (ऐ० ब्रा०) इन्हीं सम्पात नाम की ऋचाओं को विश्वामित्र ने सर्वप्रथम (=पहली चीज़ के रूप में) साक्षात् किया।

(आ) कई एक द्वितीयान्त क्रियाविशेषण उपसर्गों और क्रियाविशेषणों से तर और तम लग कर बने तुलनार्थक एवञ्च अतिशयार्थक शब्द हैं। यथा—द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः और अधिक दीर्घ आयु प्राप्त करते हुए (१.५३[११])।

उत्तरकालीन व्यवहार में इनमें से पर्याप्त शब्दों का द्वितीया विभक्ति का स्त्रीलिङ्ग का रूप पाया जाता है। पर ऋग्वेद में केवल एक का ही उपलब्ध हुआ है: **संतरां पादुकौ हर अपने ही छोटे-छोटे पाओं को और अधिक नजदीक लाओ** (७.३३[१९])।

(इ) वत् लगकर बने क्रियाविशेषणों का अपना एक अलग ही वर्ग है जहां कि वत् आने से पूर्व आये नाम द्वारा की गई क्रिया के समान क्रिया हो रही है यह व्यक्त करता है। यथा—**त्वादूतासो मनुर्वद् वदेम** (२.१०[६]) **तुम्हें अपने दूत रूप में पाकर हम मनुष्यों की तरह बोलेंगे** (=जैसा कि मनुष्यों को बोलना चाहिये: उचिततर अर्थ: कुछ ऐसी चीज जो कि मनुष्यों के पास है।)

(ई) द्वितीयान्त क्रियाविशेषणों का एक अन्य वर्ग अनेक प्रकार के विशेषणीभूत समासों से बनता है और वे सजातीय द्वितीयान्त पदों के समकक्ष होते हैं। इनमें से अनेक अभावार्थक निपात अ लगा कर बनते हैं। यथा—**देवाश्छन्दोभिरिमाँल्लोकाननपजय्यमभ्यजयन् देवताओं ने (अजेय रूप से=) अपुनरादेय रूप से इन लोकों को छन्दों के द्वारा जीत लिया** (तै० सं०)।

(उ) एक अन्य वर्ग जोकि वेदों में अपेक्षाकृत बहुत कम प्रयुक्त हुआ है पर ब्राह्मणग्रन्थों में प्रचुर है इस प्रकार का विशेषणीभूत समास है जहांकि द्वितीया उपसर्गवशात् आती है। यथा—**अनुकामं तर्पयेथाम् आप जितना जी चाहे अपने को तृप्त कीजिये** (१.१७[३]); **अधिदेवतम् देवता के विषय में** (श० ब्रा०)। सम्भवतः इनमें से कुछेक के सादृश्य का अनुसरण कर ऐसे अन्य समास भी बने जिनमें कि पूर्वपद उपसर्ग न होकर संयोजक य से बना एक क्रियाविशेषण है। यथा—**यथाकामं नि पद्यते वह स्वेच्छया [शय्या में] लेट जाती है** (१०.१४६[५]); **यावज्जीवम् (जबतक=) जीवनभर** (श० ब्रा०)। कतिपय अन्य क्रियाविशेषणीभूत समासों को **अम्** क्त्वार्थक कृदन्त रूपों की तरह प्रयुक्त किया जाता है। यथा—**स्तुकासर्गं सृष्टा भवति यह वेणी की तरह गुंथी रहती है** (श० ब्रा०)।

१९७ (अ) द्वितीया विभक्ति का मुख्यरूपेण प्रयोग धातुज नामपदों से पाया जाता है। परस्मै० और आत्मने० के सभी कालकृदन्तों और शुद्ध तुमर्थ कृदन्त रूपों के योग में प्रयुक्त होने के अतिरिक्त यह वेद में धातु अथवा

प्रकृतियों से लगभग दस कृत्य प्रत्यय लगकर बने कर्तृवाची नामपदों के योग में भी प्रयुक्त होती है। ये नामपद सामान्य धातु (जबकि इसका किसी उपसर्ग के साथ समास हो चुका हो) अथवा अ (जबकि प्रकृति का उपसर्ग के साथ समास हो चुका हो), अनि (लुङ अथवा सन् प्रकृति से), इ (सामान्यतया साभ्यास धातु से), ईयस् और इष्ठ (तुलनार्थक और अतिशयार्थक प्रत्यय), उ (सन्नन्त प्रकृतियों से), उक (वेद में सुतरां विरलप्रयुक्त है), तर् (धातु के उदात्त होने पर), वन् (समस्त होने पर), स्नु णिजन्त प्रकृतियों से)—इन प्रत्ययों के लगने से बनते हैं। कतिपय रूप इन् इस तद्धित प्रत्यय के लगने से भी बनते हैं। इन कर्तृपदों के योग में प्रयुक्त होने वाली द्वितीया विभक्ति के उदाहरण हैं: देवाँस्त्वं परिभूरसि *तुम देवताओं को परिवेष्टित करते हो* (५.१३[६]); दृळ्हा चिदारुजः *जो दृढ हैं उन्हें भी तोड़ता हुआ* (३.४५[२]); त्वं नो विश्वा अभिमातीः सक्षणिः *तुम हमारे सब शत्रुओं का दमन करते हो* (८.२४[२६]); शतं पुरो रुरुक्षणिः (९.४८[२]) *सौ दुर्गों को नष्ट करने को तैयार*; इन्द्रा ह रत्नं वरुणा धेष्ठा *इन्द्र और वरुण भरपूर धन देते हैं* (४.४१[३]); वत्सांश्च घातुको वृकः (अथर्व० १२.४[७]) *और भेड़िया बछड़ों को मारता है*; दाता राधांसि शुम्भति *धन देते हुए वह चमकता है* (१.२२[८]); प्रातर्यावाणो अध्वरम् *यज्ञ में प्रातः पहुँचते हुए* (१.४४[१३]); स्थिरा चिन्नमयिष्णवः *तुम जोकि सख्त चीजों को भी झुकाना चाहते हो* (८.२०[१]); कामी हि वीरः सदमस्य पीतिम् *चूंकि वीर सदैव इसका एक घूंट चाहता है* (२.१४[१])।

(अ) जिन उपसर्गों के योग में द्वितीया आती है, तद्युक्त अञ्च् धातु से बने कतिपय विशेषणों के योग में भी वही विभक्ति (द्वितीया) आती है। इस प्रकार के रूप हैं प्रत्यञ्च् (=सामने) और अन्वञ्च् (=पीछे)। यथा—प्रत्यङ्ङुषसमुर्विया वि भाति उषा के सामने (अग्नि) दूर-दूर तक चमकती है (५.२८[१]), तस्मादन्वची पत्नी गार्हपत्यमास्ते इसलिये पत्नी गार्हपत्य अग्नि के पीछे की ओर बैठती है (श० ब्रा०)। किञ्च सम्भृततार्थक सम्यञ्च् के योग में भी द्वितीया पाई जाती है। यथा—ओषधीरेवै—एनं सम्यञ्चं दधाति वह उसे वनस्पतियों

के सम्पर्क में लाता है (मै० सं०); पर इस विशेषण (सम्यञ्च्) के योग में तृतीया विभक्ति भी आती है जो कि सम् वाले समास के लिये स्वाभाविक ही है।

(आ) ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मणग्रन्थों में केवल इन्हीं नामपदों के योग में ही द्वितीया विभक्ति आती है—उप्रत्ययान्त सन्नन्त विशेषण, उक प्रत्ययान्त सामान्य विशेषण (जिनका प्रयोग पर्याप्त प्रचुर है) एवञ्च इन्नन्त विशेषण। यथा—पाप्मानमपजिघांसुः पाप को परे भगाना चाहता हुआ (ऐ० ब्रा०), सर्पा एनं घातुकाः स्युः शायद साँप उसे काटें (मै० सं०), अप्रतिवाद्येनं भ्रातव्यो भवति, उसका शत्रु उसकी बात काटता नहीं (ऐ० ब्रा०)।

(ग) उपसर्गों के योग में अन्य किसी विभक्ति की अपेक्षा द्वितीया ही अधिक प्रयुक्त होती है। जिन शुद्ध उपसर्गों के साथ यह वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनपवाद रूप से सम्बद्ध है वे हैं : अ॑ति (*परे*), अ॑नु (*पश्चात्*), अ॒भि (*आभिमुख्येन*), प्र॒ति (*प्रतिकूल*), ति॒रस् (*पार*); और केवल वेद तक ही सीमित—अ॑च्छ (*की ओर*)। गौण रूप से यह उन अन्य उपसर्गों के योग में भी प्रयुक्त होती है जिनके योग में मुख्यरूप से अन्य विभक्तियां आती हैं। (देखिये १७६,१,२)। किञ्च इन विशेषणीभूत उपसर्गों के योग में भी एकमात्र द्वितीया का प्रयोग होता है : अ॒न्त॒रा (*मध्य में*); अ॒भि॒तस् (*चारों ओर*); उ॒परि (*ऊपर*) और स॒नि॒तु॑र् (*से पृथक्*)। गौणरूप से कतिपय अन्य शब्दों के प्रयोग में भी द्वितीया का प्रयोग देखा जाता है (देखिये १७७.१-३)।

(अ) वि॑ना (विना, सिवाय) यह उपसर्ग जिसका सर्वप्रथम प्रयोग ब्राह्मणग्रन्थों में उपलब्ध होता है (और वहां भी जो केवल एक ही बार देखने में आया है) के योग में द्वितीया विभक्ति आती है। विनार्थक ऋ॒ते॑ के योग में ऋग्वेद में केवल पञ्चमी विभक्ति ही आती है पर ब्राह्मणग्रन्थों में इसके योग में द्वितीया आने लगी है (जैसाकि वेदोत्तरकालीन संस्कृत में प्रायः देखा जाता है)।

(आ) ब्राह्मणग्रन्थों में कितने ही क्रियाविशेषणों के योग में द्वितीया विभक्ति आती है (ये क्रियाविशेषण या तो दिग्देशसम्बन्ध को अभिव्यक्त करने वाले सर्वनामों से तस् प्रत्यय लगकर बने हैं या विशेषणों और संज्ञापदों के तृतीयान्त रूप हैं)। इस प्रकार

के क्रियाविशेषण हैं : अग्रे॑ण सामने, अ॑न्तरेण मध्य में, उ॑त्तरेण उत्तर की ओर, द॑क्षिणेन दाहिनी ओर अथवा दक्षिण दिशा की ओर, प॑रेण परे, उभय॑तस दोनों ओर ।

(इ) ब्राह्मणग्रन्थों में दो विस्मयादिबोधक शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति आती है । इनमें से एक एद् (लो, देखो) (तुलना कीजिये लैं० एन) से पूर्व सदैव कोई गत्यर्थक क्रियापद आता है जिसका कि कभी-कभी अध्याहार भी करना पड़ता है । यथा—ए॑याय वायु॑र्, ए॑द्वृतं॑ वृत्र॑म् वायु (देखने के लिये) आया : देखो, वृत्र मर चुका था (श० ब्रा०); पु॑नरे॑म इ॑ति दे॑वा, ए॑दग्नि॑ तिरो॑-भूतम् देवताओं ने कहा 'हम वापिस लौट रहे हैं', (वे वापिस आये और) देखा अग्नि तिरोहित हो चुका था (श० ब्रा०) । एक अन्य शब्द धिक् जिसे कि व्यक्तिविशेषवाची शब्द के द्वितीयान्त रूप के साथ प्रयुक्त किया जाता है ब्राह्मणग्रन्थों में भी विरलप्रयुक्त है । यथा—धिक्त्वा जाल्म अस्तु अरे दुष्ट तुम्हें धिक्कार हो (का० ब्रा०) ।

द्विकर्मकता

१९८. अनेक क्रियापदों के योग में एक और द्वितीया विभक्ति भी आती है । यथा—पु॑रुषं ह वै॑ दे॑वा अ॑ग्रे पशु॑मा लेभिरे आदि में देवताओं ने पुरुष का [यज्ञिय] पशु की तरह वध किया (श० ब्रा०)। किञ्च वेद और ब्राह्मणग्रन्थ इन दोनों में ही यह बोलना (ब्रू, वच्), विचारना (मन्), जानना (विद्), सुनना (श्रु), बनाना (कृ), विधान करना (वि-धा), चुनना (वृ) और नियुक्त करना (नि-धा) इन अर्थों के क्रिया-पदों के योग में विधेय रूप में प्रयुक्त होती है । यथा— श्वा॑नं बस्तो॑ बोधयि-ता॑रमब्रवीत् बकरे ने कहा (कि) कुत्ता जगाने वाला (था) १.१६१[13]); य॑दस्यो॑न्यं॑ पाप॑मवदन् एक ने दूसरे को पापी कहा (श० ब्रा०); अ॑ग्निं॑ मन्ये पिता॑रम् मैं अग्नि को पिता मानता हूं (१०.७[3]); म॑रिष्य॑न्तं चे॑द्य॑जमानं म॑न्येत यदि वह समझता है कि यजमान मरने को (है) (श०ब्रा०); चि॑रं॑ त॑न्मेने उसने चिरकाल तक उस पर विचार किया (श० ब्रा०); विद्मा॑ हि॑ त्वा पुरू॑वसुम् हम जानते हैं कि तुम्हारे पास बहुत धन है (१.८१[8]);

नं वें हतं वृत्रं विद्म नं जीवम् हमें न तो यह मालूम है (कि) वृत्र मर चुका (है) और नहीं (यह कि) वह जीवित है (श० ब्रा); रेवन्तं हिं त्वा शृणोमि मुझे तुम्हारे (बारे में) यह सुनने में आया है (कि तुम) धनी हो (८.२[11]); शृण्वन्त्येनमग्निं चिक्यानम् (तै० सं०) उसके (बारे में) वे सुनते हैं कि उसने अग्निचयन किया है; अस्मान् सु जिग्युषः कृधि हमें पूरी तरह विजयी बनाओ (८.८०[6]); तेषां पूषणमधिपामकरोत् उसने पूषा को उनका अधिपति बनाया (मै० सं०); तस्मा आहुतीर्यज्ञं व्यदधुः उन्होंने आहुतिओं को उसके लिये यज्ञ बनाया (=आहुतिओं का यज्ञ रूप में विधान किया) (मै० ०); अग्निं होतारं प्र वृणे मैं अग्नि का होतृ रूप में वरण करता हूं (३.१९[1]); नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते हे अग्नि मनु ने तुम्हें प्रत्येक व्यक्ति के लिये ज्योति रूप में नियुक्त किया है (१.३६[19] ।

२. सम्बोधित करना (वच्), पूछना (प्रछ्), मांगना (याच्), प्रार्थना करते हुए पास आना (ई, या), दुहना (दुह्), हिलाना (धू), को आहुति देना (यज्), करना (कृ) इन अर्थों वाली धातुओं के साथ प्रधान कर्म के रूप में पदार्थ के साथ-साथ व्यक्ति विशेष की अभिव्यक्ति के लिये भी इस द्वितीय कर्म का प्रयोग किया जाता है। यथा—अग्निं महामवोचामा सुवृक्तिम् अग्नि की स्तुति में हमने महती प्रशस्ति कही है (१०.८०[7]); पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः मैं तुमसे पूछता हूं कि पृथिवी की चरम सीमा क्या है (१.१६४[34]); याज्ञवल्क्यं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि मैं याज्ञवल्क्य से दो प्रश्न पूछूंगा (श० ब्रा०); अपो याचामि भेषजम् मैं जल से आरोग्य मांगता हूं (१०.९[5]); तदग्निहोत्र्यग्निं याचेत् अग्निहोतृ अग्नि से यह मांगे (मै० सं०); वसूनि दस्ममीमहे हम इस चकित करने वाले के पास धन के लिये जाते हैं (१.४२[10]); तत्त्वा यामि मैं इसके लिये आपके पास आता हूं (१.२४[11]); दुहन्त्यूधर्दिव्यानि वे ऊधस् से दिव्य वस्तुएं दुहते हैं (१.६४[5]); इमामिवं सर्वान् कामान् दुहे उससे वह सभी अभीष्ट पदार्थों को (दुहता है=) प्राप्त करता

है (श० ब्रा०); वृक्षं फल॑ धूनुहि *वृक्ष को हिलाकर उससे फल गिरा दो* (३.४५); यजा देवाँ ऋतं बृहत् *देवताओं को बड़े ऋत की आहुति दो* (१.७५); किं मा करन्नबला अस्य सेनाः *उसकी निर्बल सेनाएं मेरा क्या कर सकती हैं ?* (५.३०)।

(अ) ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मणग्रन्थों में उपर्युक्त धातुओं में से वच्, ईं, *यम्, धृ, यज् और कृ दो कर्मों के साथ प्रयुक्त नहीं हुईं।* दूसरी ओर आगम् (पास आना), धा (दुहना), जि (जीतना) और ज्या (से छीनना) का वहां इस रूप में प्रयोग हुआ है। यथा—अग्निर्वै वरुणं ब्रह्मचर्यमा गच्छत्, अग्नि (ने) वरुण (के पास आया=) से पूछा ब्रह्मचारी की क्या स्थिति है (मै० सं०); इमाँल्लोकानधयद् यं यं काममकामयत जो जो उसने चाहा इन लोकों से (दुह लिया=) निकाल लिया (ऐ० ब्रा०) ; देवाअसुरा यज्ञमजयन् *देवताओं ने असुरों से यज्ञ जीत लिया* (मै० सं०); इन्द्रो मरुतः सहस्रमजिनात् *इन्द्र ने मरुतों से सहस्र छीन लिये* (पं० ब्रा०)।

३. किच सामान्य क्रियापदों के साथ प्रयुक्त होने वाले कर्म के साथ साथ णिजन्त क्रियापदों के योग में कर्ता[1] को अभिव्यक्त करने के लिये भी इस द्वितीय कर्म का प्रयोग किया जाता है। यथा—उशन् देवाँ उशतः पायया हविः *स्वयं उत्सुक होते हुए तुम उत्सुक देवताओं को हवि का पान कराओ* (२.३७); तां यजमानं वाचयति *वह यजमान से उनका नाम बुलवाता है* (तै० सं०)। गत्यर्थक धातुओं के योग में द्वितीयकर्म लक्ष्य को अभिव्यक्त करता है (जोकि कभी भी व्यक्ति नहीं होता)[2]। यथा—परामेवं परावतं सपत्नीं गमयामसि *हम सपत्नी को दूरातिदूर जाने के लिये प्रेरित करते हैं* (१०.१४५); यजमानं सुवर्गं लोकं गमयति *वह यजमान को स्वर्ग पहुँचाता है।*

---

१. जिसे कि सामान्य क्रियापद के योग में प्रयुक्त प्रथमा विभक्ति अभिव्यक्त करेगी। यथा—देवा हविः पिबन्ति देवता हवि पीते हैं।

२. जब कि लक्ष्य कोई व्यक्ति हो तो इसे सप्तमी के अथवा सप्तम्यन्त क्रियाविशेषण के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। यथा—अग्नावग्निं गमयेत् वह अग्नि के पास अग्नि भेजेगा (श० ब्रा०); देवत्रा एवं एनद् गमयति वह इसे देवताओं के पास भेजता है। (श० ब्रा०)।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक णिजन्त धातुओं, विशेषकर ग्रह् (पकड़ना), के योग में कर्ता को अनेक बार द्वितीया के स्थान पर तृतीया में प्रयुक्त किया जाता है। यथा— ता वरुणेन‿अग्राहयत् (मै० सं०) उसने वरुण से उन्हें पकड़वाया (=उसने वरुण के द्वारा उनका पकड़ा जाना करवाया)।

(आ) ब्राह्मणग्रन्थों में कर्मणि द्वितीया के साथ-साथ प्रयुक्त हुआ द्वितीय कर्म (ले जाना इस अर्थ की नी के योग में) या तो लक्ष्य को या कालावधि को अभिव्यक्त करता है। यथा—एवमेवं‿एनं कूर्मः सुवर्गं लोकं नयति इस प्रकार कछुआ उसे स्वर्ग लोक को ले जाता है (तै० सं०), तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरेत् उसे तीन रात तक व्रत रखना चाहिये (तै० सं०)।

तृतीया विभक्ति

१९९. (य) इस विभक्ति का मूलभूत अर्थ है *साहचर्य, जिसे सहभाव, करणत्व, कर्तृत्व, हेतुत्व, देश में से होने वाली गति* अथवा *क्रियाभिव्याप्त काल* इनमें से किसी भी अर्थ को अभिव्यक्त करने पर उसी के अनुसार *साथ, द्वारा, में से* आदि शब्दों से कहा जा सकता है।

१. सहार्थ में तृतीया विभक्ति किसी भी क्रिया में कर्ता के सहचर अथवा साहचर्य को अभिव्यक्त करती है। यथा—देवो देवेभिरा गमत् *देवता देवताओं के साथ आये* (१.१[५]); ईन्द्रेण युजा निरपामौब्जो अर्णवम् *इन्द्र रूपी सहचर के साथ तुमने जलौघ को खोल दिया* (२.२३[१८]); ईन्द्रो नो राधसा‿आ गमत् *कि इन्द्र धन के साथ हमारे पास आये* (४.५५[१०])।

ब्राह्मणग्रन्थों में भी यही स्थिति है: अग्निर्वसुभिरुदक्रामत् अग्नि वसुओं के साथ चल दिया (ऐ० ब्रा०); येन मन्त्रेण जुहोति तद् यजुः जिस मन्त्र के साथ वह हवन करता है वही यजु है (श० ब्रा०); तदस्य सहसा‿आदित्सन्त उन्होंने उसे उससे बलात् लेने का प्रयत्न किया (तै० सं०)।

२. अपने करणार्थ में यह उन साधनों को (व्यक्ति या पदार्थ) को अभिव्यक्त करती है, जिनके द्वारा क्रिया सम्पन्न होती है। यथा—वयमिन्द्रेण

सनुयाम वाजम् हम इन्द्र के द्वारा [युद्ध में] लूट का धन प्राप्त करें (१.१०१[११]) अहन् वृत्रमिन्द्रो वज्रेण इन्द्र ने वृत्र पर वज्र से प्रहार किया (१.३२[५]) ।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में भी यही स्थिति है : केन वीर्येण किसने वीर बनकर (श० ब्रा०); शीर्ष्णा वीजं हरन्ति वे सिर (के द्वारा) पर अनाज ले जाते हैं (श० ब्रा०) ; तस्माद् दक्षिणेन हस्तेन-अन्नमद्यते इसलिये भोजन दाहिने हाथ से खाया जाता है (मै० सं०) ।

३. अपने हेत्वर्थ में यह किसी भी क्रिया के हेतु अथवा प्रयोजन को अभिव्यक्त करती है=कारण वश, के लिये । यथा—सोमस्य पीत्या.... आ गतम् सोम पीने के लिये यहाँ आइये (१.४६[१३]) ; अद्धातुर्जनुषा सनादसि पुराने समय से ही स्वभावतः तुम्हारे कोई शत्रु नहीं हैं (१.१०२[८]) ।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में भी यही स्थिति है : स भीषा नि लिल्ये वह डर के मारे छिप गया (श० ब्रा०) ; सो नाम्ना उसका नाम (=नाम से) ।

४. अपने स्थानार्थ में(=में से और ऊपर) जिस स्थान में से या पर कोई क्रिया निरन्तर हो रही हो उसे अभिव्यक्त करने के लिए गत्यर्थक धातुओं के योग में इन का प्रयोग किया जाता है। यथा—दिवा यान्ति मरुतो भूम्या-अग्निरयं वातो अन्तरिक्षेण याति मरुत् आकाश मार्ग से जाते हैं, अग्नि पृथ्वी के ऊपर से जाती है [और] वायु यहां अन्तरिक्ष में से जाती है (१.१६१[१४]) ; अन्तरिक्षे पथिभिः पतन्तम् हे अन्तरिक्षस्थ मार्गों से उड़ते हुए (१०.८७[६]) ।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में मार्ग अथवा द्वारार्थक शब्दों के साथ स्थानार्थ में तृतीया विभक्ति का प्रयोग निरन्तर पाया जाता है पर वही अन्य शब्दों के साथ विरल है यथा—यथा-क्षेत्रज्ञोऽन्येन पथा नयेत् जैसे क्षेत्र को न जानने वाला एक गलत रास्ते को ले जाय (श० ब्रा०); सरस्वत्या यान्ति वे सरस्वती के साथ-साथ जाते हैं(तै० सं०) ।

५. अपने कालार्थ में तृतीयाविभक्ति उस काल को अभिव्यक्त करती है जिसका क्रिया के साथ अत्यन्तसंयोग रहता है। यथा—पूर्वीभिर्ददाशिम शरद्भिः हमने निरन्तर अनेक शरदृतुओं में पूजा की है (१.८६[६]) । पर कभी-

कभी क्रियाभिव्याप्त काल की प्रतीति स्पष्ट नहीं होती। उस समय तृतीया विभक्ति को कालाधिकरण सप्तमी की तरह प्रयुक्त किया जाता है। उदाहरण के लिये—ऋतु॑ना और ऋतु॑भिः। इनका अर्थ है *उचित ऋतु में*।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में कालार्थ विरल है। यथा—**स॑ वा॑ इषुमात्र॑मेवा॑ह्ना तिर्य॑ङ्ङवर्धत** वह दिन भर में चौड़ाई में बिल्कुल एक वाण की लम्बाई जितना बढ़ गया (मै० सं०)।

६. बहुत से तृतीयान्तरूप (अधिकतर सहार्थक एवंच स्थानार्थक) शुद्ध क्रियाविशेषणार्थ में प्रयुक्त होने लग गये हैं। ऐसे रूप विशेष्यों या विशेषणों (जिनके कभी-कभी अन्य कोई रूप नहीं उपलब्ध होते) से बनते हैं। यथा—**अ॑ञ्जसा** *तुरन्त, एकदम*, **म॑होभिः** बलवत्तया, **स॑हसा** और **स॑होभिस्** *अचानक*, **अ॑न्तरेण** *बीच में*, **उ॑त्तरेण** *उत्तर की ओर*, **उच्चै॑स्** *ऊपर*, **नीचै॑स्** *नीचे*, **पराचै॑स्** *अगल बगल*, **प्राचै॑स्** *सामने*, **श॑नैस्** और **शनै॑स्** एवञ्च **शनकै॑स्** धीरे।

(अ) इन बहुत से तृतीयान्त रूपों का क्रियाविशेषण रूप में प्रयोग स्वर परिवर्तन के द्वारा सूचित किया जाता है न कि अर्थ के द्वारा यथा—**दि॑वा** दिन के समय, **दक्षिणा॑** दाहिनी ओर, **मध्या॑** मध्य में, **नक्तया॑** रात के समय, **स्वप्नया॑** स्वप्न में, **अचरण्या॑** पार (ब्रा०)। उकारान्त प्रकृतियों से अनियमित रूप से बनने वाले रूप हैं: **आशुया** शीघ्रता से, **धृष्णुया** साहसपूर्वक, **रघुया॑** शीघ्रता से, **साधुया॑** तुरन्त; एकदम, **मिथुया॑** झूठे ही (**मिथ्या॑** श० ब्रा०), **अनुष्ठुया॑** तत्काल (**अनुष्ठ्या**—ब्रा०), और एक सर्वनाम से **अमुया॑** उस प्रकार से।

१९९. (र) उपरिनिर्दिष्ट सामान्य एवं स्वतन्त्र प्रयोगों के अतिरिक्त तृतीयाविभक्ति भिन्न भिन्न श्रेणी के शब्दों के जो कि इसके नियामक भी कहे जा सकते हैं, विशिष्ट योग में भी प्रयुक्त होती है। यह इन शब्दों के योग में आती है:

१. (क) **क्रियापदों के**—जोकि संयोग अथवा स्पर्धा को अभिव्यक्त करते हैं। यथा ऋग्वेद में: **यत्** व्यूह रचना, **याद्** *मिलाना*, **युज्** *जोड़ना*

(आत्मने०), सच् साथ देना, युध् युद्ध करना, स्पृध् प्रयत्न करना; हास दौड़ लगाना, क्रीड् खेलना। ब्राह्मणग्रन्थों में—युध् युद्ध करना, वि-जि जीत के साथ लड़ना।

(ख) जोकि (किसी) से वियोग को अभिव्यक्त करते हैं (इनका वि के साथ समास पाया जाता है)। ऋग्वेद में—वि-यु से पृथक् करना वि-वृत् से परे हटना, व्यावृत् से पृथक् होना, ब्राह्मणग्रन्थों में—व्यावृत् वही अर्थ [से पृथक् होना] वि-वृध् रहित होना, वि-स्था हटाये जाना, विष्वङ्ङि से दूर हो जाना=खो देना।

(ग) जो कि सुखानुभूति को अभिव्यक्त करते हैं। ऋग्वेद में—कन् आनन्दानुभव करना, मद् मस्त होना, उच् अधिक चाह होना, तुप् तुष्ट होना, मह् आनन्दित होना, हृप् हृष्ट होना, भुज् उपभोग करना। ब्राह्मणग्रन्थों में—तृप् प्रसन्न होना, नन्द् आनन्दित होना, भुज् उपभोग करना।

(घ) जोकि भरने के अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। ऋग्वेद में—पृ भरना (इसके योग में कर्म में यथा) प्राप्त द्वितीया होगी, पी से फूलना। ब्राह्मणग्रन्थों में पृ णिजन्त प्रकृति: पूरय भरना, कर्मवाच्य: पूर्य से भरा जाना।

(ङ) उनके जो कि (कीमत देकर) खरीदना इस अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। यथा वेद में : विक्री (किसी चीज के) बदले में देना। ब्राह्मण-ग्रन्थों में—निष्क्री निर्मोक्षार्थ धन देना।

(च) जो कि पूजा अथवा यज्ञ में (किसी मेध्य पशु या हवनीय द्रव्य की) बलि देना इस अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। यजार्थक यज् धातु के योग में देवतावाचक शब्द वेद और ब्राह्मण दोनों में ही द्वितीया में पाया जाता है। ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञ की तिथि के वाचक शब्द को भी द्वितीया (सजातीय) में रखा जाता है। यथा—अमावस्यां यजते वह अमावस्या का भोज देता है।

(छ) जोकि पद्धति इस अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं जैसे कि वेद और ब्राह्मण इन दोनों में ही प्रयुक्त चर् धातु। यथा—अवेन्या चरति मायया वह निरर्थक माया से आचरण करता है। (१०.७१५); उपांशु वाचा चरति वह धीमी आवाज़ से बोलता हुआ प्रवृत्त होता है (ऐ० ब्रा०)।

(ज) जोकि *काम करने के सामर्थ्य* को अभिव्यक्त करते हैं जैसे कि वेद और ब्राह्मण दोनों में ही प्रयुक्त कृ धातु। उदाहरण है: **किमृचा करिष्यति** *वह ऋचा से क्या करेगा ?* (१.१६४[39]); **किं स तं गृहैः कुर्यात्** *वह उस घर से क्या करता ?* (श० ब्रा०)। ब्राह्मणग्रन्थों में **अर्थो भवति** *उससे प्रयोजन है=उसकी आवश्यकता है* (लैटिन ओपुस् एस्त् अलिक्वरे) इस वाक्यखण्ड का भी इसी प्रकार प्रयोग किया जाता है। यथा—**यर्हि वाव वो मयार्थो भविता** यदि तुम्हें (षष्ठी) *मेरी आवश्यकता होगी* (ऐ० ब्रा०)।

(झ) जोकि *आधिपत्य* को अभिव्यक्त करती है: केवल (वेद में) क्रियापद पत्य *स्वामी होना* (अक्षरार्थ *के द्वारा*) का ही प्रयोग देखा जाता है। यथा—**इन्द्रो विश्वैर्वीर्यैः पत्यमानः** इन्द्र *जोकि समस्त वीरताओं का स्वामी है* (३.५४[15])।

(ञ) जोकि *के आधार पर जीना* इस अर्थ को अभिव्यक्त करती है: केवल (ब्राह्मणग्रन्थों में) जीव् (*=पर जीना, के आधार पर जीना*) इस धातु का प्रयोग उपलब्ध होता है। यथा—**यया मनुष्या जीवन्ति** (*गाय*) *जिस पर मनुष्यों का जीवन निर्भर है* (तै० सं०)।

(अ) क्रियापद के कर्मवाच्य रूपों के योग में (जिसमें कालकृदन्त भी सम्मिलित हैं) तृतीया या तो साधनों को (जैसे कि कर्तृवाच्य के क्रियापद के योग में) या कर्ता (कर्तृवाच्य क्रियापद के योग में प्रयुक्त प्रथमान्तपद) को अभिव्यक्त करती है। यथा—**घृतेन अग्निः समज्यते** अग्नि घी से लीपी जाती है (१०.११८[4]); **उषा उच्छन्ती रिभ्यते वसिष्ठैः** उदीयमान उषा की वसिष्ठ स्तुति करते हैं (७.७६[7])। इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में: **प्रजापतिना सृज्यन्ते** प्रजापति के द्वारा उनकी सृष्टि की जाती है (मै० सं०); **पात्रैरन्नमद्यते** पात्रों की सहायता से भोजन खाया जाता है (मै० सं०)।

(आ) जब क्रियापदों से सम्बद्ध नामप्रतिरूपक शब्द क्त्वान्त व क्त्वार्थक अथवा तुमुन्नन्त व तुमर्थक कृदन्तों के रूप में प्रयुक्त हुए कर्मवाचक होते हैं तो वे भी उसी प्रकार वाक्य में अन्वित होते हैं [अर्थात् उनके योग में भी तृतीया साधन या कर्ता को अभिव्यक्त करती है]। यथा—**नृभिर्हव्यः** लोगों के द्वारा आवाहनीय (७.२२[7]); **रिपुणा न अवचक्षे** शत्रु के द्वारा अनिरीक्षणीय (४.५८[5])।

२. नामपदों के :

(ख) उन विशेष्यों और विशेषणों के (विशेष करके जिनका स के साथ समास होता है) जो कि संसर्ग अथवा तुल्यता इन अर्थों को अभिव्यक्त करते हैं। यथा—नासुन्वता सख्यं वष्टि शूरः शूर *उससे मित्रता नहीं चाहता जो सोमाभिषव नहीं करता* (१० ४२४); असि समो देवैः *तुम देवताओं के बराबर हो* (६.४८११); इन्द्रो वै सदृङ् देवताभिरासीत् *इन्द्र (अन्य) देवताओं के बराबर था* (तै० सं०); आज्येन मिश्रः *घृतमिश्रित* (श० ब्रा०)।

(ख) उन अन्य विशेषणों के, जबकि उसे अभिव्यक्त करना होता है जिसके द्वारा वर्ण्यमान गुण उत्पन्न किया जाता है। यथा—उषो वाजेन वाजिनि *हे [संग्रामलब्ध] धन राशि से समृद्ध उषः* (३.६११); बहुः प्रजया भविष्यसि *तुम सन्तान से समृद्ध होगे* (श० ब्रा०)।

(ग) उन संख्यावाची शब्दों के जिनके साथ कमी को अभिव्यक्त करने के लिये न आता है। यथा—एकया न विंशतिः : *एक (कम) होने से बीस नहीं=उन्नीस।*

३. उपसर्गों के। शुद्ध उपसर्गों का तृतीया के योग में लगभग प्रयोग किया ही नहीं जाता। ऋग्वेद में इसके केवल मात्र अपवाद हैं : स्नु के तृतीयान्त रूप के साथ अधि का प्रयोग; तीन स्थानों में द्युभिस् और घर्मभिस् के साथ उप का प्रयोग और सम्भवतः सहार्थ के सम् का कतिपय मन्त्रों में तृतीया के योग में प्रयोग। पर उपसर्गार्थक क्रियाविशेषणों का इस प्रकार का प्रयोग उपलब्ध होता है। केवल ऋग्वेद में अवस् *नीचे*, और परस् *ऊपर*। वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थ दोनों में ही—सह और साकम् *साथ*। देखिये १७७,२।

चतुर्थी विभक्ति

२००. चतुर्थी विभक्ति उस अभिप्राय को अभिव्यक्त करती है जिससे क्रिया का सम्बन्ध रहता है। या तो यह स्वतन्त्र शब्दों से सम्बद्ध रहती है या बाहुल्येन समूचे कथ्य के पूरक के रूप में प्रयुक्त की जाती है।

(ग) एक विशिष्ट अर्थ में चतुर्थी का प्रयोग किया जाता है :

१. क्रियाओं के योग में (जिनका प्रभाव अधिकतया व्यक्तियों पर पड़ता है) जिनका अर्थ (क) देना होता है। यथा वेद और ब्राह्मणग्रन्थों में—दा देना, धन् बढ़ाना, धा देना, या देना, भज् बाँटना। जैसे—दधाति रत्नं विधते वह पूजक को धन देता है (८.१०)। वेद में दान के विशेष प्रकारों को अभिव्यक्त करने वाली अन्य धातुओं के योग में भी चतुर्थी विभक्ति आती है : क्षिप् (काम) सौंपना, अव दुह् पर दुहना, पृ पूरी तरह देना, पृच् भरपूर देना, मंह् उदारता पूर्वक देना, मा मापना, रा (के लिये) प्राप्त करना, निधृ स्थायी रूप से देना, विद् (के लिये) प्राप्त करना, सन् (के लिये) प्राप्त करना, सू (के लिये) गतिशील बनाना, सृज् (के लिये) छोड़ना और अन्य धातु।

(ख) जिनका अर्थ यज्ञ करना या बलि देना होता है। जैसे वेद में—आवृज् को बलि देना (जब कि यज् के योग में द्वितीया विभक्ति आती है)। वेद और ब्राह्मण दोनों में ही—कृ जबकि इसका अर्थ को बलि देना होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में—आलभ् (पकड़ना और बांधना) बलि देना। यथा—अग्निभ्यः पशूनालभते वह अग्नियों को पशुओं की बलि देता है। (तै० सं०)।

(ग) जिनका अर्थ कहना=घोषणा करना, स्पष्ट करना होता है (पर व्यक्तिवाची द्वितीयान्त पद के योग में यदि ये आयें तो इनका अर्थ होगा सम्बोधित करना): वेद और ब्राह्मण में—अह्, ब्रू, वच्, वद् (ब्राह्मणों में आचक्ष् भी)। वेद में ये धातु भी—अर्च् और गा के लिये गाना, स्तु की स्तुति करना, गृ, रप्, शंस् किसी की [इन धातुओं के योग में (यथा-प्राप्त) द्वितीया होगी] स्तुति करना। ब्राह्मणग्रन्थों में निह्नु से क्षमा मांगना यह धातु भी। यथा—तद् देवेभ्यो नि ह्नुते ऐसा करने से वह देवताओं से क्षमा मांगता है (श० ब्रा०)।

(घ) जिनका अर्थ सुनना हो : ऋग्वेद में कतिपय बार प्रयुक्त श्रु धातु जिसका अर्थ है को सुनना। किन्तु रम् के लिये देर तक रुकना=को सुनना।

(ङ) जिनका अर्थ *विश्वास करना, में भरोसा होना* हो : श्रद्धा। यथा—श्रदस्मै धत्त *उसमें विश्वास रखो* (२.१२५)। ब्रा० में श्लाघ् *में विश्वास रखना* भी।

(च) जिनका अर्थ *लाना* हो : नी, भृ, वह्, हि, हृ। यथा—भर्मा सते वहसि भूरि वामम् *उसके लिए जो कि घर में है तुम बहुत धन लाते हो* (१.१२४१२); देवेभ्यो हव्यं वहन्ति *वे देवताओं के पास हवि ले जाते हैं* (तै० सं०); तं हरामि पितृयज्ञाय देवम् *उस देवता को मैं पितृयज्ञ में लाता हूँ* (१०.१६१०); विशः क्षत्रियाय बलिं हरन्ति *किसान जागीरदारों के पास कर लाते हैं* (श० ब्रा०)। केवल वेद में ऐसी बहुत सी सामान्यार्थक धातुएँ हैं जिनके योग में चतुर्थी आती है। यथा—ऋ, इन्व्, चुद् *तदर्थ चेष्टायुक्त करना*। एवञ्च कतिपय आलंकारिक प्रयोग जैसे, अभिक्षर् *की ओर बहना*: दी और शुच् *पर चमकना*, प्रुष् *पर छिड़कना*, अभि-वा *की ओर उड़ा कर ले जाना* : वेद में गमनार्थक इ धातु के योग में भी चतुर्थी पाई जाती है। यथा—प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म *विष्णु के लिये मेरी यह सशक्त स्तुति प्रवृत्त हो*।

(छ) जिनका अर्थ *प्रसन्न करना* हो : स्वद् के *प्रति स्वादु* और छन्द् को *आनन्ददायक होना*। यथा—स्वदस्व इन्द्राय पीतये *इन्द्र के द्वारा पान किये जाने के लिये सुस्वादु बन जाओ* (९.७४१); उतो तदस्मै मध्विच्चच्छद्यात् *और वह मधु उसे आनन्द प्रदान करे* (१०.७३१)।

(ज) जिनका अर्थ *सफल होना* हो : ब्राह्मणग्रन्थों में—ऋध् और क्लृप्। यथा—न ह एवं अस्मै तत् समानृधे *वह उसमें सफल न* (श० ब्रा०); कल्पतेऽस्मै *वह सफल होता है* (तै० सं०)।

(झ) जिनका अर्थ *अधीन करना* हो : रध्। यथा—अस्मभ्यं वृत्रा रन्धि *हमारे शत्रुओं को हमारे अधीन कर दो* (४.२२९)।

(ञ) जिनका अर्थ *के आगे झुकना* हो : रध् *वशीभूत होना*, नम् और नि-हा *के सामने झुकना*, स्था *आज्ञा मानना*, म्रद् और क्षम् (ब्रा०) *के आगे झुकना*, आव्रश्च् *शिकार होना*। यथा—मो अहं द्विषते रधम् *ऐसा*

न हो कि मुझे मेरे शत्रु के वशीभूत होना पड़े (१.५०[११]); तस्थुः सर्वाय ते वे तुम्हारे शासन का पालन करते हैं (४.५४[५])।

(ट) जिनका अर्थ के साथ क्रुद्ध होना हो : वेद में—हृ (हृणीते); वेद और ब्राह्मणों में : असूय और क्रुध्; ब्राह्मणग्रन्थों में अरातीय विरोधी होना और ग्ला विमुख होना भी।

(ठ) जिनका अर्थ क्षति पहुँचाने की चेष्टा करना हो : वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थों में—द्रुह्। यथा—यद् दुद्रोहिथ स्त्रियै पुंसे तुमने स्त्री और पुरुष का क्या बिगाड़ा है ? (अथर्व०)।

(ड) जिनका अर्थ पर फेंकना हो : वेद में—सृज् छोड़ना, फेंकना; वेद और ब्राह्मणों में अस् फेंकना। ब्राह्मणों में—प्र-हृ फेंकना। यथा—सृजदस्ता दिद्युमस्मै धनुर्धारी ने एक विद्युद्रूप बाण उस पर फेंका (१.७१[५]); तस्मै तामिषुमस्यति वह उस पर बाण फेंकता है (मै० सं०); वज्रं भ्रातृव्याय प्रहरति वह शत्रु पर वज्र फेंकता है (तै० सं०)।

(ढ) जिनका अर्थ सत्ता, किसी के लिये संकल्पित होना अथवा अर्जित रूप में प्राप्त होना हो : अस् होना, भू बनना। यथा—गम्भीरे चिद् भवति गाधमस्मै गहरे जल में भी उसके लिये छिछला भाग होता है (६.२४[८]); इन्द्र तुभ्यमिदभूम हे इन्द्र हम तेरे अपने हो गये हैं (तै० सं०); अथ को मह्यं भागो भविष्यति तब मुझे कितना हिस्सा प्राप्त होगा ? (श० ब्रा०)।

(ञ) कर्ता को अभिव्यक्त करने के लिये क्तान्त व क्त्वार्थक अथच तुमर्थ कृदन्त शब्दों के योग में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग किया जाता है। तुमर्थ कृदन्तों के साथ तो यह द्वितीया के स्थान पर आकर्षण के द्वारा कर्म को भी अभिव्यक्त करती है। यथा—यः स्तोतृभ्यो हव्यो अस्ति जो कि स्तोताओं के द्वारा आवाहनीय है (२.३३[५]); वि श्रयन्तां प्रयै देवेभ्यः देवताओं के प्रवेश के लिये (द्वार) पूरे खुल जायें (१.१४२[६]); इन्द्रमर्कैरवर्धयन्नहये हन्तवा उ उन्होंने साँप को मारने के लिये इन्द्र को स्तुतियों द्वारा शक्तिशाली बनाया (५.३१[४])।

२. चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग कतिपय संज्ञापदों के योग में भी होता है।

(क) ऐसे शब्द वे हैं जो आशीष कहलवाते हैं [अर्थात् आशीष के प्रयोजक हैं] विशेषकर प्रणामार्थक नमस् (जिसे करणार्थक कृ अथच सत्तार्थक अस् के साथ प्रयुक्त किया जाता है। बहुत बार इन धातुओं का अध्याहार करना पड़ता है)। यथा—नमो महद्भ्यः *बड़ों को नमस्कार हो* (१.२७[१३]); नमोऽस्तु ब्रह्मिष्ठाय *सर्वोत्कृष्ट ब्राह्मण को नमस्कार हो* (श० ब्रा०)। इसी प्रकार प्रयुक्त होने वालों में हैं यज्ञ में प्रयुज्यमान परिभाषाएँ— स्वाहा, स्वधा, वषट् जिनका *अर्थ है स्वागत हो, कल्याण हो।* यथा–तेभ्यः स्वाहा *उनका कल्याण हो* (अथर्व०)।

(अ) वेद में शंम् और ब्राह्मणग्रन्थों में कम् ये कल्याणार्थक अव्यय चतुर्थ्यन्त पद के साथ प्रथमा अथवा द्वितीया विभक्ति के रूपों की तरह प्रयुक्त होते हैं। यथा—यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे इसलिये कि मनुष्यों का और पशुओं का कल्याण हो (१.११४[१]); आहुतयो ह्यग्नये कम् चूंकि अग्नि के लिये आहुतियां आनन्द रूप हैं; श० ब्रा०, न॒ अस्मा अकं भवति यह उसे दुःख नहीं देता (तै० सं०)।

(आ) ऐसा प्रतीत होता है कि वेद में सम्भवतः संज्ञापद काम (चाहना) और गातु (मार्ग) के योग में बिना ही क्रियापद के अध्याहार के चतुर्थी विभक्ति आती है। यथा—कृण्वानासो अमृतत्वाय गातुम् अपने लिये अमर होने का मार्ग प्राप्त करते हुए (१.७२[९])।

(इ) (ऋग्वेद के) दस्यवे वृकः (दस्यु के लिये भेड़िया) इस नाम में प्रयुक्त चतुर्थी वह दस्यु के लिये ठीक भेड़िया है इस वाक्य में आई चतुर्थी से उपपादित करनी चाहिये।

३. *प्रिय, दयालु, अच्छा लगाने वाला, लाभदायक, इच्छुक, आज्ञाकारी, दुर्भावनायुक्त, शत्रु* इन अर्थों के विशेषणों के योग में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है। यथा—शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत् *वह मित्रों के प्रति अथच मेरे प्रति दयालु थी* (१०.३४[२]); अतिथिश्चारुरायवे *मनुष्य का प्रिय अतिथि* (२.२[८]); यद् वाव जीवेभ्यो हितं तत् पितृभ्यः *जो जीवित लोगों के लिये हितकर है वही पितरों के लिये भी* (श० ब्रा०); सं रातं-

मना वृश्चनाय भवति (श०ब्रा०) वह (वृक्ष को) काटने के लिये प्रस्तुत है; प्रत्युद्यामिनीं ह क्षत्राय विशं कुर्यात् वह कृषकों को शासक वर्ग का शत्रु बना देगा (श० ब्रा०)।

(अ) ऐसा प्रतीत होता है कि निरपराधार्थक अनागस् इस विशेषण के योग में देवताओं के नामों के साथ प्रायः चतुर्थी आती है पर इस बात का पूरा निश्चय नहीं कि इस विभक्ति का क्रिया के साथ सीधा सम्बन्ध होना चाहिये या नहीं। यथा—अनागसो अदितये स्याम हम अदिति के लिये (=की दृष्टि में) निष्पाप हों (१.२४[१५]) स्याम का सम्भवतः अर्थ है ऐसा हो कि हम निष्पाप रूप में अदिति के हो जायें।

४. चतुर्थी विभक्ति कतिपय क्रियाविशेषणों के योग में भी प्रयुक्त होती है।

(क) अरम् के योग में प्रायः चतुर्थी प्रयुक्त होती है। यथा—ये अरं वहन्ति मन्यवे जोकि (तुम्हारे) उत्साह के अनुसार हाँकते हैं (६.१६[४३])। अरम् का इस प्रकार का प्रयोग कृ, गम् और भू इन क्रियापदों के साथ प्रचुर है। चतुर्थ्यन्त पद के योग में प्रयुक्त अरम् अनेक बार विशेषण के समकक्ष हो जाता है। यथा—सोऽरमा अरम् वह उसके लिये तैयार है (२.१८[८]); अयं सोमो अस्तु अरं मनसे युवभ्याम् यह सोम आपके मन को भाये (१.१०८[२])। ब्राह्मणग्रन्थों में अरम् के स्थान पर अलम् पाया जाता है जोकि प्रायः अरम् की तरह ही प्रयुक्त होता है। यथा—नालमाहुत्या आस, नालं भक्षाय न तो वह आहुति के ही उपयुक्त था और न ही भोजन के (श० ब्रा०)।

(ख) प्रत्यक्षतः इस अर्थ का आविस् वेदों और ब्राह्मणग्रन्थों में चतुर्थ्यन्तपद के योग में केवल तभी प्रयुक्त होता है जबकि इसके साथ कृ, भू या अस् प्रयुक्त होती हैं (इनमें भू या अस् का कभी-कभी अध्याहार करना पड़ता है)। यथा—आविरेभ्यो अभवत् सूर्यः सूर्य उनके सामने प्रकट हुआ (१.१४६[४]); तस्मै वा आविरसाम हम उसके सामने प्रकट होंगे (श० ब्रा०)।

(र) चतुर्थ्यन्तपद सामान्यरूप से समूचे वाक्य के कथ्य का पूरक भी होता है।

१. यह व्यक्ति का अभिधान करता है जिसके लाभ या हानि के लिये वाक्य की क्रिया प्रवृत्त होती है। यथा देवाँन् देवयते यज देवयाजी के *लाभ के लिये देवताओं की पूजा करो* (१.१५[१२]); तस्मा एतं वज्रमकुर्वन् उसके *लिये उन्होंने यह वज्र बनाया* (श० ब्रा०); तस्मा उपाकृताय नियोक्तारं न विविदुः (ऐ० ब्रा०) *जब उसे निकट लाया जा चुका था तो उसके लिये उन्हें कोई बाँधने वाला नहीं मिला* (अर्थात् *उन्हें ऐसा कोई नहीं मिला जो कि उसे बाँधने के लिये सहमत होता*)।

२. जिस उद्देश्य के लिये क्रिया की जाती है उसे भी यह प्राप्त्यार्थ-बोधिका चतुर्थी अभिव्यक्त करती है। (यथा—ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतये *हमारी सहायता के लिये=हमारी सहायता करने के लिये खड़े हो जाओ* (१.३०[६]); नं सुंष्विमिन्द्रो अवसे मृधाति इन्द्र (*अपने*) *भक्त को सहायता के लिये बीच में नहीं छोड़ देगा* (६.२३[१]); स्वर्गाय लोकाय विष्णुक्रमाः क्रम्यन्ते *स्वर्ग के लिये* (*=स्वर्ग प्राप्ति के लिये*) *विष्णु के कदम उठाये जाते हैं* (तै० सं०); अग्निं होत्राय प्रावृणत *उन्होंने अग्नि को होतृकर्म के लिये चुना=इसलिये कि वह होता बने* (श० ब्रा०)। प्राप्त्यार्थ बाहुल्येन सूक्ष्मार्थवाची संज्ञापदों के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है (जिनमें कि वेद में बहुत से तुमर्थ कृदन्त रूप भी शामिल हैं)। यथा—अधि श्रिये दुहिता सूर्यस्य रथं तस्थौ *सूर्य की पुत्री सौन्दर्य के लिये=मोहक प्रभाव उत्पन्न करने के लिये रथ पर जा चढ़ी है* (६.६३[५]); तेन_एवं_एनं सं सृजति शान्त्यै *शान्ति के लिये वह उसको* (*अग्नि का*) *उसके* (*मित्र के*) *साथ मेल करा देता है* (तै० सं०)।

(क) यह अन्तिम प्राप्त्यार्थबोधिका चतुर्थी विशेषकर अस् और भू धातुओं के योग में प्रयुक्त होती है। यथा—अस्ति हि ष्मा मदाय वः *आपके मद के लिये* अर्थात् *आपको मत्त करने के लिये* (*यहाँ कुछ*) *है* (१.३७[१५]);

मदाय सोमः (यहां अस्ति का अध्याहार करना होगा) सोम मद (=के लिये है) पैदा करता है। (श० ब्रा०)।

३. अंग्रेजी के फॉर की तरह कालबोधक वाक्यों में भी चतुर्थी का प्रयोग किया जाता है यद्यपि यह विरल है। यथा—नूनं न इन्द्र अपराय च स्याः हे इन्द्र! *अब भी और भविष्य में भी तुम हमारे रहो* (६.३३[५]); संवत्सराय संमम्यते *वर्ष भर के लिये सन्धि की जाती है* (मै० सं०)।

दिन प्रतिदिन इस अर्थ का आम्रेडित द्वन्द्व दिवेदिवे यद्यपि प्रकट रूप से दिव् का चतुर्थ्यन्त रूप है तथापि सम्भावना है कि वस्तुतः यह दिवे इस परिवर्तित प्रकृति का सप्तम्यन्त रूप है।

४. अर्थ की दृष्टि से सम्बद्ध दो चतुर्थ्यन्त पद प्रायः एकसाथ पाये जाते हैं। वेद में ऐसा तब होता है जब (निकटवर्ती) चतुर्थी प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त के प्रभाव से कर्म में भी चतुर्थी आ जाती है। *यथा*—वृत्राय हन्तवे=वृत्रं हन्तवे *वृत्र का वध करने के लिये* (देखिये २०० य १ ग (क)।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में ऐसा ही प्रयोग पाया जाता है जहां कि तुमर्थ कृदन्त का स्थान भाववाचक संज्ञापद ले लेता है। यथा—यथा इदं पाणिभ्यामवनेजनाय आहरन्त्येवम् जैसे वे उसे हाथ धोने के लिये लाते हैं (श० ब्रा०)। स्था इस क्रियापद के योग में प्रायः दो चतुर्थ्यन्त पद पाये जाते हैं, एक उद्देश्य को अभिव्यक्त करता है और दूसरा उस व्यक्ति को जिस पर क्रिया का प्रभाव पड़ा है। यथा—देवेभ्यः पशवोऽन्नाद्यायालम्भाय न अतिष्ठन्त पशुओं ने यज्ञ के लिए और भोजन के लिए अपने आपको देवताओं के अर्पण नहीं किया (ऐ० ब्रा०)।

५. चतुर्थ्यन्त पदों का क्रियाविशेषण के रूप में प्रयोग अतिविरल है: *के लिये* इस अर्थ के कामाय और अर्थाय को ऐसा [क्रियाविशेषण] समझा जा सकता है; कामचारस्य कामाय *स्वैरगति के लिये* (श० ब्रा०); अस्माकार्थाय जज्ञिषे *तुम्हारा जन्म हमारे लिये हुआ है* (अथर्व०)।

पञ्चमी विभक्ति

२०१. पञ्चमी विभक्ति, जो कि क्रियापद की क्रिया के प्रारम्भ की अवधि को अभिव्यक्त करती है, का अनुवाद नियमित रूप से से के द्वारा किया जा सकता है। मुख्य रूप से यह भिन्न-भिन्न श्रेणी के शब्दों के साथ सम्बद्ध रहती है पर इसका स्वतन्त्र प्रयोग भी पाया जाता है।

(अ) परतन्त्र रूप में पञ्चमी विभक्ति आती है:

१. क्रियापदों के योग में (क) जो कि देशाविकरणक क्रिया को अभिव्यक्त करते हैं। यथा—*जाना, चल पड़ना, सवारी करना , नेतृत्व करना, लेना, ग्रहण करना; उँडेलना, पीना; बुलाना, ढीला करना, हटाना, पृथक् करना*। यथा—ई॒युर्गावो॒ न यव॑सा॒दगो॑पाः वे *चरागाह (गोचर) से अगोपाल रक्षित गोधन की तरह गये* (७.१८[१०]); वृ॒त्रस्य॑ श्व॒सथा॒दीष॑माणाः *वृत्र के फुफकारने से भागते हुए* (३.३६[७]) अस॑तः॒ सद॑जायत *असत् से सत् उत्पन्न हुआ* (१०.७२[३]); अ॒भ्रादि॑व॒ प्र स्त॑नयन्ति वृ॒ष्टयः॑ *मानो बादल से वृष्टियाँ गरज रही हैं* (१०.७५[३]); त्वं दस्यूँ॒रोक॑सो॒ अ॑जः *तुमने घर से शत्रुओं को निकाल भगाया* (७.५[६]); भु॒ज्युं स॑मु॒द्राद् ऊ॑हथुः *तुम दोनों ने भुज्यु को समुद्र से उठाया है* (६.६२[६]); दशो॒ हिर॑ण्यपिण्डान् दिवो॑दासादसानिषम् *दिवोदास से मैंने दस सुवर्णपिण्ड प्राप्त किये हैं*; (६.४७[२३]); अपा॑द् होत्रा॒दुत॑ पो॒त्राद॑मत्त *उसने होता के पात्र से पिया है और वह पोता के पात्र से मस्त हो गया है* (२.३७[४]); मरु॑तो॒ यद्वो॑ दि॒वः ह॑वामहे *हे मरुतो जब हम द्युलोक से तुम्हारा आवाहन करते हैं* (८.७[११]); शुनः॑श्चि॒च्छेप॒ं यू॒पाद॑मुञ्चः *तुमने शुनःशेप को यूप से मुक्त किया* (५.२[७]); यु॒यु॒तम॒स्मद॒निरा॒ममी॑वाम् *रोग और विपत्ति को हमसे दूर कर दो*। (७.७१[२])।

(आ) ब्राह्मणग्रन्थों से उदाहरण हैं: यदि॒ वेद॒न्नाद्याद्धावेत् यदि उसे भागना हो तो वह अपने भोजन से भागे (तै० सं०); स रथात्पपात वह अपने रथ से गिर पड़ा (श० ब्रा०); दि॒वो वृ॒ष्टिरी॑र्ते वृष्टि आकाश से आती है (तै० सं०); ऋषयः कवषमैलूषं सोमादनयन् ऋषि कवष ऐलूष को सोम से दूर ले गये, अर्थात् उसको इससे निर्भाग कर दिया (ऐ० ब्रा०); एनानस्माल्लोकादनुदन्त

उन्होंने उन्हें इस लोक से भगा दिया (ऐ० ब्रा०); तस्मादनस एवं गृह्णीयात् इसलिये उसे चाहिये कि वह उसे शकट से ही ले (श० ब्रा०); केशवात् पुरुषात् सीसेन परिस्रुतं क्रीणाति वह लम्बे केशों वाले व्यक्ति से सीसे के बदले में परिस्रुत् खरीदता है। (श० ब्रा); स एव एनं वरुणपाशान् मुञ्चति वह उसे वरुण के पाश से मुक्त करता है (तै० सं०); सुवर्गाल्लोकाद्यजमानो हीयेत यजमान स्वर्ग से वञ्चित रह जायेगा, (तै० सं०)। अन्तर्धा (छिपाना) और निली (निलीन होना, छिपना) इन दो क्रियापदों के योग में पञ्चमी का प्रयोग केवल ब्राह्मणग्रन्थों में ही पाया जाता है: वज्रेण एनं सुवर्गाल्लोकादन्तर्दध्यात् वह वज्र के द्वारा उसे स्वर्ग से परे रखेगा (तै० सं०); अग्निर्देवेभ्यो निलीयत अग्नि ने देवताओं से अपने को छिपाया (तै० सं०)।

(ख) जो कि *बचाना, रक्षा करना; डरना, न चाहना; अतिक्रम करना, (किसी को अन्य चीज़ की अपेक्षा) अधिक अच्छा समझना* इन अर्थों को अभिव्यक्त करते हैं: उपर्युक्त अर्थों में बाद के दो अर्थों वाली अय च उरुष्य (*बचाना*), रक्ष् (*रक्षा करना*); और रेज् (*काँपना*) इन धातुओं के योग में केवल वेद में ही इस प्रकार की रचना (पञ्चमी का प्रयोग) पाई जाती है। रक्षणार्थक पा और त्रा और भयार्थक भी के साथ यह रचना वेद और ब्राह्मणग्रन्थ इन दोनों में ही पाई जाती है और गोपाय (*रक्षा करना*) और बीभत्स् (*से ग्लानि होना*) इनके साथ यह केवल ब्राह्मणग्रन्थों तक ही सीमित है। यथा—अंहसो नो मित्र उरुष्येत् *मित्र कष्ट से हमें बचाये* (४.५५[५]); स नस्त्रासते दुरितात् *वह दुर्भाग्य से हमारी रक्षा करेगा* (१.१२८[५]); इन्द्रस्य वज्रादबिभेत् *वह इन्द्र के वज्र से डरती थी* (१०.१३८[५]); प्र सिन्धुभ्यो रिरिचे, प्र क्षितिभ्यः *वह नदियों और स्थलों से दूर पहुँच जाता है* (१०.८९[११]); सोमात्सुतादिन्द्रो ऽवृणीत वसिष्ठान् *इन्द्र ने वसिष्ठों को (पाशद्युम्न के) अभिषुत सोम की अपेक्षा अधिक अच्छा समझा* (२.३३[२])।

(क) भी धातु के योग में दो पदों में पञ्चमी पाई जाती है एक तो वह जो उस पदार्थ को अभिव्यक्त करता है जिससे डर लगता है, और दूसरा वह जो उस क्रिया को अभिव्यक्त करता है जो उस (पदार्थ) से

प्रवृत्त होती है। यथा—इन्द्रस्य वज्रादबिभेदभिश्नथः वह इन्द्र के वज्र से एवञ्च इसके द्वारा कुचले जाने से डरती थी (१०.१३८[५]) अर्थात् इससे कि वह (वज्र) उसे कुचल देगा, असुररक्षसेभ्य आसङ्गाद् बिभयांचक्रुः वे *असुरों और राक्षसों से और उनकी आसक्ति से डरते थे अर्थात् कि वे हमारे साथ आसक्ति कर लेंगे* (श० ब्रा०)।

२. संज्ञापदों के योग में जब कि इनका उद्भव पञ्चम्यन्त पद के साथ प्रयुक्त क्रियापदों से हुआ हो अथवा ये उनके समकक्ष हों। यथा—शर्म नो यंसन् त्रिवरूथमंहसः वे *हमें कष्ट से तीन बार त्राण करने वाली शरण देंगे* (१०.६६[५]); उप छायामिव घृणेरगन्म शर्म ते वयम् हम *छाया की तरह जो कि गरमी से (बचाती है) तुम्हारी शरण में आये हैं* (६.१६[३८]); रक्षोभ्यो वै तां भीषा वाचमयच्छन् *उन्होंने राक्षसों के डर से अपनी वाणी पर नियन्त्रण रखा* (श० ब्रा०)।

३. विशेषणों के योग में : वेदों और ब्राह्मणग्रन्थों में तुलनार्थक शब्दों और तदर्थक [तुलनार्थक] विशेषणों के योग में जबकि इसका (पञ्चमी का) अर्थ से होता है। यथा—घृतात्स्वादीयः *घृत से अधिक स्वादु* (८.२४[२०]); विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः *इन्द्र सब से उत्कृष्ट है।* (१०.८६[१]); जातान्यवरणान्यस्मात् *उसके बाद उत्पन्न हुए* (८.९६[६]); पूर्वा विश्वस्माद् भुवनादबोधि *सभी प्राणियों से पहिले वह जाग उठी है* (१.१२३[२]); पापीयानश्वाद् गर्दभिः *गधा घोड़े निकृष्टतर होता है* (तै० सं०); ब्रह्म हि पूर्वं क्षत्रात् *ब्राह्मण जाति क्षत्रिय जाति से उत्कृष्ट होती है* (प० ब्रा०); अन्यो वा अस्मद् भवति *वह हमसे भिन्न हो जाता है* (ऐ० ब्रा०)।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में इन कतिपय देशवाचक और कालवाचक विशेषणों के योग में भी पञ्चमी विभक्ति पाई जाती है : अर्वाचीन नीचे, ऊर्ध्व ऊपर, जिह्म तिरछा; अर्वाञ्च् सामने, पराञ्च् पीछे। यथा—यत् किं च—अर्वाचीनमादित्यात् *जो कुछ भी सूर्य से नीचे है* (श० ब्रा०); एतस्माच्चात्वालादूर्ध्वाः स्वर्गं लोकमुपोदक्रामन् उस गड्ढे से ऊपर की ओर वे स्वर्ग तक पहुँच गये (श० ब्रा०)। यज्ञाज्जिह्मा ईयुः यज्ञ से (तिरछे होकर जाया करते थे—) वञ्चित हो जाते थे;

दश वा एतस्माद्‌र्वाञ्चस्त्रिवृतो, दश पराञ्चः दस त्रिवृत् इसके पहले आती हैं और दस इसके बाद (ऐ० ब्रा०)।

(आ) ब्राह्मणग्रन्थों में उकप्रत्ययान्त विशेषणों, जो कि भू के साथ प्रयुक्त होने पर क्रियापद की कोटि में आ जाते हैं, के योग में भी पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग देखा गया है। यथा—यजमानात्पशवोऽनुत्क्रामुका भवन्ति पशुओं में यजमान से भागने की प्रवृत्ति नहीं होती (ऐ० ब्रा०)।

(इ) ब्राह्मणग्रन्थों में पूरणप्रत्ययान्त और सामान्य संख्यावाची इन दोनों प्रकार के शब्दों योग में भी पञ्चमी विभक्ति प्रयुक्त होती है: पूरणप्रत्ययान्त शब्दों के योग में पञ्चमी गणना की अवधि (जिससे गिनना आरम्भ करते हैं) को अभिव्यक्त करती है। यथा—ईश्वरो ह ऽ स्माद् द्वितीयो वा तृतीयो वा ब्राह्मणता-मभ्युपेतोः उससे (पीढ़ी में) दूसरा या तीसरा ब्राह्मणत्व प्राप्त कर सकता है (ऐ० ब्रा०); सामान्य संख्यावाची शब्दों के योग में यह उस संख्या को अभिव्यक्त करती है जिसके बिना पूरी संख्या अपूर्ण रहती है। यथा—एका न्न शतम् एक से सौ नहीं=निन्यानवे। इसी तरह अपूर्णार्थवाची शब्दों के योग में प्रयुक्त पञ्चम्यन्त पद अल्पत्व की मात्रा को अभिव्यक्त करता है। यथा—एकस्मादक्षरादनाप्तम् (पद्य) जो कि एक अक्षर से अपूर्ण है (तै० सं०); तेषामल्पकादेव—अग्निर-सञ्चित आस उनकी अग्नि (वेदी) थोड़ी सी ही असञ्चित थी, अर्थात् लगभग पूरी तरह सञ्चित थी (श० ब्रा०)।

४. *सामने, परे, बाहिर, नीचे, से दूर, बिना* इन अर्थों के क्रिया-विशेषण पञ्चम्यन्त पद के साथ उपसर्ग के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इनमें जो केवल वेदमात्रगोचर हैं वे हैं: अवस् (*के तले*) अर्वस् (*से नीचे*) आरे (*बिना*) और पुरस् (*सामने*)। जो वेद और ब्राह्मण ग्रन्थ इन दोनों में पाये जाते हैं वे हैं: ऋते (*बिना*), तिरस् से *पृथक्*, परस् *बाहिर* और पुरा *पहिले*। जो केवल ब्राह्मणग्रन्थमात्रगोचर हैं वे हैं: अन्यत्र *से दूर*, बहिस् *बाहिर*। (देखिये १७७,३)।

(क) ब्राह्मणग्रन्थों में कतिपय अन्य देशवाचक अथवा कालवाचक क्रिया-विशेषणों के योग में भी पञ्चमी प्रयुक्त होती है। यथा—दूरं ह वा अस्मान् मृत्युर्भवति मृत्यु उससे दूर है (श० ब्रा०); तस्मान्मध्यमाच्छङ्कोर्दक्षिणा

पञ्चदश विक्रमान् प्र क्रामति वह बीच के खूंटे के दाहिनी ओर से आगे की तरफ पन्द्रह कदम चलता है (श० ब्रा०), प्राग्घोमात् हवि (अर्पण) करने से पूर्व (ऐ० ब्रा०)।

(२) इस कारण से इस अर्थ में किसी क्रिया के हेतु को अभिव्यक्त करने के लिये पञ्चम्यन्त पद किसी अन्य वर्ग विशेष के शब्द की अपेक्षा न करते हुए प्रयुक्त होता है। यथा—मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः हे देव इस पाप के कारण हमें कोई हानि न पहुँचे (७.८९⁵); अनृतादृ ताः प्रजा वरुणोऽगृह्णात् उनके अपराध के कारण वरुण ने उन प्रजाओं को पकड़ लिया (मै० सं०)। ब्राह्मणग्रन्थों में भी यही पद्धति है: तस्माद् इसलिये; कस्मात् किस कारण से?

षष्ठी विभक्ति

२०२. अपने मुख्य प्रयोगों में क्रियापदों और संज्ञापदों से सम्बद्ध होने के कारण एवञ्च विशेषणों और क्रियाविशेषणों के योग में प्रयुक्त किये जाने के कारण षष्ठी एक पराश्रित विभक्ति है।

(च) क्रियापदों के योग में षष्ठी विभक्ति का वही अर्थ होता है जो कि द्वितीया का पर षष्ठी का द्वितीया से यह भेद है कि यह (षष्ठी) उस क्रिया को अभिव्यक्त करती है जिसका प्रभाव सारे पदार्थ पर न पड़ उसके एक अंश पर पड़ता है। यह इन अर्थों के क्रियापदों के योग में प्रयुक्त होती है:

(क) शासन करना, नियन्त्रण करना: क्षि और राज् के योग में सदैव और इरज्य और ईश् के योग में लगभग सदैव (जिनके योग में द्वितीया विरल है)। ब्राह्मणग्रन्थों में इस अर्थ की केवल एकमात्र धातु जिसके योग में षष्ठी आती है ईश् है जिसका अर्थ है पर अधिकार होना। यथा—अथ एषां सर्व ईशे तब उन पर हरेक का अधिकार होता है (मै० सं०)।

(ख) *आनन्द मनाना* : तृप्, प्री और वृध् के योग में सदैव पर कन् और मद् (जिनके योग में तृतीया और सप्तमी भी आती हैं) और पन् के ण्यन्त रूप (जिसके योग में द्वितीया भी आती है) के योग में विकल्प से षष्ठी प्रयुक्त होती है।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में इस वर्ग की एकमात्र धातु जिसके योग में अवयवार्थक षष्ठी विभक्ति आती है तृप् है। यथा—*अन्नस्य तृप्यति* वह (कुछ) अन्न से अपने को तृप्त करता है (श० ब्रा०)।

(ग) *ध्यान में रखना* : कृ के म० पु० (*स्तुति करना*) और स्मृ-*के बारे में सोचना या ध्यान रखना* के योग में सदैव, पर चित् *ध्यान से देखना, अवधान देना*, बुध् *ध्यान में रखना;* अविद्, अविनम्, अविगा *अवधान देना, ध्यान रखना*, विद् के *विषय में जानना* (द्वितीयान्त पद के योग में—*पूरी तरह जानना*), श्रु *सुनना* (सुने जाने वाले व्यक्ति के वाचक शब्द के योग में षष्ठी और पदार्थ के वाचक शब्द के योग में द्वितीया का प्रयोग होता है) इन धातुओं के योग में विकल्प से षष्ठी और द्वितीया दोनों विभक्तियां आती हैं।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में इस वर्ग की केवल तीन धातुओं के साथ इस प्रकार की वाक्यरचना पाई जाती है : विद् और श्रु (जैसे कि ऋग्वेद में) अथच कीर्तय, चर्चा करना।

(घ) *अवयविता* (जब कि उन्हीं क्रियापदों के योग में द्वितीयान्त पद पूर्णमात्रा को अभिव्यक्त करता है) :

१. *खाना, पीना* : अश् *के अंश को खाना*, अद् *खाना* (जिसके योग में लगभग अनपवाद रूप से द्वितीया पाई जाती है); पा *पीना;* आवृष् *अपने को पूरी तरह भर लेना*, वी और जुष् *उपभोग करना*।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में खादनार्थक भक्ष् के अतिरिक्त (जो कि ऋग्वेद में द्वितीयान्त पद के योग में ही प्रयुक्त होती है) केवल अश् और पा धातुओं के योग में ही अवयवषष्ठी पाई जाती है।

२. देना, भेंट करना, उपहार अर्पित कर पूजा करना : दा देना आददात्स्य और शक् भेंट करना; पृच् बहुत देना; यज् पूजा करना (इनके योग में व्यक्तिवाचक शब्द के साथ द्वितीया का प्रयोग होगा और पूजा के लिये अर्पित पदार्थ के वाचक शब्द के साथ षष्ठी का), यथा सोमस्य त्वा यक्षि मैं सोम की (आहुति के द्वारा) आपकी पूजा करूंगा (३.५३[२])।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में व्यक्तिवाची द्वितीया के योग के बिना यज् का प्रयोग किया जा सकता है। यथा—तस्मादाज्यस्यैव यजेत् इसलिये उसे कुछ घी की आहुति डालनी चाहिये (श० ब्रा०)।

(आ) ब्राह्मणग्रन्थों के दान तथा आदान इन सामान्य अर्थों वाली अनेक धातुओं के योग में अवयवावयविसम्बन्धवाचक कर्म षष्ठी का प्रयोग प्रारम्भ हो जाता है जो कि वेद में उपलब्ध नहीं होता : वप् बिखेरना, हु अर्पण करना, अभिघर् पर उँडेलना, अवदा कुछ काटकर अलग करना, आश्चुत् बूँद-बूँद गिरना, उपस्तृ बिछाना, निहन् (अथर्व०) और प्रहन् प्रहार करना, विखन् कुछ खोदना, अश् के अंश को लेना और कर्मवाच्य में पकड़ा जाना=(शरीर के एक अङ्ग में) कष्ट अनुभव करना, यथा—न चक्षुषो गृहे उसकी आँख में कष्ट नहीं है (मै० सं०) : यो वाचो गृहीतः जिसे कण्ठरोध है (मै० सं०)।

(इ) ब्राह्मणग्रन्थों में निमन्त्रणार्थक अनु-ब्रू के योग में देवतावाची शब्दों से चतुर्थी एवञ्च जिसमें उन्हें निमन्त्रित किया जाता है तद्वाचक शब्दों से षष्ठी प्रयुक्त होती है। यथा—अग्नीषोमाभ्यां मेदसोऽनु ब्रूहि अग्नि और सोम को मेदस् में निमन्त्रित कीजिये (श० ब्रा०)।

(उ) प्राप्त करना, के लिये कहना : भज् में भाग लेना (द्वितीया के योग में प्राप्त करना); भिक्ष् की याचना करना : ई और ईड् किसी (वस्तु) के लिये प्रार्थना करना (सामान्यतः इनके योग में व्यक्तिवाची अथवा पदार्थवाची शब्दों का द्वितीयान्त रूप प्रयुक्त होता है)। यथा—तमीमहे इन्द्रमस्य रायः हम इसमें से कुछ धन के लिये इन्द्र से याचना करते हैं (६.२२[३]); ईयते वसूनाम् उसके कुछ धन के लिये उससे प्रार्थना की जाती है (७.३२[५]); किन्व आयु अपने अधिकार में लेना।

(अ) इन धातुओं में से ब्राह्मणग्रन्थों में भज् का प्रयोग बना रहता है :

षष्ठ्यन्त पद के योग में इसका अर्थ होता है किसी (चीज) में हिस्सा होना। द्वितीयान्तपद के योग में अर्थ होता है हिस्से के रूप में पाना।

(च) *किसी का होना* : वेद और ब्राह्मणग्रन्थ इन दोनों में ही अस् और भू के योग में स्व-स्वामिभावसम्बन्धवाचक षष्ठी का प्रयोग पाया जाता है। यथा--अस्माकमस्तु केवलः *वह केवल हमारा हो* (१.७[१०]); अथ‿अभवत् केवलः सोमो अस्य *तब सोम केवल उसका हो गया* (७.९८[५]); मनोर्ह वा ऋषभ आस *मनु के पास एक बैल था* । (श० ब्रा); तस्य शतं जाया बभूवुः *उसकी सौ पत्नियाँ थीं* (ऐ० ब्रा०)।

(र) वर्गद्वय के संज्ञापदों के योग में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया जाता है।

१. यह धातुज संज्ञापदों पर आधारित है और बाद में क्रियापदों (विशेष कर वे जो स्वामित्ववाचक हैं) के योग में प्रयुक्त होने वाली षष्ठी से सम्बद्ध कर दी जाती है।

(क) *कर्तरि षष्ठी* जोकि सजातीय क्रियापद के द्वारा अभिव्यक्त क्रिया के कर्ता को कहती है। यथा—उषसो व्युष्टौ *उषा के उदय होने पर*= *जब उषा का उदित होती है*; अपक्रमाद्ध ह‿एषं‿एवाग्नेर्द्विभयाञ्चकार *वह उनके जाने से डरता था* (श० ब्रा०)=*इसलिये कि वे भाग जायेंगे*। यह पर्याप्त प्रचुरतया चतुर्थ्यन्तों के योग में भी पाई जाती है। यथा--यज्ञस्य समृद्ध्यै *यज्ञ की सफलता के लिये* (तै० सं०)=*इसलिये कि यज्ञ सफल हो*।

(ख) *कर्मणि षष्ठी* जोकि सजातीय क्रियापद के द्वारा अभिव्यक्त कर्म को कहती है। यथा—योगो वाजिनः *घोड़े का जोतना*=*वह घोड़े को जोतता है*; पुरा वृत्रस्य वधात् *वृत्र के वध से पूर्व* (श० ब्रा०)=*उसके वृत्र को मारने से पहिले*। यह चतुर्थ्यन्तों के योग में भी प्रायः उपलब्ध होती है। यथा--यजमानस्य‿अहिंसायै *यजमान की अहिंसा के लिये* (मै० सं०)=*इसलिये कि यजमान की कोई हिंसा न हो*।

(अ) इस प्रकार की षष्ठी का प्रयोग कर्त्रर्थक नामपदों के योग में, विशेष कर वे जिनके अन्त में तृ आता है प्रचुर है। यथा—रायो दाता धन देने वाला (६.२३[१०]); पूषा पशूनां प्रजनयिता पूषा पशुओं की सन्तान वृद्धि करने वाला है (मै० सं०)। पर वेद में धातु के उदात्त होने पर अन्त कर्त्रर्थक नामपदों के योग में कतिपय अपवादों के साथ द्वितीया का प्रयोग पाया जाता है। यथा—दाता वसु धन देने वाला (६.२३[१])।

२. षष्ठी साधारणतया अधातुज संज्ञापदों पर आधारित रहती है। उस अवस्था में इसके दो अर्थ होते हैं :

(क) स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध। यथा—वेः पर्णम् *पंछी का पंख =पंख जोकि पंछी का है;* देवानां दूतः *देवताओं का दूत।* इस प्रकार के शब्दों से बने भाववाचक नामपदों के योग में भी यह पाई जाती है। यथा—आदिद् देवानामुप सख्यमायन् *तब वे देवताओं के साथ मित्रता को प्राप्त हो गये=तब वे देवताओं के मित्र हो गये।*

(अ) क्तान्त पद के योग में पाई जाने वाली कर्तृत्वगमक षष्ठी स्वस्वामिभाव-वाचक षष्ठी का ही एक भेद है। ऋग्वेद में यह पहिले ही कुछेक बार पाई जाती है पर ब्राह्मणग्रन्थों में बहुधा प्रयुक्त है। यथा—पत्युः क्रीता (मै० सं०) पति की खरीदी हुई (पत्नी)=वह पत्नी जो कि पति ने खरीदी थी।

(आ) क्त्वान्त और कृत्यार्थक कृदन्तों के योग में भी षष्ठी का एवंविध प्रयोग उपलब्ध होता है। यथा—अन्यस्य बलिकृदन्यस्याद्यः किसी और को कर देता हुआ और किसी के द्वारा निगला जाने वाला (ऐ० ब्रा०)।

(इ) बहुधा उस स्थान पर स्वस्वामिभाववाचक षष्ठी का प्रयोग पाया जाता है जहां कि हम चतुर्थी का प्रयोग करना चाहेंगे। यथा—तस्य ह पुत्रो जज्ञे उसका एक पुत्र उत्पन्न हुआ=उसके यहां एक पुत्र उत्पन्न हुआ (ऐ० ब्रा०)।

(ई) ऐ० ब्रा० में कभी-कभी विश्वासार्थक श्रद् धा और दानार्थक दा के योग में चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग पाया जाता है। सम्भव है यह प्रयोग स्वस्वामिभाव इस अर्थ से प्रारम्भ हुआ हो।

(ख) अवयवावयविसम्बन्धवाचक षष्ठी अवयवी के अवयव को व्यक्त करती है। यथा—मित्रो वै शिवो देवानाम् *मित्र देवताओं में दयालु*

है (तै० सं०)। यदि षष्ठी बहु० उसी शब्द से लाया हो जिससे कि वह सम्बद्ध हो तो वह अतिशयमात्र का बोध कराता है। यथा—सखे सखीनाम् हे *मित्रों में मित्र=हे सर्वश्रेष्ठ मित्र* (१.३०[११]); मन्त्रकृतां मन्त्रकृत् मन्त्रकृतों में सर्वश्रेष्ठ मन्त्रकृत् (ब्रा०)।

(अ) इस प्रकार की षष्ठी विशेष रूप से तुलनार्थक एवञ्च अतिशयार्थक शब्दों के (जिनमें प्रथम और चरम आदि भी शामिल हैं) योग में पाई जाती है। यथा—न परा जिग्ये कतरश्चनैनोः इन दोनों में से कोई भी नहीं जीत पाया (६.६९[८]); गर्दभः पशूनां भारभारितमः पशुओं में गधा सब से अच्छा भार उठाने वाला है (तै० सं०)।

(आ) यह (षष्ठी) बीस से आगे की संख्या के वाचक शब्दों (ब्राह्मणग्रन्थों में सहस्रम् के योग में ही) एवञ्च भाग और मात्रा के द्योतक शब्दों के योग में भी प्रयुक्त होती है। यथा—षष्टिर्नश्वानाम् घोड़ों के (समुदाय का) षष्टिसंख्यक एकादेश; गोनामर्धम् गायों का आधा; गवां यूथानि गायों के झुंड। अर्थान्तर-संक्रम द्वारा कभी-कभी यह षष्ठी अवयव का बोध न करा अवयवी का बोध कराती है। जैसे—मरुतां गणः मरुतों का समूह।

(इ) षष्ठी कभी-कभी सामग्री को भी अभिव्यक्त करती है। यथा—कृष्णानां व्रीहीणां चरुं श्रपयति वह काले चावलों का चरु पकाता है (श० ब्रा०); एतेषां वृक्षाणां भवन्ति ये (बाड़ें) इन वृक्षों (की लकड़ी) से बनती हैं (श० ब्रा०)। इस अर्थ में यह कृ धातु के योग में प्रयुक्त होती है। यथा—यं एवं कं च वृक्षः फलग्रहिस्तस्य कार्यं जिस किसी वृक्ष पर फल आता है उससे (उसके एक अवयव से) इसे बनाना है (मै० सं०)।

(ल) *आसक्त, समान, समर्थ, जानता हुआ, अर्पण करता हुआ, परिपूर्ण*—इन अर्थों के कतिपय विशेषणों के योग में भी षष्ठी का प्रयोग किया जाता है: प्रिय *प्यारा*, अनुव्रत *आज्ञाकारी*; प्रत्यञ्च *की ओर खड़ा हुआ*; अनुरूप *समान*; ईश्वर *समर्थ*, विदस् *परिचित*; पप्रि *भरपूर देता हुआ*। अर्पित की जाने वाली चीज को द्योतन करने वाले शब्द के योग में भी अवयवावयवि सम्बन्धवाचक षष्ठी का प्रयोग पाया जाता है। यथा अन्धसः *रस का* (१.५२[३]); एवमेव परिपूर्णार्थक पूर्ण एवञ्च पीपिवांस् इन विशेषणों की तरह प्रयुक्त क्तप्रत्ययान्त और क्वसुप्रत्ययान्त शब्दों के योग में भी षष्ठी प्रयुक्त होती है।

(ब) कतिपय देशवाची क्रियाविशेषणों के योग में भी षष्ठी का प्रयोग पाया जाता है। वेद में प्रयुक्त शब्द—*अग्रतस्* सामने (अथर्व०)। वेदों और ब्राह्मणों में प्रयुक्त शब्द—*दक्षिणतस्* दाईं ओर; *अवस्ताद्* नीचे, *परस्ताद्* ऊपर, *पुरस्ताद्* सामने। ब्राह्मणग्रन्थों में प्रयुक्त शब्द—*उपरिष्टाद्* पीछे, *पश्चाद्* पीछे, *पुरस्* सामने; *अन्तिकम्* निकट, *नेदीयस्* निकटतर, *नेदिष्ठम्* निकटतम।

(अ) ऋग्वेद में दूर से इस अर्थ के *आरे* के योग में षष्ठी (अथ च पञ्चमी) का प्रयोग देखा जाता है।

(आ) ब्राह्मणग्रन्थों में (देशवाची क्रियाविशेषणों के समान) देशवाची विशेषण *उदञ्च्* (उत्तर की ओर) के योग में भी षष्ठी का प्रयोग होता है।

२. कालवाची क्रियाविशेषणों के योग में भी षष्ठी विभक्ति प्रयुक्त होती है: अद्यतनार्थक *इदा* और *इदानीम्* का प्रयोग वेद में दिन के इस समय इस अर्थ के *अह्नस्* और *अह्नाम्* इन षष्ठ्यन्त पदों के साथ पाया जाता है। *प्रातर्* (=सुबह) का प्रयोग वेद में *अह्नस्* और ब्राह्मण ग्रन्थों में *रात्र्यास्* इन षष्ठ्यन्तपदों के साथ पाया जाता है। यथा—*यस्या रात्र्याः प्रातर् यक्ष्यमाणः स्यात्* जिस रात्रि के प्रभात को वह यज्ञ करने को होगा। (मै० सं०)।

३. संख्यार्थक क्रियाविशेषणों के योग में भी षष्ठी का प्रयोग पाया जाता है। यथा—वेद में—*सकृत्* (एक बार) का दिन में एक बार के अर्थ में *अह्नस्* के साथ, *त्रिस्* (तीन बार) का *त्रिरह्नस्*; *त्रिरा दिवः* दिन में तीन बार और *त्रिरक्तोस्* रात में तीन बार में प्रयोग एवञ्च ब्राह्मणग्रन्थों में दो बार इस अर्थ के *द्विस्* का और तीन बार इस अर्थ के *त्रिस्* का वर्ष में दो बार या तीन बार इस अर्थ में *संवत्सरस्य* इस षष्ठ्यन्त पद के साथ प्रयोग पाया जाता है।

(अ) सम्भवतः वेद में *अक्तोस्*, *क्षपस्* और *क्षपस्* (रात का) और *वस्तोस्* एवञ्च *उषसस्* (प्रातः का) इन शब्दों में कालार्थक षष्ठी का क्रियाविशेषण रूपेण प्रयोग संख्यावाची शब्दों के योग में प्रयुक्त षष्ठी विभक्ति से लिया गया है।

सप्तमी विभक्ति

२०३. यह विभक्ति उस क्षेत्र को अभिव्यक्त करती है जिसमें कोई क्रिया होती है। अथवा गत्यर्थक धातुओं के योग में यह उस क्षेत्र को अभिव्यक्ति करती है जो क्रिया द्वारा पहुँच जाता है। इनके अर्थ में न केवल आधार (स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही प्रकार का) ही सम्मिलित है अपितु व्यक्ति और काल भी। इसलिये इनका अनुवाद अनेक प्रकार से—में, पर; साथ में, बीच विद्यमानता में; को; में को—आदि रूप से किया जा सकता है।

(अ) सामान्य और स्वतन्त्र रूप से सप्तमी निम्नलिखित अर्थों में प्रयुक्त होती है:

१. स्थान : (क) स्थूल—दिवि द्युलोक में, पर्वते पर्वत में या पर्वत पर (१.३२[२]); सरस्वत्याम् सरस्वती पर (३.२३[४]); युधि युद्ध में (१.८[३]), संग्रामे युद्ध में (ना० ब्रा०)।

(ख) सूक्ष्म : अस्य सुमतौ स्याम हम इसकी कृपा दृष्टि में रहें (८.४८[१२]) तवेन्द्र ते वशे हे इन्द्र वह तेरे वश में है (८.९३[४]); यं आदित्यानां भवति प्रणीतौ जो कि आदित्यों के निर्देशन में है (२.२७[१३]); वज्रस्य यत्पतने पादि शुष्णः जब वज्रपात होने पर शुष्ण गिरा (६.२०[५]); घृतकीर्तौ घृत (इस शब्द) के उच्चारण होने पर (श० ब्रा०)।

२. व्यक्ति : यथा—यच्चिद्धि दुरितं मयि मुझ में जो कुछ भी पाप है (१.२३[२२]); पौरीय सं श्रवसा मर्त्येषु मनुष्यों में वह यश से प्रवृद्ध है (६.१०[५]); यद्वयोर्यद्रुह्युष्वनवि तुर्वशे यदौ, हुवे वाम् चाहे तुम दोनों द्रुह्यु, अनु, तुर्वश या यदु के पास हो (तो भी) मैं तुम्हारा आवाहन करता हूँ (८.१०[५]); वयं स्याम वरुणे अनागाः हम वरुण की दृष्टि में निरपराध हों (८.८७[७]); अस्मिन् पुष्यन्तु गोपतौ इस ग्वाले के आश्रय में वे बढ़ें (१०.१९[३])।

३. काल : यहां सप्तमी विभक्ति किसी क्रिया के काल की निर्धारित अवधि में होने को द्योतित करती है। यथा--उर्षसो व्युंष्टौ *उषा के उदय होने पर*; उर्षसि *प्रातः* (ब्राह्मणग्रन्थों में इसके स्थान पर प्रार्तर् का प्रयोग पाया जाता है); द्यवि-द्यवि *प्रति दिन* (यह ब्राह्मणग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता); त्रिरह्न् *दिन में तीन वार* (ब्राह्मणग्रन्थों में केवल षष्ठी का प्रयोग पाया जाता है); जायते मासि-मासि *वह प्रत्येक (बाद के) महीने में (एक वार) जन्म लेता है* (१०.५२[१])।

(अ) इस कालवाची प्रयोग का कभी-कभी यह अर्थ भी हो जाता है कि अमुक चीज किसी काल विशेष की परिसमाप्ति पर होती है। यथा—**संवत्सरं इदमद्या व्येऽख्यत** तुमने आज वर्ष में (पहिली वार) इस समय अपनी आँखें खोली हैं (१.१६१[११])=वर्ष के समाप्त होने पर; ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत् तब वर्ष में (=वर्ष की परिसमाप्ति पर) एक पुरुष उत्पन्न हुआ (श० ब्रा०)।

४. क्रियाविशेषणरूप में : कतिपय संज्ञापदों और विशेषणों का इस प्रकार प्रयोग पाया जाता है। यथा—समासों में प्रयुक्त होने पर भी (यथा—अग्रेगं *आगे जाने वाला*, अग्रेपा *पहिले पीने वाला*) *सामने* अथ च *पहिले* इन अर्थों वाले अग्रे का प्रयोग प्रायः उपलब्ध होता है। श० ब्रा० में शीघ्रार्थक क्षिप्र का सप्तम्यन्त रूप अनेक वार इस प्रकार प्रयुक्त किया जाता है। यथा— क्षिप्रे ह यजमानोऽमुं लोकमियात् *यजमान शीघ्र ही उस लोक को जायगा*।

२०४. (र) सप्तमी विभक्ति शब्दों के भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्गों से सम्बद्ध रहती है जिन्हें कि इसका नियामक कहा जा सकता है।

१. यह विशेषरूप से इन अर्थों की वाचक धातुओं के योग में आती है :

(क) वेद में—*में आनन्दित होना, बढ़ना, समृद्ध होना; आशीर्वाद देना, किसी चीज के बारे में हानि पहुँचाना; प्रार्थना करना, के लिये आवाहन करना* (ई, हू); *से प्राप्त करना*। यथा—विश्वे देवा हविषि

मादयध्वम् हे समस्त देवताओ आप हवि में आनन्दित होओ (६.५२[13]); तविषीषु वावृधे वह शक्ति में बढ़ा (१.५२[1]); यं एषां भृत्यामृणवत् स जीवात् जो उनकी सहायता में सफल होगा वही जियेगा (१.८४[16]); प्राव नस्तोके हमें बच्चों के विषय में आशीर्वाद दीजिये (८.२३[13]); मा नस्तोके रीरिषः हमारे बच्चों को कोई हानि न पहुँचाना (१.११४[8]); अग्निं तोके तनये शश्वदीमहे हम सदैव अपने बच्चों के लिये और उन बच्चों के बच्चों के लिये भी अग्नि से प्रार्थना करते हैं (८.७१[13]) त्वां हि त्वा हवामहे तनये गोष्वप्सु चूँकि हम सन्तान, गायों और जल के लिये आपका आवाहन करते हैं (६.१९[13]); देवेष्वमृतत्वमानश तुमने देवताओं (में =) से अमरता प्राप्त की (४.३६[4])। वेदों और ब्राह्मणों में : में हिस्सा देना (आभज्) और के लिये संघर्ष करना (स्पृध्, इसका प्रयोग वेद में विरल है); यथा—यांनाभजो मरुत इन्द्र सोमे हे इन्द्र जिन मरुतों को तुमने सोम में हिस्सा दिया था (३.३५[9]); अनु नोऽस्यां पृथिव्यामा भजत आओ हम इस पृथिवी में हिस्सा बँटायें (श० ब्रा०); आदित्याश्च ह वा अङ्गिरसश्च स्वर्गे लोकेऽस्पर्धन्त आदित्यों और अङ्गिराओं ने स्वर्ग के आधिपत्य के लिये सङ्घर्ष किया (ऐ०ब्रा०)।

ब्राह्मणग्रन्थों में : प्रार्थना करना (इष्), पूछना (प्रच्छ्), विवेचना करना (मीमांस्); यथा—स ह इयं देवेषु सुत्यायामपित्वमीषे उसने देवताओं से सोमरूप भोजन में हिस्से के लिये प्रार्थना की (श० ब्रा०); ते देवेष्वपृच्छन्त उन्होंने देवताओं से पूछा (पं० ब्रा०)।

(ख) वेदों और ब्राह्मणग्रन्थों में : गति, उस स्थान का संकेत करने के लिये जिस तक पहुंचा जाता है। यहाँ विभक्ति का अनुवाद को में, पर के द्वारा किया जा सकता है। वेद में इस प्रकार के क्रियापद हैं : जाना (गम्), प्रविष्ट होना (आविश्), चढ़ना (आरुह्), उतरना (अवव्यध्), बहना (अर्ष्, धाव), उंडेलना (सिच्, हु), रखना (धा, कृ)। यथा—स इद् देवेषु गच्छति (१.१[4]) वह देवताओं को जाता है (=पहुँचता है) (जबकि देवान् गच्छति का अर्थ होगा वह देवताओं की ओर जाता है); यो मर्त्येष्वित्

कृणोति देवान् जो देवताओं को मनुष्यों में लाता है (१.७७[१]); वीर्यं यजमाने दधाति वह यजमान में शक्ति का आधान करता है (तै० सं०); न वा एषं ग्राम्येषु पशुषु हितः वह पालतू पशुओं (में नहीं रखा जाता =) की कोटि में नहीं आता (तै० सं०)। ब्राह्मणग्रन्थों में कोई चीज किसी पर फेंकना इस अर्थ को धातुओं के योग में सप्तमी का प्रयोग विशेष रूप से प्रचुर है।

(ग) चाहना, लक्ष्य अथवा उद्देश्य को सूचित करना : गृध् उत्सुक होना, यत् प्रयत्न करना, आशंस् आशा करना। यथा—अन्नेषु जागृधुः वे अन्न के लिये उत्सुक हैं (२.२३[११]); दिवि स्वनो यतते ध्वनि द्युलोक तक उठती है (१०.७५[३]); आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु हे इन्द्र हमें गायों और घोड़ों के बारे में आशा बंधाइये (१.२९[१]); अग्निहोत्रिणि देवता आ शंसन्ते देवता अग्निहोत्र करने वाले में अपनी आशा लगाते हैं (तै० सं०)।

२. सप्तमी का प्रयोग कुछ मात्रा में नामपदों के योग में भी पाया जाता है :

(क) उन धातुज नामपदों के योग में (संज्ञाएं और विशेषण) जो कि उन धातुओं से बनते हैं जिनके योग में वह विभक्ति (सप्तमी विभक्ति) आती है। यथा—न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति उसका वाणी में कोई हिस्सा नहीं है (१०.७१[६]); सोमो भूत्ववपानेष्वाभगः सोम पानगोष्ठियों में भाग ग्रहण करने वाला बने (१.१३६[४]); सुते इत् त्वं निमिश्ल इन्द्र सोमे हे इन्द्र तुम अभिषुत सोम के प्रति आसक्त हो (६.२३[१]); तस्मिन्नेवं एता निमिश्लतमा इव उसके प्रति ये (स्त्रियां) बहुत आसक्त हैं (श० ब्रा०)।

(ख) सामान्य विशेषण : वेद में—प्रिय और चारु प्यारा। यथा—प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवाति वह सूर्य को प्रिय होगा, वह अग्नि को प्रिय होगा (५.३७[५]); चारुर्मित्रे वरुणे च मित्र और वरुण को प्रिय (९.६१[९])। ब्राह्मणों में—ध्रुव दृढ। यथा—राष्ट्रमेवं अस्मिन्ध्रुवमकः उसने इसमें राजत्व को प्रतिष्ठित कर दिया है (तै० सं०)।

३. कतिपय उपसर्गों के योग में भी सप्तमी का प्रयोग पाया जाता है: वेद में—आ में, पर और (विरलतया) अपि *निकट, में* और उप के *पास, पर* एवञ्च उपसर्गरूप क्रियाविशेषण सचा के *साथ-साथ*। वेदों और ब्राह्मणों में—अधि *पर* और अन्तर् *के बीच* (देखिये १७६, २; १७७, ५)।

भावलक्षणा षष्ठी और सप्तमी

२०५.१. भावलक्षणा सप्तमी का प्रयोग, जिसमें कि विभक्ति के साथ सदैव कोई कालकृदन्त शब्द रहता है सप्तमी के सामान्य प्रयोग से प्रारम्भ हुआ। कालकृदन्त शब्द के साथ इसे कालवाची अथवा विशेषक वाक्यांश माना जाने लगा जहाँ कि केवल विभक्ति का प्रयोग सम्भव नहीं था। उदाहरण के लिये उषसि (*उषा में*) के साथ साथ यह वाक्यांश उच्छन्त्यामुषसि *चमकती हुई उषा में* भी प्रयुक्त हो सकता था जिसने कि *जब उषा चमकती है* का स्वतन्त्र अर्थ अपना लिया (१.१८४[१]) जहां तक इस प्रकार की रचना में प्रयुक्त कालकृदन्तों का सम्बन्ध है वहां यह कहना पर्याप्त होगा कि इनमें भविष्यत् कालकृदन्त के प्रयोग का सर्वथा अभाव है परस्मै० लिट् कृदन्त [क्वसु] का प्रयोग कहीं इक्के दुक्के मिल जाता है, कर्मवाच्य लिट् कृदन्त [क्त] का प्रयोग वेद में सन्दिग्ध है पर ब्राह्मणग्रन्थों में सर्वथा असन्दिग्ध है जबकि वर्तमान काल कृदन्त [शतृ, शानच्] का प्रयोग वेद और ब्राह्मणग्रन्थ दोनों में ही पूर्ण रूपेण विकसित हो चुका है।

(क) भाव में प्रयुक्त लिट् परस्मै० कालकृदन्त के वन्त् वाले प्रयोग का एक उदाहरण है अशितावत्यतिथावश्नीयात् (अथर्व० ९.६[३८]) *अतिथि के भोजन कर चुकने पर वह भोजन करे* (देखिये १९१)।

(ख) ऋग्वेद में क्तप्रत्यय अनेक शब्दरूपों में उपलब्ध होता है जैसे जाते॑ अ॒ग्नौ, स्ती॒र्णे ब॒र्हिषि, सु॒ते सोमे॑। इनमें सप्तमी सम्भवतः अभी भी अपना वही सामान्य अर्थ लिये है। यथा—विश्वमधागायुधमिद्धे॑ अ॒ग्नौ *उसने प्रदीप्त अग्नि में सब शस्त्र जला दिये* (२.१५[४]); यो॒ अश्व॑स्य दधि॒क्राव्णो॒ अका॑रीत् समि॑द्धे अ॒ग्ना उ॒षसो॒ व्यु॑ष्टौ जिसने

उषा के प्रकट होने पर प्रदीप्त अग्नि के समीप दधिक्रावन् नामक अश्व को सम्मानित किया है (४.३९[१])। संभवतः यहां अभिप्राय यह है—जबकि अग्नि प्रज्वलित हो चुकी है। अन्य उदाहरणों में भावार्थ अधिक सम्भाव्य प्रतीत होता है: **यंदीमेनां उशतो अभ्यंवर्षीत् तृष्यांवतः प्रावृंष्यांगतायाम्** *जबकि वर्षा ऋतु के आ चुकने पर प्यासे उत्सुक (प्राणियों पर) वृष्टि हो चुकी हो* (७.१०३[३]); विशेषरूप से **यंन्मरुतः सूर्ये उंदिते मंदथ** *हे मरुतो जब तुम सूर्योदय होने पर मस्त हो जाते हो* (५.५४[१०])में। यहां **सूर्ये** अकेला प्रयुक्त नहीं किया जा सकता था जबकि कालबोधक सप्तमी **उंदिता सूंर्यस्य** (*सूर्योदय होने पर*) के द्वारा अभिव्यक्त की जाती है।

ब्राह्मणग्रन्थों में क्तान्त रूपों में भावलक्षणा सप्तमी का प्रयोग कहीं अधिक स्पष्ट है। यथा—**उंदितेषु नंक्षत्रेषु वांचं विं सृजति** नक्षत्रों के उदय होने पर वह मौन त्यागता है (तै० सं०); **सं एनाः श्वो भूते यंजते** प्रातः होने पर वह उनका यजन करता है (तै० सं०); **क्रीते सोंमे मैत्रावरुणाय दण्डं प्रं यच्छति** सोम के खरीदे जाने पर वह मैत्रावरुण पुरोहित के हाथ में दण्ड पकड़ाता है (तै० सं०); **तंस्माद् गर्दंभे पुरा‿ऽऽयुषः प्रंमीते बिभ्यति** इसलिये गधे की अकाल मृत्यु होने पर लोग डरने लगते हैं। कभी-कभी संज्ञापद का अध्याहार करना पड़ जाता है। यथा—**सं होवाच; हतो वृत्रों; यंद्धते कुर्यात तंत् कुरुत‿इंति** उसने कहा: वृत्र मर चुका है; उसके मरने पर तो जो तुम करते वह करो (श० ब्रा०)।

(ग) वेद में शतृशानजन्त रूपों में भावलक्षणा सप्तमी के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। यथा—**इंन्द्रं प्रातंर्हवामह इंन्द्रं प्रयतिं‿अध्वरे** *इन्द्र का हम प्रातः आवाहन करते हैं, इन्द्र का जबकि यज्ञ प्रारम्भ होता है* (१.१६[३]); **संरस्वतीं देवयंन्तो हवन्ते संरस्वतीमध्वरे तायमाने** *देवताओं के भक्तजन सरस्वती का आवाहन करते हैं, सरस्वती का जबकि यज्ञ बढ़ रहा होता है* (१०.१७[७]); **तां वामद्य तांवपरं हुवेम‿उंच्छन्त्यांमुषंसि** *उषा के चमकने पर आज हम तुम दोनों का और तुम दोनों का ही भविष्य (में भी) आवाहन करेंगे* (१.१८४[१])।

(ऋ) इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में—यज्ञमुखे॑ यज्ञमुखे वै॑ क्रियमाणे यज्ञं॑ रक्षां॑सि जिघांसन्ति सदै॑व जब यज्ञ प्रारम्भ किया जा रहा हो तो राक्षसों की इच्छा यह रहती है कि वे उसे नष्ट कर दें (तै० सं०); सोमे॑ हन्यमाने यज्ञो॑ हन्यते सोम के नष्ट होने पर यज्ञ नष्ट हो जाता है (तै० सं०)। तस्मादग्निचित् वर्षति न धावेत् इसलिये अग्नि चयन करने वाले को चाहिए कि पानी बरसने पर दौड़े नहीं (तै० सं०); तमेतत् प्रत्यायत्यां रात्रौ सायमुपाविशन्त इसलिये वे सायं उसके पास गये जब कि रात लौट रही थी (श० ब्रा०)।

२. भावलक्षणा षष्ठी का वेद में कोई संकेत नहीं मिलता पर ब्राह्मण-ग्रन्थों में इसका प्रयोग प्रारम्भ हो चुका है। इसका प्रारम्भ स्व-स्वामिभाव-वाचक षष्ठी से हुआ जिसने कि शत्रन्त अथवा क्तान्त रूपों के योग में बहुत कुछ सप्तमी की तरह ही वाक्यरचना की दृष्टि से एक स्वतन्त्र स्वरूप अपना लिया। (यहां) संज्ञापद के प्रयोग का कभी-कभी परिहार भी किया जाता है। उदाहरण हैं: तस्य॑ आलब्धस्य सा॑ वागपं चक्राम जब उसकी बलि दी जा रही थी तो यह वाणी निकल गई (श०ब्रा०); तस्मादपां तप्तानां फेनो जायते अतः जब पानी गरम किया जाता है तो फेन उत्पन्न होता है (श० ब्रा०); स एता विप्रुषो ऽजनयत या इमाः स्फूर्यमानस्य विप्रवन्ते उस (अग्नि) ने उन चिनगारियों को पैदा किया जो कि उसके (आग के) हिलाये जाने पर इधर-उधर उड़ने लगती हैं (मै०सं०); तेषां ह॑ उत्तिष्ठतामुवाच जब वे खड़े हुए तो उसने कहा (ऐ० ब्रा०)। ऊपर के उदाहरणों में पहिले तीन में भावार्थक विभक्ति का स्वस्वामिभावार्थक विभक्ति के साथ निकट का सम्बन्ध अब भी स्पष्ट है।

कालकृदन्त रूप

२०६. कालकृदन्तों की प्रकृति नाम और क्रियापद इन दोनों के स्वरूप को अपनाने के कारण दो प्रकार की होती है। जहाँ तक उनके आकार-

प्रकार का सम्बन्ध है रूपावली और संवाद इन दोनों दृष्टियों से वे विशेषण हैं। दूसरी ओर वे क्रियापदों के समान न केवल विभक्तियों के नियामक हैं अपितु वाच्यों के भेद को भी सूचित करते हैं और सामान्यतया स्वसम्बन्धी लकारों के द्वारा अभिव्यक्त कालभेद को भी अपने में लिये रहते हैं। संज्ञापदों के साथ नियमित रूप से उनका प्रयोग सामानाधिकरण्येन पाया जाता है। वे मुख्यक्रिया को विशेषित करते हैं और इस रूप में इनका कार्य वही है जो कि अवान्तर वाक्यांगों का। इस तरह ये *सम्बन्ध, काल, प्रेरणा, अनुमति, परिणाम* और *कल्पना* इनमें से किसी भी अर्थ को अभिव्यक्त कर सकते हैं। सीधे धातु से बने (न कि ल–प्रकृतियों से) कालकृदन्तों की धातु-स्वरूपता अर्थ की दृष्टि से (कतिपय अपवादों के साथ) कर्मवाच्य तक एवञ्च भूत और भविष्यत् काल तक ही सीमित है जबकि उनकी कर्मवाच्य प्रकृति होने के कारण कर्म की द्वितीया के साथ उनका अन्वय नहीं हो सकता अपितु कर्ता और हेतु की तृतीया के साथ ही।

२०७. वर्तमान काल कृदन्तों [शतृ, शानच्] का प्रयोग पुरुषवचन-परिच्छिन्न क्रियापद के रूप में अपेक्षितक्रमविरहेण वेद में यदा-कदा उपलब्ध होता है। यथा—अस्मादहं तविषादीषमाण इन्द्राद्भिया मरुतो रेजमानः हे मरुतो इन्द्र के डर से काँपता हुआ मैं इस महाशक्तिशाली से भाग रहा हूं (१.१७१⁴)। ब्राह्मणग्रन्थों में यह प्रयोग उपलब्ध होता नहीं दीखता।

(क) वेदों और ब्राह्मणग्रन्थों में क्रियासातत्य को अभिव्यक्त करने के लिये सहायक शब्द के रूप में गमनार्थक इ, गत्यर्थक चर्, अवस्थित्यर्थक आस् और स्थित्यर्थक स्था के योग में वर्तमान काल कृदन्तों [शतृ शानच्] का प्रयोग किया जाता है। यथा—विश्वमन्यो अभिचक्षाण एति *दूसरा* (पूषा) *जगत् को देखता रहता है* (२.४०⁵); विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति *चन्द्रमा रात में विशदतया चमकता रहता है* (१.२४¹⁰); तेऽस्य गृहाः पशव उपमूर्यमाणा ईयुः *उसका घर और पशु नष्ट किये जाते रहेंगे* (श०ब्रा०); त्वं हि एको वृत्रा चरसि जिघ्नमानः *चूंकि एक तुम ही वृत्रों को*

मारते जाते हो (३.३०[४]); ते ऽर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः वे प्रार्थना करते रहे और व्रत रखते रहे (श०ब्रा०); ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् एक ऋचाओं की प्रचुरता को उत्पन्न करता रहता है (१०.७१[११]); सोमम् एवं एतत् पिबन्त आसते वे इस तरह सोम पीते रहते हैं (तै०सं०); उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु कि पृथिवी विवरवती होती रहे (१०.१८[१२]); वितृंहाणास्तिष्ठन्ति वे संघर्ष करते रहते हैं (तै०सं०)।

२०८. कर्मवाचक भूत काल कृदन्तों के त वाले रूपों को बहुत बार पुरुष-वचनपरिच्छिन्न क्रियापद के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। यथा—तत मे ऽपस्तदु तायते पुनः मेरा काम हो चुका है और यह पुनः किया जा रहा है (१.११०[१]); न त्वावाँ इन्द्र कश्चन न जातो न जनिष्यते हे इन्द्र तुम्हारे समान कोई भी नहीं है, न तो वह उत्पन्न हुआ है और न ही उत्पन्न होगा (१.८१[५]); भाववाच्यतया प्रयुक्त : श्रद्धितं ते महत इन्द्रियाय तुम्हारी महती शक्ति में विश्वास किया गया है (१.१०४[६])।

एवमेव ब्राह्मणग्रन्थों में: इष्टा देवता अथ कतम एते देवताओं का यजन किया गया है पर ये देवता कौन हैं? (तै० सं०)। एवमेव अवान्तरवाक्यों में: तस्मिन् यदापन्नं ग्रसितमेव अस्य तत् उसमें जो पड़ा उसे ही उसने निगल लिया (तै० सं०)।

वेद में अस् और भू से बने रूपों के सहायक शब्दों के रूप में प्रयुक्त होने के कारण हेर-फेर से बने, प्रकार अथवा लकार बनाने वाले पूर्णभूतार्थक, कर्मवाचक काल कृदन्तों के प्रयोग पर्याप्त हैं। यथा युक्तस्ते अस्तु दक्षिणः तुम्हारा दायां (घोड़ा) जोत दिया जाय (१.८२[५]); धूमस्ते केतुरभवद् दिवि श्रितः तेरा ध्वज, धूम, द्युलोक तक (उठा दिया गया=) उठ गया (५.११[३])।

(ख) ब्राह्मणग्रन्थों में इन रूपों के (भू का लट् और लुङ् निर्देशक, और अस् का लङ् और लिट् निर्देशक अथच विधिलिङ्) वर्तमान और भूत के प्रकार नियमितरूपेण बनते हैं। यथा—भूयसीभिर्ह अस्य आहुतिभिरिष्टं भवति उसने बहुत-सी आहुतियों से यज्ञ किया है (ऐ० ब्रा०); देवासुराः

सं॑यत्ता आसन् देवता और असुर सङ्घर्ष में लगे थे (तै० सं०); तद्वा ऋ॑षीणामनु॑श्रुतमास ऋषियों ने वह सुना था (श० ब्रा०); तस्माद् वि॑धृता अ॑ध्वानोऽभूवन् इसलिये मार्ग अलग-अलग कर दिये गये हैं (तै० सं०)।

२०९. कर्मवाचक भविष्यत्काल कृदन्त

इनमें छः (प्रत्यय) उपलब्ध होते हैं : आय्य वाला एक ऋग्वेद में ही उपलब्ध है; एन्य, य और त्व वाले तीन वेद और ब्राह्मणग्रन्थ इन दोनों में उपलब्ध हैं। इसी प्रकार तव्य और अनीय वाले दो भी (ऋग्वेद से अन्य) वेदों और ब्रा० में उपलब्ध हैं। इन धातुज नामपदों के द्वारा जो अर्थ सर्वाधिक प्रचुररूपेण अभिव्यक्त किया जाता है वह है *आवश्यकता* पर अन्य सम्बद्ध अर्थ जैसे कि *आभार, योग्यता, निश्चित भविष्य* और *सम्भावना* भी अनेक बार उपलब्ध हो जाते हैं। इनमें से चार का अन्वय कर्तरि तृतीया के साथ किया जाता है (कभी-कभी इसके स्थान पर चतुर्थी और षष्ठी का प्रयोग भी उपलब्ध हो जाता है) जबकि त्व और अनीय वाले रूप कभी भी विभक्ति के साथ सम्बद्ध हुए नहीं पाये गये।

१. इन कृत्यप्रत्ययान्त रूपों में यप्रत्ययान्त रूप सर्वाधिक प्रचुर है : सद्यो॑ जज्ञानो॑ ह॑व्यो बभूव *उत्पन्न होते ही वह आवाहनीय बन गया* (८.९६[२१])। बहुत बार यह रूप क्रियापद के बिना भी उपलब्ध होता है। यथा—वि॑श्वा हि॑ वो नमस्यो॑नि व॑न्द्या ना॑मानि देवा उ॑त य॒ज्ञियानि वः हे देवताओ *आपके सब नाम नमस्करणीय हैं, स्तुत्य हैं और पूजनीय हैं* (१०.६३[२])। कर्ता को तृतीया, चतुर्थी, अथवा षष्ठी के द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है। यथा—त्वं॑ नृ॑भिर्ह॑व्यो विश्व॑धा॒सि तुम *सदैव मनुष्यों के द्वारा आवाहनीय हो* (७.२२[७]); अ॑स्मा॑भिरू नु॑ प्रतिच॑क्ष्या॒भूत् वह (हमारे द्वारा देखने के योग्य हुई=) *हमें दिखाई देने लगी* (१.११३[११]); स॑खा स॑खिभ्य ई॑ड्यः *मित्रों के द्वारा स्तुत्य मित्र* (१.७५[४]); य॑ एक इ॑द् ह॑व्यः चर्षणीना॑म् *मनुष्यों में वही एकमात्र आवाहन करने योग्य है* (६.२२[१])।

ब्राह्मणग्रन्थों में कर्ता तृतीया अथवा षष्ठी में प्रयुक्त हो सकता है, चतुर्थी में नहीं। जैसे—तस्मै देयम् का अर्थ है वह जिसे दक्षिणा देनी चाहिये (श० ब्रा०)। यह उदाहरण ब्राह्मणग्रन्थों में इस कृत्प्रत्यय के भाववाचक प्रयोग का निदर्शन है एवं एक ऐसा प्रयोग है जो कि ऋग्वेद में सर्वथा अनुपलब्ध है। ब्राह्मणग्रन्थों में इसके योग में अस् और भू के रूप उपलब्ध नहीं होते। इस प्रकार यह कृत्प्रत्ययान्त रूप सदैव क्रियापद के बिना प्रयुक्त होता है। यथा—बहु देयम्। बहुत कुछ देना (है) (मै० सं०)।

२. ऋग्वेद में त्वप्रत्ययान्त शब्द *आवश्यकता* अथवा *सम्भावना* इन अर्थों को ध्वनित करता है और प्रायः भूत काल से विरोध को द्योतित करने के लिये प्रयुक्त होता है पर इसके साथ किसी क्रियापद (अस् और भू) और कर्तृवाचक नामपद का प्रयोग उपलब्ध नहीं होता। यथा—रिपवो हन्त्वासः *शत्रुओं को मारना है* (३.३०[१]); यो नन्त्वान्यनमन् न्योजसा *जिसने अपनी शक्ति से उसे झुकाया जिसे झुकाया जा सकता था* (२.२४[२]); तद्विश्वमभिभूरसि यज्जातं यच्च जन्त्वम् *तुम जो उत्पन्न हो चुका है और जो* उत्पन्न *होगा उस सब से बढ़ कर हो* (८.८९[६])।

(क) ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मणग्रन्थों में इस कृत्यप्रत्ययान्त शब्द के द्वारा जो एकमात्र अर्थ अभिव्यक्त किया जाता है वह है सम्भावना। यथा—स्नात्वमुदकम् वह जल जिसमें स्नान किया जा सकता है (श० ब्रा०); नो अस्य अन्यद् धोत्वमासीत् प्राणात् *उसके पास प्राण के सिवाय अर्पण* करने को *और कुछ न था* (मै० सं०)।

३. ऋग्वेदमात्रगोचर आय्यप्रत्ययान्त कृत्यरूप कभी-कभी तृतीयान्त अथवा चतुर्थ्यन्त कर्ता के साथ प्रयुक्त हुआ देखा जाता है। यथा दक्षाय्यो नृभिः मनुष्यों द्वारा *आराध्य* (१.१२९[२]); दक्षाय्यो दास्वते दम आ जोकि धार्मिक जन द्वारा अपने घर में आराध्य है (२.४[३])।

एन्यप्रत्ययान्त रूप, जोकि लगभग ऋग्वेद तक ही सीमित है, के साथ तृतीयान्त कर्ता का प्रयोग किया जा सकता है। यथा—अग्निरीळेन्यो गिरा *गीत के द्वारा स्तुति करने योग्य अग्नि* (१.७९[५]);

अन्यायंसेन्या भवतं मनोभिः तुम भक्तजनों के द्वारा अपने पास आकृष्ट किये जाने के लिये सहमत हो जाओ (१.३४[२])।

(अ) यह दो एक बार ब्राह्मणग्रन्थों में भी पाया जाता है। यथा—वाचमुद्यासं शुश्रूषेण्याम् मैं सुनने योग्य वाणी का उच्चारण करूँगा (तै० सं०)।

५. ऋग्वेद में सर्वथा अनुपलभ्यमान तव्यान्त कृत्य अथर्व० में केवल दो बार पाया जाता है। उदाहरण के रूप में—न ब्राह्मणो हिंसितव्यः *ब्राह्मण की हिंसा नहीं करनी चाहिये* (अथर्व० ५.१८[६])।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में इसका प्रयोग प्रचुर है एवं बहुत कुछ उसी प्रकार है जैसे कि यप्रत्ययान्त का। यहां यह भाववाच्यतया तथा तृतीयान्त कर्ता के साथ प्रयुक्त होता है। यथा—पुत्रो याजयितव्यः पुत्र से अवश्यमेव यज्ञ कराना चाहिये (मै० सं०); अग्निचितां पक्षिणो न—अशितव्यम् अग्न्याधान करने वाले को चाहिये कि वह पक्षी (का कोई भी अङ्ग) न खाये (मै० सं०); पशुव्रतेन भवितव्यम् (मै० सं०); उसे पशुओं की तरह आचरण करना चाहिये (अक्षरार्थ: उसे वह क्रिया करनी चाहिये जो कि पशुओं की क्रिया का अनुसरण करती है)।

६. वेदों और ब्राह्मणग्रन्थों में विरलतया प्रयुक्त अनीयान्त रूप ऋग्वेद में सर्वथा अनुपलब्ध हैं। अथर्व० के गद्यभाग में यह केवल दो बार मिलता है। केवल *योग्यता* और *सम्भावना* इन अर्थों को यह अभिव्यक्त करता है। तृतीयान्त पद के योग में अथवा भाववाचक रूप में यह कभी भी प्रयुक्त नहीं होता। इस कारण ब्राह्मणग्रन्थों में भी यह मुश्किल से ही कृत्यरूप के पूर्ण स्वरूप को अपना पाया है। यथा— उपजीवनीयो भवति वह उपजीव्य है (अथर्व०); अभिचरणीय *अभिचार क्रिया* के योग्य (श० ब्रा०); आहवनीय *आहुति देने* के योग्य (ऐ० ब्रा०)।

क्त्वान्त और क्त्वार्थक कृदन्त अथवा अव्यय कालकृदन्त

२१०. क्त्वान्त और क्त्वार्थक कृदन्तों के वे रूप जिनके अन्त में

त्वी, त्वा, त्वाय (देखिये १६३) अथच य या त्य (१६४) आता है, पर्यायवाची हैं। वे पुरुषवचनपरिच्छिन्न क्रियापद की क्रिया के प्रारम्भ होने के पूर्व की बीती हुई क्रिया को अभिव्यक्त करते हैं। यह कृदन्त नियमित रूप से वाक्य के कर्ता समझे जाने वाले पद का परामर्श करता है। यथा—गूढ्वी॑ तमो॒ ज्यो॑तिषा॒ उ॒षा अ॑बोधि *अंधेरे को छिपा चुकने पर उषा ज्योति के साथ जागृत हुई है* (७.८०^२); युक्त्वा॑ हरि॑भ्यामु॒प यासदर्वा॑क् (उन्हें) *जोतने के बाद वह अपने दो घोड़ों के साथ इस ओर आये* (५.४०^४); स्त्रि॒यं दृ॒ष्ट्वाय॑ कित॒वं ततापा *स्त्री को देख चुकने पर वह जुआरी को दुःख देता है* (१०.३४^{११})=*स्त्री को देखने पर जुआरी को दुःख होता है*; पिबा नि॒षद्य॑ *बैठ कर पियो* (१.१७७^४); यो॒ हन्ति॒ शत्रु॑म॒भी॒त्य जो कि *आक्रमण कर शत्रु का वध करता है* (९.५५^४)।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में भी इसी प्रकार का ही वाग्व्यवहार है : तस्मा॑त् सु॒प्त्वा प्र॒जाः प्र॑ बुध्यन्ते इसलिये सो चुकने पर प्राणी जागते हैं (तै० सं०); तं॑ ह॒ एनं॑ दृ॒ष्ट्वा भी॒र्वि॑वेद उसे देखने पर भय ने उसे आ दबोचा=उसे देख कर वह डर गया (श० ब्रा०)। पर यहां वेद में अनुपलब्ध अनेक प्रकार का शिथिलान्वय पाया जाता है। अतः यह अर्थ की दृष्टि से पुरुषवचनपरिच्छिन्न क्रियापद के समान विधेयतया प्रयुक्त तव्यान्त अथवा यान्त कर्मवाच्य भविष्यत्काल कृदन्तों के द्वारा आक्षिप्त कर्ता का परामर्श करता है। यथा—अ॒ग्नि॒हो॒त्र॒ह॒वणीं॑ प्र॒तप्य॒ हस्तो॑ऽव॒धेयः॑ अग्निहोत्र करने वाले चमस को तपा कर (हाथ पकड़ने वाले को चाहिये कि) वह उसका हाथ इसमें डाले (मै० सं०)। इससे भी शिथिलतर अन्वय निम्नलिखित वाक्यों में पाया जाता है : ते प॒शव॒ ओष॑धीर्ज॒ग्ध्वा॒ अ॒पः पी॒त्वा तत॑ ए॒ष रसः॒ सम्भ॑वति जब पशु वनस्पतियों का भक्षण कर चुके हों और जल पी चुके हों तब यह जीवन रस उत्पन्न होता है (श० ब्रा०)=तब वे जीवन रस को प्राप्त करते हैं। बहुत बार इस कृदन्त के भूतकाल के अर्थ पर बल देने के लिये इसके अव्यवहित अनन्तर तब इस अर्थ का अर्थ यह निपात प्रयुक्त किया जाता है। ब्राह्मणग्रन्थों में यह कृदन्त कभी-कभी अवान्तर वाक्य के पुरुषवचनपरिच्छिन्न क्रियापद के समकक्ष होता है। यथा—आ॒ति॒थ्येन॒ वै दे॒वा इ॒ष्ट्वा तान्त्स॒मद॑विन्दत् जब देवता अतिथिसत्कार की विधि से यज्ञ कर चुके तो इनमें आपस में फूट पड़ गई (श० ब्रा०)।

विचारार्थक मन् धातु के साथ भी ऐसा ही पाया जाता है : एवंह् वै देवाः आप्य राद्ध्वा इव अमन्यन्त देवताओं ने इसे पाकर यह समझा कि वे मानों जीत ही गये हैं (श० ब्रा०)।

(ख) अमन्त क्त्वार्थ कृदन्त सदैव समासरूप ही होता है। इसका पूर्वपद लगभग सदैव उपसर्ग होता है। यह वाक्य के पुरुषवचनपरिच्छिन्न क्रियापद के कर्ता द्वारा एक साथ की गई क्रिया को अभिव्यक्त करता है। क्रिया-विशेषणतया प्रयुक्त सजातीय द्वितीयान्त रूप होने के कारण परकालिक वेद में इसका क्त्वार्थ कृदन्त के रूप में प्रयोग आने लगा है। यथा—तन्त्रं युवती अभ्याक्रामं वयतः दो *युवतियां इस तक पहुँचकर जाला बुनती* हैं (अथर्व०)।

(ग) ब्राह्मणग्रन्थों में इसका प्रयोग प्रचुर हो चुका है। यथा—अग्निक्रामं जुहोति (तै० सं०) वह (अग्नि के) पास आकर हवन करता है। कभी-कभी यह कृदन्त आस्, इ, और चर इन धातुओं के योग में क्रियासातत्य को द्योतित करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है। यथा—ते परापातम् आसत वे परे परे उड़ते रहे (मै० सं०)।

तुमुन्नन्त और तुमर्थ कृदन्त

२११. साधारणतया यह रूप वाक्य के सामान्य कथ्य के पूरक के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। तब इसका अर्थ होता है *प्रयोजनतः* अथवा *परिणामतः*। यह कृदन्त कभी-कभी वाक्य के किसी शब्द विशेष—प्रायिक रूप से क्रियापद पर, यदाकदा नामपद—पर भी निर्भर करता है। उस स्थिति में अन्य भाषाओं की तरह सहायक क्रियापद के बाद यह अपने सम्पूर्ण अर्थ का कुछ अंश खो बैठता है। कर्म अभिहित होने पर साधारणतया द्वितीया विभक्ति में प्रयुक्त किया जाता है।

१. चतुर्थी प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त

(क) इस कृदन्त के नाना रूप या तो द्वितीया के नियामक होते हैं या (आकर्षण के कारण) चतुर्थी के या कभी-कभी (यह क्रियापद के स्वरूप पर

निर्भर करता है) किसी अन्य ही विभक्ति के। यथा—इन्द्राय‿अर्कं जुह्वा समञ्जे, वीरं दानौकसं वन्दध्यै इन्द्र के लिये मैं अपनी जिह्वा से एक गीत सजाता हूँ जिससे कि मैं उस दानी वीर की स्तुति कर सकूं (१.६१⁵) त्वमकृणोर्दुष्टरीतु सहो विश्वस्मै सहसे सहध्यै तुमने हर शक्ति पर वश पाने के लिये अप्रतिवार्य शक्ति दिखाई (६.१³); अव स्य शूर‿अध्वनो न‿अन्तेऽस्मिन् नो अद्य सवने मन्दध्यै हे शूर आज इस हमारे सोमाभिषव में आनन्दित होने के लिये जुआ हटा दो जैसाकि यात्रा के अन्त में (किया करते हैं) (४.१६²) अभूदु पारमेतवे पन्था हमारे पार जाने के लिये (तदर्थ समर्थ बनाने के लिये) मार्ग दिखाई दे गया है (१.४६¹¹) आ नो नावा मतीनां यातं पाराय गन्तवे आप दोनों पार जाने के लिये हमारी ऋचाओं की नाव पर चढ़ कर हमारे पास आयें (१.४६⁷); इन्द्रं चोदय दातवे मघम् इन्द्र को प्रचुर धन देने के लिये प्रेरणा कीजिये (९.७५⁵); इन्द्रमवर्धयन्नहये हन्तवा उ अजगर को मारने के लिये उन्होंने इन्द्र को सशक्त बनाया (५.३१⁴); आ त एतु मनः पुनः जीवसे ज्योक् च सूर्यं दृशे तुम्हारी आत्मा तुम्हारे पास (जीने के लिये) लौट आये (=) जिससे कि तुम जी सको और चिर काल तक सूर्य को देख सको (१०.५७⁴); शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे वह राक्षस को बींधने लिये अपने सींग तेज करता है (५.२⁹); सद्यश्चिन्महि दावने तत्काल बहुत देने के लिये (८.४६¹¹); प्र यद् भरध्वे सुवितास दावने जब तुम कुशल क्षेम देना प्रारम्भ करते हो (५.५९³); अभिभूतये कृण्वे पृत्सु युद्ध में शत्रुओं का अभिभव करने के लिये (६.४३⁶); अध‿इन्द्र‿एद् युयुधे दस्युम् तब वह राक्षस से लड़ने को बढ़ा (५.३०⁹); तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुम् ये दोनों हमें हमारे प्राण लौटा दें, जिससे कि हम सूर्य को देख सकें (१०.१४¹²); देवो नो अत्र सविता नु‿अर्थं प्रासावीद् द्विपत् प्र चतुष्पदित्यै यहां सविता देवता ने हमारे मनुष्यों और पशुओं को अपने काम पर जाने के लिये प्रेरित किया है (१.१२४¹); अबोधि होता

पर्यंयाय देवान् *होता देवताओं की पूजा करने के लिये जाग उठा है* (५.१[१]) ।

(ख) चतुर्थी प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त की वाक्य के किसी शब्द विशेष पर निर्भरता कोई कम प्रायिक नहीं । यथा—तां वां वास्तूनि उश्मसि गमध्यै *हम तुम दोनों के उन घरों को जाने को इच्छुक हैं* (१.१५४[६]); दांधृविर्भ रध्यै *धारण करने में सशक्त* (६.६६[३]); चिकिद् नाशयध्यै *नष्ट करने की समझ रखता हुआ* (८.९७[११]); अग्निं द्वेषो योतवै नो गृणीमसि *हम अग्नि से प्रार्थना करते हैं कि वह शत्रुता को हमसे दूर रखे* (८.७१[१५]); ते हिं पुत्रासो अदितेर्विदुर्द्वेषांसि योतवे *चूंकि अदिति के वे पुत्र जानते हैं कि युद्ध को कैसे दूर किया जा सकता है* (८.१८[५]); त्वमिन्द्र स्रवितवा अपस्कः *हे इन्द्र तुमने जलों को प्रवाहित किया* (७.२१[३]); विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दावने *हम अक्षय दान देने वाले तुम्हारे बारे में यह जान सकें* (५.२९[९]); भियसे मृगं कः *उसने दैत्य को डरा दिया* (५.२९[४]); जजनुश्च राजसे *और उन्होंने (उसे) शासन करने के लिये उत्पन्न किया* (८.९७[१०]); कवींरिच्छामि सन्दृशे *मैं कवियों को देखना चाहता हूँ* (३.३८[१]) ।

(ग) यदाकदा चतुर्थी प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त में कर्म को कहने का सामर्थ्य होता है । यथा— आ वो वाहिष्ठो वहतु स्तवध्यै रथः तुम्हारा सबसे अधिक वेगवान् रथ तुम्हें इस ओर ले आये जिससे कि तुम्हारी स्तुति की जा सके (७.३७[१]); गीर्भिः सखायं गां न दोहसे हुवे मैं अपने गीतों से अपने मित्र को इस तरह बुलाता हूँ जैसे कि उस गाय को जिसे कि दुहना है (६.४५[७]); पुर्या पुरुतमा दृशे कम् यह जो कि निरन्तर वापिस आती रहती है (जिससे कि) वह दिखाई देती रहे । विधेयपरतया प्रयुक्त (नियमितरूप से निषेधार्थक न के साथ) संयोजकनिपातसहचरित भविष्यत्काल कृदन्तों के समकक्ष तवे तवै और ए वाले

---

१. ऐसा प्रतीत होता है कि लैटिन में कृत्यप्रत्ययान्त रूपों ने वास्तव में भारोपीय विधेयात्मक तुमर्थ कृदन्त रूप का स्थान ग्रहण कर लिया है । देखिये ब्रगमेनकृत, ग्रुन्द्रिस्स ४, २, पृष्ठ ४६१ और ४८८.

तुमर्थ कृदन्त रूपों में यह अर्थ विशेष रूप से देखने में आता है। यथा—स्तुषे॑ सा वां॑ रा॒तिः[2] आपकी वह बहुप्रदता स्तुति करने के योग्य है (१.१२२[7]); नेषा गव्यूतिरपभर्तवा उ यह चरागाह छीने जाने के लिये नहीं है (१०.१४[2]); यस्य न राधः पर्येतवे जिसकी निधि अतिक्रान्त किये जाने के लिये नहीं है (८.२४[21]); न॒ अ॒स्माक॑मस्ति तत् तर आदित्यासो अतिष्कदे हे आदित्यो हमारा यह उत्साह उपेक्षा किये जाने के लिये नहीं है (८.६७[19]), न प्रमिये सवितुर्दैव्यस्य तत् दिव्य सविता का यह (काम) नष्ट किये जाने के लिये नहीं है (४.५४[4])।

(आ) कर्म का अर्थ होने पर तुमर्थ कृदन्त के द्वारा अभिव्यक्त क्रिया के कर्ता (या करण) से तृतीया अथवा षष्ठी आती है। यथा—न॒ अन्येन स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवे वः हे वसिष्ठो आपकी स्तुति किसी अन्य के द्वारा तुलना किये जाने के लिये नहीं है (७.३२[8]; अभूदग्निः समिधे मानुषाणाम् अग्नि मनुष्यों के द्वारा प्रज्वलित किये जाने के लिये प्रतीत हुआ (७.७७[11])। कर्मवाच्य का अर्थ न रहने पर कर्ता को चतुर्थी से अभिव्यक्त किया जाता है। यथा—वि श्रयन्तां प्रयै देवेभ्यो महीः देवताओं के लिये बड़े (द्वार) खुल जायें (=) जिससे कि वे (देवता) प्रवेश कर सकें (१.१४२[6]); दूरे॑ परयद्भ्य उर्विया विचक्ष उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा (१.११३[9]) उषा ने सभी प्राणियों को जगा दिया है जिससे कि वे जो (अब) कम देखते हैं दूर दूर तक देखने लग जायें; अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ मैं रुद्र के लिये धनुष खींचता हूँ जिससे कि बाण उसे लगे जिसे कि प्रार्थना से द्वेष है (१०.१२५[6])।

(इ) इच्छार्थ के अभिव्यञ्जक ध्यै-युक्त तुमर्थ कृदन्तों का साकाङ्क्षतया प्रयोग कम प्रायिक नहीं है। यहाँ कर्ता या तो अभिहित होता है या उ० अथवा प्र० पु० में उसका अध्याहार करना पड़ता है। यथा—प्रति वां रथं जरध्यै आप दोनों के रथ का मैं आवाहन (करना चाहता) हूँ (७.६७[1]); आ व औशिजो हुवध्यै शंसम् उशिज् का पुत्र आपकी स्तुति उद्बोधित (करना) चाहता है (१.१२२[5])।

(ई) ब्राह्मणग्रन्थों में तवै वाले तुमर्थक कृदन्तों के तीन प्रकार के प्रयोग हैं: १. प्रयोजन अर्थ में यथा—तं प्र हरति योऽस्य स्तृत्यस्तस्मै स्तर्तवै वह उसे फेंकता है इसलिये कि वह उस पर जा लगे जिस पर कि इसे लगना चाहिये (ऐ० ब्रा०)।

---

१. जोकि लैटिन में होगा: लौदन्द (एस्त) वेस्त्र बेनिग्नितस्।

२. नें के योग में विधेयरूप में जब कि अर्थ प्रायः कर्मवाच्य का रहता है। कभी-कभी इसका प्रयोग भाववाच्यतया भी उपलब्ध होता है। यथा—नें वै यज्ञ इव मन्तवै इसे यज्ञ की तरह नहीं माना जा सकता है (श० ब्रा०); नें पुरा सूर्यस्य उदेतोर्मन्थितवै सूर्योदय से पूर्व अरणिमन्थन नहीं करना चाहिये (मै० सं०); तस्मादेतेन अश्रु नें कर्तवै इसलिये उसे आँसू नहीं बहाने चाहियें (मै० सं०)। ३. आह, उवाच और ब्रूयात् के योग में आने वाली द्वितीया के बाद कर्मवाच्य अर्थ में। यथा—अग्निं परिस्तरीतवै आह वह कहता है कि अग्नि का परिस्तरण करना है (मै० सं०); गोपालान् संह्वयितवै उवाच उसने कहा कि ग्वालों को एक साथ बुलाना चाहिये (श० ब्रा०); तदश्वमानेतवै ब्रूयात् तब उसे घोड़े को लाने का आदेश देना चाहिये (श० ब्रा०)। पर शायद द्वितीया यहां केवल तुमर्थ कृदन्त पर ही निर्भर करती है: उसे घोड़े को लाने के लिये आदेश देना चाहिए।

२. *द्वितीया प्रतिरूपक तुमुन्नन्त और तुमर्थ कृदन्त*

(क) अमन्तरूप गत्यर्थक धातुओं वाले अथच *सामर्थ्य* (अर्ह्, अश्, शक्), *इच्छा* (वश्) और ज्ञान (विद्) इन अर्थों वाली धातुओं पर निर्भर वाक्यार्थों के पूरक के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। यथा—उ॑पो एमि चिकितु॑षो विपृ॑च्छम् *मैं पूछने के लिये बुद्धिमान् लोगों के पास जाता हूँ* (७.८६[३]); इये॑थ बर्हि॑रासदम् *तुम अपने को कुश पर बिठाने के लिये गये हो* (४.९[१]); शके॑म त्वा समि॑धम् *हम तुम्हें प्रज्वलित कर सकेंगे* (१.९४[३]); सं वेद देवं आनमं देवान् *वह देवता जानता है कि देवताओं को यहां कैसे इस ओर आने के लिये मार्ग दिखाया जा सकता है* (४.८[२])।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में तुमर्थ कृदन्तों का यह रूप केवल निषेधार्थक नें से सम्बद्ध अर्ह्, विद् और शक् इन धातुओं के योग में प्रयुक्त होता है। यथा—अवरु॑न्धं नें अशक्नोत् वह पीछे न रोक सका (मै० सं०)।

(ख) ऋग्वेद में तुमुन्नन्त कृदन्त गत्यर्थक धातुओं के योग में प्रयोजन को अभिव्यक्त करता है एवञ्च समर्थार्थक अर्ह् और इच्छार्थक चि पर निर्भर

होते हुए भी प्रयुक्त होता है। यथा—को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत् कौन यह पूछने के लिये विद्वान् के पास गया है ? (१.१६४[४]) ; नूयो वा दातुमर्हसि अथवा तुम और अधिक दे सकते हो (५.७९[१०]) ।

(क) ब्राह्मणग्रन्थों में भी ऐसा ही प्रयोग है। वहां भी यह तुमर्थ कृदन्त गत्यर्थक धातुओं के योग में प्रयोजन को अभिव्यक्त करता है अथवा निम्नलिखित धातुओं के योग में प्रयुक्त होता है : वृ इच्छा रखना और (सामान्यतया निषेधार्थक न के योग में), अर्ह् और शक् समर्थ होना, कम् चाहना, धृष् साहस करना, आद्रृ कष्ट पहुँचाना आशंस् आशा रखना। यथा—होतुमेति वह हवन करने के लिये जाता है (तै० सं०), द्रष्टुमागच्छति वह देखने के लिये आता है (श० ब्रा०); अन्यदेव कर्तुं दधिरेऽन्यत् कुर्वन्ति उन्होंने कुछ और ही करने का सङ्कल्प किया है पर वे करते कुछ और ही हैं (श० ब्रा०); कथमशकत मदृते जीवितुम् तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके हो ? (श० ब्रा०); न चकमे हन्तुम् उसे मारने की इच्छा न हुई (श० ब्रा०)।

३. पञ्चमी और षष्ठीप्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त

(क) असन्त रूप (जिसका उपसर्गों के साथ नियमेन समास हो जाता है) लगभग अनन्यवादरूपेण पञ्चमी का रूप है जैसाकि इसके पञ्चमी विभक्ति के नियामक शब्दों के जैसे कि उपसर्ग ऋते (बिना) पुरा (पहिले), और पा (रक्षा करना) त्रा (त्राण करना) और भी (डरना) इन धातुओं के योग में प्रयोग से पता चलता है। यथा—ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः कोमलास्थियों के छिदे जाने से पूर्व बिना बंधे ही (८.१[१२]); त्राध्वं कर्तादवपदः (२.२९[६]) हमें गढ़े में गिरने से बचाओ (अक्षरार्थ : गढ़े से. गिरने से)।

ईश् धातु के योग में प्रयुक्त होने के कारण इसके षष्ठी विभक्ति होने का केवल एकमात्र उदाहरण है : नहि त्वदारे निमिषश्चन ईशे चूंकि तुम्हारे बिना मैं आँख भी नहीं झपक सकता (२.२८[६])।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में यह केवल ईश्वर के द्वारा नियमित षष्ठी विभक्ति के रूप में प्रयुक्त होता है : स ईश्वरो॑ यजमानस्य पशू॒न् निर्द॑हः वह यजमान के पशुओं को जलाने में समर्थ है (मै० सं०)।

(ख) तोस् प्रत्ययान्त कृदन्त पञ्चमी विभक्ति का रूप होता है जबकि यह पुरा॑ (पहिले) और आ॑ (तक) इन उपसर्गों के अथच *बचाना* और *रोकना* इन अर्थों की धातुओं के योग में प्रयुक्त होता है। यथा—पुरा॑ हन्तो॑र्भ॑यमानो व्योर *इससे पहिले कि उस पर प्रहार हो वह (वहां से) हट गया* (३.३०[१०]); युयो॑त नो अनपत्या॑नि गन्तोः *हमें अनपत्यताप्राप्ति से बचाओ* (३.५४[८])। पष्ठी प्रतिरूपक तुमर्थकृदन्त का प्रयोग *समर्थ होना* इस अर्थ के ईश धातु के (जहां कि कर्म [समीपवर्ती विभक्ति के] आकर्षण के कारण षष्ठी में पाया जाता है) या *बीच में* इस अर्थ के मध्या॑ इस क्रियाविशेषण के योग में पाया जाता है। यथा—ई॑शे रा॒यः सुवी॑र्यस्य दा॒तोः *वह धन एवञ्च शूरवीर सन्तान दे सकता है* (७.४[६]); मा नो मध्या॑ रीरिषत_आयुर्ग॑न्तोः *वृद्धावस्था (के बीच में ही=)में पहुँचने से पहिले हमें कोई क्षति न पहुँचाओ* (१.८९[९])।

ब्राह्मणग्रन्थों में पञ्चमी प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त केवल उपसर्गों के योग में ही पाया जाता है। यह प्रायः आ॑ (तक) और पुरा॑ (पहिले) के योग में उपलब्ध होता है जबकि कर्ता और कर्म दोनों से ही षष्ठी आती है। पर समीपवर्ती विभक्ति के आकर्षण के द्वारा कर्म से पञ्चमी भी आ सकती है। विधेय में भी पञ्चमी आ सकती है। यथा—आ॑ सू॑र्यस्य उ॑देतोः (मै० सं०) सूर्य के उदय तक उस समय तक जबकि सूर्य उदय होता है; आ॑ तिसृणां॑ दो॑ग्धोः (श० ब्रा०) तीन (गायों) के दुहे जाने तक=जब तक कि तीन (गायें) दुही जाती हैं; आ॑ मे॑ध्याद् भवितोः पवित्र होने तक; पुरा॑ सू॑र्यस्य_उ॑देतोः सूर्य के उदय होने से पूर्व (मै० सं०)=जब सूर्य उदय होता है उससे पूर्व; पुरा वाग्भ्यः सम्प्रवदितोः वाणियों के उच्चारण किये जाने से पूर्व (पं० ब्रा०)=जब वाणियों का उच्चारण किया जाता है उससे पूर्व। पञ्चमी प्रतिरूपक कृदन्त कभी-कभी पुरस्ताद् और अर्वाची॑नम् (पहिले) इन क्रियाविशेषणीभूत उपसर्गों के योग में

भी प्रयुक्त होता है। यथा—पुरस्ताद्धोतोः हवन करने से पहिले (मै० सं०); अर्वाचीनं जनितोः पैदा होने से पहिले (मै० सं०)।

षष्ठीप्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त केवल समर्थार्थक ईश्वर के योग में प्रयुक्त होता है। इस अवस्था में कर्म में द्वितीया (कभी-कभी आकर्षण के द्वारा षष्ठी भी) और विधेय में प्रथमा आती है। यथा—स ईश्वर आर्तिमार्तोः वह कष्ट में पड़ सकता है (तै० सं०); तौ ईश्वरौ यजमानं हिंसितोः वे दोनों यजमान को हानि पहुँचा सकते हैं (मै० सं०)। कभी-कभी ईश्वर शब्द का प्रयोग नहीं भी किया जाता। यथा—ततो दीक्षितः पामनो भवितोः इसलिये दीक्षित व्यक्ति पामन् (=पाँव, खुजली का उग्ररूप) रोगयुक्त हो सकता है (श० ब्रा०)।

सप्तमी प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त

शुद्ध तुमर्थ कृदन्त माने जाने वाले सप्तमी प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त (देखिये १६७.४) वे कतिपय रूप हैं जिनमें सनि लगता है। यह सामान्य वाक्यार्थ के पूरक होते हैं अथवा (ध्यै वाले रूपों की तरह) अपने प्रयोग के लिये वाक्य के किसी शब्द विशेष पर निर्भर करते हैं और इच्छा अथवा *प्रेरणा* इन अर्थों को अभिव्यक्त करते हैं (यहां प्र० म० और उ० पुरुषों में क्रिया का अध्याहार करना पड़ता है)। यथा—वि नः पथश्चितन यष्टवे अस्मभ्यं विश्वा आशास्तरीषणि *क्या तुम हमारे लिये यज्ञ के मार्ग खोल देते हो (जिससे कि) हम सभी क्षेत्रों को जीत लें* (४.३७[७]); नयिष्ठा उ नो नेषणि, पर्षिष्ठा उ नः पर्षत्यति द्विषः *शत्रुओं के बीच में से हमारा पथ प्रदर्शन करने वालों में सर्वोत्तम और नेतृत्व करने वालों सर्वश्रेष्ठ नेता* (१०.१२६[३]) तद् व उक्थस्य बर्हणा‿इन्द्राय‿उपस्तृणीषणि *मैं तुम्हारे इन्द्र के लिये शक्ति के साथ स्तुति गीत को बिछा दूंगा* (६.४४[६]); प्रियं वो अतिथिं गृणीषणि *तुम अपने प्रिय अतिथि की स्तुति करो* (६.१५[६]); ईजानं भूमिरभि प्रभूषणि *पृथिवी यजमान की सहायता करे* (१०.१३२[१])।

लकार और प्रकार

२१२. अपने से मिलते जुलते अर्थों वाले दो या तीन धातु कभी-कभी एक दूसरे के इस प्रकार पूरक बन जाते हैं कि वे लगभग एक ही क्रियापद

के भिन्न-भिन्न लकारान्त रूपों का काम देने लगते हैं। इस प्रकार की धातुएं हैं :

१. अस् और भू : अस् के लट्, लङ और लिट् के रूप बनते हैं और भू के केवल लृट् और लुङ के। अपने निजी अर्थ में भू का अर्थ है *होना* (मूल में *बढ़ना*) पर यदि यह सत्तार्थक अस् के विपरीत न हो, तो इसका भी वही अर्थ होता है जो कि अस् का। दोनों ही धातुओं के लट् और लिट् के रूप साङ्कर्येण प्रयुक्त होते हैं। इनका भेद तब सब से अधिक स्पष्ट होता है जबकि लट् और लुङ वाक्य में विरोधितया प्रयुक्त होते हैं। यथा—**यमो॑ वा इ॒दम॑भूद् यद्व॒यं स्मः** *यम वह बन गया है जो हम हैं* (तै० सं०)। यह लङ में भी पाया जाता है : **या॑ वि॒प्रुषा॒ आस॒॑स्ताः शर्क॑रा अभवन्** *जो (पहिले) चिनगारियाँ थीं वे (अब) कंकड़ बन गये हैं* (मै० सं०)।

२. धाव् और सृ *दौड़ना* : ऋग्वेद में लिट् प्र० के **अ॒दधावत्** और लट् के **सि॒र्सर्ति** एवञ्च ब्राह्मणग्रन्थों में लट् का **धावति**, लङ् का **असरत्** और लिट् के **सर्सार** उपलब्ध होते हैं।

३. पश् और दृश् *देखना* : इनमें पश् केवल लट् में ही पाई जाती है और दृश् लिट्, लृट् और लुङ में। दर्शनार्थक **ख्या** भी उन्हीं लकारों में प्रयुक्त होती है जिनमें कि दृश्, पर दृश् के विपरीत इसका अर्थ होता है *ध्यान से देखना*।

४. ब्रू और वच् *बोलना* : ब्रू केवल लट् प्रकृति में ही प्रयुक्त होती है और वच् लिट्, लृट् और लुङ् में (वेद में लट् का रूप **विवक्ति** भी उपलब्ध होता है)।

५. हन् और वध् *मारना* : हन् के प्रयोग लट्, लिट्, लृट् और लङ में उपलब्ध होते हैं और वध् के केवल लुङ् में।

(ऋ) ब्राह्मणग्रन्थों में कतिपय अतिरिक्त धातुयुगल कुछ हद तक एक दूसरे के अर्थ के पूरक हैं। जैसे कि अद् और घस् खाना, अज् और वी हाँकना; इ और गा (लुङ्) जाना; प्रयम् और प्रदा उपहार में देना; शद् और शी गिरना।

लट्

(य) वेद में दो या दो से अधिक लट् प्रकृतियों से बने कुछेक क्रियापद उपलब्ध होते हैं जिनमें कि तनिक भी अर्थभेद नहीं पाया जाता। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह वैविध्य बहुत सीमा तक लुप्त हो चुका है। यहां वह केवल-मात्र रूप जिसमें कि विकास के चिन्ह उपलब्ध होते हैं य वाला रूप है जिसका झुकाव अकर्मक अर्थ की ओर है। ब्राह्मणग्रन्थों में इस प्रकार की लट् प्रकृतियां लगभग एक दर्जन धातुओं से बनती हैं जो कि ऋग्वेद में नहीं बनतीं। यथा—**तप्यति** *गर्म होता है* (ऋग्वेद में **तपति**)।

१. अन्य भाषाओं की तरह लट् का प्रयोग उस क्रिया को सूचित करने के लिये किया जाता है जो कि वक्ता के द्वारा अपनी बात कहे जाने के समय हो रही होती है।

२. ऋग्वेद में सामान्य लट् कभी-कभी कहानी में बताई जाने वाली अतीत की उन घटनाओं के लिये भी प्रयुक्त किया जाता है जहां कि कोई नई बात इस तरह कह दी जाती है कि मानो वह प्रत्यक्ष हो रही हो। यथा—**पुरुत्रा॑ वृत्रो॑ अशयद् व्य॑स्तः अमुया॒ शया॑नम॑ति यन्ति॒ आपः** *वृत्र अनेक स्थानों पर बिखरा पड़ा था : जब वह इस प्रकार पड़ा होता है तो उस पर जल चलने लगते हैं* (१.३२[७]) ब्राह्मणग्रन्थों में यह प्रयोग उपलब्ध होता नहीं दीखता।

(क) पुरा के योग में लट् का प्रयोग उस क्रिया को सूचित करने के लिये किया जाता है जोकि अतीत में होते होते वर्तमान तक पहुँच गई है। यथा—**क्व॑ तानि नौ सख्या॑ बभूवुः, सचा॑वहे य॑दवृकं पुरा चित्** *हम दोनों की वह मित्रता कहां गई जबकि हम पहिले ऐसे मिलते रहे हैं जिससे*

कि एक दूसरे को बुरा नहीं लगता था (८.८०५); सं ह—अग्निरुवाच—अथ यन्मां पुरा प्रथमं यजय क्व—अहं भवानि—इति तब अग्नि ने कहा : चूंकि अब तक तुमने मुझे यज्ञ में प्रथम स्थान रूप सम्मान दिया है (इसलिये अब) मैं कहाँ रहूँ (श० ब्रा०) ?

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में पुरा का प्रयोग किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में पूर्वावस्था को अभिव्यक्त करने के लिये किया जाता है। इस प्रकार के प्रयोग में वक्ता के दृष्टिकोण से वास्तविक वर्तमानता का परामर्श नहीं पाया जाता। यथा—अहोता वा एष पुरा भवति यदा—एवं—एनं प्रवृणीतेऽथ होता पहिले वह होता नहीं होता है पर ज्यों ही वह उसे चुन लेता है तो वह होता बन जाता है (श० ब्रा०), अनद्धा—इव वा अस्य—अतः पुरा जातं भवति पहिले उसका जन्म अनिश्चित सा होता है (श० ब्रा०)।

(ख) निर्देशक लट् के योग में स्म पुरा यह बताता है कि अतीत में कुछ हुआ करता था। यथा—संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वा—अव गच्छति पहिले समय में स्त्री सार्वजनिक यज्ञ (यज्ञों) या सभाओं में जाया करती थी (१०.८६१०)।

(अ) यही व्यवहार ह स्म पुरा के साथ ब्राह्मणग्रन्थों में भी प्राचुर्येण उपलब्ध होता है। यथा—न ह स्म वै पुरा—अग्निरपरशुवृक्णं दहति पहिले समय में जो चीज कुल्हाड़ी से न कटी हो उसे आग नहीं जलाती थी (तै० सं०)। यहां कहीं अधिक बार पुरा के प्रयोग का परिहार किया जाता है और केवल ह स्म ही उसी अर्थ को समर्पित कर देते हैं विशेषकर प्रायः तब जबकि लट् और लिट् के आह के योग में उनका प्रयोग किया जाता है। यथा—एतद्ध स्म वा आह नारदः (मै० सं०) इस बारे में नारद कहा करते थे (दे० ब्रा० में इसी अर्थ में ह स्म के योग में लिट् और लङ् का प्रयोग पाया जाता है)। ह स्म इन निपातों ने जोकि पहिले पुरा के साथ आते रहे थे ने इसके बिना प्रयुक्त होने पर भी वही अर्थ अपना लिया है जो कि केवल पुरा में विद्यमान है।

(ग) निर्देशक लट् कभी-कभी लृट् और लेट् के स्थान में भी प्रयुक्त होता है। यथा—अहमपि हन्मि—इति ह—उवाच उसने कहा : मैं भी उसका

(श० ब्रा०) इन्द्रश्च रुशमश्चांनं प्रास्येताम्, यतरो नौ पूर्वो भूमिं पर्येति स जयतीति *इन्द्र और रुशम ने शर्त लगाई: हममें से जो पृथिवी के गिर्द पहले जायेगा वह विजयी होगा* (प० ब्रा०)।

भूतकाल

२१३. भूतकाल के प्रत्येक लकार का (सिवाय लिट्प्रतिरूपक के) अपना एक विशिष्ट अर्थ है यद्यपि लिट् और लुङ् के कई ऐसे उदाहरण भी मिल जाते हैं जिनमें और लङ् के रूपों में कोई अर्थ भेद नहीं पाया जाता।

(१) लिट् का यह स्वभाव है कि यह पूर्ववर्ती क्रिया के परिणाम स्वरूप बनी कर्ता की स्थिति को अभिव्यक्त करता है। यदि वह क्रिया (जोकि प्रायः बार-बार की जाने वाली अथवा निरन्तर होने वाली होती है) होते-होते वर्तमान काल तक पहुँच जाती है और वर्तमान का भी अपने में ही अन्तर्भाव कर लेती है तो इसका अनुवाद वर्तमान के द्वारा किया जा सकता है पर यदि वह वर्तमानकाल से पहले ही परिसमाप्त हुई समझी जाती है तो इसका अनुवाद पूर्णभूत से किया जाता है। पुरा पहिले और नूनम् (अब) इन क्रियाविशेषणों के योग में यह इन दोनों अर्थों को अभिव्यक्त कर सकता है। यथा—पुरा नूनं च स्तुतय ऋषीणां पस्पृध्रे *अतीत काल में ऋषियों की स्तुतियां एक दूसरे से होड़ लेती रही हैं और अब भी (वैसा) ही कररही हैं* (६.३४[१]); शश्वद्धि व ऊतिभिर्वयं पुरा नूनं बुभुज्महे *हम निरन्तर आप की सहायता का उपभोग करते रहे हैं और अब भी (वैसा ही) कर रहे हैं* (८.६७[१६])। सर्वदार्थक क्रियाविशेषण सत्रा के योग में भी यही अर्थ पाया जाता है। यथा—तुभ्यं ब्रह्माणि गिर इन्द्र तुभ्यं सत्रा दधिरे, जुषस्व *हे इन्द्र तुम्हें प्रार्थनाएँ और तुम्हें ही गीत सदा अर्पण किये गये हैं (और अब भी किये जाते हैं): तुम कृपाकर कर उन्हें स्वीकार करो* (३.५१[१])। पर निपात के बिना भी यह दोहरा अर्थ प्रचुरतया स्पष्टरूपेण उपलब्ध होता है: न सोमइन्द्रमसुतो ममाद (७.२६[१]) *अनभिषुत सोम ने (भूत काल में) इन्द्र को मत्त नहीं किया*

(और नहीं वह अब कर रहा है)। नं भोजा मम्रुर्नं न्यर्थमीयुर्, नं रिष्यन्ति नं व्यथन्ते ह भोजाः दानी लोग मरे नहीं हैं (और मरते [भी] नहीं हैं), वे विपत्ति में नहीं पड़े हैं (और नहीं अब पड़ते हैं) : दानियों को कोई क्षति नहीं पहुँचती और नहीं वे डगमगाते हैं (१०.१०७⁸); इन्द्र ... उभे आ पप्रौ रोदसी महित्वा इन्द्र ने अपनी महिमा से दोनों लोकों को भर दिया है (और अब भी भर रहा है) (३.५४[१५])।

(क) इस प्रकार लिट् के पर्याप्त रूपों का (चूंकि उनकी क्रिया में वर्तमान की क्रिया निहित रहती है) अनुवाद वर्तमान क्रिया के द्वारा किया जा सकता है जैसाकि उनके शुद्ध लडन्त रूपों के सान्निध्य में प्रयोग से पता चलता है। इस प्रकार के लिट् के रूप इन अर्थो की धातुओं से बनते हैं : जानना, प्रसन्न होना, दुःखी होना या डरना, खड़ा होना, बैठना, लेटना, [किसी चीज] पर विश्राम करना, मजबूती से पकड़ना, रखना, का स्वामी होना, घेरना, आवेष्टित करना, आगे लांघ जाना, समृद्ध होना, और अपने को प्रदर्शित करना। यथा—क्वे॒‿इदा॑नीं सूर्यः॑, कश्चिकेत कौन जानता है कि सूर्य अब कहां है (१.३५⁷); यन्न इन्द्रो जुजुषे यच्च वष्टि जो कुछ इन्द्र हमसे इच्छा रखता है और जो कुछ वह चाहता है (४.२२¹); कं ईषते, तुज्यते, को बिभाय कौन भाग रहा है, कौन तेजी से चल रहा है, कौन डरा हुआ है (१.८४[१७]); नं मेथेते नं तस्थतुः न तो वे (रात और प्रातः) एक दूसरे से टकराते हैं और नहीं वे स्थिर रहते हैं (१.११३³); वनेवने शिश्रिये तक्ववीरिव हर पेड़ पर वह पँछी की तरह रहता है (१०.९१²); यथा‿इयं पृथिवी मही दाधार‿इमान् वनस्पतीन् एवा दाधार ते मनः जैसे यह विशाल पृथ्वी वनस्पतियों को धारण करती है वैसे ही वह तुम्हारे मन को धारण करता है (१०.६०⁹); नं ते पूर्वे नं‿अपरासो नं वीर्यं नूतनः कश्चनं‿आप न अतीत के मनुष्य, नहीं आने वाले मनुष्य और नहीं इस काल के मनुष्य ने तेरी वीरता को प्राप्त किया है अर्थात् तेरी वीरता के बराबर हैं (५.४२⁶); प्र हिं रिरिक्ष ओजसा दिवो अन्तेभ्यस्परि नं त्वा विव्याच रज इन्द्र पार्थिवम् हे इन्द्र, तुम अपनी शक्ति से द्युलोक के छोरों से भी आगे निकल जाते हो, पृथ्वीलोक तुम्हें

अपने में नहीं ले सकता (८.८८[५]); ईन्द्रेण शुशुवे नृभिर्यस्ते सुनोति इन्द्र के द्वारा तुम्हारे लिये (सोम का) अभिषव करने वाले की मनुष्य वृद्धि होती है (७.३२[५]); सेदु राजा क्षयति चर्षणीनाम्, अरान् न नेमिः परि ता बभूव वह राजा की तरह मनुष्यों पर शासन करता है, वह लोकों के (ता) चारों ओर विद्यमान है जैसेकि नेमि अरों के चारों ओर रहती है (१.३२[१५]); भद्रा ददृक्ष उर्विया वि भासि, उत्ते शोचिर्भानवो द्यामपप्तन् तुम भास्वान् दिखाई देते हो, तुम दूर दूर तक चमकने हो तुम्हारी रोशनी (और) तुम्हारी किरणें द्युलोक तक चली गई हैं (६.६४[२])।

(ख) लिट् के अन्य रूपों का जिनमें संक्षिप्त रूप में बीती हुई क्रिया का निर्देश किया जाता है एवञ्च जिनमें वर्तमान की क्रिया का समावेश नहीं होता का अनुवाद पूर्णभूत के द्वारा किया जा सकता है। यथा—यत्सीमागश्चकृमा तत्सु मृळतु जो कुछ भी पाप हमने किया हो, उसे वह क्षमा करे (१.१७९[५]); या वृत्रहा परावति सना नवा च चुच्युवे, ता संसत्सु प्र वोचत दूर स्थान पर जो पुराने और नये काम वृत्र को मारने वाले ने प्रारम्भ किये हैं उनकी तुम सभाओं में चर्चा करो (८.४५[२५]); उवास उषा उच्छाच्च नु उषा की लाली (अतीत में भी) आई है और अब भी आयेगी (१.४८[३]); किमाग आस वरुण ज्येष्ठं, यत् स्तोतारं जिघांससि सखायम् (पूर्व जन्म में) मेरा मुख्य पाप क्या था जिसके कारण तुम अपनी स्तुति करने वाले अपने मित्र को मारना चाहते हो (७.८६[४]); ईयुष्टे ये पूर्वतरामपश्यन् व्युच्छन्तीमुषसं मर्त्यासः; ओ (=आ उ) ते यन्ति ये अपरीषु पश्यान् वे मनुष्य, जिन्होंने पहले की उषा को चमकते हुए देखा अब जा चुके हैं, जो अब आ रहे हैं वे उसे भविष्य में देखेंगे (१.११३[११])।

(ग) लिट् लकार अनेक बार उस एक क्रिया को अभिव्यक्त करता है जो कि आसन्नभूत में ही समाप्त हुई है। उस दशा में इसका अनुवाद पूर्णभूत के द्वारा किया जाता है। यथा—आ नो यातं दिवस्परि, पुत्रः कण्वस्य वामिहं सुषाव सोम्यं मधु द्युलोक से हमारे पास आओ : कण्व के

पुत्र ने आपके लिये सोमरूपी मधु का अभिषव किया है (८.८[४])। लिट् का इस प्रकार का प्रयोग लुङ् के बहुत निकट पहुँच जाता है। उनमें भेद यह प्रतीत होता है: उपरिलिखित सन्दर्भ में लिट् का अर्थ है: आओ चूंकि सोम का अभिषव किया जा चुका है, अर्थात् तुम्हारे लिये सोम तैयार है; लुङ् का अर्थ होगा आओ इसलिये कि अभी अभी आपके लिये सोम का अभिषव किया गया है।

(घ) लिट् का सुदूरतर अतीत की किसी क्रिया को अभिव्यक्त करने के लिये प्रयोग पर्याप्त प्रायिक है। उस समय उसका अनुवाद पूर्णभूत के द्वारा नहीं किया जा सकता। इस स्थिति में यह आख्यान के लङ् के सान्निध्य में प्रयुक्त होता है जबकि कहानी का प्रवाह उस चिन्तन के द्वारा अवरुद्ध हो जाता है जोकि बहुत बार पहिले बताई गई क्रिया के परिणाम को सूचित करता है। उदाहरण के लिए वृत्रासुरसंग्राम की कहानी में कवि कहता है: अजयो गा अजयः शूर सोमम्; अवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून् तुमने गायों को हासिल कर लिया, सोम को हासिल कर लिया, हे शूर तुमने सात नदियों को बहने के लिये उन्मुक्त कर दिया (१.३२[१२]); इसके बाद वह कहता है: इन्द्रश्च यद्युयुधाते अहिश्च_उत_अपरीभ्यो मघवा वि जिग्ये जब इन्द्र और सर्पने युद्ध किया तो बहुप्रद देवता भविष्य के लिये जीत गया (=विजयी रहा)। लिट् के इस प्रकार के प्रयोग का लङ् से विवेक कर पाना अति कठिन है।

(ङ) ब्राह्मणग्रन्थों में निर्देशक लिट के तीन प्रकार के प्रयोग उपलब्ध होते हैं:

१. जबकि पूर्णभूत पर आधारित वर्तमान अर्थ पाया जाता है, मुख्य रूप से उन रूपों में जिनमें कि अभ्यास के अच् में गुण अथवा वृद्धि पाई जाती है एवञ्च इस कारण से ही जिनका अर्थ यङन्त का सा प्रतीत होता है। पूर्णभूत में वर्तमान का अर्थ शामिल है। इससे यह बात अभिव्यक्त होती है कि वर्तमान में होने वाली क्रिया भूत काल में इसके बार-बार दोहराये जाने का परिणाम है। यथा—दाधार (वह उसे निरन्तर धारण करता रहा है और अब भी धारण कर रहा है।) यत्सायं जुहोति रात्र्यै तेन दाधार यदि वह सायंकाल हवन करता है तो वह

उसे (अग्नि को) रात भर के लिये रोक लेता है (मै० सं०)। इस प्रकार के लिट् के अन्य रूप हैं: दीदाय चमकता है, उप दाद्राव की ओर लपकता है, योयाव परिहार करता है, लेलाय काँपता है, बीभाय (दूसरा रूप बिभाय) डरता है जबकि आमन्त रूप बिभयाञ्चकार का अर्थ सदैव भूत का होता है। इन क्रियापदों के अतिरिक्त वेद (जानता है) और आह (कहता है) का अर्थ सदैव लट् लकार का होता है। ऐसे और भी कई सामान्य साभ्यास लिट् के रूप उपलब्ध होते हैं जिनमें बहुत बार लट् का अर्थ पाया जाता है: आनशे (प्राप्त किया है=) रखता है (मै० सं०, तै० सं०), परीयाय (हासिल किया है=) पास है (तै० सं०), बभूव (बना है=) है (मै० सं०), विव्याच (आवेष्टित किया है=) धारण करता है, ददृशे (देखा गया है=) दीखता है (जब कि ददृशे का अर्थ सदैव लिट् का ही होता है) एवञ्च ग्रह् और प्राप् के लिट् के रूप: येहिं पशवो लोम जगृहुस्ते मेधं प्रापुः जिन पशुओं के बाल होते हैं उनमें चर्बी भी होती है (मै० सं०)।

२. जब भूतकाल का अर्थ अभिव्यक्त करना हो और यह सूचित करना हो कि क्रिया कभी भूतकाल में हुई थी (पर प्राचीन आख्यानों को कहने के लिये प्रयुक्त लङ् के अर्थ में नहीं)। इस प्रकार का प्रयोग प्रायः उवाच इस रूप में पाया जाता है जिसका अनुवाद कभी कहा या कहा है के द्वारा किया जा सकता है। यथा—एतेन वा उपकेरू रराध, ऋध्नोति य एतेन यजते इस यज्ञ से उपकेरु कभी समृद्धि को प्राप्त हुआ था, जो इससे यज्ञ करता है वह (भी) समृद्ध हो जाता है (मै० सं०)। ऐ० ब्रा० में तदेतदृषिः पश्यन्नभ्यनूवाच इसे देखते हुए ऋषि ने इस बारे में (आगे के पद्य में) यह कहा है इस वाक्य में लङ् लकार में कही गई एक कहानी की परिसमाप्ति पर यह बहुत बार पाया जाता है। निम्नलिखित उदाहरण में (प्राचीन) आख्यानों को कहने के लिये प्रयुक्त किये जाने वाले लङ् के साथ इसका तनिक भिन्नता सम्बन्ध देखने में आता है: एतां ह वै यज्ञसेनश्चैत्रियायणश्चितिं विदांचकार, तया वै स पशूनवारुन्द्ध इस प्रकार के (अग्नि) चयन की विधि का यज्ञसेन ने कभी आविष्कार किया: इसके द्वारा उसे पशुओं की प्राप्ति हुई (तै० सं०)। निम्नलिखित वाक्य में इस लिट् के द्वारा भूत का वर्तमान और भविष्यद् के साथ विरोध प्रदर्शित किया जाता है: यद्धा अस्यां किं चार्चन्ति यदानृचुर्, यदेवं किञ्च वाचा आनृचुर्यदतोऽधि अर्चितारः इस (पृथ्वी) पर जो-जो प्रार्थनाएं वे करते हैं या उन्होंने की हैं, जो-जो प्रार्थनाएं उन्होंने वाणी से उच्चारित की हैं या भविष्य में उच्चारित करेंगे (तै० सं०)।

२. जब इसका प्रयोग ऐतिहासिक अर्थ में किया जाता है। उस समय यह आख्यानों में प्रयुक्त लङ् के समकक्ष होता है। लिट् का प्रयोग ऐ० ब्रा० के कतिपय भागों (६-८) एवं श० ब्रा० के कतिपय भागों (१-५; ११, १२, १४) में उपलब्ध होता है जब कि लङ् ब्राह्मण ग्रन्थों मे अन्यत्र भी पाया जाता है (मै० सं० तै० सं०, का०, तै० ब्रा०, पं० ब्रा०, ऐ० ब्रा० १-५; श० ब्रा० ६-१०, १३)। इस प्रकार पूर्व निदिष्ट ग्रन्थों में उवाच कहा और देवाश्च असुराश्च पस्पृधिरे देवताओं और असुरों में परस्पर संघर्ष था, का प्रयोग मिलता है और अनन्तर निर्दिष्ट ग्रन्थों में अब्रवीत् और अस्पर्धन्त का। हां इतना अवश्य है कि दोनों ही वर्गों में अपवाद मिल जाते हैं।

(र) आख्यानों में भूतकाल का लकार लङ् लकार है। लिट् और लुङ् के विपरीत इसका वर्तमान से कोई सम्बन्ध नहीं। यथा—अहन्नहिम्…प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् *उसने साँप को मारा और पर्वतों की कुक्षियों को छेद डाला* (१.३२); न वै त्वं तदकरोर्यदहममब्रवम् *मैंने जो कहा था वह तुमने नहीं किया* (श०ब्रा०)। लङ् लिट्प्रतिरूपक के स्थान में भी आ जाता है जैसा कि ऊपर दिये गये उदाहरण के संयोजक वाक्यांश में देखा जा सकता है, जिसका अर्थ है: *जो मैंने तुम्हें कहा था* ।

(ल) निर्देशक लुङ् उस क्रिया को सूचित करता है जो भूतकाल में हुई थी पर जो वर्तमानकाल का संकेत करती है। यह न तो कालावधि का कोई स्पष्ट निर्देश करता है और नहीं उसका कोई संकेत करता है। जो क्रिया जैसे हुई थी उसे वैसे के वैसे ही कह भर देता है। इसका अनुवाद लगभग सर्वदैव अंग्रेजी भाषा के प्रेजेण्टपर्फेक्ट (पूर्णभूत) के द्वारा किया जा सकता है।

लुङ् लकार प्रायः आसन्नभूत को अभिव्यक्त करता है। यथा—प्रति दिवो अदर्शि दुहिता *द्युलोक की पुत्री प्रकट हुई है* (४.५२[१]); यस्माद् दुष्वप्न्यादभैष्म अप तदुच्छतु (उषा) *अपने प्रकाश से उस बुरे सपने को भगादे जिसका कि हमें डर रहा है* (८.४७[१८])।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में निर्देशक लुङ् का त्रिविध प्रयोग उपलब्ध होता है: १ यह वक्ता के द्वारा अनुभूत घटना को कहता है। किसी क्रिया को प्रत्यक्ष देखने वाले के द्वारा कहे गये वाक्यों में इसका प्रयोग अतिप्रचुर है। यथा—ततो ह गन्धर्वाः समूदिरे: ज्योक् वा इयमुर्वशी मनुष्येष्ववात्सीत् तब गन्धर्वों ने एक साथ

कहा : यह उर्वशी बहुत समय तक मनुष्यों के बीच रही है (श० ब्रा०)। लङ् से इसकी तुलना करने पर पता चलता है कि लङ् में और इसमें यह भेद है कि यह कहानी सुनाने के लिये कभी भी प्रयुक्त नहीं किया जाता। यथा—यज्ञो वै देवेभ्य उदक्रामत्; ते देवा अब्रुवन्, यज्ञो वै न उदक्रमीत् यज्ञ देवताओं से परे चला गया; तब देवताओं ने कहा : यज्ञ हमसे दूर हो गया है (ऐ० ब्रा०); तां यदपृच्छन्त् साब्रवीद्, अद्य‑अमृत इति जब उन्होंने उससे पूछा तो वह बोली : वह आज मरा है (मै० सं०); तमपृच्छन्, कस्मै त्वमहौषीरिति उन्होंने उससे पूछा : तुमने किसे आहुति दी है? (मै० सं०); तं देवा अब्रुवन्, महान् वा अयमभूद्यो वृत्रमवधीदिति देवताओं ने उसके बारे में कहा : जिसने वृत्र का वध किया है उसने अपने को महान् सिद्ध किया है (तै० सं०); ते ह ऊचुर, अग्नये तिष्ठ इति ततस्तस्था‑वग्नये वा अस्थादिति तमग्नावजुहवुः उन्होंने कहा : अग्नि के लिये शान्त होकर खड़े रहो, तब वह शान्त होकर खड़ा रहा, यह अग्नि के लिये शान्त होकर खड़ा रहा है यह समझकर उन्होंने उसे अग्नि में होम कर दिया। (श० ब्रा०)।

२. लेखक के दृष्टिकोण से जो घटना अभी‑अभी हुई है या सुदूरतर अतीत में हो चुकी है उसे बताने के लिये इसका प्रयोग किया जाता है। यथा—स बन्धुः शुनासीर्यस्य यं पूर्वमवोचाम शुनासीर्य आहुति का यह अभिप्राय है जिसे हमने ऊपर स्पष्ट किया था (श० ब्रा०); पुरो वा एतान् देवा अक्रत यत्पुरोळाशाँ‑स्तत् पुरोळाशानां पुरोळाशत्वम् चूंकि देवताओं ने इन पुरोडाशों को अपना पुर (प्रासाददुर्ग) बनाया इसी लिये पुरोडाशों को पुरोडाश कहा जाता है (ऐ० ब्रा०)। इन लुङ् के क्रियापदों के साथ पुरा पर्याप्त प्रचुरतया प्रयुक्त किया जाता है। यथा—न वा एतस्य ब्राह्मणाः पुरा अन्नमक्षन् ब्राह्मणों ने इससे पहिले कभी भी उसका अन्न नहीं खाया (तै० सं०)।

३. यह संस्कारादि के फल को या उससे पूर्व की अवस्था को अभिव्यक्त करता है। यथा—पुत्रस्य नाम गृह्णाति, प्रजामेव अनु समतानीत् वह अपने पुत्र का नामकरण करता है : इस प्रकार उसने अपने वंश की वृद्धि की है (मै० सं०); एतद्वै तृतीयं यज्ञमापद्यच्छन्दांसि आप्नोति इस के द्वारा उसने तीसरे यज्ञ को प्राप्त किया है जबकि वह छन्दों को प्राप्त करता है। (तै० सं०); यदधि अस्य अमेध्यमभूत्तदधि अस्य एतदवधूनोति इसमें जो अपवित्र रह गया है उसे वह इसमें से इस तरह हिला‑हिलाकर अलग कर देता है (श० ब्रा०)।

(ब) आगमयुक्त लिट् होने के कारण लिट्प्रतिरूपक केवल स्वरूप की

दृष्टि से ही स्वसंवादी ग्रीक लकार के समकक्ष है। जहाँ तक वाक्य में प्रयोग का सम्बन्ध है कतिपय उदाहरणों में इसमें और लङ् में और अन्य उदाहरणों में इसमें और लुङ् में विवेक कर पाना सम्भव नहीं। यथा—*प्रंत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्यमजभर्तन तब तुम समुद्र में छिपे हुए सूर्य को लाये* (१०.७२°); *उदु ष्य देवः सविता ययाम हिरण्ययीममतिं याम् अशिश्रेत् उस देव सविता ने अब सुनहरी चमक को ऊपर उठाया है जिसे कि उसने फैला दिया है* (७.३८¹)।

लृट् तथा लुट्

२१४. य १. वेद में लृट् का प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत कम है। ऋग्वेद में वह केवल पन्द्रह धातुओं से आता है एवञ्च अथर्व० में और बीस से भी अधिक धातुओं से। इस सीमित प्रयोग का कारण यह है कि इसका अर्थ कुछ अंश तक लेट् के द्वारा और कुछ अंश तक लट् के द्वारा अभिव्यक्त कर दिया जाता है। इसका अर्थ यह है कि वक्ता को *धारणा, सम्भावना, इच्छा, आशा* और *डर* के अनुसार ही क्रिया आसन्न अथवा सुदूर भविष्य में होनी है। लृट् के क्षेत्र में लेट् का विशिष्ट अर्थ संकल्प भी आ जाता है पर यहाँ बल भविष्यत्त्व पर रहता है उद्देश्य पर नहीं। यथा—अथ_अतः पशोर्विभक्तिस्, तस्य विभागं वक्ष्यामः *इसके बाद (आता है) (यज्ञ के) पशु का टुकड़े करना : (अब) हम इसके टुकड़े करने का वर्णन करेंगे* (ऐ० ब्रा०)।

ऋग्वेद में उदाहरण हैं : स्तविष्यामि त्वामहम् मैं तुम्हारी स्तुति करूँगा (१.४४⁵); किं स्विद् वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये कहिये, मैं क्या कहूँ, मैं अब क्या सोचूँ? (६.९⁶); यच्चेवा करिष्यथ साकं देवैर् यज्ञियासो भविष्यथ यदि तुम ऐसा करोगे तो तुम देवताओं के साथ यज्ञ के भागी बनोगे (१.१६१²); न त्वावाँ इन्द्र कश्चन न जातो न जनिष्यते हे इन्द्र तुम्हारे बराबर न तो कोई उत्पन्न हुआ है और न कोई उत्पन्न होगा।

२. ब्राह्मणग्रन्थों में बोलना, जानना, सोचना, आशा करना, डरना इन अर्थों की धातुओं के बाद, जिनका कभी-कभी अध्याहार करना पड़ता है,

लृट् का प्रयोग पर्याप्त प्रचुर है। यथा—सो ऽब्रवीदिदं मयि वीर्यं तत्ते प्र दास्यामि इति उसने कहा : मुझ में यह वीरता है, वह मैं तुम्हें दे दूंगा (तै० सं०); ते ह ऊचुः केन राज्ञा, केन अनीकेन योत्स्याम इति उन्होंने कहा : किसको राजा रूप में और नेता रूप में पाकर हम युद्ध करेंगे (श० ब्रा०); इन्द्रो ह वा ईक्षांचक्रे, महद्वा इतो ऽभ्वं जनिष्यते इन्द्र ने सोचा; इससे बहुत खराबी पैदा होगी (श० ब्रा०); सर्वा देवता आशंसन्त, मामभि प्रतिपत्स्यति इति सभी देवताओं को यह आशा थी कि वह मुझसे प्रारम्भ करेगा (ऐ० ब्रा०); यदि बिभीयाद् दुश्चर्मा भविष्यामि इति यदि उसे यह डर लगे कि मुझे चर्म रोग हो जायगा (तै० सं०); असुरा वा इष्टका अचिन्वत, दिवमारोक्ष्याम इति असुरों ने (इस अभिप्राय से) ईंटों की चिनाई की कि हम द्युलोकारोहण करेंगे (मै० सं०)।

(अ) लोट् के बाद लृट् प्रायः अथ के योग में आता है। यथा—पतिं नु मे पुनर्युवानं कुरुतम्, अथ वां वक्ष्यामि मेरे पति को फिर से जवान बना दो : तब मैं तुम्हें (दोनों को) बताऊंगी (श० ब्रा०)।

(आ) आङ् पूर्वक इ अथवा प्र पूर्वक इ के लोट् के रूपों के बाद आने पर लृट् के उत्तम पुरुष का अर्थ प्रोत्साहित करना होता है। यथा—प्र इत, तदेष्यामः आओ, हम वहां जायेंगे (श० ब्रा०)।

(इ) निषेधार्थक न के योग में म० पु० का और यहाँ तक कि प्र० पु० का अर्थ भी निषेध का हो जाता है। यथा—देवान् रक्षांसि...अजिघांसन्, न यक्ष्यध्व इति राक्षस (यह कह कर) देवताओं को मारना चाहते थे कि तुम यज्ञ नहीं करोगे (श० ब्रा०); तान् विश्वे देवा अनोनुद्यन्त नेह पास्यन्ति नेह इति सभी देवताओं ने उन्हें वापिस भेज दिया (यह कह कर) : कि वे यहां नहीं पीयेंगे, यहां नहीं (ऐ० ब्रा०)।

(ई) लुट्लकार वेद में उपलब्ध नहीं होता पर ब्राह्मणग्रन्थों में इसका प्रयोग प्रचुर है। भविष्यकाल में किसी घटना के किसी निश्चित काल में होने को यह अभिव्यक्त करता है। इसलिये इसके साथ बहुत बार प्रातर् (बहुत सुबह) और श्वस् (आने वाला कल) (पर कभी भी अद्य (आज) नहीं) का प्रयोग पाया जाता है। यहां यह आवश्यक नहीं कि काल विशेष को क्रियाविशेषण से अभिव्यक्त किया जाय। वाक्यांश के द्वारा भी इसका निर्देश किया जा सकता है। इसके उदाहरण हैं : संवत्सरतमीं रात्रिमा गच्छतात्, तन्म एकां रात्रिमन्ते शयितासे, जात उ तेऽयं तर्हि पुत्रो भविता वर्षान्त की आज की रात के लिये आओ, तब तुम एक रात

मेरे पास सोओगे, तब भी तुम्हारा यह पुत्र उत्पन्न होगा (श० ब्रा०); यदि पुरा संस्थानाद् दीर्येत_अद्य वर्षिष्यति_इति ब्रूयाद्; यदि संस्थिते स्वो वर्षिष्यतीति ब्रूयात् (यदि वह के) पूरा होने के पूर्व ही वह (पात्र) टूट जाय तो उसे कहना चाहिये : आज वृष्टि होगी; यदि वह पूरा हो चुका हो तो उसे कहना चाहिये कि कल वृष्टि होगी (मै० सं०); यहि वाव वो मया_अर्थो भविता, तह्येव वोऽहं पुनरागन्तास्मि जब तुम्हें मेरी आवश्यकता होगी तो (उस विशेष अवसर पर) मैं तुम्हारे पास लौट आऊँगा (ऐ० ब्रा०)।

(आ) कभी-कभी इस रूप का प्रयोग यह अभिव्यक्त करने के लिये नहीं किया जाता है कि क्रिया अमुक समय में होगी अपितु यह कि क्रिया निश्चितरूपेण होगी। यथा—सा_एवं_इयमद्य_अपि प्रतिष्ठा, सा_उ एवं_अपि_अतोऽधि भविता आज यह नींव है और भविष्य में भी निश्चित रूप से यह वही रहेगी (श० ब्रा०)।

(च) लोट्

२१५. म० और प्र० पु० के एक० और प्र० पु० बहु० के रूप ही शुद्ध लोट् के केवल मात्र रूप हैं। इसका प्रतिनिधित्व करते हैं भव और भवतात्, भवस्व; भवतु; भवन्तु, भवन्ताम्। भवानि, भवाव और भवाम ये रूप जो कि बाद में लोट् के उ० पु० के रूप माने जाने लगे वास्तव में लेट् के रूप हैं (देखो १३१) जबकि म० और प्र० पु० के द्विव० और म० पु० बहु० के रूप भवतम्, भवताम्, भवेथाम् भवेताम्, भवत, और भवध्वम् लुङ्मूलक लोट् के रूप हैं (देखिये १२२ क (ख))।

(क) लोट् केवल विधि को ही अभिव्यक्त नहीं करता अपितु अपने व्यापकतम अर्थ में *इच्छा* को भी, जैसे कि *अभिलाषा, प्रार्थना, परामर्श, निर्देश*। यथा—देवाँ इहा_आ वह *देवताओं को इस ओर ले आओ* (१.१४[१२]); अहेळमानो बोधि *क्रुद्ध न होओ* (१.२४[११]); इमानि_अस्य शीर्षाणि छिन्धि *उसके इन सिरों को काट दो* (मै० सं०); वृक्षे नावं प्रति बध्नीष्व, *नाव को वृक्ष से बाँध दो* (श० ब्रा०); प्र वामश्नोतु सुष्टुतिः (यह) *स्तुति गीत आप दोनों तक पहुँचे* (१.१७[९]); हन्त न एको वेत्तु *आओ हम में से एक पता लगाये* (श० ब्रा०)।

(ख) सामान्य लोट् का क्षेत्र वर्तमान काल होता है। पर फिर भी यह दो विरोधी क्रियाओं में से बाद में होने वाली क्रिया के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है। यथा—वरं वृणीष्व‿अथ मे पुनर्देहि वर *माँगो और फिर मुझे इसे लौटा दो* (तै० सं०)। वेद में ताद् वाले रूप का झुकाव सुदूर भविष्य को अभिव्यक्त करने की ओर है। ब्राह्मण ग्रंथों में तो यह स्पष्टरूपेण यही करता ही है। यथा—इहं‿एवं मा तिष्ठन्तमभ्येहि‿इति ब्रूहि, तां तु न आगतां प्रतिप्र ब्रूतात् *उसे कहना : जब मैं यहाँ खड़ा होऊं तो वह मेरे पास आये; जब वह आ चुकी हो (तो) तुम हमें यह बता देना* (श० ब्रा०)। चूंकि यह रूप केवल परस्मै० में उपलब्ध होता है इसलिये आत्मने० के क्रियापदों में इसके स्थान पर लेट् आ जाता है; जैसे तं वृणीष्व *(अब) तुम इसका वरण करो*। इसके विपरीत प्रयोग है तं वृणासै *तब इसका वरण करो* (श० ब्रा०)।

(अ) शुद्ध लोट् कभी भी निषेधवाक्यों में उपलब्ध होता नहीं दीखता। अतः यह वेद में निषेधार्थक निपात मा के योग में कभी नहीं आता (जोकि केवल लुङ्मूलक लोट् के रूपों के योग में ही आता है और ब्राह्मणग्रन्थों में लगभग अनपवादरूपेण लुङ् के लुङ्मूलक लोट् के रूपों के योग में पाया जाता है)। यह केवल मुख्य विधि वाक्यांशों में ही प्रयुक्त होता है। यथा—वि नो धेहि यथा जीवाम ऐसा हमारा प्रबन्ध करो कि हम जीते रहें (श० ब्रा०)। अवान्तर वाक्यांश का लट्, लेट् अथवा (किन्तु बहुत कम) विधिलिङ् के साथ मुख्य वाक्यांश के पूर्व अथवा पश्चात् प्रयोग होता है। यथा—यस्त्वां दूतं सपर्यति तस्य स्म प्राविता भव जो कि दूत के रूप में तुम्हें पूजता है तुम उसके उन्नायक बनो (१.१२[८]); सं विदुषा नय यो.....अनुशासति हमें उससे मिला दो जो जानता है और जो हमें निर्देश दे सके (६.५४[१]); इदं मे हर्यता वचो यस्य तरेम तरसा शतं हिमाः मेरे इस वचन को खुशी से स्वीकार करो जिसकी शक्ति के कारण हम सौ हेमन्त बिता सकें (५.५४[१५])। ऐसे सन्दर्भों में ताद् वाला रूप ब्राह्मणों में नियमित रूप से प्रयुक्त किया जायेगा।

(आ) ऋग्वेद में पर्याप्त संख्या धातु से अव्यवहित अनन्तर सि आने पर बने म० पु० एक० के रूपों की भी है जोकि स्पष्ट रूप से लोट् की तरह प्रयुक्त होते हैं जैसाकि सामान्यतया इनके लोट् के प्रयोगों के साहचर्य में (कभी-कभी लेट् के और लोट् के भी) प्रयुक्त होने से पता चलता है। यथा—आ देवेभिर्याहि यक्षि च

देवताओं के संग आओ और यज्ञ करो (१.१४¹)। सत्सि (अथर्व० ६.११०१) के सिवाय ये रूप ऋग्वेद तक (और इससे उद्धृत सन्दर्भों तक) ही सीमित हैं और इनका प्रयोग केवल मुख्य विधिवाक्यों में ही पाया जाता है।

(र) लुङ्-मूलक लोट्

जहाँ तक रूपावली का सम्बन्ध है यह प्रकार आगम रहित भूतकाल के लकार के समकक्ष है (जिसमें म० और प्र० पु० द्विव० और म० पु०, वहु० के रूप—परस्मै०, **भ॑वतम्, भ॑वताम्, भ॑वत**; आत्मने०—**भ॑वेथाम्, भ॑वेताम्, भ॑वध्वम्** भी शामिल हैं जो कि बाद में लोट् के रूप समझे जाने लगे)। इसका प्रयोग वैदिक व्याकरण और व्याख्यान की मुख्य समस्याओं में एक है क्योंकि इसे सदैव लेट् से पृथक् कर पाना सम्भव नहीं (यथा—गमत, अ॑गन् का लेट् का रूप भी हो सकता है और **अ॑गमत्** का लुङ्मूलक लोट् का रूप भी। इसी प्रकार इसे आगम रहित निर्देशक से पृथक् कर पाना भी कठिन है (यथा—हो सकता है **च॑रः=अचरः** हो)। प्रयोगों के आधार पर निर्णय करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि लुङ् मूलक लोट् एक बहुत ही पुराने क्रियापद का प्रतिनिधित्व करता है जो कि मूलरूप में आदि की एक ऐसी अविकसित क्रिया को अभिव्यक्त करता था जोकि काल अथवा प्रकार के भेद से मुक्त थी। इनका निर्णय प्रकरण से ही हो सकता था। एक विशेष प्रकार के रूपों को आगम ने (अट्, आट्) भूतकाल का अर्थ प्रदान किया। जो बच रहे उनका अन्त में लोट् में समावेश कर लिया गया। लुङ्मूलक लोट् का सामान्य अर्थ *इच्छा* है और यह अपने में लेट्, लोट् और विधिलिङ् के अर्थों को लिये हुए है। लेट् की अपेक्षा लुङ्मूलक लोट् का प्रयोग तत्त्वतः मुख्य वाक्यांशों में उचित है, पर कभी-कभी यह य॑द् अथवा यदा इन सम्बन्धद्योतक समुच्चयार्थक शब्दों से प्रारम्भ होने वाले अवान्तर वाक्यांशों में भी पाया जाता है।

(क) उत्तम पुरुष उस *इच्छा* को अभिव्यक्त करता है जिसकी पूर्ति वक्ता के अपने वश में होती है। यथा—**इन्द्रस्य नु॑ वीर्या॑णि प्र वोचम्** *मैं अब इन्द्र के वीरतापूर्ण कामों का बखान करूँगा* (१.३२¹)। कभी-कभी इच्छा की पूर्ति

दूसरे पर भी निर्भर करती है। यथा—अग्निं हिन्वन्तु नो धियस्, तेन जेष्म धनं-धनम् *हमारी प्रार्थनाएं अग्नि को प्रेरित करें : इसके द्वारा हम निश्चय ही [सङ्ग्राम-लब्ध] धन पर धन प्राप्त करेंगे* (१०.१५६[१])।

(ख) मध्यम पुरुष प्रेरणा के लिये प्रयुक्त किया जाता है। बहुत बार यह लोट् के संग आता है। यथा—सुगा नः सुपथा कृणु; पूषन्निह क्रतुं विदः *तुम हमारे लिये ऐसे सुन्दर मार्ग बनाओ कि जिन पर हम आसानी से चल सकें। हे पूषन् यहाँ हमें बुद्धि प्रदान करो*, अद्या नो देव सावीः सौभगं, परा दुष्वप्न्यं सुव *हे देव आज हमें सौभाग्य प्रदान करो (और) दुःस्वप्न हमसे दूर करदो* (५.८२[४])। इसके संग पाये जाने वाले विधिलिङ् का प्रयोग बहुत कम है। यथा—एतेन गातुं विदो नः; आ नो ववृत्याः सुविताय *उस कारण से हमारे लिये मार्ग ढूंढो; तुम हमें योगक्षेम की ओर ले जाओ* (१.१७३[१३])।

(ग) प्रथम पुरुष भी प्रेरणा के लिये प्रयुक्त किया जाता है। बहुत बार इस का प्रयोग लोट् के संग पाया जाता है। यथा—सेमां वेतु वषट्कृतिम्; अग्निर्जुषत नो गिरः *वह हमारे इस वषट्कार में आये; अग्नि हमारे गीतों को स्वीकार करे* (७.१५[६]); बहुत बार इसके संग लोट् म० पु० एक० का रूप पाया जाता है। यथा—आ इदं बर्हिर्यजमानस्य सीद; अथा च भूदुक्थमिन्द्राय शस्तम् *तुम यजमान के इस कुशासन पर बैठो और तब इन्द्र की स्तुति में गीत गाया जाय* (३.५३[३])। लेट् के संग इसका प्रयोग इतना प्रचुर नहीं है। यथा—उप ब्रह्माणि शृणव इमा नो अथा ते यज्ञस्तन्वे वयो धात् *तुम हमारी इन प्रार्थनाओं को सुनो और तब यज्ञ तुम्हें शक्ति प्रदान करे* (६.४०[४])। इसके संग विधिलिङ् का प्रयोग प्रचुर नहीं है। यथा—परि नो हेती रुद्रस्य वृज्याः, परि त्वेषस्य दुर्मतिर्मही गात् *रुद्र का बाण हमारे पास से निकल जाये, आवेश में आये हुए का द्वेष हमारा परिहार करे* (२.३३[१४])।

(घ) लोडर्थ में लुङमूलक लोट् बहुत बार अकेले ही (अन्य किसी

प्रकाराभिधायी रूप के संग में आने के बिना ही) प्रयोग में आता है। यथा—इमा हव्यां जुषन्त नः वे *हमारे इन हव्यों को स्वीकार करें* (६.५२¹¹), इससे पहले के पद्य में शुद्ध लोट् का रूप पाया जाता है: जुषन्तां युज्यं पयः *उन्हें उपयुक्त दूध स्वीकार करने दो।*

निषेध वाक्यों में लुङ्मूलक लोट् ही एक ऐसा प्रकार है (विधिलिङ् के एकमात्र रूप भुजेम के सिवाय) जिसके संग मा इस निषेधवाचक निपात का प्रयोग किया जा सकता है। यथा—मा न इन्द्र परा वृणक् *इन्द्र तुम हमें छोड़ मत देना* (८.९७⁷); विश्वंयन् मा न आ गन् *कोई भी फूलती हुई चीज हमारे पास न आये* (७.५०¹); मा तन्तुश्छेदि *तन्तु टूटे नहीं* (२.२८⁵)। ऋग्वेद में लुङ्रूप लङ्रूप की अपेक्षा अधिक प्रचुर है पर अथर्व० में यह प्रचुरता पर्याप्त अधिक बढ़ गई है।

(च) इन दो प्रकार के वाक्यों में लुङ्मूलक लोट् भविष्यार्थ को प्रचुरतया अभिव्यक्त करता है:

१. प्रश्नात्मक विधिवाक्यों में। यथा—को नो मह्या अदितये पुनर्दात् *कौन हमें महती अदिति के प्रति लौटायेगा ?* (१.२४¹)। कभी-कभी इसके साथ स्वयं लेट् का प्रयोग पाया जाता है। यथा—कदा मर्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत्, कदा नः शुश्रवद् गिरः *कब वह कंजूस आदमी को पाँव से खुम्ब की तरह परे कर देगा; कब वह हमारे गीत सुनेगा ?* (१.८४⁸)।

२. न वाले निषेध वाक्यों में। यथा—यमादित्या अभि द्रुहो रक्षथा, नेमघं नशत् *हे आदित्यो जिसे तुम हानि से बचाते हो उस तक कोई विपदा नहीं पहुँचेगी* (८.४७¹)।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में विधिवाक्यों में लुङ्मूलक लोट् का प्रयोग लगभग सर्वथा लुप्त हो गया है। हां श० ब्रा० में इसके कई एक उदाहरण सुरक्षित हैं। यथा—देवान् अवत् यह देवताओं को प्रमुदित करे। कभी-कभी यह नेद् के साथ अवान्तर वाक्यांशों में भी पाया जाता है। यथा—नेदिदं बहिर्धा यज्ञाद्भवत्, ऐसा न हो कि यह यज्ञ से बहिर्भूत हो। दूसरी ओर निषेधवाक्यों में लुङ्मूलक लोट् का प्रयोग अतिप्रचुर है। जिनमें यह निरन्तर मा के योग में पाया जाता है। इसकी बहुत

बड़ी संख्या लुङ्.. रूपों की है, लङ् के उदाहरण तो कुछेक ही हैं : **मा वधध्वम्** वध मत करो (तै० सं०); मा विभीत डरो मत (ऐ० ब्रा०); किल्बिषं नु मा यातयन् इन्हें इसकी अपराध के रूप में भर्त्सना न करने दो (ऐ० ब्रा०)। और लिट् से : **मा सुषुप्था :** सोओ मत (श० ब्रा०)।

(ल) लेट् लकार

लेट् के प्रयोगों की विधिलिङ् के प्रयोगों से तुलना करने पर लेट् का अर्थ पूरी तरह स्पष्ट किया जा सकता है। इससे यह पता चलता है कि लेट् का मूलभूत *अर्थ सङ्कल्प* है जब कि विधिलिङ् का *इच्छा* या *सम्भावना* (इस प्रकार को इसीलिये विकल्प से *इच्छार्थक* या *सम्भावनार्थक* कहा जाता है)। यह भेद इस बात से अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद में स्वतन्त्र वाक्यों में उत्तम पुरुष में क्रियाओं के एक विशेष वर्ग में अनपवादरूपेण या लगभग अनपवादरूपेण लेट् का प्रयोग किया जाता है जब कि दूसरे वर्ग में विधिलिङ् का। कारण यह है कि प्रथम वर्ग में क्रिया वक्ता की इच्छा पर निर्भर करती है जबकि द्वितीय वर्ग में यह उसके वश में नहीं होती और केवल इसके होने की सम्भावना रहती है। अतः लेट् लकार में इन धातुओं का प्रयोग मिलता है : हन् *प्रहार करना,* कृ *बनाना,* सु *अभिषव करना,* और ब्रू *बोलना*। दूसरी ओर विधिलिङ् में पाई जाने वाली धातुएँ हैं : जि, *जीतना,* तृ *अभिभव करना,* सह् *जीतना,* अश् और नश् *प्राप्त करना,* विद् *पाना, हासिल करना,* ईश् *का स्वामी होना,* सच् *के साथ सम्पर्क होना,* आवृत् *आकर्षित करना* (यज्ञ की ओर), शक् *समर्थ होना,* मद् *आनन्दित होना,* ऋध् *समृद्ध होना,* पश् *देखने के लिये जीना,* अस् *होना* (समृद्ध इत्यादि विधेयों के योग में) एवञ्च कतिपय यज्ञविषयक धातुओं के योग में : इध् *प्रज्वलित करना,* (देवता की सहायता से), दाश् *पूजा करना,* वच् और वद् *बोलना* (सक्रिय रूप से), विध् *परिचर्या करना,* सप् *प्रसन्न करना* (किसी देवता को) *कृपा प्राप्त करना,* और हृ *बुलाना* (=*इस ओर लाना*)।

१. लेट् के भिन्न-भिन्न पुरुषों द्वारा अभिव्यक्त अर्थ निम्नलिखित हैं :

उत्तम पुरुष *वक्ता के सङ्कल्प* को द्योतित करता है। यथा—**स्वर्त्तये**

वायुमुप ब्रवामहे योगक्षेम के लिये हम वायु को बुलाएँगे (५.५१[१२])। बहुत बार इसके योग में नु और हन्त का प्रयोग मिलता है। यथा—प्र नु वोचा सुतेषु वाम् मैं सवनों के समय आप दोनों की स्तुति करूँगा (५.५९[१])। उ० प्र० द्वि० और बहु० भी अन्य किसी को वक्ता के साथ मिलकर किसी क्रिया को करने की प्रेरणा के लिये प्रयुक्त किये जा सकते हैं। इस स्थिति में प्रायः इनसे पूर्व लोट् का रूप पाया जाता है। यथा—दक्षिणतो भवा मे अधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि मेरी दाईं ओर खड़े हो जाओ: तब हम दोनों बहुत से शत्रुओं को मारेंगे (१०.८३[७])। अथवा इसका प्रयोग वक्ता की सहायता करने की प्रेरणा के लिये किया जाता है। यथा—जेषाम इन्द्र त्वया युजा तुम्हें सहायक रूप में पाकर हे इन्द्र हम विजयी होंगे (=हमें विजयी होने दो) ८.६३[११])।

ब्राह्मणग्रन्थों में भी ऐसा ही व्यवहार है। यथा—वरं वृणै मैं वर मांगूंगा (तै० सं०); हन्त इमान् भीषयै लो, मैं इन्हें डरा दूंगा (ऐ० ब्रा०); वायुं देवा अब्रुवन्, सोमं राजानं हनाम इति देवताओं ने वायु से कहा: आओ हम राजा सोम को मारें (तै० सं०)।

मध्यम पुरुष का प्रयोग प्रेरणा के लिये किया जाता है: हनो वृत्रं जया अपः वृत्र को मारो, पानी को जीत लो (=हासिल कर लो) (१.८०[३])। बहुत बार यह लोट् म० पु० के बाद आता है: अग्ने शृणुहि; देवेभ्यो ब्रवसि हे अग्नि सुनो तुम देवताओं से कहना (१.१३९[७])। कभी-कभी यह लोट् प्र० पु० के बाद आता है। यथा—आ वां वहन्तु.... अश्वाः, पिबाथो अस्मे सुषूनि घोड़े आप दोनों को [इधर] लायें; आप हमारे संग (इधर) मधुपान करें (७.६७[४])। यदि सम्भावना सूचित करनी हो तो लेट् का अर्थ लगभग लृट् का हो जाता है। यथा—अछान्त मे छदयाथा च नूनम् तुमने मुझे खुश किया है और तुम अब मुझे खुश करोगे (१.१६५[१२])।

ब्राह्मणग्रन्थों में लेट् म० पु० का प्रयोग तभी किया जाता है जबकि वक्ता (अतात्कालिक) भविष्यत् के बारे में कोई शर्त रख देता है या कोई निर्देश देता है यथा—अथो एतं वरमवृणीत, मया एव प्राचीं दिशं प्र जनाथ इति सो उसने यह

शर्त रखी : मेरे द्वारा (भविष्य में) तुम पूर्व दिशा का पता लगा पाओगे (ऐ० ब्रा०)।

प्र० पु० नियमेन देवताओं को प्रेरित करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि कर्ता किसी देवता का नाम ही हो। यथा—**इमं नः शृणवद्धवम्** *वह प्रकार इस पुकार (=बुलाहट) को सुनेगा* (८.४३[२२]); **परि णो हेळो वरुणस्य वृज्याः; उरुं न इन्द्रः कृणवदु लोकम्** *वरुण का कोप हमारा परिहार करे, इन्द्र हमें विस्तृत स्थान प्राप्त करायेगा* (७.८४[२]); **स देवाँ आ इह वक्षति** *वह देवताओं को यहाँ ले आयेगा* (१.१[२]); **प्र ते सुम्ना नो अश्नवन्** *तुम्हारी शुभाकांक्षाएं हम तक पहुँच जायेंगी* (८.९०[६])। लेट् वाला वाक्य कभी-कभी पूर्व वाक्य से सम्बद्ध होता है। यथा—**अग्निमीळे, स उ श्रवत्** *मैं अग्नि की स्तुति करता हूँ : वह उसे सुनेगा* (८.४३[२४])। यहाँ लेट् अर्थ की दृष्टि से प्रायः लृट् के निकट पहुँच जाता है। उस अवस्था में **नूनम्** अथवा **नु** के योग में इसका अन्य क्रिया के साथ प्रायः कालभेद पाया जाता है : **उदु ष्य देवः सविता .... अस्थात्, नूनं देवेभ्यो वि हि धाति रत्नम्** *सूर्य देवता अभी-अभी उदय हुआ है : वह अब देवताओं को ऐश्वर्य बाँटेगा* (२.३८[१]); **उवास उषा उच्छाच्च नु** *उषा (अतीत में भी) चमकी है और अब भी चमकेगी* (१.४८[३])। कभी-कभी यह कालभेद नहीं भी पाया जाता। यथा—**आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि, यत्र जामयः कृणवन्नजामि** *बाद में ऐसी पीढ़ियां भी आयेंगी जब कि सम्बन्धी वह काम करने लगेंगे जो सम्बधियों के लिये उचित नहीं है* (१.१०[१०])।

ब्राह्मणग्रन्थों में प्र० पु० लेट् प्रेरणार्थ में उपलब्ध नहीं होता। उसका प्रयोग तभी होता है जबकि किसी शर्त, प्रतिज्ञा अथवा शाप को अभिव्यक्त करना हो। यथा—**वृणीष्व इत्यब्रुवन्; सोऽब्रवीत्, मद्देवत्या एव समिदसदिति** वे बोले : वर माँगो; उसने उत्तर दिया : समिधा मेरे लिये पवित्र होगी (मै० सं०); **सा अब्रवीद्, वरं वृणै, खातात् पराभविष्यन्ती मन्ये, ततो मा परा भूवम् इति; पुरा ते संवत्सरादपि रोहादित्यब्रवीत्** वह बोली : मैं यह शर्त रखूंगी; मैं समझती हूं कि खोदने के परिणामस्वरूप मैं नष्ट हो जाऊंगी; मुझे नष्ट न होने दो। उसने

उत्तर दिया : तुम्हारा एक साल बीतने से पूर्व यह (वात) भर जायगा (तै० सं०); देवास्तानशपन्, स्वेन वः किम्कुणा वज्रेण वृश्चानिति देवताओं ने उन्हें (वृक्षों को) शाप दिया कि वे उन्हें उनसे बने हत्थे (एवञ्च) वज्र से नष्ट कर देंगे (तै० ब्रा०)। लेट् प्र० पु० प्रायः किसी विधि के उद्देश्य को अभिव्यक्त करने के लिये भी प्रयुक्त किया जाता है। यथा—शृणादिति शरमयं बर्हिर्भवति (मै० सं०) आसन नरकटों से बना होता है इस इच्छा से कि यह उस (शत्रु को) नष्ट कर देगा।

२. वाक्य में लेट् का प्रयोग दो प्रकार से उपलब्ध होता है।

(क) यह मुख्य वाक्यों में

(क) प्रश्नवाचक शब्दों के योग में पाया जाता है जोकि या तो सर्वनाम होते हैं या कथा कैसे ? कदा ? कब और कुविद् ये क्रियाविशेषण। यथा—किमू नु वः कृणवाम (कहिये) *हम आपके लिये क्या करें* (२.२९[3]); कथा महे रुद्रियाय ब्रवाम रुद्र *की महती सेना से हम कैसे बात करेंगे* (५.४१[11]); कदा नः शुश्रवद् गिरः वह कब *हमारी प्रार्थनाएँ सुनेगा* (१.८४[8])। कुविद् के कारण क्रियापद लगभग सदैव उदात्त हो जाता है (उस समय उसे अवान्तर वाक्य में प्रयुक्त हुआ समझ लिया जाता है)। यथा—अश्विना सु ऋषे स्तुहि, कुवित्ते श्रवतो हवम् हे *ऋषि अश्वियों की अच्छी तरह स्तुति करना : क्या वे तुम्हारी पुकार को सुनेंगे?* (८.२६[10])।

ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मणग्रन्थों में इस प्रकार के प्रयोग में केवल उ० पु० प्रयुक्त हुआ है एवञ्च कभी-कभी प्रश्नवाचक शब्द का प्रयोग नहीं किया गया।

(ख) निषेध वाक्यों में न के योग में पाया जाता है। यथा—न ता नशन्ति; न दभाति तस्करः वे नष्ट नहीं *होते : कोई चोर उन्हें हानि नहीं पहुँचायेगा (पहुँचा सकेगा)* (६.२८[3])।

ब्राह्मणग्रन्थों में भी न का इसी प्रकार का प्रयोग उपलब्ध होता है यथा—न अतोऽपरः कश्चन सह शरीरेण अमृतोऽसत् अब के बाद कोई भी अपने शरीर सहित अमर नहीं हो सकेगा। (श० ब्रा०)। केवल एक बार आदेश के अर्थ में

लेट् मा के योग में प्रयुक्त हुआ है : अकामा स्म मा नि पद्यासै (भविष्य में) तुम मेरी इच्छा के बिना मेरे पास नहीं आओगे (=आ सकोगे) (श० ब्रा०)।

(ख) पराश्रित वाक्यांशों में लेट् या तो निषेधवाचक या सम्बन्धवाचक (सर्वनाम या क्रियाविशेषण) शब्दों के योग में पाया जाता है।

(क) निषेधवाचक निपात नेद् (*वह नहीं, ऐसा न हो*) के योग में पूर्व क्रिया के कारण को सूचित करने के लिये इसका प्रयोग किया जाता है। तब इससे पूर्ववर्ती वाक्य में या तो निर्देशक या लोट् का रूप पाया जाता है। यथा—होत्रादहं वरुण बिभ्यदायं, नेदेव मा युनजन्नत्र देवाः *हे वरुण होतृ कर्म से डरते हुए मैं चला गया ताकि ऐसा न हो कि देवता मुझे उस काम में लगा दें* (१०.५१⁵); व्युछा दुहितर्दिवो मा चिरं तनुथा अपः, नेत् त्वा स्तेनं यथा रिपुं तपाति सूरो अर्चिषा हे *आकाश की पुत्री चमको, अपने काम में देर मत लगाओ ताकि ऐसा न हो कि सूर्य तुम्हें एक दुश्मन चोर की तरह अपनी किरणों से झुलस डाले* (५.७९⁹)।

ब्राह्मणग्रन्थों में पूर्ववर्ती वाक्यांश में या तो निर्देशक प्रयुक्त होता है या विधिलिङ्। यथा—अथ यन्न प्रेक्षते, नेन्मा रुद्रो हिनसदिति अब वह नहीं देखता (इसमें कारण यह है कि) ऐसा न हो कि रुद्र उसे मारे (श० ब्रा०); तन्न दद्भिः खादेत्, नेन्म इदं रुद्रियं दतो हिनसदिति उसे चाहिये कि वह इसे दांतों से न चबाये, ताकि ऐसा न हो यह जो कि रुद्र का है उसके दांतों को हानि पहुंचाये (श० ब्रा०)। ऐ० ब्रा० में पूर्ववर्ती वाक्यांशों में कृत्य प्रत्ययान्त रूप का प्रयोग भी देखा गया है।

(ख) यह सम्बद्ध वाक्यांशों में भी पाया जाता है।

१. यदि इस प्रकार के वाक्यांशों में एक ऐसी कल्पना हो जिसके द्वारा मुख्य वाक्यांश का अर्थ पता लगाया जा सके तो यह सामान्यतया मुख्य वाक्यांश से पूर्व आता है। उस स्थिति में मुख्य वाक्यांश में प्रायः लोट्, बहुत बार लेट् और कभी-कभी लुङ्मूलक लोट् अथवा निर्देशक पाया जाता है। यथा—यो नः पृतन्याद्, अप तं-तमिद् हतम् *जो-जो हम से युद्ध करेगा उस-उसको तुम दोनों मार देना* (१.१३२⁶); यस्तुभ्यं दाशान्न तमंहो

अवनवत् जो तुम्हारी सेवा करेगा उसे कोई क्लेश न होगा (२.२३[४]); उत नूनं यदिन्द्रियं करिष्या इन्द्र पौंस्यम्, अद्या नकिष्टद् आ मिनत् हे इन्द्र तुम अब जौनसा पुरुषयोग्य वीर कर्म करोगे उसका महत्त्व आज कोई भी कम न कर सकेगा (४.३०[२३]); यस्मै त्वं सुकृते जातवेद, उ लोकमग्ने कृणवः स्योनं, स रयिं नशते स्वस्ति हे जातवेदः अग्नि, तुम जिस पवित्रात्मा को सुखद स्थान को प्राप्त कराते हो वह योगक्षेम के लिये धन को प्राप्त करता है (५.४[११])।

ब्राह्मणग्रन्थों में भी सम्बद्ध वाक्यांशों में इसी प्रकार का लेट् का प्रयोग पाया जाता है पर यहां मुख्य वाक्यांशों में लेट् के प्रयोग कहीं अधिक प्रचुर हैं जबकि लोट् और निर्देशक के प्रयोग (जिसका कभी-कभी परिहार किया जाता है) विरल हैं। यथा— तान्यब्रुवन्, वरं वृणामहै ; यदसुरान्जयाम तन्नः सह—असदिति वे बोले, हम शर्त रखेंगे : हम असुरों को जीत कर जो हासिल करेंगे वह हम सब का साझा होगा (तै० सं०); यस्त्वा कश्च—उपायत्, तूष्णीमेव—आस्व तुम्हारी ओर जो कोई भी आये तुम चुप बैठे रहो; यद्विन्द्रासै तत्तेऽग्निहोत्रं कुर्मः तुम्हें जो मिलेगा उसे हम तुम्हारा अग्निहोत्र (हव्य) बनाते हैं (बनायेंगे) (मै० सं०); तद्वै समृद्धं यं देवाः साधवे कर्मणे जुषान्तै यह निस्सन्देह सर्वोत्तम (है) यदि देवता अच्छे काम के कारण उससे प्रसन्न होंगे (श० ब्रा०)। अन्तिम उदाहरण में सम्बद्ध वाक्यांश अपवादरूपेण बाद में आता है।

२. यदि सम्बद्ध वाक्यांश मुख्य वाक्यांश से ध्वनित *फलतः* अथवा *परिणामतः (इसलिये कि, ताकि)* इस अर्थ को अभिव्यक्त करता है तो वह मुख्य वाक्यांश के बाद आता है। इस स्थिति में मुख्य वाक्यांश में प्रायः लोट् प्रयुक्त होता है पर कभी-कभी लुङ्मूलक लोट्, विधि लिङ् अथवा निर्देशक का प्रयोग भी पाया जाता है। यथा—सं पूषन् विदुषा नय, यो अञ्जसा—अनुशासति, य एव—इदमिति ब्रवत् हे पूषन्, हमें विद्वान् (पथप्रदर्शक) से मिलाओ जो तत्काल हमें अनुशासित करेगा और कहेगा : यह यहाँ है (६.५४[१]); अस्मभ्यं तद्राव आ गात्, शं यत्स्तोतृभ्य आपये भवाति वह धन हमें प्राप्त हो जोकि तुम्हारे बन्धुजनों और प्रशंसकों के लिये

कल्याणकारी होगा (२.३८[११]); तदद्य वाचः प्रथमं मसीय येनाऽसुराँ अभि देवा असाम में उसे आज के अपने भाषण के उपक्रम का विषय बनाऊँगा जिसके द्वारा हम देवता, असुरों पर विजय पा लेंगे (१०.५३[४]); इमं बिभर्मि सुकृतं ते अङ्कुशं येनाऽऽरुजासि मघवञ्छफारुजः मैं तुम्हारे पास यह अच्छी तरह बना हुआ शस्त्र लाता हूं (जिससे द्वारा =) इसलिये कि तुम खुर तोड़ने वालों को तोड़ दो (१०.४४[९])। इन सम्बद्ध वाक्यों के लेट् का अर्थ कभी-कभी शुद्ध भविष्यत् का हो जाता है। यथा—ओं (=आ उ) ते यन्ति ये अपरीषु पश्यान् वे आ रहे हैं जो आने वाले दिनों में उसे देखेंगे (१.११३[११])।

ब्राह्मणग्रन्थों में इस प्रकार का लेट् वाला सम्बद्ध वाक्यांश विरल है। यथा—यन्मा धिनवत् तन् मे कुरुत जो मुझे प्रसन्न करे वह तुम मेरे लिये लाओ (श० ब्रा०); हन्त वयं तत्सृजामहै यदस्मानन्वसदिति आओ हम यह बनाएँ जो हमारे बाद आवेगा (श० ब्रा०)।

(ग) सम्बन्धद्योतक समुच्चयायक शब्दों के योग में भी लेट् लकार का प्रयोग उपलब्ध होता है।

१. यदि वाक्यांश परिच्छेदक हो तो यद् (जो) का अर्थ जब होता है। उस अवस्था में पराश्रित वाक्यांश पहिले आता है जबकि मुख्य वाक्यांश में प्रायः लोट् का रूप पाया जाता है पर कभी-कभी लुङ्मूलक लोट्, लेट् या विधिलिङ् का भी। यदि पराश्रित वाक्यांश कारण या प्रयोजन बताता है तो सम्बन्ध वाचक शब्द का अर्थ *इसलिये कि* अथवा *ताकि* होता है। उस स्थिति में पराश्रित वाक्यांश बाद में आता है और मुख्य वाक्यांश में लोट्, लेट् अथवा निर्देशक का प्रयोग पाया जाता है। यथा—

यदि यद्=जब : उषो यदद्य भानुना वि द्वारावृर्णवो दिवः प्र नो यच्छता-दवृकम् हे उषा आज जब तुम अपनी किरण से द्युलोक के द्वार खोलोगी तब हमें सुरक्षित स्थान देना (१.४८[१५]); यदद्य भागं विभजासि नृभ्य, उषो देवो नो अत्र सविता दमूना अनागसो वोचति सूर्याय हे उषा आज जब तुम मनुष्यों को हिस्सा बाँटोगी तो घर का मित्र सविता हमारे बारे

में सूर्य को यह कह देगा कि हम निरपराध हैं (१.१२३³); यद्द आगः पुरुषता करान, मा वस्तस्यामपि भूम यदि हम मनुष्य होने से तुम्हारे प्रति कोई अपराध करेंगे तो हमें तुम्हारे उस (बाण) में हिस्सा न मिले (७.५७⁴); यद् दिद्यवः पृतनासु प्रक्रीळान्, तस्य वां स्याम सनितार आजेः जब युद्धों में बाण क्रीडा करेंगे तो तुम्हारे उस सङ्घर्ष के हम विजेता होंगे (४.४१¹¹)। यदि यद्=इसलिये कि, ताकि : स आ वह देवतातिं यविष्ठ, शर्धो यदद्य दिव्यं यजासि, हे तरुणतम देवताओं को इधर लाओ ताकि तू द्युलोक के देवताओं का यजन कर सके (३.१९⁴); नवे नु ताः सुकीर्तयोऽसन्नुत प्रशस्तयः यदिन्द्र मृळयासि नः हे इन्द्र ये तेरे गुणगान और प्रशस्तियाँ इसलिये हैं कि तुम हम पर दयावान् होओ (८.४५³³); न पापासो मनामहे, यदिन्न्विन्द्रं सखायं कृणवामहै हम अपने को पापी नहीं समझते (इस) लिये हम अब इन्द्र को अपना मित्र बना सकते हैं (८.६१¹¹)। ऐसे उत्तरवर्ती वाक्यांशों में यद् कभी-कभी मुख्य वाक्यांश के अर्थ को भी अभिव्यक्त कर देता है। यथा—न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत्, सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति (१०.१०.²) तुम्हारा मित्र यह मित्रता नहीं चाहता इसलिये कि वह जो समान रूप (=सदृश) है वह भिन्न रूपा (=विसदृश) हो जायगी। एक स्थल ऐसा भी है जहां यद् का अनुवाद तक के द्वारा किया जा सकता है: कियात्या यत् समया भवाति या व्यूषुर्याश्च नूनं व्युछान् कितने समय में यह होगा कि (=उस तक कितनी देर लगेगी) वह उनके बीच में होगी जो पहिले चमक चुकी है और जो अब चमकेंगी? (१.११३¹⁰)।

ब्राह्मणग्रन्थों में इन वाक्यांशों में यद् के योग में लेट् का प्रयोग विरल है। यथा—तद् प्राप्नुहि यत्ते प्राणो वातमपिपद्यातै वह प्राप्त करो कि तुम्हारा प्राण अपने को वायु में सङ्क्रान्त कर दे (श० ब्रा०)।

२. यदार्थक शुद्ध सम्बन्धवाचक यत्र (अर्थात् जब यह सम्बन्धवाचक सर्वनाम का सप्तम्यन्त रूप नहीं) वेद में लेट् के योग में प्रयुक्त होता नहीं दीखता। हाँ ब्राह्मणग्रन्थों में यह पूर्ण भविष्यत् के अर्थ में प्रयुक्त हुआ

पाया जाता है। यथा—यंत्र हो॑ता छन्दसः पारं॑ गच्छात्, तत् प्रतिप्रस्थाता॑ प्रातरनुवाकमुपा॑ कुरुतात् *जब होता छन्द के पार पहुँच चुका होगा तब प्रतिप्रस्थाता प्रातरनुवाक प्रारम्भ करे* (श० ब्रा०)।

३. पूर्ववर्ती वाक्यांश के रूप में लेट् के साथ प्रयुक्त यथा का अर्थ जैसे होता है। उस अवस्था में मुख्य वाक्यांश में लोट् अथवा लेट् का रूप पाया जाता है। उत्तरवर्ती वाक्यांश के रूप में इसका अर्थ होता है *इसलिये कि, 'ताकि*। इस अवस्था में मुख्य वाक्यांश में या तो मांग का (जो कि सामान्यतया लोट् पर यदाकदा लुङ् मूलक लोट्, विधिलिङ् अथवा कृत्य रूपों से अभिव्यक्त की जाती है) निर्देश रहता है या कोई बात कही जाती है (जिसको कहने के लिये या तो निर्देशक या परस्मै० अथवा कर्म वाच्य में लट् अथवा लुङ् का प्रयोग किया जाता है)। प्रथमकोटि के प्रयोग के उदाहरण हैं : यथा॑ होतर्मनु॑षो देवता॑ता यजा॑सि, एवा॑ नो अद्य य॑क्षि देवान् *हे होतः चूंकि तुम मनुष्य द्वारा की जा रही देवपूजा के समय पूजा कर सकते हो अतः तुम आज हमारे लिये देवताओं की पूजा करो* (६.४[१])। ब्राह्मणग्रन्थों में यह प्रयोग उपलब्ध होता नहीं दीखता। द्वितीय कोटि के प्रयोग के उदाहरण हैं : गृहान् गच्छ गृहप॑त्नी यथा॒ऽसः *तुम घर जाओ ताकि तुम गृहस्वामिनी बन सको* (१०.८५[२६]); इदानीमह्न उपवा॑च्यो नृ॑भिः, श्रे॑ष्ठं नो अत्र द्रविणं यथा दधत् *दिन की इस वेला में मनुष्यों द्वारा उसका आवाहन किया जायगा जिससे कि वह यहां हमें श्रेष्ठ धन दे।* (४.५४[१]); महता॑मा वृणीमहेऽवो, यथा वसु नशामहै *हम महान् (लोगों) की कृपा चाहते हैं इसलिये कि हम धन प्राप्त कर सकें* (१०.३६[११]); इदं पात्रमपायि मत्तर्यथा सौमनसाय देवम् *यह पात्र पिया गया है, इसलिये कि यह देवता को सौमनस्य के लिये मस्त कर दे* (६.४४[१६])। इन वाक्यों में निषेधवाचक पद न या नू होता है।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में भी इसी प्रकार का व्यवहार है : यहाँ मुख्य वाक्यांश में या तो लोट् का रूप पाया जाता है या लेट् का। यथा—तथा मे कुरु

यथा—अहमिमां सेनां जयानि तुम मेरे लिये कुछ ऐसा करो कि मैं इस सेना को जीत जाऊँ (ऐ० ब्रा०); संवां नु सं दधावहै यथा त्वामेव प्रविशानी'ति आओ हम दोनों समझौता करलें ताकि मैं तुममें प्रवेश कर सकूँ (मै० सं०)।

४. जब इस अर्थ का यदा लेट् (लट् या लुङ्) के योग में पूर्ण भविष्यत् का अर्थ समर्पित करते समय नियमितरूपेण पहिले प्रयुक्त होता है। मुख्य वाक्यांश में उस समय लोट् अथवा लेट् का प्रयोग पाया जाता है। यथा—शृतं यदा करसि जातवेदो, अथ—ईमेनं परि दत्तात् पितृभ्यः *यदि तुम उसे करवा चुके होगे तब तुम उसे पितरों को दे देना* (१०.१६[२]); यदा गच्छात्यसुनीतिमेताम्, अथ देवानां वशनी र्भवाति *जब वह भूतलोक में जा चुका होगा तो वह देवताओं के वश में आ जायेगा* (१०.१६[२]); ऐसा प्रतीत होता है कि यदा कदा च भी क्रियापद को वही अर्थ देता है: यदा कदा च सुनवाम सोममग्निष्ट्वा दूतो धन्वात्यछ *जब भी कभी हमने सोमाभिषव कर लिया होगा तो अग्नि जल्दी-जल्दी दूत के रूप में तुम्हारे पास आयेगा* (३.५३[४])।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में भी ऐसा ही प्रयोग है। यथा—स यदा तमतिवर्धा, अथ कर्षूं खात्वा तस्यां मा बिभरासि जब मैं उस (पात्र) से बड़ा हो चुका हूँगा तब खाई खोद कर तुम मुझे उसमें रखना (श० ब्रा०)।

५. लेट् के योग में यदि सामान्यतया मुख्य वाक्यांश से पूर्व आता है। उस अवस्था में मुख्यवाक्य में लोट् लेट्, (विरलतया) विधिलिङ् या निर्देशक (जिसका यदाकदा अध्याहार करना पड़ता है) का प्रयोग पाया जाता है। यथा—यदि स्तोमं मम श्रवद्, अस्माकमिन्द्रमिन्दवो मन्दन्तु *यदि वह मेरी स्तुति सुनेगा तो इन्द्र को हमारी ये बूंदें आह्लादित करें* (८.१[१५]); यजाम देवान् यदि शक्नवाम *हम देवताओं का यजन करेंगे यदि कर सकेंगे* (१.२७[१३]); यदि प्रति त्वं हर्याः......अप एना जयेम *यदि तुम इसे सहर्ष स्वीकार करोगे तो सम्भव है हम उससे जल को जीत सकेंगे (=जीत कर हासिल कर सकेंगे)* (५.२[११]); इन्द्रा ह वरुणा धेष्ठा,

यँदि सो॑मैः··· मा॒दयै॑ते इन्द्र *और वरुण बहुत उदार (हैं) यदि वे सोम की आहुतियों से आह्लादित हों* (४.४१[३]) ।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में **यँदि** के योग में लेट् का प्रयोग बहुत विरल है । एक उदाहरण है : **यँदि त्वा‿एतँत् पु॑नर् ब्रँवतस्त्वं ब्रू॒तात्** यदि वे दोनों तुम से यह फिर कहें तो तुम कहना (श० ब्रा०) ।

६. ऋग्वेद में **याँद्** *(जब तक)* का लेट् के योग में प्रयोग दो बार उपलब्ध होता है : **अनानुकृत्यँमपुर्नश्चकार याँत् सू॑र्यामा॑सा मिथ॑ उच्चँरातः** *उसने सदा के लिये (ऐसा कर्म कर दिया है) जिसका अनुकरण नहीं किया जा सकेगा जब तक कि सूर्य और चन्द्रमा बारी बारी से उदय होते रहेंगे* (१०.६८[१०]) ; **वँसिष्ठं ह वँरुणो··· ऋँषिं चकार···याँन्नु॑ द्या॑वस्ततँनन्, याँदुषा॑सः** *वरुण ने वसिष्ठ को ऋषि बना दिया है जब तक कि दिनों का और उषाओं का विस्तार होता रहेगा* (७.८८[४]) । ब्राह्मणग्रन्थों में **याँद्** उपलब्ध नहीं होता ।

(घ) कभी-कभी पूर्ववर्ती वाक्यांश में यद्यर्थक **च** के योग में भी लेट् का प्रयोग उपलब्ध होता है । **च** को तब गौण सम्बन्धवाचक शब्द समझा जाता है । इस कारण क्रियापद उदात्त हो जाता है । यथा—**ईन्द्रश्च मृळँयाति नो, नँ नः पश्चादघं॑ नशत्** *यदि इन्द्र हम पर दया करे तो बाद में कोई भी अनिष्ट हमारा स्पर्श न कर सकेगा* (२.४१[११]) ।

(ब) *विधिलिङ् अथवा सम्भावनावाची लकार*

२१६.१. विधिलिङ् का अर्थ प्रमुख रूप से इच्छा होता है जोकि क्रियापद के पुरुष के अनुसार परिवर्तित होती रहती है ।

उत्तमपुरुष, जिसका प्रयोग बहुत प्रचुर है, *वक्ता की इच्छा* को अभिव्यक्त करता है जो कि सामान्यतया देवताओं को सम्बोधित कर प्रकट की जाती है । यथा—**उँषस्तँमश्यां यशँसं रयिँम्** *हे उषः मैं उस यशस्वी धन को प्राप्त करूं* (१.९२[८]); **विधे॑म ते स्तो॑मैः** *हम स्तुति गीतों से तुम्हारी पूजा*

करें (२.९[१]); वयं स्याम पतयो रयीणाम् *हम धन के स्वामी हों* (४.५०[६])।

ब्राह्मणग्रन्थों में उत्तम पुरुष का अर्थ वही है (जो कि संहिताओं में) पर उनका विषय ही देना है कि वहां इसका प्रयोग कहीं कम है। यथा—विशं च क्षत्राय च समदं कुर्याम मैं साधारण जनता में और शासक वर्ग में शत्रुता पैदा करना चाहूँगा (मै० सं०)।

म० पु० अपेक्षाकृत बहुत कम है। यह प्रायः देवताओं के प्रति निवेदित इच्छा अथवा *प्रार्थना* को ही अभिव्यक्त करता है। यथा—आ नो मित्रावरुणा होत्राय ववृत्याः *कृपया मित्र और वरुण को हमारे यज्ञ में लाइये* (६.११[१]); त्र्या मे हवमा जग्म्यातम् *सो कृपया आप दोनों मेरे आवाहन पर आइये* (६.५०[१०]); प्र सू न आयुर्जीवसे तिरेतन *कृपया आप हमारी आयु को पूरी तरह बढ़ाइये ताकि हम जी सकें* (८.१८[२२])। इससे भी बढ़कर हम यहां प्रायः लोट् की आशा कर सकते हैं जो कि निस्सन्देह विधिलिङ् म० और प्र० पु० से पहिले या बाद में आता है। यथा—धिष्व वज्रं रक्षोहत्याय, सासहिष्ठा अभि स्पृधः *राक्षसों को मारने के लिये वज्र उठाओ : तुम हमारे शत्रुओं पर विजयी होओ* (६.४५[१८]); इमां मे समिधं वनेः; इमा ऊ षु श्रुधी गिरः *कृपया मेरी इस समिधा को स्वीकार कीजिये; दया पूर्वक इन गीतों को सुनिये* (२.६[१])।

ब्राह्मणग्रन्थों में म० पु० लगभग अव्यभिचारेण इच्छाओं को अभिव्यक्त करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है। यथा—अस्मिन् यजमाने बह्व्यः स्यात इस यजमान के पास आप बहुत संख्या में हों (श० ब्रा०)।

प्र० पु० *इच्छा*, *विधि* (आदेश) अथवा *कल्पना* इन तीन भिन्न-भिन्न अर्थों को व्यक्त करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है। यथा—मीढ्वाँ अस्माकं बभूयात् *वह हमारे लिये उदार दाता हो* (१.२७[२]); इमममृतं दूतं कृण्वीत मर्त्यः *मर्त्य को चाहिये कि इस अमर्त्य को अपना दूत बनाये* (८.२३[१९]); पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात् *न देने वाले मित्र पर देने*

वाला *मित्र हावी होगा* (१०.११७⁵)। कल्पना अर्थ में (जो कि *सम्भावित* अथवा *शक्य* है) विधिलिङ् का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग क्वचिदेव उपलब्ध होता है पर वाक्य के परिणामार्थक अन्तिम खण्ड में इसका प्रयोग प्रायिक है।

ब्राह्मणग्रन्थों में तीनों के तीनों ही अर्थों में इसका प्रयोग प्रचुर है : इच्छार्थ में यथा—**अपशुः स्यात्** वह पशु विहीन हो जाय (तै० सं०); एक सामान्य विधि (जहां कि कृत्य रूप का प्रयोग भी पाया जा सकता है); यथा—**क्षौमे वसाना अग्निमा दधीयातां, ते अध्वर्यवे देये** क्षुमा (टसर) के वस्त्र पहिनकर वे अग्न्याधान करें; ये दो, (वस्त्र) अध्वर्यु को दे देने चाहियें (मै० सं०); अनेकखण्डात्मक वाक्य में परिणामार्थक अन्तिम खण्ड में कल्पना अर्थ उपलब्ध होता है। स्वतन्त्ररूपेण इनका प्रयोग क्वाचित्क है। यथा—**न अस्य तां रात्रीमपो गृहान् प्र हरेयुर्; आपो वै शान्तिः; शमयेयुरेव** (मै० सं०) उन्हें उस रात उसके घर में जल नहीं लाना चाहिये, क्योंकि जल शमन रूप है : वे इस प्रकार शमन ही कर देंगे (यदि उन्होंने ऐसा किया)। इस उदाहरण में यद्यर्थक उपक्रम वाक्य का अध्याहार आवश्यक है।

२. वाक्य की दृष्टि से विधिलिङ् का दो प्रकार का प्रयोग उपलब्ध होता है :

(क) मुख्यवाक्यों में (बहुत सीमा तक इसमें इच्छार्थ तदवस्थ रहता है) सर्वनाम अथवा निम्नलिखित क्रियाविशेषण प्रश्नवाचक शब्दों के योग में इसका प्रयोग पाया जाता है : **कथा** *कैसे* ? **कदा** *कब* ? और **कुविद्**। यथा—**कस्मै देवाय हविषा विधेम** *किस देवता की हम हवि से पूजा करें* (१०.१२¹¹); **कदा न इन्द्र राय आ दशस्येः** *हे इन्द्र तुम कब हमें धन दोगे ?* (७.३७⁵); **कुवित् तुतुर्ज्यात् सातये धियः** (१.१४३⁵) *क्या वह हमें लाभ के लिये प्रार्थना करने में प्रेरणा नहीं देगा ?* (देखिये पृ० ४६६, २ तक)। इस प्रकार कभी-कभी *सम्भावना* का निराकरण कर दिया जाता है। यथा—**कद्ध नूनं ऋता वदन्तो अनृतं रपेम** *अब हम यज्ञिय वाक् उच्चारण करते हुए कैसे अयज्ञिय वचन उच्चारित कर सकेंगे* (१०.१०⁴)।

ब्राह्मणग्रन्थों में प्रश्नवाचक शब्दों के योग में विधिलिङ् इच्छा, आदेश-

सम्भावना अथवा किसी सुझाव का निराकरण इन अर्थों को अभिव्यक्त करता है। यथा—कथं नु प्र जायेय मैं सन्तान द्वारा कैसे बढ़ूँ (श० ब्रा०); याममेव पूर्वां शंसेत् उसे यम देवता के मन्त्र का पहिले उच्चारण करना चाहिये ऐ० ब्रा०); किं मम ततः स्यात् (श० ब्रा०) (यदि मैं यह करूं) तो मुझे क्या मिलेगा? कस्तदाद्रियेत कौन उस पर ध्यान देगा? (श० ब्रा०)।

(क) विधिलिङ निषेध वाक्यों में नकारार्थक न के योग में पाया जाता है। कभी-कभी यह नू चिद् (*कभी नहीं*) के योग में भी उपलब्ध होता है। अर्थ या तो इच्छा का होता है या सम्भावना का। यथा—न रिष्येम कदा चन हमें कभी भी हानि न उठानी पड़े (६.५४⁹); नू चिन्नु वायोरमृतं वि दस्येत् *वायु का अमृत कभी-भी क्षीण न हो* (६.३७³); न तद् देवो न मर्त्यस् तुतुर्याद्यानि प्रवृद्धो वृषभश्चकार न कोई *देवता (और) न कोई मनुष्य उससे बढ़ सकता है जो कि शक्तिशाली बैल ने किया है* (८. ९६⁷)। भुजेम ही वह एकमात्र विधिलिङ का रूप है जिसके योग में निषेधार्थक मा का प्रयोग उपलब्ध होता है: मा व एनो अन्यकृतं भुजेम *हम दूसरों के किये पाप के कारण आपके सामने कष्ट न पायें* (६.५१⁷)।

ब्राह्मणग्रन्थों में न के साथ लिङ् का प्रयोग या तो सामान्य निषेध को या सम्भावनार्थ को अभिव्यक्त करने के लिये किया जाता है। यथा—तस्य एतद् व्रतं; न अनृतं वदेत्, न मांसमश्नीयात् यह उसका व्रत है: उसे झूठ नहीं बोलना चाहिये, मांस नहीं खाना चाहिये; न एनं दधिक्रावा चन पावयां क्रियात् दधिक्रावा स्वयं उसे पवित्र न कर सका (मै० सं०)।

(ख) गौण वाक्यांशों में विधिलिङ सर्वनाम-रूप अथवा क्रियाविशेषणरूप सम्बन्धवाचक शब्दों के योग में प्रयुक्त होता है:

(क) ऐसा वाक्यांश निर्धारणार्थक होने के कारण प्रायः पहिले आता है। वेद में इस प्रकार का वाक्यांश अतिविरल है। यथा—सूर्यां यो ब्रह्मा विद्यात्, स इद् वाधूयमर्हति *जो ऋत्विक् सूर्या को जाने वह वधू के वस्त्रों का अधिकारी है* (१०.८५³⁴)।

दूसरी ओर ब्राह्मणग्रन्थों में ऐसे वाक्यांश जिनसे सदैव कल्पना अर्थ भासता है बहुत प्रचुर हैं। यहां विधिलिङ्, विधि, आदेश अथवा सम्भावना अर्थ को अभिव्यक्त करता है। बहुत बार मुख्य वाक्यांश में विधिलिङ् भी पाया जाता है। यं॑ द्विष्या॒त्, तं॑ ध्यायेत् जिससे वह द्वेष करे उसका ध्यान करे (तै० सं०); यो॑ वा॒ इ॒मम॒ालभे॑त, मु॑च्येत॒ अ॒स्मा॒त् पा॒प्म॒नः जो इस (बैल) की बलि दे वह इस पाप से मुक्त हो जाय (तै० सं०)। मुख्य वाक्यांश में यदाकदा कोई कृत्य प्रत्ययान्त रूप आ जाता है या होना इस अर्थ के क्रियापद का अध्याहार करना पड़ता है। यथा—यो॑ रा॒ष्ट्रा॒द॑पभूतः स्या॒त् त॒स्मै॑ होतव्यो॑ यह उसके निमित्त देनी चाहिये जो राज्य से वञ्चित किया गया हो (तै० सं०); यस्य॒ अ॒ग्नयो॒ ग्राम्येण॒ अ॒ग्निना संदृ॒ह्येरन्, का तत्र प्रायश्चित्तिः? यदि किसी की अग्नियां ग्राम्य अग्नि से मिल जायें तो वहां क्या प्रायश्चित्त (होगा)? (ऐ० ब्रा०)।

(ख) फलतः अथवा *परिणामतः* (*इसलिये कि, ताकि*) इस अर्थ का सम्बद्ध वाक्यांश बाद में आता है, मुख्य वाक्यांश में लोट्, लेट् या विधिलिङ पाया जाता है। यथा—रे॒वती॑र्नः सध॒माद॒ इन्द्रे॑ सन्तु य॒ाभि॒र्म॑देम (१.३०[१३]) *इन्द्र के संग हमारे प्रीति भोज बहुधनसंयुक्त हों* (*जिनके द्वारा* =) *ताकि हम* (*उनमें*) *आनन्दित हो सकें*; धा॒सथो॑ र॒यिं॑ ये॑न स॒मत्सु॑ सा॒हि॒षी॒म॑हि *हमें धन दो* (*जिससे*=) *ताकि हम युद्धों में विजयी हो सकें* (८.४०[१]); य॒या॒ अ॒ति॒ विश्वा॑ दुरि॒ता त॒रे॑म सु॒तर्मा॑ण॒मधि॒ नाव॑म् रुहेम *हम पार पहुँचाने वाली नाव पर चढ़ें* (*जिससे*=) *ताकि हम अपनी सब विपदाओं को पार कर सकें* (९.४२[३])।

ब्राह्मणग्रन्थों में लिङ् वाले **इसलिए कि** या **ताकि** अर्थ के सम्बद्ध वाक्यांश विरल हैं।

(ग) सम्बन्ध वाचक शब्दों के योग में :

१. य॒द् (यदि) : हेतुहेतुमद्भावविशिष्ट वाक्यों में पूर्व हेतु वाक्यांश में क्रिया की अनिष्पत्ति गम्यमान होने पर उत्तरवर्ती हेतुमद् वाक्यांश में सामान्यतया सम्भावनार्थक लिङ पाया जाता है (यद्यपि लोट्, लुङ्मूलक लोट् और निर्देशक के इक्के-दुक्के उदाहरण भी मिल जाते हैं)। यथा—य॒द॑ग्ने॒ स्या॒म॒हं॑ त्वं॑, वा घा॒ स्या॒ अ॒हं॑ स्युष्टे॑ स॒त्या इ॒ह॒ आ॒शिषः हे *अग्नि*

यदि मैं तू होऊँ और तू मैं होओ तो तेरी प्रार्थनाएं पूर्ण हो जायें (८.४४[२३])। कभी-कभी शर्त की पूर्ति की आशा भी की जाती है। यथा—यच्छुश्रूया इमं हवं दुर्मर्षं चक्रिया उत, भवेरापिर्नो अन्तमः यदि तुम हमारी इस आहुति को सुनोगे और उसे भूलोगे नहीं तो तुम हमारे अति घनिष्ठ मित्र बन जाओगे (८.४५[१८])। ऐसा प्रतीत होता है कि लिङ् का जब का कालार्थ ऋग्वेद में केवल एक बार उपलब्ध होता है (३.३३[११])।

(वेदों के समान) ब्राह्मणग्रन्थों में भी यदर्थक यद् का विधिलिङ के योग में प्रयोग पूर्ववर्ती हेतुवाक्य में बहुत प्रचुर है जबकि किसी शर्त की पूर्ति की सम्भावना न हो (सम्भावना होने पर यदि का विधिलिङ् के योग में प्रयोग उपलब्ध होता है) यथा—सा यच्छिद्येत_आर्तिमार्च्छेद् यजमानः यदि यह टूट जाय तो यजमान पर विपत्ति आ जायगी (तै० सं०)। यह भी हो सकता है कि मुख्य वाक्यांश में ईश्वर के योग में विधिलिङ् के स्थान पर तुमर्थ कृदन्त प्रयुक्त हो। यथा—यदेतां शंसेदीश्वरः पर्जन्योऽवर्ष्टोः यदि वह इसे (मन्त्र को) दोहराये तो सम्भवतः मेंह न बरसे (ऐ० ब्रा०)। कभी-कभी हेतुमद् वाक्य में (सत्तार्थक अस् के) क्रियापद का प्रयोग नहीं भी किया जाता। यहां यद् के योग में विधिलिङ् विरले ही इस शुद्ध कल्पना के विषय को (अर्थात् इस ध्वनि को कि इसके बिना शर्त पूरी न होगी) अभिव्यक्त करता है। यथा—यन्मां प्रविशेः किं मा भुञ्ज्याः (तै० सं०) यदि तुम मुझ में प्रवेश करो तो तुम मेरे किस काम के होओ (उसके बाद वह इन्द्र में प्रवेश करता ही है)।

(क) विधिलिङ् के योग में फलतः अर्थात् इसलिये कि इस अर्थ के यद् का प्रयोग अतिविरल है। यथा—यन्नूनमश्यां गतिं, मित्रस्य यायां पथा इसलिये कि मुझे अब शरण मिले मैं वरुण के मार्ग से जाऊँगा (५.६४[३])।

(आ) ब्राह्मणग्रन्थों में विधिलिङ् के योग में उस के अर्थ में उत्तरवर्ती वाक्यांशों में यद् का प्रयोग इन (क्रियापदों) के बाद पाया जाता है : अर्ब कल्पते के योग्य है, उत्सहते सहता है, इच्छति चाहता है, वेद जानता है, युक्तो भवति तत्पर है। यथा—न हि तद् अवकल्पते यद् ब्रूयात् चूंकि यह उचित नहीं है कि वह बोले (श० ब्रा०); न वा अहमिदमुत्सहे यद् वो होता स्याम् मैं यह

नहीं सहन कर सकता कि मैं आपका होता बनूं (=नहीं हो सकता); तद्धयेवं ब्राह्मणेन_एष्टव्यं यद् ब्रह्मवर्चसी स्यात् चूंकि ब्राह्मण का यह लक्ष्य होना चाहिये कि उसमें ब्रह्मवर्चस् हो (श० ब्रा०); स्वयं वा एतस्मै देवा युक्ता भवन्ति यद् साधु वदेयुः चूंकि देवताओं का स्वयं का यह सङ्कल्प होता है कि वे वही कहें जो ठीक है (श० ब्रा०); कस्तद्वेद यद् व्रतप्रदो व्रतम् उपोत्सिञ्चेत् चूंकि (यह) कौन जानता है (कि=)जो व्रत का दूध देता है वह उसमें (ताजा दूध) भी (मिला दे=) मिलाता है (श० ब्रा०)। श० ब्रा० में इस प्रकार की वाक्य रचना में (अन्य ब्राह्मणग्रन्थों में केवल तुमर्थ कृदन्त के साथ) सम्भावित परिणाम को अभिव्यक्त करने के लिये ईश्वर शब्द का प्रयोग भी किया जाता है (यद्यपि यद् का लगभग सदैव परिहार किया जाता है)। यथा—पराङस्माद्यज्ञोऽभूदिति_ईश्वरा ह यत्तथा_एवं स्यात् यज्ञ इससे पराङ्मुख हो गया है: यह सम्भव है कि यह ऐसे हो (श० ब्रा०)। अन्यथा वाक्य नियमित रूप से इति—ईश्वरो ह तथा एव स्यात् इस रूप में पाया जाता है सम्भवतः इसलिये कि ईश्वर को एक प्रकार का क्रियाविशेषण समझा जाने लगा=सम्भव है यह ऐसा हो।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में न के साहचर्य में इति से समाप्त होने वाले वाक्यांश के आदि में आने वाला यद् जो कि भय या कुछ ऐसे ही अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले क्रियापद पर निर्भर होता है 'ऐसा न हो कि' इसका समानार्थक होता है। यथा—देवा ह वै विभयाञ्चक्रुर्यद्वै नः असुररक्षांसि इमं अहं न हन्युरिति देवताओं को डर था कि ऐसा न हो कि असुर और राक्षस इस घूंट को नष्ट कर दें (श० ब्रा०); इन्द्रो ह वा ईक्षाञ्चक्रे यन्मा तन्न_अभिभवेदिति इन्द्र ने सोचा (इस डर से कि) ऐसा न हो कि वह उसे हरा दें। (श० ब्रा०)।

२. विधिलिङ् के योग में यदि का ऋग्वेद में तथा अथर्व० में प्रयोग सर्वथा अनुपलब्ध है। हां सामवेद में वह एक बार मिल जाता है।

ब्राह्मणग्रन्थों में यह अति प्रचुर है। यह उस शर्त को कहता है जिसकी पूर्ति मान ली जाती है (जब कि विधिलिङ् के योग में यद् से शर्त का पूरा न होना यह अर्थ अवभासित होता है)। यदि वाला वाक्यांश सामान्यतः पहले आता है।

(आ) हेतु वाक्य में प्रायः विधिलिङ् पाया जाता है जोकि शर्त के पूरे होने पर अनुष्ठेय आदेश को अभिव्यक्त करता है। यथा—यदि पुरा संस्थानाद् दीर्येत_अयं वर्षिष्यति_इति ब्रूयात् यदि (यज्ञ की समाप्ति से पूर्व) (पात्र) टूट जाये

तो उसे कहना चाहिये कि आज वृष्टि होगी (मै० सं०) ; यदि न शक्नुयात् सोऽग्नये पुरोळाशं निर्वपेत् यदि वह ऐसा न कर सके तो अग्नि को पुरोडाश निर्वपन करना चाहिये (ऐ० ब्रा०)। आदेश का कभी-कभी सम्भावनार्थ भी होता है। यथा— यद्येकतयीषु द्वयीषु वा अवगच्छेद्, अपरोधुका एनं स्युः (मै० सं०) यदि वह (बहिष्कृत व्यक्ति) एक या दो आहुतियों के बाद लौट आये तो वे उसे आधिपत्य से वञ्चित रख सकते हैं (पर यदि वह यज्ञ की समाप्ति पर आये तो नहीं)।

(आ) हेतुवाक्य में तुमर्थ कृदन्त के साथ ईश्वर का प्रयोग पाया जाता है। यथा—ईश्वरो ह यद्यप्यन्यो यजेत अथ होतारं यशोऽर्तोः यद्यपि (उसकी बजाय) कोई और यज्ञ करे (तो भी) यह सम्भव है कि यश होता को मिले (ऐ० ब्रा०)।

(इ) हेतुवाक्य में कृत्य प्रयोग भी उपलब्ध होते हैं। यथा— स यदि न जायेत, राक्षोघ्न्यो गायत्र्योऽनूच्याः *यदि इसे (अग्नि) को प्रज्वलित न करना हो तो राक्षसों को मारने वाले पद्यों को दोहराना चाहिये* (ऐ० ब्रा०)।

(ई) निर्देशक के (यदि वह सत्तार्थक अस् का रूप हो तो कभी-कभी उसका परिहार भी किया जाता है) योग में विधिलिङ् का प्रयोग उपलब्ध होता है। यथा तस्माद्यदि यज्ञ ऋक्त आर्तिः स्याद् ब्रह्मण एव नि वेदयन्ते *इसलिये यदि किसी यज्ञ में ऋचा के विषय में कोई त्रुटि हो जाय तो वे ब्रह्मा को सूचित करते हैं* (ऐ० ब्रा०); यदि नो यज्ञ ऋक्त आर्तिः स्यात् का प्रायश्चित्तिः *यदि यज्ञ में हमसे ऋचा के विषय में कोई त्रुटि हो जाय तो क्या प्रायश्चित है?* (ऐ० ब्रा०)।

(उ) विधिलिङ् के योग में प्रयुक्त होने वाले यद् और यदि का भेद निम्न उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है : यन्नो जयेयुरिमा अन्यु प धावेम, यद्यु जयेम ईमा अन्युपा वर्तेमहि ईति *यदि ये हमें जीत लें (जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती) तो हम इन (मित्रों) की शरण में आ जायेंगे पर यदि (जैसी की सम्भावना है) हम विजयी हों हम पुनः अपने को उनके पास ले जा सकेंगे* (मै० सं०)।

२. यथा के योग में विधिलिङ् का प्रयोग मिलता है जोकि *इसलिये कि; ताकि* इस अर्थ में वेदमात्रगोचर है एवञ्च सामान्यतया लोट्, लुङ्मूलक लोट् अथवा निर्देशक वाले मुख्य वाक्यांश के बाद आता है। यथा—अप विश्वा अमित्रान् नुदस्व, यथा तव शर्मन् मदेम *सभी शत्रुओं को भगा दो ताकि हम तुम्हारी शरण में आनन्दोपभोग कर सकें* (१०.१३१¹); त्वया यथा गृत्समदासो ...उपरा अभि ष्युः, सूरिभ्यो गृणते तद्वयो धाः *दाताओं और स्तोता को यह आशीर्वाद दो कि तुम्हारे द्वारा गृत्समद अपने पड़ोसियों से बढ़ जायें* (२.४⁹); आ दैव्या वृणीमहे ऽवांसि, यथा भवेम मीळ्हुषे अनागाः *हम दैवी सहायताओं की प्रार्थना करते हैं कि हम दयालु दाता के सामने निरपराध हों* (७.९७²)।

(अ) ब्राह्मणग्रन्थों में विधिलिङ के योग में यथा का दो प्रकार का प्रयोग उपलब्ध होता है।

(अ) पूर्ववर्ती वाक्यांशों में जबकि इसका अर्थ जैसे या मानों का होता है। मुख्य वाक्यांश में तो यह इतरेतरसम्बन्धार्थ पाया जाता है। यह मुख्य वाक्यांश में उस समय विधिलिङ् या निर्देशक प्रयुक्त होता है या कोई भी क्रियापद नहीं रहता। यथा—यथा एव छिन्ना नौरबन्धनात्प्लवेत एवमेव ते प्लवेरन् जैसेकि बन्धनरज्जुओं से कटी नाव इधर उधर बहती है वैसे ही वे भी इधर उधर बहेंगे (ऐ० ब्रा०); स यथा नद्यै पारं परापश्येदेवं स्वस्य आयुषः पारं परा चख्यौ उसने दूर से अपने जीवन के अन्त को देखा मानो वह दूर नदी को देख रहा हो (श०ब्रा०); अथो यथा ब्रूयादेतन् मे गोपाय इति तादृगेव तत् तो यह ऐसा होगा कि मानो वह यह कहे कि मेरे लिये इसकी देखभाल करो (तै० सं०)।

(आ) पश्चाद्वर्ती वाक्यांशों में इस यथा का अर्थ कैसे या ताकि पाया जाता है। यथा—उप जानीत यथा इयं पुनरागच्छेत् तो तुम पता करो कि वह कैसे आ सकी (श० ब्रा०); तत् तथा एव होतव्यं यथा अग्निं व्यवेयात् अतः इसकी इस तरह आहुति देनी चाहिये कि यह आग को विभाजित कर दे (मै० सं०)।

४. वेद में विधिलिङ के योग में यत्र और यदा उपलब्ध नहीं होते एवंच ऋग्वेद और अथर्व० में यर्हि सर्वथा अप्रयुक्त है।

ब्राह्मणग्रन्थों में ये तीनों के तीनों सम्बन्धवाचक शब्द शुद्ध कल्पना के द्योतक होते हुए जब के अर्थ में विधिलिङ के योग में प्रयुक्त होते हैं।

(अ) जब, यदि इन अर्थों के अतिरिक्त यत्र का अर्थ प्रायः उस दशा में जब कि, ज्योंही भी दीखता है। उस स्थिति में मुख्यवाक्यांश में विधिलिङ् अथवा निर्देशक का प्रयोग रहता है। यथा—मारुतं सप्तकपालं निर्वपेद् यत्र विंद् राजानं जिज्यासेत् यदि लोग राजा को तंग करने लगें तो उसे चाहिये कि वह मरुतों को सात कपालों पर (पुरोडाश) अर्पित करे (मै० सं०); स यत्र प्रस्तुयात् तदेतानि जपेत् ज्योंही (ऋत्विक) गाने लगे त्योंही आगे कहे मन्त्रों का जप होना चाहिये (श० ब्रा०)।

(आ) ज्योंही इस अर्थ के यदा का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि विधिलिङ् के क्रियापद की क्रिया के बारे में यह समझ लिया जाय कि वह बीत चुकी है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस अवस्था में इसके बाद सदैव अथ (तब) आता है। यथा—स यदा सङ्ग्रामं जयेदथ ऐन्द्राग्नं निर्वपेत् ज्योंही वह युद्ध जीत चुका हो तो उसे इन्द्र और अग्नि के उद्देश से यज्ञ करना चाहिये (मै० सं०)।

(इ) मुख्य वाक्यांश में यर्हि (जब) के बाद सामान्यतया सम्बन्धद्योतक तर्हि (तब) का प्रयोग मिलता है; इसमें प्रायः विधिलिङ् का प्रयोग भी देखा जाता है। यथा—यर्हि प्रजाः क्षुधं निगच्छेयुस्तर्हि नवरात्रेण यजेत यदि उसकी प्रजा क्षुधा से पीडित हों तब उसे नवरात्र यज्ञ करना चाहिये (तै० सं०)।

५. ऋग्वेद में यद्यर्थक चेद् का प्रयोग निर्देशक के योग में ही उपलब्ध होता है और अथर्व० में विधिलिङ के योग में केवल एक ही बार पाया जाता है।

ब्राह्मणग्रन्थों में वह यदि की तरह (जोकि एक दूसरे के स्थान पर भी आ सकते हैं) विधिलिङ् के योग में पाया जाता है। यथा—एतं चेद् अन्यस्मा अनुब्रूयास्तत

एवं ते शिरश्छिन्द्याम् यदि यह तुमने किसी और को बताया तो मैं तुम्हारा सिर काट दूंगा (श० ब्रा०)।

आशीर्लिङ्

२१७. यह रूप ऋग्वेद और अथर्व० में केवल मुख्य वाक्यांशों में ही पाया जाता है। प्रश्न वाक्यों में यह सर्वथा अनुपलब्ध है। यह लगभग अनपवाद-रूपेण *देवताओं से की गई प्रार्थना को या इच्छा* को अभिव्यक्त करता है। जैसाकि उन मूलपाठों से स्वभावतः सम्भावित होना चाहिये। यथा— **यो नो द्वेषत्यधरः सस्पदीष्ट** *वह जो हम से द्वेष करता है जमीन पर गिरे* (३.५३[११])। यदि किसी निषेधवाचक पद का प्रयोग किया जाता है तो वह केवल न ही होता है। यथा—**भगो मे अग्ने सख्ये न मृध्याः** *हे अग्नि मेरा सौभाग्य (तुम्हारी) मित्रता में शिथिल न हो* (३.५४[११])।

ब्राह्मणग्रन्थों में आशीर्लिङ् का प्रयोग मन्त्रों में उद्धृत निश्चितरचनात्मक गद्य और पद्य भागों में अथवा इनके पदपर्यायव्याख्यानों में उपलब्ध होता है। यथा—**भूयसीनामुत्तरां समां क्रियासमिति गवां लक्ष्म कुर्यात्** क्या ही अच्छा हो कि आगामी वर्ष में और अधिक को भी करूँ: यह कह कर उसे चाहिये कि वह गायों पर चिन्ह बना दे (मै० सं०); **शतं हिमा इति शतं वर्षाणि जीव्यासमित्येवैतदाह शतं हिमाः** इन शब्दों से वह यह कहता है: 'कि मैं सौ बरस तक जीऊँ' (श० ब्रा०)। पर यह कभी कभी शुद्ध गद्याख्यानों में भी पाया जाता है। यथा—**सा ह वाक् प्रजापतिमुवाच, अहव्यवाडेव अहं तुभ्यं भूयासम्** वाक् ने प्रजापति से कहा: मैं तुम्हारी यज्ञ की वहनकर्त्री नहीं बनूंगी (श० ब्रा०); **तमशपद्: धिया-धिया त्वा वध्यासुः** (अग्नि ने) उसे शाप दिया यह (कहते हुए कि): मैं चाहता हूं क्या ही अच्छा हो कि बार बार सोच विचारकर वे तुम्हें मारें (तै० सं०)।

लृङ्

२१८. वेद में लृङ् केवल एक वार उपलब्ध होता है (ऋग्वेद २-३०²) और वह भी एक ऐसे सन्दर्भ में जोकि अप्रसिद्धार्थ है यद्यपि भूतकाल के वाद प्रयुक्त अभरिष्यत् इस रूप का अर्थ ले जायगा प्रतीत होता है (लृट् के स्थान पर जिसका कि लट् के अनन्तर प्रयोग किया जाता)।

ब्राह्मणग्रन्थों मे लृङ् एक सामान्यप्रश्नात्मक वाक्य में केवल एक वार प्रयुक्त हुआ पाया गया है : तंत एवं‿अस्य भयं वी याय, कस्माद्‿ध्यभेष्यत् इस पर उसका डर दूर हो गया, चूंकि उसे किसका डर होगा (श० ब्रा०)? अन्यथा यह अनेकवाक्यखण्डात्मक वाक्यों में पाया जाता है :

१. प्रायः हेतुहेतुमद्भावविशिष्ट वाक्यों के पूर्व और उत्तर अवान्तर वाक्यांश इन दोनों में ही लृङ् यह अभिव्यक्त करता है कि भूत काल में कुछ हो सकता था पर हुआ नहीं चूंकि वह शर्त पूरी हुई नहीं। इस प्रकार का शर्त वाला वाक्यांश सामान्यतया यंद् से प्रारम्भ होता है पर विरलतया यंदि से भी (२१६)। यथा—सं यंद् ध‿अंपि मुखाद्द्रोष्यन्, नं ह‿एवं प्रायश्चित्तिरभविष्यत् यदि यह (सोम) भी उसके मुख से वहा होता तो प्रायश्चित्त न होता (श० ब्रा०); यंदेवं नं‿अंवक्ष्यो मूर्धा ते व्यंपतिष्यत् यदि तुम ऐसे न वोले होते तो तुम्हारा सिर टुकड़े हो गया होता (श० ब्रा०); पांदौ ते‿म्लास्यतां यंदि ह नं‿अंगमिष्यः तुम्हारे पाँव की शक्ति क्षीण हो गई होती यदि तुम न आये होते (श० ब्रा०)।

(क) यदि विधिलिङ् के योग में यंद् का प्रयोग हो तो कल्पित शर्त वर्तमान का परामर्श करती है (२१६)।

२. लृङ् का प्रयोग भूतकाल वाले मुख्य निषेधवाक्यांशों पर (सदैव लाभार्थक विद् के) निर्भर सम्बद्ध वाक्यांशों में पाया जाता है। यथा—सं तदेवं नं‿अविन्दत् प्रजापतिर्यं द्धोष्यत् *प्रजापति को ऐसा कुछ न मिला जिसको वह होम कर सकता* (मै० सं०); सं वै तं नं‿अविन्दद् यंस्मै तां दंक्षिणा-मंनेष्यत् उसे ऐसा कोई न *मिला जिसे* वह यह *दक्षिणा* देता (तै० ब्रा०)।

३. वह इस अर्थ के यद् से प्रारम्भ होने वाले वाक्यांश में, जो कि निषेधवाक्य (या उसी के समकक्ष अन्य कोई वाक्यांश) पर आश्रित है, लुङ् का प्रयोग उपलब्ध होता है। यथा—चिरं तन्मेने यद्वासः पर्यधास्यत उसने देर तक उस पर विचार किया (कि=) उस समय तक जब तक कि उसे वस्त्र पहिन लेना चाहिये (श० ब्रा०) अर्थात् उसने सोचा कि वस्त्र पहिनने के लिये मुझे जितना समय चाहिये वह बहुत कम नहीं है।

परिशिष्ट १

क्रियासूची

क्रिया के जब सभी के सभी अंग दिये हुए हों तो उनमें इस प्रकार का क्रम होगा : लट्-निर्देशक, लेट्, लुङ्मूलक लोट् (लु० लो०), विधिलिङ् (वि०लि०) लोट्, शत्रन्त, शानजन्त, क्वस्वन्त, कानजन्त, लङ्, लिट्, लिट्प्रतिरूपक (लिट्० प्र०) लुङ्, आशीर्लिङ् (आशी०), लृट्, लृङ्, कर्मवाच्य (क० वा०), क्तान्त, कृत्यप्रत्ययान्त (कृत्य०), क्त्वाद्यन्त, तुमर्थकृदन्त (तुम०), ण्यन्त, सन्नन्त, यङ्-यङ्लुगन्त ।

इस सूची में धातुओं के गणों का निर्देश भी किया गया है। परस्मै० का अर्थ है कि धातु के रूप केवल परस्मैपद में ही चलते हैं और आत्मने० का अर्थ है कि वे केवल आत्मनेपद में ही चलते हैं ।

अंश् *प्राप्त करना* **स्वादि० :** लट् अश्नो॑ति; लेट् अश्नवत्; लोट् अश्नो॑तु; शत्रन्त अश्नुवन्त् । लिट् आन॑श और आनांश; आनश्म, आनर्श, आनशु॑र्; आनशे॑; लेट् अनशामहै; वि०लि० आनश्याम्; शानजन्त आनशान॑ । लिट् के रूप ये भी हैं : आंश, आशतुर्, आशु॑र्; आत्मने० द्वि० आशाथे, आशाते । लुङ् धातु: आत्मने प्र० पु० एक० आंष्ट, बहु० आंशत; लु० लो० अष्ट, बहु० अशत; वि०लि० अश्यात्, आशी० प्र० पु० एक० अश्यास् (=अश्यास् -त्); स् : लेट् अंक्षत् ; अ : अशो॑त् । तुम० अंष्टवे ।

अक्ष् *अङ्गभङ्ग करना* **स्वादि० :** लट्-लोट् अक्ष्णुहि॑ । कानजन्त आक्षाणं । लुङ् इष् : आंक्षिषुर् ।

अच् झुकना **भ्वादि० :** लट् अंचति । लोट् म० पु० एक० अंच; अंचस्व । क० वा० अच्यंते । शानजन्त अच्यंमान; लङ् अच्यंन्त; क्तान्त अक्नं (ब्रा०) । क्त्वाद्यन्त -अच्य ।

अज् हांकना **भ्वादि० :** लट् अंजति, अंजते; लेट् अंजानि, अंजासि, अंजाति; वि०लि० अंजेत; लोट् अंजतु; शत्रन्त अंजन्त् । लङ् आंजत् । क०वा० अज्यंते; शानजन्त अज्यंमान । तुम० –अंजे ।

अञ्ज् लेप करना रुधादि० : लट् अनंक्ति, अङ्क्ते; लेट् अनंजत्; लोट् अङ्ग्धि (=अङ्ग्धि), अनंक्तु ; शत्रन्त अञ्जंन्त्, शानजन्त अञ्जानं । लङ् आञ्जन् । लिट् आनंञ्ज; आनजे, आनज्रे; लेट् अनजा; वि०लि०, अनज्यात्; कानजन्त आनजानं । क० वा० अज्यंते; शानजन्त अज्यंमान; क्तान्त अक्तं । क्त्वाद्यन्त अक्त्वा (ब्रा०), -अज्य (ब्रा०) ।

अद् खाना **अदादि० :** लट् अंद्मि, अंत्सि, अंत्ति; अदंन्ति; लेट् अंदत्, बहु० अंदान् (अथर्व०); वि०लि० अद्यात्; लोट् अद्धिं, अंत्तु; अत्तंम्, अत्तांम्; अत्तं, अदंन्तु; शत्रन्त अदंन्त्, शानजन्त अदानं । लङ् आंदत् । लृट् अत्स्यंति । क्तान्त अंन्न नपुं० (खाद्य) । क्त्वाद्यन्त अत्त्वाय (ब्रा०) । तुम० अंत्तुम्, अंत्तवे, अंत्तोस् (ब्रा०) । ण्यन्त आदंयति (ब्रा०) ।

अन् श्वास लेना परस्मै० **भ्वादि० :** अंनति (अथर्व०); **तुदादि०** अनंति (अथर्व०); **अदादि०** अंनिति ; लोट्—अनिहिं ; शत्रन्त अनंन्त् । लङ् आंनीत् । लिट् आंन । लुङ् आंनिषुर् । लृट् अनिष्यंति (ब्रा०) । क्तान्त अनितं (ब्रा०) : -अन्य (ब्रा०) । तुम० अंनितुम् (ब्रा०) । ण्यन्त अनंयति ।

अम् हानि पहुंचाना अदादि० : लट् अंमीषि, अंमीति । **भ्वादि०** लट् अंमे; लृ० लो० अंमन्त ; लोट् अंमीष्व ; शानजन्त अंमसान । लङ् आंमीत् । लिट् आमिरे (ब्रा०) । लुङ् आंममत् । क० वा० अम्यंते । ण्यन्त आमंयति ।

अर्च् स्तुति करना भ्वादि० : लट् अर्चति : लेट् अर्चा, अर्चान्; अर्चाम, अर्चान् : लु० लो० अर्चत्; अर्चन् : लोट् अर्चतु : शतृ अर्चन्त्। लङ् आर्चत्। लिट् आनृचुर्; आनृचे। क० वा० ऋच्यते; शानच् ऋच्यमान। तुम० ऋचसे। प्रेर० अर्चयति।

अर्ह् के योग्य होना भ्वादि० : लट् अर्हति : लेट् अर्हान् : शतृ अर्हन्त्। लिट् आनृहुर् (ति० ब०) : अर्हिरे। तुम० अर्हसे।

अव् अनुग्रह करना, कृपा करना भ्वादि० परस्मै० : लट् अवति : लेट् अवात् : लु० लो० अवत् : वि० लि० अवेत् : लोट् अवतु; शतृ अवन्त्। लङ् आवत्। लिट् आविथ, आव। लुङ् धातु : म० पु० वि० लि० अव्याम् : आशीर्लिङ् प्र० पु० अव्यात् (=अव्यात् त्); इट् : आवीत् : लेट् अविषत् : लु० लो० अवीत् : लोट् अविड्ढि, अविष्टु; अविष्टम्, अविष्टाम्; अविष्टन। लृट् अविष्यति : शतृ अविष्यन्त्। क्तान्त -ऊत। ल्यप् -अव्य। तुम० अवितवे।

अश् खाना क्र्यादि० : लट् अश्नाति, अश्नन्ति; अश्नीते, अश्नते : वि० लि० अश्नीयात् : लोट् अशान; शतृ अश्नन्त्। लङ् आश्नात्, आश्नात्; आश्नन्, अश्नन्। लिट् आश। लुङ् इष् : आशिषम्, आशीस्, आशीत्; लु० लो० अशीत्। लृट् अशिष्यति (ब्रा०)। क० वा० अश्यते; क्तान्त अशित। क्त्वाप्रत्ययान्त अशित्वा (ब्रा०), -अश्य (ब्रा०)। प्रेर० आशयति (ब्रा०)। सन्नन्त अशिशिषति (ब्रा०)।

१. अस् होना अदादि० परस्मै० : लट् अस्मि, असि, अस्ति; स्वस्, स्थस्; स्मस्, स्थ और स्थन, सन्ति : लेट् असानि, असासि और असस्, असति और असत् : असथस् : असाम, असथ, असन् ; लु० लो० प्र० पु० बहु० सन् : वि० लि० स्याम्, स्यास्, स्यात्; स्यातम्, स्याताम्; स्याम, स्यात और स्यातन, स्युर्; लोट् एधि, अस्तु; स्तम्, स्ताम्; स्त, सन्तु : शतृ सन्त्। लङ् आसम्, आसीस्, आस् (=आस्त्) और

आँसीत्; आँस्तम्, आँस्ताम्; आँसन्। लिट् आँस, आँसिथ, आँस; आसथुर्, आसतुर्; आसिम, आसुर्।

२. अस् फेंकना दिवादि० : लट् अँस्यामि, अँस्यति और अँस्यते; अँस्यामसि, अँस्यन्ति; लोट् अँस्य और अँस्यतात्, अँस्यतु; शत्रन्त अँस्यन्त्। लङ् आँस्यत्। लिट् आँस। लृट् असिष्यति। क० वा० अस्यते; क्तान्त अस्तं। कृत्य-अस्य। तुम० अँस्तवे, अँस्तवै (ब्रा०)

अह्, कहना परस्मै० : लिट् आँह, आँत्थ (ब्रा०); आहतुर् (ब्रा०); आहुर्।

आप् प्राप्त करना स्वादि० : लट् आप्नोति। लिट् आँप, आँपिथ; आपिरे; शानजन्त आपानं। लुङ् साभ्यास : आँपिपन् (ब्रा०); अ : आँपत्; वि० लि० अपेयम् (अथर्व०)। लृट् आप्स्यति, आप्स्यते (ब्रा०); लुट् आप्ता (ब्रा०)। क० वा० आप्यते (ब्रा०); लुङ् आँपि ब्रा०; क्तान्त आप्तं। क्त्वाद्यन्त आप्त्वा (ब्रा०), कृत्य-आप्य (ब्रा०)। तुम० आँप्तुम् (ब्रा०)। ण्यन्त आपयति (ब्रा०)। सन्नन्त ईप्सति, ईप्सते (ब्रा०); लुङ् ऐप्सीत् ब्रा०। ण्यन्त का सन्नन्त आपिपयिषेत् (ब्रा०)।

आस् बैठना अदादि० आत्मने० : लट् आँस्ते, आँसाथे, आँसाते; आँस्महे, आँसते; लेट् आँसते; वि० लि० आँसीत; लोट् प्र० पु० एक० आँस्ताम्, म० पु० बहु० आँध्वम्; शानजन्त आसानं और आँसीन। लङ् प्र० पु० बहु० आँसत। लिट् आसांचक्रे (ब्रा०)। लुङ् आसिष्ट (ब्रा०)। लृट् आसिष्यति, आसिष्यते (ब्रा०)। क्तान्त आसितं (ब्रा०)। क्त्वान्त आसित्वा (ब्रा०)। तुम० आँसितुम् (ब्रा०)। ण्यन्त आसयति (ब्रा०)।

इ जाना अदादि० : लट् एँति; यँन्ति; आत्मने० उ० पु० एक० इये, प्र० पु० द्वि० इयाते, उ० पु० बहु० ईमहे; लेट् अँया, अँयसि और अँयस्, अँयति और अँयत्; अँयाम, अँयन्; लु० लो० प्र० पु० बहु० यँन्; वि० लि० इयाम्, इयात्; इयाम; लोट् इहि, एँतु; इतम्, इताम्; इतं

और एत, इतन, यन्तु ; शत्रन्त यन्त्, शानजन्त इयान। लङ् आयम्, ऐस्, ऐत्; ऐतम्, ऐताम्; ऐत, आयन् ; आत्मने० प्र० पु० बहु० आयत। स्वादि० : अयति, अयते ; लु० लो० अयन्त ; लोट् प्र० पु० द्वि० अयताम्, बहु० अयन्ताम्। स्वादि० लट् इनोति; इन्विरे। लङ् ऐनोस्, ऐनोत्।

लिट् इयेथ और इयथ, इयाय; ईययुर्, ईयतुर्; ईयुर् ; क्वस्वन्त ईयिवांस्। लिट् प्र० ऐयेस्। लृट् एष्यति ; अयिष्यति (ब्रा०); लुट् एता (ब्रा०)। क्तान्त इत। क्त्वाद्यन्त इत्वा, -ईत्य। तुम० एतुम् (ब्रा०); एतवे, एतवै, इत्यै, इयध्यै, अयसे; एतोस्।

इध् *प्रज्वलित करना* रुधादि० आत्मने० : लट् इन्द्धे; इन्धते और इन्धते; लेट् इनधते ; लोट् इन्धाम् (=इन्द्धाम्) ; इन्द्धम् (=इन्द्-ध्वम्), इन्धताम् ; शानजन्त इन्धान। लङ् ऐन्ध। लिट् ईधे; ईधिरे। लुङ्— लेट् इधते; वि०लि० इधीमहि ; शानजन्त इधान। क० वा० इध्यते; लोट् इध्यस्व ; शानजन्त इध्यमान ; क्तान्त इद्ध। तुम०-इधम् ; ईधे। अनुनासिकयुक्त इन्ध् से ब्रा० में इष्-लुङ् बनता है निर्दे० ऐन्धिष्ट; वि० लि० इन्धिषीय।

इन्व् *जाना* स्वादि० परस्मै० (=स्वादि० इ-नु+अ) : लट् इन्वसि, इन्वति; इन्वथस्, इन्वतस्। लेट् इन्वात् ; लोट् इन्व, इन्वतु; इन्वतम्, इन्वताम् ; शत्रन्त इन्वन्त्।

१. इष् चाहना तुदादि० : लट् इच्छति, इच्छते; लेट् इच्छात् ; लु० लो० इच्छस् ; इच्छन्त ; वि० लि० इच्छेत् ; इच्छेत ; लोट् इच्छ, इच्छतु ; इच्छत; इच्छस्व, इच्छताम् ; शत्रन्त इच्छन्त् ; शानजन्त इच्छमान। लङ् ऐच्छत्। लिट् (ब्रा०) इयेष, ईषुर् ; ईषे, ईषिरे। लुङ् (ब्रा०) ऐषीत्; ऐषिषुर्। लृट् (ब्रा०) एषिष्यति, एषिष्यते। क्तान्त इष्ट। क्त्वाद्यन्त -ईष्य। तुम० एष्टुम् (ब्रा०); एष्टवै (ब्रा०)।

२. इष् भेजना **दिवादि०** : लट् इष्यति, इष्यते ; लोट् इष्यतम्; इष्यत ; शत्रन्त इष्यन्त् । **क्र्यादि०** : लट् इष्णाति ; शत्रन्त इष्णन्त्; शानजन्त इष्णानं । **तुदादि०** : लट् इषे ; लु० लो० इषन्त ; वि० लि० इषेम ; लङ् ऐषन्त । लिट् ईषथुर्, ईषुर् ; ईषे, ईषिरे । क्तान्त इषितं । क्त्वाद्यन्त -इष्य (ब्रा०) । तुम० इषध्यै । ण्यन्त इषयति, इषयते; तुम० इषयध्यै ।

ईक्ष् देखना **भ्वादि०** आत्मने० : लट् ईक्षे; शानजन्त ईक्षमाण । लङ् ऐक्षत; ऐक्षेताम् ; ऐक्षन्त । लिट् ईक्षांचक्रे (ब्रा०)। लुङ् इष् : ऐक्षिषि । लृट् ईक्षिष्यति, ईक्षिष्यते (ब्रा०) । क्तान्त ईक्षितं (ब्रा०) । कृत्य ईक्षेण्यं । क्त्वाद्यन्त ईक्षित्वा (ब्रा०) । ण्यन्त ईक्षयति, ईक्षयते ।

ईङ्ख् झूलना : ण्यन्त ईङ्खयति, ईङ्खयते ; लेट् ईङ्खयातै (अथर्व०), ईङ्खयाव है । लोट् ईङ्खय ; शत्रन्त ईङ्खयन्त् क्तान्त ईङ्खितं ।

ईड् स्तुति करना **अदादि०** आत्मने० : लट् उ० पु० ईळे, प्र० पु० ईट्टे; ईळते ; लेट् ईळामहै और ईळामहे ; लु० लो० ईलत (प्र० पु० बहु०) ; वि० लि० ईळीत ; लोट् ईळिष्व ; शानजन्त ईळान । लिट् ईळे (प्र० पु० एक०) । क्तान्त ईळितं । कृत्य ईड्य ईळेन्य ।

ईर् प्रेरित करना **अदादि०** : लट् ईर्ते ; ईरते ; लेट् ईरत्; लोट् ईर्ष्व; ईरायाम्; ईर्ध्वम्, ईरताम्; शानजन्त ईराण । लङ् ऐरम्, ऐरत्, म० पु० द्विव० ऐरतम्; आत्मने० ऐरत (प्र० पु० बहु०) । क्तान्त ईर्ण (ब्रा०) । ण्यन्त ईरयति; लेट् ईरयामहे; लु० लो० ईरयन्त; लोट् ईरय, ईरयतम् ; ईरयस्व ; ईरयध्वम् ; शत्रन्त ईरयन्त् । लङ् ऐरयत्; ऐरयत; तुम० ईरयध्यै । क्तान्त ईरितं ।

ईश् स्वामी होना **अदादि०** आत्मने० : लट् उ० पु० ईशे, म० पु० ईक्षे और ईशिषे; प्र० पु० ईष्टे, ईशे और (केवल एक बार) ईशते; ईशाथे; ईश्महे, ईशिध्वे, ईशते ; लु० लो० ईशत (प्र० पु० एक०) ; वि० लि० ईशीय, ईशीत ; शानजन्त ईशान । लिट् ईशिरे; क्वस्वन्त ईशानं ।

ईष् चलना भ्वादि० : लट् ई॑षति, ई॑षते; ऐ॑षति ; लु० लो० ऐ॑षस् ; लोट् ई॑षतु, ऐ॑षतु ; शत्रन्त ऐ॑षन्त्; शानजन्त ई॑षमाण। लिट् ईषे॑ (उ० प्र० और प्र० पु०)। क्तान्त -ईषित।

१. उक्ष् छिड़कना तुदादि० : लट् उक्ष॑ति, उक्ष॑ते ; लोट् उक्ष॑तम्, उक्ष॑त; उक्षे॑थाम्; शानजन्त उक्ष॑माण। लुङ् इष् : औ॑क्षिषम् (ब्रा०)। लृट् उक्षिष्य॑ति (ब्रा०)। क० वा० उक्ष्य॑ते (ब्रा०)। क्तान्त उक्षित॑। कृत्य -उ॑क्ष्य।

२. उक्ष् (=वक्ष्) बढ़ना भ्वादि० और तुदादि० : शत्रन्त उ॑क्षन्त् ; शानजन्त उक्ष॑माण। लङ् औक्ष॑त्। लुङ् स् : औक्षी॑स्। क्तान्त उक्षित॑। ण्यन्त उक्ष॑यते।

उच् प्रसन्न होना दिवादि० परस्मै० : लट् उच्यसि। लिट् उवो॑चिथ, उवो॑च; ऊचिषे॑, ऊचे॑; क्वस्वन्त ओकिर्वा॑स्, ऊचु॑ष्। क्तान्त उचित॑।

उद् गीला करना रुधादि० : लट् उन॑क्ति; उन्द॑न्ति; उन्द॑ते (प्र० पु० बहु०)। लोट् उन्धि॑ (=उन्द्धि॑); उन॑त्त; शत्रन्त उन्द॑न्त्। तुदादि० परस्मै० लट् उन्द॑ति (ब्रा०)। लङ् औ॑नत्। लिट् ऊदु॑र्। क० वा० उद्य॑ते ; क्तान्त उत्त॑ (ब्रा०)। कृत्य० -उद्य ब्रा०)।

उब्ज् विवश करना तुदादि० परस्मै० : लट् उब्ज॑ति ; लोट् उब्ज, उब्ज॑तु; उब्ज॑तम् ; उब्ज॑न्तु ; शत्रन्त उब्ज॑न्त्। लङ् म० पु० उब्जस्, प्र० पु० औ॑ब्जत्। क्तान्त उब्जित॑। कृत्य० -उब्ज्य (ब्रा०)।

उभ् अवरुद्ध करना रुधादि० परस्मै० : लङ् उनप् (म० पु० एक०), औ॑म्भन् (तै० सं०)। तुदादि० परस्मै० : लोट् उम्भत (म० पु० बहु०); लङ् औ॑म्भत्। क्र्यादि० परस्मै० : लङ् उम्नास्, औ॑म्नात्। क्तान्त उब्ध॑।

उष् जलाना भ्वादि० परस्मै० : लट् ओ॑षति ; लु० लो० ओ॑षस् ; लोट् ओ॑ष और ओ॑षतात्, ओ॑षतु ; ओ॑षतम् ; शत्रन्त ओ॑षन्त्।

क्र्यादि॰ परस्मै॰ : शत्रन्त उर्ष्णन्त् ; लङ् उर्णन् । लिट् उवोष (ब्रा॰) । लुङ् औषीत् (ब्रा॰) । क्तान्त उष्ट (ब्रा॰) ।

१. ऊह् हटाना **भ्वादि॰** : लट् ऊहति ; लोट् ऊह । लङ् औहत् ; औहत, औहन् ; आत्मने॰ औहत (प्र॰ पु॰ एक॰) । लुङ् औहीत् (ब्रा॰) ; वि॰ लि॰ उह्यात् (ब्रा॰) । क्तान्त ऊढ (ब्रा॰) । कृत्य -ऊह्य और उह्य (ब्रा॰) । तुम॰ -ऊहितवै (ब्रा॰) ।

२. ऊह् *विचार करना* **भ्वादि॰** आत्मने॰ : लट् ओहते । **अदादि॰** आत्मने॰ : लट् ओहते (प्र॰ पु॰ बहु॰) ; शानजन्त ओहान और ओहान । लिट् ऊहे ; म॰ पु॰ द्विव॰ ऊह्याथे (=ऊहाथे ?) । लुङ् औहिष्ट ; शानजन्त ओहसान ।

ऋ *जाना* **तुदादि॰** परस्मै॰ : लट् ऋच्छति, (ऋच्छते ब्रा॰) ; लेट् ऋच्छात् ; लोट् ऋच्छतु ; ऋच्छन्तु । **जुहोत्यादि॰** परस्मै॰ : लट् इयर्मि, इयर्षि, इयर्ति ; लोट् इयर्त (म॰ पु॰ बहु॰) । **स्वादि॰** : लट् ऋणोमि, ऋणोति ; ऋण्वन्ति ; ऋण्वे ; ऋण्विरे ; लु॰ लो॰ ऋणोस् ; ऋण्वन् ; आत्मने॰ ऋणुत (प्र॰ पु॰ एक॰) ; लेट् ऋणवस् ; लोट् : आत्मने॰ ऋण्वताम् (प्र॰ पु॰ बहु॰) ; शत्रन्त ऋण्वन्त् । लङ् ऋण्वन् । लिट् आरिथ, आर ; आरथुर्, आरुर् ; क्वस्वन्त आरिवांस् ; कानजन्त आराण । लुङ् धातु आर्त ; आरत ; लु॰ लो॰ अर्त (आत्मने॰ प॰ पु॰ एक॰) ; वि॰ लि॰ अर्यात् (तै॰ सं॰) ; अरीत ; शानजन्त अराण ; अ : अरम्, आरत् ; आरत, आरन् ; आत्मने॰ आरत (प्र॰ पु॰ एक॰) ; अरन्त ; लेट् अराम ; लु॰ लो॰ अरम् ; अरन् ; आत्मने॰ अरामहि, अरन्त ; लोट् अरतम्, अरताम् । लृट् अरिष्यति (ब्रा॰) । क्तान्त ऋत । क्त्वाद्यन्त ऋत्वा, -ऋत्य । ण्यन्त अर्पयति । लुङ् साभ्यास : अर्पिपम् ; क्तान्त : अर्पित, अर्पित । क्त्वाद्यन्त -अर्प्य, अर्पयित्वा (अथर्व॰) । यङ्लुगन्त अलर्षि, अलर्ति ।

ऋज् *मार्गनिर्देश करना* **तुदादि०** : लट् ऋञ्जति, ऋञ्जते ; लोट् ऋञ्जत ; शत्रन्त ऋञ्जन्त् । **रुधादि०** आत्मने० : लट् ऋञ्जे ; ऋञ्जति (प्र० पु० बहु०) ; **दिवादि०** : लट ऋज्यते ; शत्रन्त ऋज्यन्त् । **भ्वादि०** : लट् अर्जति (ब्रा०) । लुङ् शानजन्त ऋञ्जसानं । तुम० ऋञ्जसे ।

ऋद् *क्षुभित करना* **तुदादि०** परस्मै० : लोट् ऋदन्तु । लङ् आर्दन् । **भ्वादि०** : लट् अर्दति (अथर्व०) । ण्यन्त अर्दयति; लेट् अर्दयाति ।

ऋध् *समृद्ध होना, बढना, फूलना* **स्वादि०** परस्मै० : लट् ऋध्नोति ; लङ् आर्ध्नोत् । **दिवादि०** : लट् ऋध्यति, ऋध्यते ; लोट् ऋध्यताम् । **रुधादि०** परस्मै० : लेट् ऋणधत् ; वि० लि० ऋध्याम् ; शत्रन्त ऋन्धन्त् । लिट् आनर्ध (का०) ; आनृधुर् ; आनृधे । लुङ् धातु : आर्धन् (ब्रा०); लेट् : ऋधत् ; आत्मने० ऋधाथे (म० पु० द्वि०) ; वि० लि० : ऋध्याम्, ऋध्यास्, ऋध्याम; ऋधीमहि ; आशी० ऋध्यासम् ; शत्रन्त ऋधन्त् ; अ : वि०लि० ऋधेत्, ऋधेम; इष् : आर्धिष्ट (ब्रा०) । लृट् अर्धिष्यते (ब्रा०) ; लुट् अर्धिता (ब्रा०) । क० वा० ऋध्यते ; लोट् ऋध्यताम्; क्तान्त ऋद्ध । कृत्य अर्ध्य । ण्यन्त अर्धयति । सन्नन्त ईर्त्सति; शत्रन्त ईर्त्सन्त् ।

ऋप् *वेग से जाना* **भ्वादि०** : अर्षति, अर्षते ; लेट् अर्षात् ; लु० लो० अर्षत्; लोट् अर्ष, अर्षतु; अर्षत, अर्षन्तु ; शत्रन्त अर्षन्त् । **तुदादि०** परस्मै० : लट् ऋषति ; शत्रन्त ऋषन्त् । क्तान्त ऋष्ट ।

एज् *गतिमान् होना* **भ्वादि०** परस्मै० : लट् एजति ; लेट् एजाति और एजात् ; लोट् एजतु ; शत्रन्त एजन्त् । लङ ऐजत् । ण्यन्त एजयति (ब्रा०) ।

एध् *बढना* **भ्वादि** आत्मने० : लट् एधते (ब्रा०) ; लोट् एधस्व, एधताम् (ब्रा०) । लिट् एधांचक्रिरे । लुङ् इष् : वि०लि० एधिषीय ।

कन्, का *प्रसन्न होना* **दिवादि०** : शानजन्त कायमान । लिट् चके ;

लेट् चाकनस्, चाकनत्; चाकनाम ; लु॰ लो॰ चाकनन्त; वि॰ लि॰ चाकन्यात् ; लोट् चाकन्धि, चाकन्तु; कानजन्त चकान ; लिट्प्र॰ चाकन् (म॰ पु॰ एक॰)। लुङ् अकानिषम्; लेट् कानिषस्।

कम् प्रेम करना: कानजन्त चकमान। लुङ् साभ्यास: अचीकमत (ब्रा॰)। लृट् कमिष्यते (ब्रा॰): लुट् कमिता (ब्रा॰)। ण्यन्त कामयते ; लेट् कामयासे ; शानजन्त कामयमान।

काश् प्रकट होना मानना भ्वादि॰ : लट् काशते (ब्रा॰)। यङ्लुगन्त चाकशीमि, चाकशीति ; चाकश्यते (ब्रा॰); लेट् चाकशान् (अथर्व॰); शत्रन्त चाकशत्। लङ् अचाकशम्। ण्यन्त काशयति।

कुप् कुपित होना दिवादि॰ : शत्रन्त कुप्यन्त्। क्तान्त कुपित। ण्यन्त कोपयति।

१. कृ बनाना स्वादि॰ : लट् कृणोमि, कृणोषि, कृणोति; कृणुथस्, कृणुतस्; कृण्मसि, कृणुथ, कृण्वन्ति; आत्मने॰ कृण्वे, कृणुषे, कृणुते; कृण्महे, कृण्वते ; लु॰ लो॰ कृण्वत (प्र॰ पु॰ बहु॰) ; लेट् कृणवा, कृणवस्, कृणवत्; कृणवाव; कृणवाम, कृणवाम (वा॰ सं॰), कृणवन्; आत्मने॰ कृणवै, कृणवसे, कृणवते; कृणवावहै, कृण्वैते (कृणवैते के स्थान पर); कृणवामहै, कृणवन्त ; वि॰ लि॰ कृण्वीत ; लोट् कृणु, कृणुहि और कृणुतात्, कृणोतु; कृणुतम्, कृणुताम् ; कृणुत, कृणोत और कृणोतन, कृण्वन्तु; आत्मने॰ कृणुष्व, कृणुताम्; कृण्वाथाम्; कृणुध्वम् ; शत्रन्त कृण्वन्त्; शानजन्त कृण्वान। लङ् अकृणवम्, अकृणोस्, अकृणोत् ; अकृणुतम्: अकृणुत, अकृणोत, और अकृणोतन, अकृण्वन्; आत्मने॰ अकृणुत (प्र॰ पु॰ एक॰); अकृणुध्वम्, अकृण्वत।

तनादि॰ : करोमि, करोति; कुर्मस्, कुर्वन्ति; कुर्वे, कुरुते; कुर्वते ; लेट् करवत्, करवात् ; लोट् कुरु, करोतु; आत्मने॰ कुर्वताम्। शत्रन्त कुर्वन्त्; शानजन्त कुर्वाण। लङ् अकरवम्, अकरोत् ; अकुर्वन् ; आत्मने॰ अकुरुथास्, अकुरुत; अकुर्वत।

अदादि० : लट् कर्षि; कृर्थस्; कृर्थ; आत्मने० कृषे। लिट् चकर, चकर्थ, चकार; चक्रथुर्, चक्रतुर्; चकृम, चक्र, चक्रुर्; आत्मने० चक्रे, चकृषे, चक्रे; चक्राथे, चक्राते; चक्रिरे; वि० लि० चक्रियास्; क्वस्वन्त चकृवांस्; कानजन्त चक्राणं। लिट्प्र० चकरम्, अचकत्; अचाकिरन्। लुङ् धातु : अकरम्, अकर्, अकर्; कर्तम्, अकर्तान्; अकर्म, अकर्त, अक्रन्; आत्मने० अक्रि, अकृथास्, अकृत; अक्रत; लु० लो० करम्, कर्; लेट् कराणि, करसि और करस्, करति और करत्; करथस्, करतस्; कराम, करन्ति और करन्; आत्मने० करते, करते; करामहै; वि०लि० क्रियाम; आशी० क्रियास्म; लोट् कृधि; कृतम् और कर्तम्; कृत और कर्तन; आत्मने० कृष्व; कृध्वम्; शत्रन्त क्रन्त्; शानजन्त क्राणं। लुङ् अ : अकरस्, अकरत्; लोट् कर; करतम्, करताम्; स् : अकार्षीत् (ब्रा०); आत्मने० अकृषि (ब्रा०)। लृट् करिष्यति, करिष्यते (ब्रा०), लेट् करिष्यास्। लृङ् अकरिष्यत् (ब्रा०)। क०वा० क्रियते; शानजन्त क्रियमाण; लुङ् अकारि; क्तान्त कृत। कृत्य० कर्त्व। क्त्वान्त कृत्वा, कृत्वी, कृत्वाय। तुम० कर्तवे, कर्तवै; कर्तोस्; कर्तुम्। ण्यन्त कारयति, कारयते (ब्रा०)। सन्नन्त चिकीर्षति। यङ्लुक् शत्रन्त करिक्रत् और चरिक्रत्।

२. कृ याद्गार मनाना लुङ् स्: अकार्षम्; इष् : अकारिषम्, अकारीत्। यङ्लुगन्त चर्कर्मि; लेट् चर्किरन्; लुङ् चर्कृषे (प्र० पु० एक०); कृत्य चर्कृत्य।

कृत् काटना तुदादि० परस्मै०: लट् कृन्तति; लु० लो० कृन्तत्; लोट् कृन्त; शत्रन्त कृन्तन्त्। लङ् अकृन्तत्। लिट् चकर्तिथ, चकर्त। लुङ् अ : अकृतस्; शत्रन्त कृतन्त्; साभ्यास : अचीकृतत् (ब्रा०)। लृट् कर्त्स्यामि। क० वा० कृत्यते। क्तान्त कृत्त। क्त्वाद्यन्त –कृत्य।

कृप् विलाप करना भ्वादि० आत्मने० : लट् कृपते; शानजन्त कृपमाण। लङ् अकृपन्त। लिट् चकृपे (का०)। लिट् प्र० चकृपन्त। लुङ् धातु : अकृप्रन्; इष् : अक्रपिष्ट। ण्यन्त शत्रन्त कृपयन्त्; लङ् अकृपयत्।

कृश् कृश होना **दिवादि॰** परस्मै॰ : लट् कृश्यति (ब्रा॰)। लिट् चकर्श।
क्तान्त कृशित (ब्रा॰)। ण्यन्त कर्शयति।

कृष् हल चलाना **भ्वादि॰** : लट् कर्षति, कर्षते (ब्रा॰) ; लु॰ लो॰ कर्षत् ; लोट् कर्ष। **तुदादि॰** : लट् कृषति ; लोट् कृषतु; कृषन्तु; आत्मने॰ कृषस्व; शत्रन्त कृषन्त्। लिट् चकर्ष (ब्रा॰)। लुङ् साभ्यास : अचीकृषम्; स: अक्रुक्षत् (ब्रा॰)। लृट् क्रक्ष्ये (ब्रा॰)। क॰ वा॰ कृष्यते। क्तान्त कृष्ट। क्त्वाद्यन्त कृष्ट्वा (ब्रा॰)। यङ्लुगन्त प्र॰पु॰बहु॰ चर्कृषति; लेट् चाकृषत्; शत्रन्त चर्कृषत् ; लङ् अचर्कृषुर्।

कॄ बिखेरना **तुदादि॰** परस्मै॰ : लट् किरति, किरते; लेट् किरासि ; लोट् किर, किरतु। लङ् अकिरत्। इष्-लुङ् : लेट् कारिषत्। क॰ वा॰ कीर्यते (ब्रा॰)। क्तान्त कीर्ण (ब्रा॰)।

क्लृप् के अनुरूप होना **भ्वादि॰** : लट् कल्पते; लोट् कल्पस्व; शानजन्त कल्पमान। लङ् अकल्पत, अकल्पन्त। लिट् चाक्लृपुर्; चाक्लृप्रे। लुङ् साभ्यास : अचीक्लृपत्; लेट् चीक्लृपाति। लृट् कल्प्स्यते (ब्रा॰)। क्तान्त क्लृप्त। ण्यन्त कल्पयति; लेट् कल्पयाति; कल्पयावहै; लोट् कल्पय, कल्पयतु; कल्पयस्व; शत्रन्त कल्पयन्त्; लङ् अकल्पयत्। सन्नन्त चिकल्पयिषति (ब्रा॰) ; क्त्वान्त कल्पयित्वा।

क्रन्द् चिल्लाना **भ्वादि॰** परस्मै॰ : लट् क्रन्दति ; लु॰ लो॰ क्रन्दत् ; लोट् क्रन्द, क्रन्दतु ; शत्रन्त क्रन्दन्त्। लङ् अक्रन्दस्, क्रन्दत्। लिट् चक्रदे। लिट् प्र॰ चक्रदस्, चक्रदत्। लुङ् अ : लु॰ लो॰ क्रदस्; साभ्यास : अचिक्रदस्, अचिक्रदत् ; अचिक्रदन् ; लु॰ लो॰ चिक्रदस्; स् : अक्रान् (प्र और म॰ पु॰ एक॰)। ण्यन्त क्रन्दयति। यङ्लुगन्त कनिक्रन्ति (प्र॰ पु॰ एक॰ =कनिक्रन्त् -ति) ; शत्रन्त कनिक्रदत्।

क्रम् डग भरना **भ्वादि॰** परस्मै॰ : लट् क्रामति ; वि॰लि॰ क्रामेम; लोट् क्राम; शत्रन्त क्रामन्त् ; लङ् अक्रामत् ; आत्मने॰ क्रमते ; लेट् क्रमाम ; लोट्

क्रंमस्व । लिट् चक्राम, चक्रमु र्; चक्रमे ; चक्रमाथे ; कानजन्त चक्रमाणं । लिट्प्र० चंक्रमन्त ; लुङ् धातु : अंक्रन् ; अंक्रमुर्; लु० लो० क्रमुर्; अ : अंक्रमत्, अंक्रमन्; स् : आत्मने० अंक्रंस्त; अंक्रंसत; लेट् क्रंसते; इष् : अंक्रमिषम् और अंक्रमीम्, अंक्रमीस्, अंक्रमीत्; क्रमिष्ट (प्र० पु० एक०); लु० लो० क्रमीस् ; लोट् क्रमिष्टंम् । लृट् क्रंस्यंते, क्रमिष्यंति, क्रमिष्यंते (ब्रा०) ; क्तान्त क्रान्तं । क्त्वाद्यन्त क्रान्त्वा (ब्रा०),—क्रम्य । तुम० —क्रमे ; क्रमितुम् ब्रा०); क्रमितोस् (ब्रा०) । ण्यन्त क्रामंयति (ब्रा०) । यङन्त लोट् चङ्क्रमत (म० पु० बहु०); चङ्क्रम्यते (ब्रा०) ।

क्री *खरीदना* क्रयादिगण : लट् क्रीणाति; क्रीणीते; लेट् क्रीणादहै । लङ् अंक्रीणन् । लृट् क्रेष्यंति, क्रेष्यंते (ब्रा०) । क० वा० क्रीयंते (ब्रा०) ; क्तान्त क्रीतं । क्त्वाद्यन्त क्रीत्वा,—क्रीय (ब्रा०) ।

क्रुध् *क्रुद्ध होना* **दिवादि०** परस्मै० : लट् क्रुध्यति । लिट् चुक्रोध (ब्रा०) । लुङ् साभ्यास : अंचुक्रुधत् ; लेट् चुक्रुधाम; लु० लो० चुक्रुधम्; अ : लु० लो० क्रुधस् । क्तान्त क्रुद्ध । ण्यन्त क्रोधंयति ।

क्रुश् *चिल्लाना* **भ्वादि०** : लट् क्रोशति ; लोट् क्रोशतु ; शत्रन्त क्रोशन्त्; शानजन्त क्रोशमान । लुङ् स् : अंक्रुक्षत् । क्तान्त क्रुष्टं (ब्रा०) ।

क्षद् *विभक्त करना* **भ्वादि०** आत्मने० : लट् क्षदामहे । लिट् चक्षदे । कानजन्त चक्षदानं । तुम० क्षदसे ।

क्षम् *सहना* **भ्वादि०** आत्मने० : वि०लि० क्षमेत ; लोट् क्षमध्वम् । शानजन्त क्षममाण । लिट् चक्षमे (ब्रा०); वि०लि० चक्षमीथास् ।

क्षर् *बहना* **भ्वादि०** परस्मै० : लट् क्षरति ; लु० लो० क्षरत् ; लोट् क्षर; क्षरन्तु ; शत्रन्त क्षरन्त् । लुङ् अंक्षरत् ; अंक्षरन् । लुङ् स् : अंक्षार् । क्तान्त क्षरितं (ब्रा०) । तुम० क्षरध्यै । ण्यन्त क्षारंयति (ब्रा०) ।

१. क्षि *अधिपति होना* **अदादि०** परस्मै० : लट् क्षेषि, क्षेति; क्षितंस्; क्षियन्ति ; लेट् क्षंयस्, क्षंयत्; क्षंयाम ; शत्रन्त क्षियन्त् । **भ्वादि०**

परस्मै० : लट् क्षयति ; वि०लि० क्षयेम (अथर्व०) ; शत्रन्त क्षयन्त् । दिवादि० परस्मै० : लट् क्षियति ; वि०लि० क्षियेम ; लोट् क्षिय । लुङ् स् : लेट् क्षेषत् । लृट् शत्रन्त क्षेष्यन्त् । णिजन्त लोट् क्षयय ; लु० लो० क्षेपयत् ।

२. क्षि नष्ट करना क्र्यादि० : लट् क्षिणाति ; क्षिणन्ति ; लु० लो० क्षिणाम् । लङ् अक्षिणास् । स्वादि० : लट् क्षिणोमि । दिवादि० : आत्मने० : लट् क्षीयते ; क्षीयन्ते । लुङ् स् : लु० लो० : क्षेष्ट (अथर्व०) । क० वा० क्षीयते ; शानजन्त क्षीयमाण ; क्तान्त क्षित ; क्षीर्ण (अथर्व०) । क्त्वाद्यन्त क्षीय (ब्रा०) । तुम०-क्षेतोस् (ब्रा०) । सन्नन्त चिक्षीषति (ब्रा०) ।

क्षिप् फेंकना तुदादि० परस्मै० : क्षिपति ; लु० लो० क्षिपत् ; लोट् क्षिप ; शत्रन्त क्षिपन्त् । लुङ् साभ्यास : लु० लो० चिक्षिपस् ; क्तान्त क्षिप्त । तुम० -क्षेप्तोस् (ब्रा०) ।

क्ष्णु तेज करना अदादि० : लट् क्ष्णौमि ; शानजन्त क्ष्णुवान । क्तान्त क्ष्णुत (ब्रा०) । क्त्वाद्यन्त -क्ष्णुत्य (ब्रा०) ।

खन्, खा खोदना भ्वादि० : लट् खनति ; लेट् खनाम ; वि०लि० खनेम ; शत्रन्त खनन्त् । लङ् अखनत् ; अखनन्त । लिट् चखान ; चख्नुर् । लृट् शत्रन्त खनिष्यन्त् । क० वा० खायते (ब्रा०) ; क्तान्त खात । क्त्वाद्यन्त खात्वा (ब्रा०) ; खात्वी (तै० सं०) ; -खाय (ब्रा०) । तुम० खनितुम् ।

खाद् चबाना भ्वादि० परस्मै० : लट् खादति ; लोट् खाद ; शत्रन्त खादन्त् । लिट् चखाद । क्तान्त खादित (ब्रा०) । क्त्वान्त खादित्वा (ब्रा०) ।

खिद् फाड़ना तुदादि० : लट् खिदति ; लु० लो० खिदत् ; वि०लि० खिदेत् । लोट् खिद ; खिदन्त् । लङ् अखिदत् । क्वस्वन्त खिद्वांस् । क्त्वाद्यन्त -खिद्य (ब्रा०) ।

ख्या देखना : लिट् चख्युर् । लुङ अ : अख्यत्; लु० लो० ख्यत्; लोट् ख्यतम् ; ख्यत । लृट् ख्यास्यति (ब्रा०) । क० वा० ख्यायते (ब्रा०) ; क्तान्त ख्यात । कृत्य -ख्येय । क्त्वाद्यन्त -ख्याय । तुम० ख्यातुम् (ब्रा०); -ख्यै । ण्यन्त ख्यापयति, ख्यापयते, (ब्रा०) ।

गम् जाना भ्वादि० : लट् गच्छति, गच्छते ; लेट् गच्छासि और गच्छास्, गच्छाति और गच्छात्; गच्छाय, गच्छान्; आत्मने० गच्छै ; वि०लि० गच्छेत् ; गच्छेम ; लोट् गच्छ और गच्छतात्, गच्छतु और गच्छतात्; गच्छतम्, गच्छताम् ; गच्छत, गच्छन्तु; आत्मने० गच्छस्व (अथर्व०), गच्छताम् ; गच्छध्वम् ; शत्रन्त गच्छन्त् ; शानजन्त गच्छमान । लङ अगच्छत् ; अगच्छन्त । लिट् जगाम, जगन्थ, जगाम; जग्मथुर्, जग्मतुर्; जगन्म, जग्मुर्; जग्मे ; वि०लि० जगम्याम्, जगम्यात्; जगम्यातम्; जगम्युर् । क्वस्वन्त जगन्वांस्, जग्मिवांस्; कानजन्त जग्मान । आमन्त लिट् गमयाञ्चकार(अथर्व०) । लिट्प्र० अजगन् (म० पु० एक०); अजगन्त; आत्मने० अजग्मिरन् । लुङ धातु: अगमन्, अगन् (प्र० और म०पु०एक०); अगन्म, अग्मन्; अगयात्, अगत; गन्वहि; अगन्महि, अग्मत; लेट् गमानि, गमस्, गमत्; गमथस्, गमतस्; गमाम, गमन्ति; लु० लो० गन् ; वि०लि० गम्यास्; गमीय ब्रा०); आशी० प्र० पु० एक० गम्यास्; लोट् गधि और गहि, गन्तु; गतम् और गन्तम्, गन्ताम् ; गत, गन्त और गन्तन, गमन्तु; शत्रन्त गमन्त् ; अ : अगमत्, अगमन् ; लेट् गमातस् ; गमाथ ; लु० लो० गमन् ; गमेयम्, गमेस्, गमेत्; गमेम ; गमेमहि ; अभ्यास : अजीगमम्, अजीगमत् ; स् : अगस्महि; इष् : गमिष्टम् ; गमिषीय (वा० सं०) । लृट् गमिष्यति (अथर्व०) । लुट् गन्ता (ब्रा०) । क० वा० गम्यते; लुङ अगामि । क्तान्त गत । क्त्वाद्यन्त गत्वा, गत्वाय, गत्वी, -गत्य । तुम० गन्तवे, गन्तवै, गमध्यै, गमध्ये (तै० सं०); गन्तोस्, -गमस् । ण्यन्त गमयति और गामयति । सन्नन्त जिगांसति ; जिगमिषति, जिगमिषते (ब्रा०) । यङ्लुगन्त गनीगन्ति, शत्रन्त गनिग्मत् ।

१. गा *जाना* **जुहोत्यादि०** परस्मै० : लट् जिगासि, जिगाति ; लु० लो० जिगात् ; लोट् जिगातन् ; जिगात ; शत्रन्त जिगत् । लङ् अजिगात्। लिट् वि०लि० जगायात्। लुङ् धातु : अगाम्, अगास्, अगात्; अगातम्, अगाताम्; अगाम, अगात, अगुर्; लेट् : गानि, गास्, गात्; गाम; लु० लो० : गान्; गाम, गुर्; लोट् गात और गातन; स् : लु० लो० गेषम् (वा० सं०); गेष्म (अथर्व०)। सन्नन्त जीगास (ब्रा० वे०) । तुम० गातवे ।

२. गा *गाना* **दिवादि०** : लट् गायसि, गायति; गायन्ति; आत्मने० गाये ; लु० लो० गायत् ; लोट् गाय; गायत, गायन्तु ; शत्रन्त गायन्त् । लङ् अगायत्। लिट् जगौ (ब्रा०) । लुङ स् : लु० लो० गासि (उ० पु० एक०); सिष् : अगासिषुर् ; लेट् गासिषत्। लृट् गास्यति (ब्रा०) । क० वा० शानजन्त गीयमान । क्तान्त गीत । क्त्वाद्यन्त गीत्वा (ब्रा०); -गाय (ब्रा०) और -गीय (ब्रा०)। तुम० गातुम्(ब्रा०) । ण्यन्त गापयति, गापयते (ब्रा०) । सन्नन्त जिगासति (ब्रा०) ।

गाह् *डुबकी लगाना* **भ्वादि०** आत्मने० : लट् गाहसे, गाहते ; वि० लि० गाहेमहि ; लोट् गाहयाम् ; शानजन्त गाहमान। लङ् अगाहयास् । यङन्त जङ्गहे ।

गुर् *अभिनन्दन करना* **तुदादि०** : लट्-लोट् गुरस्व । लिट्-लेट् जुगुरत् ; वि०लि० जुगुर्यास्, जुगुर्यात्। लुङ्-धातु : गूर्त (प्र० पु० एक० आत्मने०)। क्तान्त गूर्त । क्त्वाद्यन्त -गूर्य ।

गुह् *छिपाना* **भ्वादि०** : लट् गूहति, गूहते ; लु० लो० गूहस्; गूहयास्; लोट् गूहत ; शत्रन्त गूहन्त्; शानजन्त गूहमान। लङ् अगूहत्। लुङ्-अ : गुहस् ; लु० लो० गुहस् ; शत्रन्त गुहन्त् ; शानजन्त गुहमान; स : अघुक्षत्। क० वा० गुह्यते ; शानजन्त गुह्यमान । क्तान्त गूढ। कृत्य गुह्य ,गोह्य। क्त्वाद्यन्त गूढ्वी। सन्नन्त जुगुक्षति।

१. गृ गाना क्र्यादि० : लट् गृणामि, गृणाति; गृणीतस् ; गृणीमसि, गृणन्ति; आत्मने० गृणे, गृणीषे, गृणीते (और गृणे), गृणीमहे ; लृ० लो० गृणीत (प्र० पु० एक० आत्मने०) ; लोट् गृणीहि, गृणातु; गृणीतम्, गृणीतात्; गृणीत, गृणन्तु: शत्रन्त गृणन्त्; शानजन्त गृणान । क्त्वाचन्त गीर्य (ब्रा०) । तुम० गृणीषणि ।

२. गृ जागना : लुङ् चान्यास: म० एव प्र० पु० अजीगर् ; लोट् जिगृतम्; जिगृत । यङ्लुगन्त जागर्ति; जाग्रति ; लेट् जागराति (अथर्व०), जागरत् ; वि०लि० जाग्रियाम (वा० सं०), जागृयाम (तै० सं०); लोट् जागृहि और जागृतात् ; जागृतम्, जागृताम् ; शत्रन्त जाग्रत् । लङ् अजागर् । लिट् उ० पु० एक० जागर, प्र० पु० जागार । क्वसन्त जागृवांस् ; लृट् जागरिष्यति, जागरिष्यते (ब्रा०); क्तान्त जागरित (ब्रा०) । ण्यन्त जागरयति (ब्रा०) ।

गृध् लालची होना दिवादि० : परस्मै० शत्रन्त गृध्यन्त् । लिट् जागृधुर् । लुङ् अ : अगृधत् ; लृ० लो० गृधस् ; गृधत् ।

गॄ निगलना तुदादि० परस्मै० : लट् गिरति । लिट् जगार । लुङ् धातु : लेट् गरत्, गरन्; चान्यास : अजीगर् (म० पु० एक०); इष् : लृ० लो० गारीत् । लृट् गरिष्यति (ब्रा०) । क्तान्त गीर्ण । क्त्वाचन्त गीर्य (अथर्व०) । यङ्-यङ्लुगन्त लेट् जल्गुलस् ; शानजन्त जर्गुराण ।

ग्रभ् पकड़ना क्र्यादि० : लट् गृभ्णामि, गृभ्णाति; गृभ्णन्ति; गृभ्णे; गृभ्णते; लेट् गृभ्णास्; लृ० लो० गृभ्णीत (प्र० पु० एक०) ; लोट् गृभ्णीहि । लङ् अगृभ्णास्, अगृभ्णात्; अगृभ्णन् ; अगृभ्णत (प्र० पु० बहु० आत्मने०) । लिट् जग्रभ (उ० पु० एक०); जगृभ्युर् ; जगृभ्म, जगृभुर् ; आत्मने० जगृभ्रे और जगृभ्रिरे; वि०लि० जगृभ्यात्, क्वसन्त जगृभ्वांस्; लिट् प्र० अजग्रभम्, अजग्रभीत् । लुङ् धातु : अग्रभम् ; अगृभ्रन् ; शानजन्त गृभाण; अ : अगृभम् ; चान्यास : अजिग्रभत् ; इष् : अग्रभीम् (तै० सं०), अग्रभीत्; अग्रभीष्म, अग्रभीषुर्; अगृभीषत (प्र० पु० बहु० आत्मने०); लृ० लो० ग्रभीष्ट (म० पु० बहु०) ।

क्तान्त **गृभीतं** । क्त्वाद्यन्त **गृभीत्वा, –गृभ्य** । तुम० **–ग्रभे, –गृभे** । ण्यन्त शत्रन्त **गृभयन्त्** ।

ग्रस् *निगलना* **भ्वादि०** आत्मने० : लट् **ग्रसते** ; वि०लि० **ग्रसेताम्** । लिट् वि०लि० **जग्रसीत** ; कानजन्त **जग्रसान** । क्तान्त **ग्रसित** ।

ग्रह् *पकड़ना* **क्र्यादि०** : **गृह्णामि, गृह्णाति; गृह्णन्ति; गृह्णे; गृह्णीमहे, गृह्णते** ; वि०लि० **गृह्णीयात्** ; लोट् **गृह्णाहि** (अथर्व०), **गृह्णीतात्** और **गृहाण; गृह्णातु ; गृह्णीतम्; गृह्णन्तु** ; शत्रन्त **गृह्णन्त्** ; शानजन्त **गृह्णान** । लङ् **अगृह्णात्, अगृह्णन्** । लिट् **जग्रह, जग्राह; जगृह्म, जगृहुर्; जगृहे** । लुङ् अ : लु० लो० **गृहामहि** ; इष् : **अग्रहीत्; अग्रहीष्ट** । लृट् **ग्रहीष्यति** (ब्रा०) ; लृङ् **अग्रहीष्यत्** (ब्रा०) **अग्रहैष्यत्** (ब्रा०) । क० वा० **गृह्यते** । क्तान्त **गृहीत** । क्त्वाद्यन्त **गृहीत्वा, –गृह्य** । तुम० **ग्रहीतवे** (ब्रा०) । **ग्रहीतोस्** (ब्रा०) । ण्यन्त **ग्राहयति** (ब्रा०) । सन्नन्त **जिघृक्षति, जिघृक्षते** (ब्रा०) ।

घस् *खाना* : लिट् **जघस, जघास** ; वि०लि० **जक्षीयात्** ; क्वस्वन्त **जक्षिवांस्** (अथर्व०) । लुङ् धातु : **अघस्** (म० और प्र० पु० एक०), **अघत्** (प्र० पु० एक०, ब्रा०) ; **अघस्ताम्** (प्र० पु० द्विव०, ब्रा०) ; **अघस्त** (म० पु० बहु०, ब्रा०), **अक्षन्**; लेट् **घसस्, घसत्** ; लोट् **घस्ताम्** (प्र० पु० द्विव०) ; स् : **अघास्** (म० पु० एक०) ; साभ्यास : **अजीघसत्** । क्तान्त **–ग्ध** (तै० सं०) । सन्नन्त **जिघत्सति** ।

घुष् *शब्द करना* **भ्वादि०** : लट् **घोषति, घोषते** ; लेट् **घोषात्; घोषान्**; शत्रन्त **घोषन्त्** । लिट् **जुघोष** (ब्रा०) । क० वा० लुङ् **घोषि** । क्त्वाद्यन्त **–घुष्य** । ण्यन्त **घोषयति** ।

चक्ष् *देखना* **अदादि०** : लट् **चक्षे** (=चक्ष्-षे), **चष्टे; चक्षाथे; चक्षते** ; परस्मै० **चक्षि** (=चक्ष्-षि) ; लङ् **अचक्षुर्** । **भ्वादि०** आत्मने० : लट् **चक्षते** (प्र० पु० एक०) ; लङ् **चक्षत** (प्र० पु० एक०) । लिट् **चचक्ष; चचक्षे** (ब्रा०) । लिट्० प्र० **अचचक्षम्** । कृत्य **चक्ष्य** । क्त्वाद्यन्त **-चक्ष्य** । तुम० **-चक्षे, चक्षसे** ; **–चक्षि** । ण्यन्त **चक्षयति** ।

चर् चलना भ्वादि० परस्मै० : लट् चरति ; लेट् चराणि; चराव, चरातस्; चरान् ; चरातै (अथर्व०) ; लु० लो० चरत् ; वि०लि० चरेत् ; लोट् चर, चरतु ; चरत, चरन्तु ; शत्रन्त चरन्त् । लङ् अचरत् । लिट् चचार; चेरिम, चेरुर् । लुङ् साभ्यास : अचीचरत् ; स् : अचार्षम् (ब्रा०); इष् : अचारिषम्; लु० लो० चारीत् । लृट् चरिष्यामि । क० वा० चर्यते (ब्रा०) । क्तान्त चरित ; कृत्य -चरेण्य । क्त्वाद्यन्त चरित्वा (ब्रा०); -चर्य (ब्रा०) । तुम० चरसे, चरितवे, चरध्यै; चरितवै (ब्रा०); चरितुम् (ब्रा०); चरितोस् (ब्रा०) । ण्यन्त चारयति, चारयते (ब्रा०) । सन्नन्त चिचर्षति (ब्रा०), चिचरिषति (ब्रा०) । यङ्लुगन्त चर्चरीति ; यङन्त-शानजन्त चर्चूर्यमाण ।

चाय् ध्यान से देखना भ्वादि० : लट् चायति (ब्रा०) ; शानजन्त चायमान । आमन्त लिट् -चायांचक्रुर् (ब्रा०) । लुङ्-इष् : अचायिषम् । क० वा० चाय्यते । क्त्वाद्यन्त चायित्वा; -चाय्य ।

१. चि चुनना स्वादि० लट् चिनोति; चिन्वन्ति; चिनुते; लेट् चिनवत्; वि०लि० चिनुयाम ; लोट् चिनुहि, चिनोतु; चिन्वन्तु; चिनुध्व ; शत्रन्त चिन्वन्त् ; शानजन्त चिन्वान । भ्वादि० : लट् चयसे, चयते ; चयध्वे ; लु० लो० चयत् ; वि०लि० चयेम । लिट् चिकाय; चिच्ये; चिच्यिरे । लुङ् धातु : अचेत्; लोट् चितन, चियन्तु; स् : अचैषम् (ब्रा०); इष् : चयिष्टम् । लृट् चेष्यति, चेष्यते (ब्रा०) । क०वा० चीयते (ब्रा०) । क्तान्त चित । क्त्वाद्यन्त चित्वा (ब्रा०)। तुम० चेतुम् (ब्रा०); चेतवै (ब्रा०) । सन्नन्त चिकीषते (ब्रा०) ।

२. चि ध्यान से देखना जुहोत्यादि० : लट् चिकेषि (अथर्व०) ; लोट् चिकीहि (अथर्व०), चिकेतु (तै० सं०); आत्मने० (प्र० पु० एक०) चिकिताम् (अथर्व०) ; शत्रन्त चिक्यत् । लङ् अचिकेत्; अचिक्युर् (ब्रा०) । लिट् चिकाय, चिक्यतुर् ; चिक्युर्; आत्मने० म० पु० द्वि० चिकेथे (चिक्याथे के स्थान पर) । लुङ् धातु : अचेत्; आत्मने० अचिध्वम् । क्तान्त चित । सन्नन्त चिकीषते ।

चित् देखना, अनुभव करना भ्वादि० : लट् चे॑तति; चे॑तथस् चे॑तथ; आत्मने० चे॑तते; चे॑तन्ते ; लु० लो० चे॑तत् ; लोट् चे॑ततात् ; शत्रन्त चे॑तन्त् ; लङ् अ॑चेतत् । अदादि० आत्मने० : लट् चिते॑ (प्र० पु० एक०) । लिट् चिके॑त; चिकितु॑र्; आत्मने० चिकिते॑; चिकित्रे॑ और चिकित्रिरे॑; लेट् चिकितस्, चि॑केतति और चि॑केतत्; चि॑केतयत्; लोट् चिकिद्धि; क्वस्वन्त चिकित्वांस्; कानजन्त चिकितान॑; लिट्प्र० चिकेतन्; अ॑चिकेतत् । लुङ् धातु : अ॑चेत्; शानजन्त चि॑तान; क० वा० अ॑चेति; स् : अ॑चैत् । तुम० चि॑तये । ण्यन्त चेत॑यति, चेत॑यते, चित॑यति और चित॑यते; लेट् चेत॑यानि, चेत॑यातै (तै० सं०) ; वि०लि० चित॑येम । सन्नन्त लु० लो० चि॑कित्सत् । यङन्त चे॑किते (प्र० पु० एक०); लेट् चे॑कितत्; शत्रन्त चे॑कितत् ।

चुद् प्रेरित करना भ्वादि० : लट् चो॑दामि; चो॑दते ; लु० लो० चो॑दत् ; लोट् चो॑द, चो॑दत ; चो॑दस्व, चो॑देयान् । ण्यन्त लेट् चोद॑यासि, चोद॑यात्; चोद॑यासे, चोद॑याते ; क्तान्त चोदि॑त ।

च्यु चलना भ्वादि० : लट् च्य॑वते ; लु० लो० च्य॑वम्; च्य॑वन्त ; लोट् च्य॑वस्व; च्य॑वेयाम् ; च्य॑वध्वम् । लिट् चिच्युषे॑, चुच्युवे॑ (प्र० पु० एक०); लु० लो० चुच्यवत् ; वि० लि० चुच्युवीमहि, चुच्यवीरत । लिट्प्र० अ॑चुच्यवत्, अ॑चुच्यवीत्; अ॑चुच्यवीतन, अ॑चुच्यवुर् । लुङ् स् : च्योष्ठास् । लृट् च्योष्यते (ब्रा०) । क्तान्त च्युत॑ । ण्यन्त च्याव॑यति, च्याव॑यते ।

छद् अथवा छन्द् प्रतीत होना अदादि० : लट् छ॑न्त्सि । लिट् चछ॑न्द ; वि०लि० चछद्यात् । लुङ् स् : अ॑छान्; अ॑छान्त (=अ॑छान्त्-स्-त), अ॑छान्त्सुर्; लेट् छ॑न्त्सत् । ण्यन्त छद॑यति, छन्द॑यसे ; लु० लो० छद॑यत् ; लेट् छद॑याथ; छन्द॑याते ; लङ अ॑छदयन् ।

छिद् काटकर अलग करना रुधादि० : लट् छिन॑द्मि, छिन॑त्ति ; लोट् छिन्धि॑ (=छिन्द्धि॑), छिन॑त्तु; छिन्त॑म् (=छिन्त्त॑म्) । लिट् चिछे॑द; चिछिदे॑ (ब्रा०) । लुङ् धातु : छेद; अ: अ॑छिदत्; अ॑छिदन्; स् : अ॑छैत्सीत्; लु० लो० छित्स्यात् । लृट् छेत्स्य॑ति, छेत्स्य॑ते (वा०) । क० वा० छिद्य॑ते; शानजन्त

छिद्यमान; लुङ अछेदि ; क्तान्त छिन्न। क्त्वाद्यन्त -छिद्य; छित्वा (ब्रा०)। तुम० छेत्तवै (ब्रा०); छेत्तुम् (ब्रा०)। सन्नन्त चिछित्सति, चिछित्सते (ब्रा०)।

जन् उत्पन्न करना भ्वादि० : लट् जनति। लेट् जनात् ; लु० लो० जनत् ; लोट् जनतु ; शत्रन्त जनन्त् ; शानजन्त जनमान। लङ अजनत्; जनत (प्र० पु० एक०); अजनन्त। लिट् जजान; जज्ञतुर्; जज्ञुर् और जजनुर्; आत्मने० जज्ञिषे, जज्ञे ; जज्ञिरे; कानजन्त जज्ञान। लुङ धातु : अजनि (उ० पु० एक०); साभ्यास : अजीजनत्, अजीजनन् ; लु० लो० जीजनम् ; जीजनन्त ; इष् : जनिष्टाम् (प्र० पु० द्विव०); आत्मने० अजनिष्ठास्, अजनिष्ट; वि०लि० जनिषीय, जनिषीष्ट। लृट् जनिष्यति, जनिष्यते ; लुट् जनिता (ब्रा०) ; लृङ अजनिष्यत (ब्रा०)। क० वा० लुङ अजनि; जनि, जानि। कृत्य० जन्त्व और जनित्व। क्त्वाद्यन्त जनित्वी। तुम० जनितोस्। ण्यन्त जनयति, जनयते ; लेट् जनयास् ; वि०लि० जनयेस्; लोट् जनय, जनयतु ; जनयतम्; जनयत। सन्नन्त जिजनिषते (ब्रा०)।

जम्भ् चबाना : लुङ साभ्यास : अजीजभम्; इष् : लेट् जम्भिषत्। क्तान्त जब्ध। ण्यन्त : लोट् जम्भय; जम्भयतम् ; शत्रन्त जम्भयन्त्। यङन्त जञ्जभ्यते (ब्रा०); शानजन्त जञ्जभान।

जस् क्लान्त होना भ्वादि० आत्मने० : शानजन्त जसमान। दिवादि० : लोट् जस्यत। लिट् जजास ; लोट् जजस्तम्। लुङ साभ्यास : अजीजसत (प्र० पु० एक०, ब्रा०)। ण्यन्त जासयति (ब्रा०)।

जा उत्पन्न होना दिवादि० आत्मने० : लट् जायते ; लु० लो० जायत ; वि०लि० जायेमहि ; लोट् जायस्व जायताम्; जायध्वम् ; शानजन्त जायमान। लङ अजायथास्, अजायत; अजायन्त। क्तान्त जात।

१. जि जीतना भ्वादि० : जयति, जयते ; लेट् जयासि, जयास्, जयाति ; जयाव, जयाथ; आत्मने० जयाते (अथर्व०); लु० लो० जयत्; वि०लि० जयेम; लोट् जयतु; आत्मने० जयन्ताम् ; शत्रन्त जयन्त्। लङ अजयत्। अदादि० परस्मै० : लट् जेषि। लिट् जिगेथ, जिगाय; जिग्युर् ;

जिग्यु र्; आत्मने० जिग्ये ; वदस्वन्त जिगीवांस्, जिगिवांस् (ब्रा०) ; लुङ् धातु : लु० लो० जेस्; लोट् जितम्; न् : अजैषम्, प्र० पु० अजैस् (=अजैस् -त्); अजैष्म; लेट् जेषस्, जेषत्; जेषाम; लु० लो० जेषम् (वा० सं०), जेस्; जेष्म, जैषुर् (अथर्व०)। लृट् जेष्यति; शत्रन्त जेष्यन्त्। क्तान्त जित। कृत्य० जेत्व। क्त्वाद्यन्त जित्वा (ब्रा०); -जित्य। तुम० जिषे ; जेतवे (ब्रा०) ; जेतुम् (ब्रा०)। ण्यन्त जापयति (ब्रा०); अजीजपत (वा० सं०) और अजीजिपत (तै० स०)। सन्नन्त जिगीषति, जिगीषते; शानजन्त जिगीषमाण।

२. जि त्वरावान् बनाना स्वादि० : लट् जिनोषि; जिन्वे । लङ् अजिनोत् (ब्रा०)।

जिन्व् त्वरावान् बनाना (=स्वादि० जिनु+अ) भ्वादि० : जिन्वसि, जिन्वति; जिन्वथस्; जिन्वथ, जिन्वन्ति; आत्मने० जिन्वते ; लोट् जिन्व, जिन्वतु; जिन्वतम्, जिन्वत ; शत्रन्त जिन्वन्त्। लङ् अजिन्वत्; अजिन्वतम्। लिट् जिजिन्वथुर्। लृट् जिन्विष्यति (ब्रा०)। क्तान्त जिन्वित।

जीव् जीना भ्वादि० परस्मै० : लट् जीवति ; लेट् जीवानि, जीवास्, जीवाति और जीवात्; जीवाथ, जीवान्; वि०लि० जीवेम ; लोट् जीव, जीवतु; जीवताम्; जीवत, जीवन्तु; शत्रन्त जीवन्त्। लिट् जिजीव (ब्रा०)। लुङ् धातु० : आशी० जीव्यासम्; इष् : लु० लो० जीवीत्। लृट् जीविष्यति (ब्रा०)। क० वा० जीव्यते (ब्रा०); क्तान्त जीवित। कृत्य जीवनीय। क्त्वाद्यन्त जीवित्वा (ब्रा०)। तुम० जीवसे; जीवितवै, (तै० सं०, वा० सं०); जीवितुम् (ब्रा०)। ण्यन्त जीवयति। सन्नन्त जिजीविषति (ब्रा०) ; जुज्यूषति (ब्रा०); क्तान्त जिज्यूषित (ब्रा०)।

जुष् सेवन करना तुदादि० : लट् जुषते; वि०लि० जुषेत; जुषेरत ; शानजन्त जुषमाण; लङ् अजुषत्; अजुषत। लिट् जुजोष ; जुजुषे ; लेट्

जुजोषति, जुजोषत् ; जुजोषथ, जुजोषन्; आत्मने० जुजोषते; लोट् जुजुष्टन; क्वस्वन्त जुजुर्वांस्; कानजन्त जुजुषाणं। लिट्प्र० अजुजोषम्। लुङ् धातु : अजुषन्; लेट् जोषति, जोषत्; आत्मने० जोषसे; शानजन्त जुषाणं ; इट् : लेट् जोषिषत् । क्तान्त जुष्ट (प्रमुदित) और जुष्ट (शम)। क्त्वाचन्त जुष्ट्वी। ण्यन्त जोषयते ; लेट् जोषयासे।

जू वेगवान् होना क्र्यादिगण परस्मै० : लट् जुनाति; जुनन्ति; लेट् जुनात्। भ्वादि० आत्मने० : लट् जवते। लिट् जूजुवुर्; लेट् जूजुवत् (=जूजवत्); क्वस्वन्त जूजुर्वांस्; कानजन्त जूजुवाणं। क्तान्त जूतं। तुम० जवसे।

जूर्व् उपक्षीण करना भ्वादि० परस्मै० : लट् जूर्वति; लेट् जूर्वात्; लोट् जूर्व; शत्रन्त जूर्वन्त्। लुङ् इष् : जूर्वीत्।

जॄ गाना भ्वादि० आत्मने० : लट् जरते; लेट् जराते; वि०लि० जरेत; लोट् जरस्व, जरताम्; शानजन्त जरमाण। तुम० जरध्यै।

जॄ, जुर् जीर्ण होना भ्वादि० परस्मै० : लट् जरति; लोट् जरतम्; शत्रन्त जरन्त्। तुदादि० परस्मै० : शत्रन्त जुरन्त्। दिवादि० परस्मै० : लट् जीर्यति, जूर्यति; शत्रन्त जूर्यन्त्; लङ् अजूर्यन्। लिट् जजार; क्वस्वन्त जुजुर्वांस्। लुङ् इष् जारिषुर्। क्तान्त जीर्ण, जूर्ण। ण्यन्त जरयति, जरयते; शत्रन्त जरयन्त् और जारयन्त्।

ज्ञा जानना क्र्यादि० : लट् जानाति; जानीमस्, जानीथ, जानन्ति; जानीते; जानते; लेट् जानाम; जानामहै; वि०लि० जानीयात् ; लोट् जानीहि, जानीतात्, जानातु; जानीत, जानन्तु ; जानीष्व, जानताम् ; शत्रन्त जानन्त्; शानजन्त जानानं। लङ् अजानाम्, अजानात्; अजानन् ; आत्मने० प्र० पु० बहु० अजानत। लिट् जज्ञौ; जज्ञे ; क्वस्वन्त जज्ञिवांस् और जानिवांस्। लुङ् धातु : वि०लि० ज्ञेयास् (ग्रीक गुनोईएन) स् : अज्ञासम् (ब्रा०); अज्ञास्यास्; कु० लो० ज्ञेषम् ; सिष् : अज्ञासिषम्। लृट् ज्ञास्यति, ज्ञास्यते (ब्रा०)। लुट् ज्ञाता (ब्रा०)।

क० वा० ज्ञायते; लुङ् अज्ञायि ; क्तान्त ज्ञात। कृत्य ज्ञेय (ब्रा०)। क्त्वाद्यन्त ज्ञात्वा (ब्रा०), –ज्ञाय (ब्रा०)। तुम० ज्ञातुम् (ब्रा०), ज्ञातोस् (ब्रा०)। ण्यन्त ज्ञपयति; लुङ् अजिज्ञिपत् (तै० सं०); क० वा० ज्ञप्यते (ब्रा०); क्तान्त ज्ञप्त (ब्रा०); ज्ञापयति (ब्रा०)। सन्नन्त जिज्ञासते।

ज्या *अभिभूत करना* क्र्यादि० : लट् जिनाति; वि०लि० जिनीयात्; शत्रन्त जिनन्त्। **दिवादि०** आत्मने० : लट् जीयते। लिट् जिज्यौ (ब्रा०)। लुङ् सिप् : अज्यासिपम् (ब्रा०)। लृट् ज्यास्यति, ज्यास्यते (ब्रा०)। क० वा० जीयते। क्तान्त जीत। सन्नन्त जिज्यासति।

ज्वल् *आंच निकलना* **भ्वादि०** परस्मै० : लट् ज्वलति (ब्रा०)। लिट् जज्वाल (ब्रा०)। लुङ् अज्वलीत् (ब्रा०)। लृट् ज्वलिष्यति (ब्रा०)। क्तान्त ज्वलित (ब्रा०)। ण्यन्त ज्वलयति (ब्रा०)।

तंस् *हिलाना* : लिट् ततस्रे। लिट्प्र० अततंसतम्। लुङ् अ : अतसत्। ण्यन्त तंसयति, तंसयते। तुम० तंसयध्यै। तुम० लेट् तन्तसैते। कृत्य० –तन्तसाय्य।

तक्ष् *घड़ना* **भ्वादि०** परस्मै० : लट् तक्षति; लेट् तक्षाम; लु० लो० तक्षत्; लोट् तक्षतम्; तक्षत, तक्षन्तु; शत्रन्त तक्षन्त्। लङ् अतक्षत्। **अदादि०** परस्मै० : लट् ताष्टि (ब्रा०), तक्षति (प्र० पु० बहु०); लोट् ताळ्हि। लङ् अतक्षम, अतष्ट। **स्वादि०** परस्मै० : लट् तक्षणुवन्ति (ब्रा०)। लिट् ततक्ष। (तक्षयुर्, तक्षुर्); ततक्षे। लुङ् इष् : अतक्षिषुर्। क्तान्त तष्ट।

तन् *फैलाना, विस्तार करना* **तनादि०** : लट् तनोति; तन्मसि, तन्वन्ति; तनुते; लेट् तनवावहै; लु० लो० तनुथास्; लोट् तनु, तनुहि, तनोतु; आत्मने० तनुष्व; तनुध्वम्; शत्रन्त तन्वन्त्; शानजन्त तन्वान। लङ् अतनुत; अतन्वत। लिट् ततन्थ, ततान और तातान; आत्मने० उ०पु०

ततने´, प्र० पु० तत्ने´ और तते´ (√ता); तत्निरे´ और तेनिरे´; लेट् ततंनत्; ततंनाम, ततंनन्; लु० लो० ततंनन्त; वि०लि० ततन्यु´र्; क्वस्वन्त ततन्वां´स्। लुङ् धातु: अंतन्; आत्मने० म० पु० अंतथास्, प्र० पु० अंतत; अंत्नत (प्र० पु० बहु०); अ: अंतनत्; लु० लो० तनत्; स्: अंतान् और अंतांसीत्; अंतसि (ब्रा०); अंतंस्महि (ब्रा०); इष्: अंतानीत्। लृट् तंस्यंते (ब्रा०)। क० वा० तायंते; लुङ् अंतायि (ब्रा०)। क्तान्त ततं। क्त्वाद्यन्त तत्वा (ब्रा०), तत्वाय (वा० सं०), -तत्य (ब्रा०)। तुम० तंन्तुम् (ब्रा०)।

तप् *तपाना* **भ्वादि०**: लट् तंपति, तंपते; लेट् तंपाति; लु० लो० तंपत्; लोट् तंपतु; शत्रन्त तंपन्त्। लङ् अंतपत्। **दिवादि०** परस्मै०: लट् तंप्यति (ब्रा०)। लिट् उ० पु० ततंप। प्र० पु० ततांप; तेपे´; लेट् ततंपते; कानजन्त तेपानें। लुङ् धातु: शानजन्त तपानं; साभ्यास: अंतीतिपे (प्र० पु० एक०); लेट्: तीतिपासि; स्: अंताप्सीत्; अंतप्यास्; लु० लो०: ताप्सीत्; ताप्तम्। लृट् तप्स्यंति (ब्रा०)। क०वा० तप्यंते; लुङ् अंतापि; क्तान्त तप्तं। क्त्वाद्यन्त तप्त्वा (ब्रा०), -तंप्य। तुम० तंप्तोस् (ब्रा०)। ण्यन्त तापंयति, तापंयते (अथर्व०); क० वा० ताप्यंते (ब्रा०)।

तम् *मूर्छित होना* **दिवादि०** परस्मै०: लट् तांम्यति (ब्रा०)। लिट् ततांम (ब्रा०)। लुङ् अ: लु० लो० तमंत्। क्तान्त तान्तं (ब्रा०)। तुम० तंमितोस् (ब्रा०)। ण्यन्त तमंयति (ब्रा०)।

तिज् *तीक्ष्ण होना* **भ्वादि०** आत्मने०: लट् ते´जते; शानजन्त ते´जमान। लिट् —लोट् तितिग्धि (ब्रा०)। क्तान्त तिक्तं। सन्नन्त तितिक्षते। यङन्त ते´तिक्ते।

तु *बलवान् होना* **अदादि०** परस्मै०: लट् तंवीति। लिट् तूतां´व। लिट् प्र० तूतोस्, तूतोत्। यङ्लुक् शत्रन्त तंवीत्वत् (—तंवीतुअत्)।

तुज् *प्रेरित करना* **रुधादि०**: लट् तुञ्जं´न्ति; तुञ्जंते (प्र० पु० बहु०);

कानजन्त तुञ्जानं । तुदादि० : लट् तुजेति ; शत्रन्त तुजन्त् । लिट्-वि०लि० तुतुज्यात् ; कानजन्त तूतुजानं और तूतुजान । क० वा० तुज्यते । तुम० तुजसे, तुजये, -तुजे । ण्यन्त शत्रन्त तुजयन्त् ।

तुद् चुभोना तुदादि० : लट् तुदति ; लोट् तुद; तुदन्तु ; शत्रन्त तुदत् । लङ् तुदत् । लिट् तुतोद । क्तान्त तुन्नं ।

तुर् (=तॄ) गुजरना, शीघ्र चलना तुदादि० : लट् तुरति, तुरते । दिवादि० परस्मै० : लोट् तूर्य । अदादि० परस्मै० : वि०लि० तुर्याम । लिट्-वि०लि० तुतुर्यात्; तुतुर्याम । क्तान्त तूर्त (ब्रा०) । क्त्वाद्यन्त -तूर्य । तुम० तुर्वणे । ण्यन्त तुरयते । सन्नन्त तूतूर्षति ।

तृद् फाड़ना रुधादि० : लट् तृणद्मि, तृणत्ति; तृन्ते (ब्रा०) ; लङ् अतृणत् ; अतृन्दन् । लिट् ततर्दिथ, ततर्द ; कानजन्त ततृदानं । लुङ् धातु : लेट् तर्दस् । क्तान्त तृण्णं (वा० सं०) । क्त्वाद्यन्त -तृद्य । तुम० -तृदस् ।

तृप् तृप्त होना स्वादि० परस्मै० : लट् तृप्णोति; लेट् तृप्णवस्; लोट् तृप्णुहि; तृप्णुतम्; तृप्णुत । तुदादि० परस्मै० : लट् तृम्पति ; लोट् तृम्प । दिवादि० : लट् तृप्यति । लिट् तातृपुर् ; कानजन्त तातृपाणं । लुङ् धातु : आशी० तृप्यास्म ; अ : अतृपत् ; शत्रन्त तृपन्त् ; साभ्यास : अतीतृपस् ; अतीतृपाम । लृङ् अतप्स्यंपत् (ब्रा०) । क्तान्त तृप्तं । ण्यन्त तर्पयति, तर्पयते; सन्नन्त तितर्पयिषति । सन्नन्त तितृप्सति; लेट् तितृप्सात् ।

तृष् तृषित होना दिवादि० : लट् तृष्यति, तृष्यते ; शत्रन्त तृष्यन्त् । लिट् तातृषुर् ; कानजन्त तातृषाणं और ततृषाणं । लुङ् धातु : शानजन्त तृषाणं; अ : शत्रन्त तृषत् ; साभ्यास : अतीतृषाम; लु० लो० तीतृषस् । क्तान्त तृषितं । ण्यन्त तर्षयति । (ब्रा०) ।

तृह् कुचलना रुधादि० परस्मै० : लट् तृणेढि; तृंहन्ति ; लोट् तृणेढु ; लेट् तृणहान् (अथर्व०) ; शत्रन्त तृंहन्त् । लिट् ततर्ह । लुङ् अ : अतृहम् क० वा० तृह्यते ; क्तान्त तृळ्हं, तृढं । क्त्वान्त तृढ्वा ।

तॄ *पार करना* भ्वादि० : लट् तरति, तरते ; लेट् तरायस् ; लु० लो० तरत् ; वि०लि० तरेत् ; लोट् तर ; शत्रन्त तरन्त् । लङ् अतरत् । तुदादि० : लट् तिरति, तिरते ; लेट् तिराति ; लु० लो० तिरन्त ; वि०लि० तिरेत, तिरेतन (म० पु० बहु०) ; लोट् तिर; तिरत; तिरन्तु; तिरध्वम् ; शत्रन्त तिरन्त् । लङ् अतिरत् । जुहोत्या० : शत्रन्त तित्रत् । तनादि० आत्मने० : तरुते । लिट् ततार; तितिरुर् ; क्वस्वन्त ततरुस् (दुर्बल प्रकृति) और तितिर्वांस् । लुङ् साभ्यास : अतीतरस् ; इष् : अतारीत् ; अतारिष्म और अतारिम, अतारिषुर् ; लेट् तारिषस्, तारिषत् ; लु० लो० तारीस्, तारीत्; वि०लि० तारिषीमहि । क० वा० लुङ् अतारि । क्तान्त तीर्ण । क्त्वान्त तीर्त्वा । तुम० -तिरम्, -तिरे, तरध्यै ; तरीषणि । ण्यन्त तारयति । सन्नन्त तितीर्षति (ब्रा०) । यङ्-यङ्लुगन्त तर्तरीति ; तर्तूर्यन्ते ; शत्रन्त तरित्रत् ।

त्यज् *त्यागना* : लिट् तित्याज ; लोट् तित्यग्धि । क्तान्त त्यक्त (ब्रा०) । क्त्वाद्यन्त -त्यज्य (ब्रा०) ।

त्रस् *त्रस्त होना* भ्वादि० परस्मै० : लट् त्रसति । लुङ् साभ्यास : अतित्रसन् ; इष् : त्रासीस् (ब्रा०) । क्तान्त त्रस्त (ब्रा०) । तुम० त्रसत् । ण्यन्त त्रसयति । यङन्त तात्रस्यते (ब्रा०) ।

त्रा *बचना* दिवादि० आत्मने० : लट् त्रायसे ; त्रायध्वे, त्रायन्ते ; लोट् त्रायस्व, त्रायताम् ; त्रायेथाम्, त्रायेताम् ; त्रायध्वम्, त्रायन्ताम्; शानजन्त त्रायमाण । अदादि० आत्मने० : लोट् त्रास्व; त्राध्वम् । लिट् तत्रे । लुङ् स् : अत्रास्महि (ब्रा०) ; लेट् त्रासते; त्रासाथे; वि०लि० त्रासीथाम् । लृट् त्रास्यते (ब्रा०) । क्तान्त त्रात (ब्रा०) । तुम० त्रामणे । ण्यन्त —कृत्य त्रयय्याय्य ।

त्विष् *हिल जाना* अदादि० परस्मै० : लङ् अत्विषुर् । तुदादि० आत्मने० : अत्विषन्त । लिट् तित्विषे ; कानजन्त तित्विषाण । लिट्प्र० अतित्विषन्त । क्तान्त त्विषित । तुम० त्विषे ।

त्सर् चोरी से पास पहुँचना भ्वादि० परस्मै० : लट् त्सरति । लिट् तत्सार । लुङ् स् : अत्सार्; इष् : अत्सारिषम् (वा०) । ल्यबन्त -त्सर्य (ब्रा०) ।

दंश्, दश् डसना भ्वादि० परस्मै० : लट् दशति ; लोट् दश ; शत्रन्त दशन्त् । क्वस्वन्त ददश्वांस् । क्तान्त दष्ट । क्त्वान्त दंष्ट्वा (वा०) । यङन्त शानजन्त दन्दशान ।

दस् समर्थ होना भ्वादि० : लट् दसति, दसते ; लोट् दसत ; शानजन्त दसमान । लिट् ददसे (वा०) । णिजन्त लुङ् : अदीदसत् (ब्रा०) । लृट् दसिष्यते (वा०) । कृत्य दसाय्य । ण्यन्त दसयति (ब्रा०) ।

दघ् के पास पहुँचना स्वादि० : लट् वि०लि० दघ्नुयाम् (ब्रा०) । लुङ् धातु : लु० लो० धक् (म० और प्र० पु० एक०); दघन्; आशी० दघ्यास् (प्र० पु० एक०); लोट् धक्तम् । लृट् दघिष्यन्ति (वा०) । तुम० -दघस् (वा०), -दघोस् (वा०) ।

दभ्, दम्भ् हानि पहुँचाना भ्वादि० परस्मै० : लट् दभति ; लेट् दभाति ; लु० लो० दभत् । स्वादि० परस्मै० : लट् दभ्नुवन्ति ; लोट् दभ्नुहि । लिट् ददाभ, ददम्भ; देभुर् ; लु० लो० ददभन्त । लुङ् धातु : दभुर् ; लु० लो० दभुर् । क० वा० दभ्यते । क्तान्त दब्ध । कृत्य दभ्य । तुम० -दभे; दब्धुम् (ब्रा०) । ण्यन्त दम्भयति । सन्नन्त दिप्सति ; लेट् दिप्सात् ; शत्रन्त दिप्सन्त् ; लट् धीप्सति (वा०) ।

दस्, दास् उजाड़ना दिवादि० परस्मै० : लट् दस्यति; वि०लि० दस्येत् । भ्वादि० परस्मै० : लट् दासति ; लेट् दासात् ; लु० लो० दासत् ; शत्रन्त दासन्त् । क्वस्वन्त ददस्वांस् । लुङ् अ : लु० लो० दसत् ; शानजन्त दसमान; इष् : दासीत् । क्तान्त दस्त (वा०) । ण्यन्त दसयते; दासयति ।

दह् जलाना भ्वादि० परस्मै० : लट् दहति ; लेट् दहाति । अदादि० परस्मै० : लट् धक्षि । लिट् ददाह (ब्रा०) । लुङ् स् : अधाक्षीत् ; अधाक् (प्र० पु० एक०); लु० लो० : धाक् (प्र० पु० एक०);

शत्रन्त घंक्षन्त् और दंक्षन्त्। लृट् घक्ष्यति ; शत्रन्त घक्ष्यन्त् । क० वा० दह्यते। क्तान्त दग्ध । क्त्वाद्यन्त दग्ध्वा (ब्रा०); -दह्य (ब्रा०) । तुम० -दहस् (ब्रा०), दग्धोस् (ब्रा०), दग्धुम् (ब्रा०) । सन्नन्त धीक्षते (ब्रा०) ।

१. दा देना जुहोत्यादि० : लट् ददाति; दत्ते ; लेट् ददस्, ददत् ; ददन् ; ददाते (अथर्व०), ददामहे ; लु० लो० ददास्, ददात् ; वि०लि० दद्यात्; ददीमहि, ददीरन् ; लोट् दद्धि, देहि, दत्तात्, ददातु; दत्तम्, दत्ताम्; दत्त और ददात, ददातन, ददतु; आत्मने० दत्स्व ; शत्रन्त ददत्; शानजन्त ददान ; लङ् अददाम्, अददास्, अददात्; अदत्तम्; अददात, अदत्तन, अददुर् ; आत्मने० अदत्त । भ्वादि० : ददति; ददते ; लु० लो० ददत् ; लोट् ददताम् (प्र० पु० एक०) ; लङ् अददत् ; अददन्त । लिट् ददाथ, ददौ ; ददथुर्, ददतुर् ; दद, ददुर् ; आत्मने० ददे, ददाथे, ददिरे ; क्वस्वन्त दद्वांस्, ददिवांस्, (अथर्व०), ददावांस् (अथर्व०); कानजन्त ददान । लुङ् धातु : अदास्, अदात्, दात् ; अदाम, अदुर्, दुर् । आत्मने० अदि, अदियास् (ब्रा०), अदित (ब्रा०); अदिमहि (तै० सं०) और अदीमहि (वा० सं०); लेट् दास्, दाति, दात्; लु० लो० दुर्; वि०लि० देयाम्; लोट् दातु; दातम्, दाताम् ; दात; दीध्वं (वा० सं०); अ : अदात् ; स् : अदिषि; लेट् दासत्, दासथस् ; लु० लो० : देष्म (वा० सं०); इष् : अददिष्ट (सा० वे०) । लृट् दास्यति; दास्यते (ब्रा०) ; ददिष्ये (का०); लुट् दाता (ब्रा०) । क० वा० दीयते ; शानजन्त दद्यमान; लुङ् दायि । क्तान्त -दात, दत्त, -त्त । कृत्य देय । क्त्वाद्यन्त दत्त्वा, दत्त्वाय; -दाय, -दद्य (अथर्व०) । तुम० -दै, दातवे, दातवै, दामने, दावने; -दाम् (ब्रा०), दातुम् ; दातोस् । ण्यन्त दापयति । सन्नन्त शत्रन्त दित्सन्त्, दिदासन्त् ।

२. दा *खंडित करना* **अदादि०** परस्मै० : लट् दाति; दान्ति ; लोट् दान्तु । **तुदादि०** परस्मै० : लट् द्यामि, द्यति; द्यामसि ; लोट् द्यतु; द्यताम् । **दिवादि०** : लट् दयामसि ; लोट् दयस्व, दयताम् ; शानजन्त दयमान । लङ् दयन्त । लिट् ददिरे (ब्रा०) । लुङ्‌धातु : अदिमहि (ब्रा०), अदीमहि (वा० सं०, का०) । स् : वि०लि० दिषीय । क० वा० दीयते । क्तान्त दिन –त्त (ब्रा०) । क्त्वाद्यन्त –दाय ।

३. दा *बाँधना* **तुदादि०** परस्मै० : लट् द्यति ; लङ् अद्यस् । क० वा० : लुङ् दायि । क्तान्त दित ।

दाश् *आहुति देना* **भ्वादि०** परस्मै० : लट् दाशति ; लेट् दशात् । वि०लि० दाशेम ; लङ् अदाशत् । **अदादि०** परस्मै० : लट् दाष्टि ; शत्रन्त दाशत् । **स्वादि०** परस्मै० : लट् दाश्नोति । लिट् ददाश । लेट् ददाशत्, ददाशति और ददाशत्; क्वस्वन्त ददाश्वांस्, दाश्वांस्, दाशिवांस् (सा० वे०) । ण्यन्त अदाशयत् (ब्रा०) ।

दिश् *सङ्केत करना* **तुदादि०** : लट् दिशामि । लोट् दिशतु ; शत्रन्त दिशन्त् ; शानजन्त दिशमान । लिट् दिदेश ; लेट् दिदेशति ; लोट् दिदिड्ढि, दिदेष्टु ; दिदिष्टन । लिट्प्र० दिदिष्ट (आत्मने० प्र० पु० एक०) । लुङ्-धातु : अदिष्ट ; स् : अदिक्षि; स : अदिक्षत् (ब्रा०) । क्तान्त दिष्ट । क्त्वाद्यन्त –दिश्य । तुम० –दिशे । यङ्-यङ्लुगन्त देदिष्टि; लङ् देदिशम् ; अदेदिष्ट; देदिश्यते ।

दिह् *लेप करना* **अदादि०** : लट् देग्धि; दिहन्ति ; लेट् देहत्; शानजन्त दिहान । लङ् अदिहन् । लुङ् स् : अधिक्षुर् (ब्रा०) । क्तान्त दिग्ध ।

१. दी, *उड़ना* **दिवादि०** : लट् दीयति; दीयते ; लु० लो० दीयत् ; लोट् दीय । लङ् अदीयम् । यङन्त तुम० देदीयितवै ।

२. दी, दीदी *चमकना* : लट् दीद्यति (प्र० पु० बहु०) ; लेट् दीदयत् ; लोट् दिदीहि और दीदिहि ; शत्रन्त दीद्यत् ; शानजन्त दीद्यान । लङ्

अंदीदेस्, अंदीदेत्। लिट् दिदे´य, दीदाय; दीदिघु´र्; लेट् दीदयसि और दीदयस्; दीदयति और दीदयत्; क्वस्वन्त दीदिवांस्।

दीक्ष् *दीक्षित होना* **भ्वादि०** आत्मने०: लट् दी´क्षते (ब्रा०)। लिट् दिदीक्षे´ और दिदीक्षु´र् (ब्रा०)। लुङ साभ्यास: अंदिदीक्षस् (ब्रा०); इष्: अंदीक्षिष्ट (ब्रा०)। लृट् दीक्षिष्यंते (ब्रा०)। क्तान्त दीक्षितं। क्त्वाद्यन्त दीक्षित्वा´ (ब्रा०)। ण्यन्त दीक्षयति (ब्रा०)। सन्नन्त दिदीक्षिषते (ब्रा०)।

दीप् *चमकना* **दिवादि०** आत्मने०: लट् दी´प्यते। लुङ साभ्यास: अंदिदीपत्; अंदीदिपत् (ब्रा०); लु० लो०: दिदीपस्। ण्यन्त दीपयति।

दीव् *खेलना* **दिवादि०**: लट् दी´व्यति; दीव्यते (ब्रा०)। लिट् दिदे´व। क्तान्त द्यूतं। क्त्वाद्यन्त –दी´व्य।

दु, दू *जलाना* **स्वादि०** परस्मै०: लट् दुनो´ति; दुन्व´न्ति; शत्रन्त दुन्वंन्त्। लुङ इष्: लेट् दविषाणि (या गमनार्थक दु से?)। क्तान्त दूनं।

दुष् *दूषित करना* **दिवादि०** परस्मै०: लट् दु´ष्यति (ब्रा०)। लुङ साभ्यास: अंदूदुषत्; अ: दुषंत् (ब्रा०); इष्: दोषिष्टम् (ब्रा०)। ण्यन्त दूषयति; लृट् दूषयिष्यामि।

दुह् *दुहना* **अदादि०** परस्मै०: लट् दो´ग्धि; दुहंन्ति; आत्मने० दुग्धे´; दुह्रते और दुहते´, दुह्रते और दुह्रे´; लेट् दो´हत्; दो´हते; वि०लि० दुहीयंत्, दुहीयंन्; लोट् प्र० पु० द्विव० दुग्धाम्; आत्मने० प्र० पु० एक० दुहाम्; प्र० पु० द्विव० दुहायाम्; प्र० पु० बहु० दुह्राम् (अथर्व०) और दुह्रताम् (अथर्व०); शत्रन्त दुहंन्त्; शानजन्त दु´घान, दु´हान और दुहानं; लङ अंधोक्; दुहंर्; अंदुहन् (ब्रा०) और अंदुह्रन् (अथर्व०)। **भ्वादि०** आत्मने०: लट् दो´हते। **तुदादि०**: लङ अंदुहत् (तै० सं०)। लिट् दुदो´ह, दुदो´हिय; दुदुहंर्; आत्मने० दुदुहे´; दुदुह्रे´ और

दुदुहिरे; कानजन्त दुदुहान। लुङ् स् : अधुक्षत (प्र० पु० बहु०); लु० लो० : धुक्षत (प्र० पु० बहु०); वि०लि० धुक्षीमहि; स : अधुक्षस्, अदुक्षत् और अधुक्षत्; अधुक्षन्, दुक्षन् और धुक्षन्; आत्मने० अधुक्षत, दुक्षत और धुक्षत; लु० लो० दुक्षस्; आत्मने० प्र० पु० दुक्षत और धुक्षत; बहु० धुक्षन्त; लोट् धुक्षस्व। क० वा० दुह्यते; शानजन्त दुह्यमान। क्तान्त दुग्ध। क्त्वान्त दुग्ध्वा (ब्रा०)। तुम० दुहध्यै; दोहसे; दोग्धोस् (ब्रा०)। ण्यन्त दोहयति (ब्रा०)। सन्नन्त दुदुक्षति।

१. दृ बींधना, विदीर्ण करना अदादि० परस्मै० : लट् दर्षि। क्र्यादि० परस्मै० : वि०लि० दृणीयात् (ब्रा०)। लिट् ददार; क्वस्वन्त दद्वांस्। लुङ् धातु : अदर्; स : लेट् दर्षसि, दर्षत्; आत्मने० दर्षते; वि०लि० : दर्षीष्ट। क० वा० दीर्यते (ब्रा०)। क्तान्त दीर्ण (ब्रा०)। क्त्वाद्यन्त –दीर्य (ब्रा०)। ण्यन्त दर्यति; दारयति (ब्रा०)। यङ्लुगन्त दर्दर्मि, दर्दर्ति; लेट् दर्दिरत्; लोट् दर्दृहि और दादृहि, दर्दर्तु; लङ् अदर्दर्, दर्दर् (म० पु० और प्र० पु० एक०); अदर्दृतम्; अदर्दिरुः। यङन्त दर्दीरत्, दरिद्रत् (नं० मं०); लङ् अदर्दर्, दर्दर्

२. दृ ध्यान से सुनना : लुङ् अदृथास् (ब्रा०); स् : दृढ्वम् (ब्रा०)। क० वा० द्रियते (ब्रा०)। क्त्वाद्यन्त –दृत्य।

दृप् उन्मत्त होना, प्रलाप करना दिवादि० परस्मै० : लट् दृप्यति। लुङ् अ : अदृपत् (ब्रा०)। लृट् द्रप्स्यति (ब्रा०) और द्रपिष्यति (ब्रा०)। क्तान्त दृप्त और दृपित।

दृश् देखना : लिट् ददर्श; आत्मने० ददृशे, ददृशे; ददृश्रे, ददृशिरे (नं० मं०); लोट् (आत्मने० प्र० पु० बहु०) ददृश्राम् (अथर्व०); क्वस्वन्त ददृश्वांस्; कानजन्त ददृशान। लुङ् धातु : अदर्शम् (ब्रा०); अदर्शम (नं० मं०), अदृश्म (ब्रा०), अदर्शुर् (ब्रा०;) आत्मने० (प्र० पु०

बहु०) अदृशन्, अदृश्रम् ; लेट् दर्शति, दर्शयत्, दर्शान् ; लु० लो० दर्शम् ; शानजन्त दृशानं और दृशान; अ : अदृशन्; लु० लो० दृशन् ; वि० लि० : दृशेयम् ; स् : अद्राक् (ब्रा०) और अद्राक्षीत् (ब्रा०); आत्मने० अदृक्षत (प्र० पु० बहु०); लेट् दृक्षसे; स : दृक्षम् (का०) ; साभ्यास : अदीदृशत् (ब्रा०) । लृट् द्रक्ष्यति (ब्रा०) । क० वा० दृश्यते; लुङ अदर्शि और दर्शि । क्तान्त दृष्ट । कृत्य दृशेन्य । क्त्वाद्यन्त दृष्ट्वा, दृष्ट्वाय, -दृश्य । तुम० दृशे; दृशये ; द्रष्टुम् । ण्यन्त दर्शयति । सन्नन्त दिदृक्षते ।

दृह्, दृढ़ बनाना भ्वादि ०परस्मै० : लोट् दृंह; दृंहत; लङ अदृंहत् । तुदादि० आत्मने० : लट् दृंहेथे ; लोट् दृंहन्ताम् ; शत्रन्त दृंहन्त् ; लङ दृंहत (प्र० पु० एक०) । दिवादि० : लोट् दृंह्य; दृंह्यस्व । कानजन्त दादृहाणं । लिट्प्र० अददृहन्त । लुङ इष् : अदृंहीस्, अदृंहीत् । क्तान्त दृढ । ण्यन्त दृंहयति ।

द्युत् चमकना भ्वादि० आत्मने० : लट् द्योतते । लिट् दिद्योत; दिद्युतुः; आत्मने० दिद्युते; कानजन्त दिद्युतानं । लुङ धातु : शत्रन्त द्युतन्त्; शानजन्त द्युतान और द्युतानं; अ : अद्युतत् (ब्रा०); साभ्यास : अदिद्युतत्; लु० लो० : दिद्युतस्; स् : अद्यौत् । लृट् द्योतिष्यति (ब्रा०) । क्तान्त द्युत्त । क्त्वाद्यन्त -द्युत्य (ब्रा०) । ण्यन्त द्युतयति (चमकना), द्योतयति (चमकाना) । यङलुगन्त दविद्युतति (प्र० पु० बहु०); लेट् दविद्युतत्; शत्रन्त दविद्युतत् ; लङ दविद्योत् ।

१. द्रा दौड़ना अदादि० परस्मै० : लोट् द्रान्तु । लिट् दद्रुः ; कानजन्त दद्राणं । लुङ स् : लेट् द्रासत् । ण्यन्त द्रापयति (ब्रा०); सन्नन्त दिद्रापयिषति (ब्रा०) । यङलुगन्त शत्रन्त दरिद्रत् ।

२. द्रा सोना अदादि० परस्मै० : लट् द्राति (ब्रा०) । लुङ सिष् : अद्रासीत् (ब्रा०) । लृट् द्रास्यति (ब्रा०) । क्तान्त द्राणं ।

द्रु *दौड़ना* **भ्वादि०** परस्मै० : द्रवति। लिट् दुद्राव (ब्रा०); लेट् दुद्रवत्। लिट्प्र० अदुद्रोत्। लुङ् साभ्यास : अदुद्रवत् (ब्रा०)। लृट् द्रोष्यति (ब्रा०)। क्तान्त द्रुत (ब्रा०)। क्त्वाद्यन्त द्रुत्वा (ब्रा०); –द्रुत्य (ब्रा०)। ण्यन्त द्रवयति (बहता है); द्रावयति। यङ्लुगन्त लिट् दोद्राव।

द्रुह् *विरोधी होना* **दिवादि०** परस्मै० : लट् द्रुह्यति (ब्रा०)। लिट् उ० पु० दुद्रोह, म० पु० दुद्रोहिथ। लुङ् अ : द्रुहस्; लु० लो० द्रुहस्; द्रुहन्; स : अध्रुक्षस् (ब्रा०)। लृट् घ्रोक्ष्यति। क्तान्त द्रुग्ध। क्त्वाद्यन्त –द्रुह्य। तुम० द्रोग्धवै। सन्नन्त शत्रन्त दुद्रुक्षत्।

द्विष् *द्वेष करना* **अदादि०** : लट् द्वेष्टि; द्विष्मस्; लेट् द्वेषत्; द्वेषाम; आत्मने० द्वेषते; लोट् द्वेष्टु; शत्रन्त द्विषन्त्। लिट् दिद्वेष (ब्रा०)। लुङ् स : लु० लो० द्विक्षत्; आत्मने० द्विक्षत (प्र० पु० एक०)। क्तान्त द्विष्ट। कृत्य द्वेष्य, –द्विषेण्य। तुम० द्वेष्टोस् (ब्रा०)।

धन् *दौड़ना* : लिट् –लेट् दधनत्; वि०लि० दधन्युर्; क्वस्वन्त दधन्वांस्। ण्यन्त धनयन्; आत्मने० धनयन्ते; धनयन्त।

धन्व् *भागना, दौड़ना* **भ्वादि०** परस्मै० : लट् धन्वति; लेट् धन्वाति; लोट् धन्व। लिट् दधन्वे; दधन्विरे। लुङ् इष् : अधन्विषुर्।

धम्, ध्मा *धौंकना* **भ्वादि०** परस्मै० : लट् धमति; शत्रन्त धमन्त्। लङ् अधमत्। क० वा० धम्यते; ध्मायते (ब्रा०)। क्तान्त धमित और ध्मात। क्त्वाद्यन्त ध्माय (ब्रा०)।

१. धा *रखना* **जुहोत्यादि०** : लट् दधामि, दधासि, दधाति; धत्थस्; दध्मसि और दध्मस्, धत्त, दधति; आत्मने० दधे, धत्से, धत्ते; दधाथे, दधाते; दधते; लेट् दधानि, दधस्, दधत्; दधथस्; दधाम, दधन्; आत्मने० दधसे, दधते; दधावहै; वि० लि० दधीत और दधीत; दधीमहि; लोट् धेहि और धत्तात्, दधातु; धत्तम्,

घत्तम्; घत्त और घत्तन, दधतु; आत्मने० धत्स्व; दधताम्; शत्रन्त दधत्; शानजन्त दधान। लङ् अदधाम्, अदधास्, अदधात्; अधत्तम्; अधत्त, अदधुर्; आत्मने० अधत्थास्, अधत्त। लिट् दधाथ दधौ; दधतुर्; दधिम, दधुर्; आत्मने० दधिषे, दधे; दधाथे, दधाते; दधिध्वे, दधिरे, और दध्रे; लोट् दधिष्व; दधिध्वम्। लुङ् धातु: अधाम्, धास्, अधात् और धात्; धातम्, अधाताम्; अधुर्; आत्मने० अधिथास्, अधित; अधिताम्; अधीमहि; लेट् धास् धाति और धात्; धाम; धेथे, धैथे; धामहे; लु० लो० धाम्; धुर्; आत्मने० धीमहि; वि०लि० धेयाम्; धेयुर्; लोट् धातु; धातम्; धात, धातन और धेतन, धान्तु; आत्मने० धिष्व; अ: अधत् (ब्रा० वे०), धत्; स्: अधिषि (ब्रा०); अधिषत (ब्रा०); लेट् धासथस्; धासथ; लु० लो०: धासुर्; वि०लि० धिषीय (ब्रा०), धेषीय (मै० सं०)। लृट् धास्यति, धास्यते (ब्रा०)। लुट् धाता (ब्रा०)। क० वा० धीयते; लुङ् अधायि। क्तान्त हित, -धित। क्त्वाद्यन्त धित्वा (ब्रा०), -धाय। तुम० -धे, धातवे, धातवै, धियध्यै; -धाम्; धातुम् (ब्रा०); धातोस्। ण्यन्त धापयति; लेट् धापयायस्। सन्नन्त दिधिषति, दिधिषते; लु० लो० दिधिषन्त; वि०लि० दिधिषेम; दिधिषेय; लोट् दिधिषन्तु; शानजन्त दिधिषाण; धित्सति, धित्सते; कृत्य दिधिषाय्य।

२. धा *चूसना, स्तन्यपान करना* दिवादि० परस्मै०: लट् धयति। लुङ् धातु: अधात्। क्तान्त धित। क्त्वाद्यन्त धित्वा (ब्रा०) -धीय (ब्रा०)। तुम० धातवे। ण्यन्त धापयते; धापयति (ब्रा०)।

१. धाव् *दौड़ना* भ्वादि०: लट् धावति; धावते। लिट्प्र० अदधावत्। लुङ् इष्: अधावीत् (ब्रा०)। ण्यन्त धावयति।

२. धाव् *धोना* भ्वादि०: लट् धावति, धावते। लुङ् इष्: अधाविष्ट। क्तान्त धौत। ण्यन्त धावयति, धावयते (ब्रा०)।

धी सोचना जुहोत्यादि०: लट् दीध्ये, दीध्यायाम् और दीधीयाम् (अथर्व०); लेट् दीधयस्; दीधयन्; शत्रन्त दीध्यत्; शानजन्त दीध्यान। लङ् अदीधेत्, दीधेत्; अदीधयुर्; आत्मने० अदीधीत। लिट् दीधय; दीधिम, दीधियुर् और दीध्युर्; दीधिरे। क्तान्त धीत। यङ्लुगन्त देध्यत् (तै० सं०)।

धू हिलना स्वादि०: लट् धूनोति; धूनुते; लेट् धूनवत्; लोट् धूनुहि और धूनु; धूनुत; आत्मने० धूनुध्व; शत्रन्त धून्वन्त्; शानजन्त धून्वान। लङ् अधूनोत्; आत्मने०: अधूनुथास्, अधूनुत। तुदादि० परस्मै०: लट् धुवति; वि०लि० धुवेत्। लिट् दुधुवे; वि०लि० दुधुवीत। लिट्प्र० दूधोत्। लुङ् धातु: शानजन्त धुवान; स्: आत्मने० अधूषत (प्र० पु० बहु०)। लृट् धविष्यति, धविष्यते (ब्रा०)। क० वा० धूयते। क्तान्त धूत। क्त्वाद्यन्त धूत्वा (ब्रा०), –धूय। यङ्लुगन्त दोधवीति; शत्रन्त दोधुवत् और दविध्वत्; लिट् दविधाव।

धृ धारण करना: लिट् दाधर्थ, दाधार; दध्रे, दध्रिरे। लुङ् धातु: लु० लो० धृयास्; साभ्यास: अदीधरत्; दीधार् (प्र० म० पु० एक०); लु० लो० दीधरत्; लोट् दिधृतम्; दिधृत। लृट् धरिष्यते। क० वा० ध्रियते। क्तान्त धृत। क्त्वाद्यन्त धृत्वा (ब्रा०), –धृत्य (ब्रा०)। तुम० धर्मणे; धर्तरि; धर्तवै (ब्रा०)। ण्यन्त धारयति, धारयते; लृट् धारयिष्यति; क० वा० धार्यते (ब्रा०)। यङ्लुगन्त दर्धर्षि; लङ् अदर्धर्; दाधर्ति (ब्रा०); प्र० पु० बहु० दाध्रति (ब्रा०); लोट् दाधर्तु (ब्रा०)।

धृष् साहस करना स्वादि०: लट् धृष्णोति; लोट् धृष्णुहि। लिट् दधर्ष; दाधृषुर्। लेट् दधर्षति और दधर्षत्; आत्मने० दधृषते; लु० लो० दधर्षीत्; क्वस्वन्त दधृष्वांस्; लिट्प्र० दधृषन्त। लुङ् अ: लु० लो० धृषत्; शत्रन्त धृषन्त्; शानजन्त धृषमाण; धृषाण (अथर्व०); इष्: अधर्षिषुर् (ब्रा०)। क्तान्त धृष्ट और धृषित। कृत्य –धृष्य। क्त्वाद्यन्त –धृष्य (ब्रा०)। तुम० –धृषे; –धृषस्। ण्यन्त धर्षयति (ब्रा०)।

ध्या *चिन्तन करना* **दिवादि०** परस्मै० : लट् ध्यायति। लिट् दध्यौ (ब्रा०)। लुङ् सिप् : अध्यासिषम् (ब्रा०)। लुट् : ध्याता (ब्रा०)। क्तान्त ध्यात (ब्रा०)। क्त्वान्त ध्यात्वा। सन्नन्त दिध्यासते (ब्रा०)।

ध्रज्, ध्राज् *बुहारना* **भ्वादि०** : शत्रन्त ध्रजन्त्; शानजन्त ध्रजमान। लङ् अध्रजन्। लुङ् इष् : वि० लि० ध्राजिषीय।

ध्वंस् *बिखेरना* **भ्वादि०** परस्मै० : लट् ध्वंसति, ध्वंसते (ब्रा०)। लिट् दध्वसे। लुङ् अ : ध्वसन्। क्तान्त ध्वस्त (ब्रा०)। ण्यन्त ध्वसयति; ध्वंसयति, ध्वंसयते (ब्रा०)।

ध्वन् *शब्द करना* : लुङ् इष् : अध्वनीत्। क्तान्त ध्वान्त। ण्यन्त अध्वानयत्; लुङ् लु० लो० ध्वनयीत्।

ध्वृ *हिंसा करना* **भ्वादि०** परस्मै० : लट् ध्वरति (ब्रा०)। लुङ् स् : आत्मने० अध्वूर्षत (प्र० पु० बहु०)। तुम० धूर्वणे। सन्नन्त दुधूर्षति।

नक्ष् *प्राप्त करना* **भ्वादि०** : लट् नक्षति, नक्षते; लु० लो० नक्षत्; लोट् नक्षस्व; शत्रन्त नक्षन्त्; शानजन्त नक्षमाण। लङ् अनक्षन्। लिट् ननक्षुर्; ननक्षे।

नद् *शब्द करना* **भ्वादि०** परस्मै० : लट् नदति। ण्यन्त नदयति। यङ्लुगन्त नानदति (प्र० पु० बहु०); शत्रन्त नानदत्। यङन्त नानद्यते (ब्रा०)।

नम् *झुकना* **भ्वादि०** : लट् नमति, नमते। लिट् ननाम; नेमे। लिट्प्र० ननमस्। लुङ् साभ्यास : लु० लो० नीनमस्; स् : अनान् (का०); आत्मने० अनंसत (प्र० पु० बहु०, ब्रा०); लेट् नंसै, नंसन्ते; शानजन्त नमसान। लृट् नंस्यति (ब्रा०)। क्तान्त नत। कृत्य नन्त्व। क्त्वाद्यन्त —नत्य (ब्रा०)। तुम० —नमम्, —नमे। ण्यन्त नमयति। यङ्यङ्लुगन्त नन्नमीति; नन्नते (प्र० पु० एक०); शत्रन्त नन्नमत्; शानजन्त नन्नमान; लङ् अनन्नत (प्र० पु० एक०)।

१. नश् *नष्ट होना, खो जाना* **दिवादि०** परस्मै० : लट् नॅश्यति ; **भ्वादि०** : लट् नॅशति, नॅशते । लिट् ननॉश; नेशु॑र् (ब्रा०) । लुङ् साभ्यास : अॅनीनशत्; ने॑शत् ; लु० लो० नी॑नशस्, ने॑शत् । लृट् नशिष्यॅति । क्तान्त नष्ट॑ । ण्यन्त नाशॅयति; तुम० नाशयॅध्यै ।

२. नश् *प्राप्त करना* **भ्वादि०** : लट् नॅशति, नॅशते । लुङ् धातु : आॅनट् (म० और प्र० पु० एक०), न॑ट् (प्र० पु० एक०); अॅनष्टाम् ; लु० लो० नॅक् और नॅट् (प्र० पु० एक०); आत्मने० न॑शि ; वि०लि० नशीमॅहि ; स् : लेट् नॅक्षत् । तुम० –नॅशे । सन्नन्त इॅनक्षसि ; लु० लो० इॅनक्षत् ।

नस् *जोड़ना* **भ्वादि०** आत्मने० : लट् नॅसते; नॅसामहे ; लु० लो० नॅसन्त । लुङ् धातु : वि०लि० नसीमॅहि ।

नह् *बाँधना* **दिवादि०** : लट् नॅह्यति ; लोट् नॅह्यतन (म० पु० बहु०); शानजन्त नॅह्यमान । लिट् ननॅह । क० वा० शानजन्त नह्यॅमान । क्तान्त नद्ध॑ । क्त्वाद्यन्त –नॅह्य (ब्रा०) ।

नाथ्, नाध् *सहायता की याचना करना* **भ्वादि०** आत्मने० : लट् नॉथते (ब्रा०) ; शानजन्त नॉधमान । क्तान्त नाथित॑ ; नाधित॑ ।

निज् *धोना* **अदादि०** आत्मने० : शानजन्त निजान॑ । **जुहोत्यादि०** : लोट् निनिक्त॑ (म० पु० बहु०) । लुङ् अ : अॅनिजम् ; स् : अॅनैक्षीत् ; लु० लो० निक्षि । क्तान्त निक्त॑ । क्त्वाद्यन्त निक्त्वा॑ (ब्रा०), -निॅज्य (ब्रा०) । तुम० –निॅजे । ण्यन्त नेजॅयति (श्रा०) । यङ्यङ्लुगन्त नेनिक्ते॑; लोट् नेनिग्धि॑ ।

निन्द् *निन्दा करना* **भ्वादि०** परस्मै० : लट् निॅन्दति ; लेट् निॅन्दात् ; लोट् निन्दत॑ । लिट् निन्दिम॑; निनिदु॑र् । धातु लुङ् : शानजन्त निदान॑ ; इष् : अॅनिन्दिषुर् ; लेट् नि॑न्दिषत् । क० वा० निन्द्यॅते । क्तान्त निन्दित॑ । सन्नन्त लेट् निॅनित्सात् ।

नी *अगवाई करना* **भ्वादि०** : लट् नयति, नयते ; लेट् नयाति, नयात् ; आत्मने० नयासै (अथर्व०) ; लु० लो० नयत् ; नयन्त ; लोट् नयतु; आत्मने० नयस्व ; शत्रन्त नयन्त् ; शानजन्त नयमान ; लङ् अनयत्। **अदादि०** : लट् नेषि (=लोट्) ; नेथ ; लङ् अनीताम् (प्र० पु० द्वि०)। लिट् निनेथ, निनाय; निन्यथुर् ; निन्ये (ब्रा०) ; लेट् निनीथस् ; वि०लि० निनीयात्; लोट् निनेतु। लुङ् स् : अनैष्ट (म० पु० बहु०) ; अनेषत (प्र० पु० बहु०); लेट् नेषति, नेषत्; नेषथ; लु० लो० नैष्ट (म० पु० बहु०); आत्मने० नेष्ट (प्र० पु० एक०); इष् : अनयीत् (अथर्व०)। लृट् नेष्यति, नेष्यते (ब्रा०) ; नयिष्यति (ब्रा०)। क० वा० नीयते। क्तान्त नीत। क्त्वाद्यन्त नीत्वा (ब्रा०), –नीय। तुम० नेषणि; नेतवै (ब्रा०); नेतुम् (ब्रा०), नयितुम् (ब्रा०); नेतोस् (ब्रा०)। सन्नन्त निनीषति (ब्रा०)। यङन्त नेनीयते।

नु *स्तुति करना* **भ्वादि०** : लट् नवति; नवामहे; नवन्ते ; लु० लो० नवन्त ; शत्रन्त नवन्त्, शानजन्त नवमान। लङ् अनवन्त। **अदादि०** परस्मै० : शत्रन्त नुवन्त् ; लङ् अनावन्। लिट्प्र० अनूनोत्, नूनोत् ; लुङ स् : आत्मने० अनूषि; अनूषाताम् ; अनूषत; लु० लो० : नूषत (प्र० पु० बहु०) ; इष् : आत्मने० अनविष्ट। कृत्य नव्य। यङ्यङ्लुगन्त नोनवीति; नोनुमस् और नोनुमसि; लेट् नोनुवन्त ; लङ नवीनोत् ; अनोनवुर् ; लिट् नोनाव; नोनुवुर्।

नुद् *धकेलना* **तुदादि०** : लट् नुदति, नुदते। लिट् नुनुदे, नुनुद्रे। लुङ धातु : लु० लो० नुत्थास् ; इष् : लु०लो० नुदिष्ठास्। लृट् नोत्स्यते (ब्रा०)। क्तान्त नुत्त; नुन्न (सा० वे०)। तुम० –नुदे; –नुदस्। यङन्त अनोनुद्यन्त (ब्रा०)।

नृत् *नृत्य करना* **दिवादि०** परस्मै० : लट् नृत्यति ; लोट् नृत्य, नृत्यतु ; शत्रन्त नृत्यन्त्। लुङ धातु : नृतुर् (लिट् ?) अ : शानजन्त नृतमान; इष् : अनर्तिषुर्। क्तान्त नृत्त। ण्यन्त नर्तयति।

पच् *पकाना* **भ्वादि०** : लट् पॅचति, पॅचते; लेट् पॅचानि, पॅचाति, पॅचात्; लु० लो० पॅचत्; लोट् पॅचत, पॅचन्तु। **दिवादि०** आत्मने० : लट् पॅच्यते। लिट् पपॅाच; पेचॅ। लिट्प्र० अॅपेचिरन्। लुङ स् : लेट् पॅक्षत्। लृट् पक्ष्यॅति, पक्ष्यते (ब्रा०)। लुट् पक्तॅा (ब्रा०)। क० वा० पच्यॅते। क्त्वान्त पक्त्वॅा। तुम० पॅक्तवे। ण्यन्त पाचॅयति, पाचॅयते (ब्रा०)।

पत् *उड़ना* **भ्वादि०** परस्मै० : लट् पॅतति; लेट् पॅताति, पॅतात्; लु० लो० पॅतत्; वि०लि० पॅतेत्; लोट् पॅततु; शत्रन्त पॅतन्त्। लङ अॅपतत्। लिट् पपॅात; पेतॅयुर्, पेतॅतुर्; पप्तिमॅ, पप्तुॅर्; वि०लि० पपत्यॅात्; क्वस्वन्त पप्तिवॅांस्। लुङ साभ्यास : अॅपप्तत् और अॅपीपतत्; अॅपप्ताम, अॅपप्तन्; लु० लो० : पप्तस्, पप्तत्; पप्तन्; लोट् पप्तत। लृट् पतिष्यॅति; लृङ अॅपतिष्यत् (ब्रा०)। क० वा० लुङ अॅपाति (ब्रा०)। क्तान्त पतितॅ। क्त्वाद्यन्त पतित्वॅा, –पॅत्य (ब्रा०)। तुम० पॅत्तवे; पॅतितुम् (ब्रा०)। ण्यन्त पतॅयति, पतॅयते; पातॅयति। सन्नन्त पिॅपतिषति। यङ्लुगन्त पॅापतीति; लेट् पॅापतन्।

पद् *जाना* **दिवादि०** : लट् पॅद्यते; पद्यति (ब्रा०); लोट् पॅद्यस्व; शानजन्त पॅद्यमान; लङ अॅपद्यन्त। लिट् पपॅाद; पेदेॅ (ब्रा०)। लुङ धातु : अॅपद्महि, अॅपद्रन्; लेट् पदाति, पदात्; आशी० पदीष्टॅ; साभ्यास : अॅपीपदाम; स् : लु० लो० पत्सि (उ० पु० एक०), पत्स्यॅास्। लृट् पत्स्यति (ब्रा०)। क० वा० लुङ अॅपादि, पॅादि। क्तान्त पन्नॅ। क्त्वाद्यन्त –पॅद्य। तुम० –पॅदस्; पॅत्तुम् (ब्रा०), पॅत्तोस् (ब्रा०)। ण्यन्त पादॅयति, पादॅयते; क० वा० पाद्यॅते (ब्रा०); सन्नन्त पिॅपादयिषति (ब्रा०)।

पन् *सराहना* **भ्वादि०** आत्मने० : लट् –लु० लो० पॅनन्त। लिट् पपॅन (उ० पु० एक०); पप्नेॅ। लुङ इष् : पनिष्ट (प्र० पु० एक०)। क० वा० पन्यॅते। क्तान्त पनितॅ। ण्यन्त पनॅयति, पनॅयते। कृत्य पनॅाय्य। यङ्लुगन्त शत्रन्त पॅनिघ्नत्।

पश् *देखना* **दिवादि०** : लट् पश्यति, पश्यते ; लेट् पश्यानि, पश्यासि और पश्यास्, पश्यात्; पश्याम, पश्यान्; लु० लो० पश्यत्; वि० लि० पश्येत्; पश्येत ; लोट् पश्य; पश्यस्व ; शत्रन्त पश्यन्त् ; शानजन्त पश्यमान; लङ् अपश्यत् ; अपश्यन्त । तुलना कीजिये —स्पश् ।

१. पा *पीना* **भ्वादि०** : लट् पिबति, पिबते ; लेट् पिबासि, पिबाति, और पिबात्; पिबाव, पिबायस्, पिबातस् ; लु० लो० पिबत् ; लोट् पिबतु; पिबस्व; पिबध्वम् ; शत्रन्त पिबन्त् ; लङ् अपिबत् । **जुहोत्यादि०** : लट् पिपीते (ब्रा०), पिपते (ब्रा०) ; वि० लि० पिपीय (ब्रा०) ; लङ् अपिपीत (ब्रा०) ; लोट् पिपतु (का०) । शानजन्त पिपान और पिपान (अथर्व०) । लिट् पपाथ, पपौ; पपथुर्, पपुर्; आत्मने० पपे; पपिरे; वि०लि० पपीयात् ; क्वस्वन्त पपिवांस्; कानजन्त पपान । लुङ् धातु : अपाम्, अपास्, अपात् ; अपाम, अपुर् ; लेट् पास् ; पायस् ; पान्ति; आशी०, पेयास् (प्र० पु० एक०); लोट् पाहि, पातु; पातम्, पाताम् ; पात और पातन, पान्तु; शत्रन्त पान्त्; स् : लु० लो० पास्त (प्र० पु० एक०) । लृट् पास्यति, पास्यते (ब्रा०) । क० वा० पीयते ; लुङ् अपायि । क्तान्त पीत । क्त्वाद्यन्त पीत्वा ; पीत्वी; —पाय । तुम० पीतये, पातवे, पातवै ; पातोस् (ब्रा०) ; पिबध्यै । ण्यन्त पाययति; सन्नन्त पिपाययिषेत् (का०) । सन्नन्त पिपासति; पिपीषति; शत्रन्त पिपीषन्त् ।

२. पा *रक्षा करना* **अदादि०** : लट् पामि, पासि, पाति; पाथस्, पातस् ; पाथ, पाथन, पान्ति ; लेट् पात्; पातस्; लोट् पाहि, पातु; पातम्, पाताम्; पात, पान्तु; शत्रन्त पान्त्; शानजन्त पान ; लङ् अपाम्, अपास्, अपात्; अपाम, अपुर् । लुङ स् : लेट् पासति ।

पि, पी *फूलना* **भ्वादि०** आत्मने० : लट् पयते । **अदादि०** आत्मने० : शानजन्त पिपान । **स्वादि०** : लट् पिन्विरे; शत्रन्त पिन्वन्त्, स्त्री० पिन्वती; शानजन्त पिन्वान । लिट् पीपेथ, पीपाय; पिप्यथुर् ; पिप्युर् ; पिप्ये (प्र०

पु० एक०); लेट् पीपॅयस्, पीपॅयत्; पीपॅयतस्; पीपॅयन्; पीपॅयत; पीपॅयन्त; लु० लो० पीपेस्; लोट् पीरिहि, पीपय, पिप्यतम्, पिप्यताम्; पिप्यत; क्वस्वन्त पीपिवांस्; कानजन्त पीप्यान और पीप्यानं। लिट्प्र० अपिपे; अपिपेम, अपीप्यन्; अपीपयत्; अपीपयन्त। क्तान्त पीनं (अथर्व०)।

पिन्व् स्थूल बनाना भ्वादि०: लट् पिन्वति, पिन्वते; लु० लो० पिन्वत्; पिन्वन्त; लोट् पिन्व; पिन्वतम्; पिन्वत; आत्मने० पिन्वस्व, पिन्वताम्; पिन्वध्वम्; शत्रन्त पिन्वन्त्; शानजन्त पिन्वमान; लङ अपिन्वम्, अपिन्वस्, अपिन्वत्; अपिन्वतम्; अपिन्वत, अपिन्वन्; आत्मने० प्र० पु० एक० अपिन्वत। लिट् पिपिन्वथुर्। क्तान्त पिन्वितं (ब्रा०)। ण्यन्त पिन्वयति (ब्रा०)। तुलना कीजिये पि फूलना से।

पिश् *सजाना* तुदादि०: लट् पिशंति, पिशंते। लिट् पिपेश; पिपिशुर्; आत्मने० पिपिशे; पिपिश्रे। लुङ धातु: शानजन्त पिशान। क० वा० पिश्यंते। क्तान्त पिष्टं; पिशितं। यङलुगन्त-शत्रन्त पेपिशत्, यङन्त शानजन्त पेपिशान।

पिष् *पीसना* रुधादि० परस्मै०: लट् पिनष्टि; पिंषन्ति; लु० लो० पिणक् (म० और प्र० पु० एक०); लोट् पिनष्टन; शत्रन्त पिंषन्त्; लङ पिणक्। तुदादि० परस्मै०: लङ अपीषन् (अथर्व०)। लिट् पिपेष; पिपिषे। लुङ स: अपिक्षन् (ब्रा०)। क० वा० पिष्यंते ब्रा०)। क्तान्त पिष्टं। क्त्वाद्यन्त पिष्ट्वा (ब्रा०)। तुम० पेष्टवै (ब्रा०); पेष्टुम् (ब्रा०)।

पीड् *दबाना*। लिट् पिपीडे। ण्यन्त पीडयति।

पुष् *पुष्ट होना* दिवादि० परस्मै०: लट् पुष्यति। लिट् पुपोष; वि०लि० पुपुष्यास्; क्वस्वन्त पुपुष्वांस्। लुङ धातु: आशी० पुष्यासम् (ब्रा०); पुष्यास्म (ब्रा०); अ: वि०लि० पुषेयम्; पुषेम। क्तान्त पुष्टं। तुम० पुष्यसे। ण्यन्त पोषयति।

पू साफ करना क्र्यादि० : लट् पुनामि, पुनाति; पुनन्ति ; पुनीते; पुनते (अथर्व०) और पुनते; लोट् पुनीहि और पुनीतात्, पुनातु; पुनीताम्; पुनीत, पुनीतन और पुनात, पुनन्तु; शत्रन्त पुनन्त्; शानजन्त पुनान ; लङ् अपुनन् । भ्वादि० आत्मने० : लट् पवते; लेट् पवाते; लोट् पवस्व, पवताम् ; पवध्वम् , पवन्ताम् ; शानजन्त पवमान ; लङ् अपवथास् । लिट् पुपुवुर् (ब्रा०); पुपुवे (ब्रा०) । लिट्प्र० अपुपोत् । लुङ् इष् : अपाविषुर् ; लु० लो० पविष्ट (प्र० पु० एक०) । क० वा० पूयते । क्तान्त पूत । क्त्वाद्यन्त पूत्वी ; पूत्वा; —पूय (ब्रा०) । तुम० पवितुम् (ब्रा०) । ण्यन्त पवयत्, पवयते (ब्रा०), पावयति (ब्रा०) ।

पृ पार जाना जुहोत्यादि० परस्मै० : लट् पिपर्षि, पिपर्ति ; पिपृथस् ; पिपृथ, पिप्रति ; लोट् पिपृहि और पिपृतात्, पिपर्तु; पिपृतम् ; पिपृत और पिपर्तन । लुङ् साभ्यास : अपीपरम्, अपीपरस् ; अपीपरन् ; लु० लो० : पीपरस्, पीपरत् और पीपरत् ; स् : लेट् पर्षति, पर्षत् ; लोट् पर्ष ; इष् : लेट् पारिषत् । तुम० पर्षणि । ण्यन्त पारयति; लेट् पारयाति ; शत्रन्त पारयन्त् ।

पृच् मिलाना रुधादि० : लट् पृणक्षि; पृञ्चन्ति; आत्मने० पृञ्चे, पृङ्क्ते; पृञ्चते (प्र० पु० बहु०) ; लु० लो० पृणक् (प्र० पु० एक०); वि०लि० पृञ्चीत ; लोट् पृङ्ग्धि (=पृङ्ग्धि), पृणक्तु; पृङ्क्तम् ; शत्रन्त पृञ्चन्त्; शानजन्त पृञ्चान; लङ् अपृणक् (प्र० पु० एक०) । जुहोत्यादि० परस्मै० : लोट् पिपृग्धि ; पिपृक्त । लिट् पपृचुर् (ब्रा०); लेट् पपृचासि; वि०लि० पपृच्याम्, पपृच्यात् ; शानजन्त पपृचान । लुङ् धातु : लेट् पर्चस् ; वि०लि० पृचीमहि; शानजन्त पृचान; स् : अप्राक् ; आत्मने० अपृक्षि, अपृक्त । क० वा० पृच्यते । क्तान्त पृक्त; -पृक्ण । तुम० —पृचे; पृचस् ।

पृण् भरना तुदादि० : लट् पृणति ; लेट् पृणाथ (म० पु० द्वि०); लोट् पृण; पृणत; पृणस्व; पृणध्वम् ; लङ् अपृणत् । तुम० पृणध्यै । तुलना कीजिये भरना से ।

पृ *भरना* क्र्यादि० : लट् पृणा॑मि, पृणा॑सि, पृणा॑ति; पृणी॑तस् ; पृण॑न्ति; लेट् पृणा॑ति, पृणात्; वि०लि० पृणीयात्; लोट् पृणीहि॑, पृणा॑तु ; पृणीत॑म् ; पृणीत॑, पृणीत॑न; आत्मने० पृणीष्व॑ ; शत्रन्त पृण॑न्त् ; लङ् अ॑पृणास्, अ॑पृणात् । जुहोत्यादि० : लट् पि॑पर्मि, पि॑पर्ति; पि॑प्रति (प्र० पु० बहु०) ; लोट् पि॑पर्तु; पिपृता॑म् ; पि॑पर्तन ; लङ् अ॑पिप्रत (प्र० पु० एक० = अ॑पिपृत) । लिट्—वि०लि० पुपूर्या॑स्; क्वस्वन्त पपृवां॑स् । लुङ् धातु : लोट् पूर्वि; आशी० प्रियासम् (अथर्व०); सन्यास : अ॑पूपुरम् (ब्रा०); लु० लो० पीपरत् ; लोट् पूपुरन्तु ; इष् : पूरिष्ठास् (ब्रा०) । क० वा० पूर्य॑ते (ब्रा०) । क्तान्त पूर्ण॑ ; पूर्त॑ । तुम० —पुरस् (का०) । ण्यन्त पूर॑यति, लेट् पूर॑याति ।

प्या *ऊपर तक भरना* दिवादि० आत्मने० : लट् प्या॑यसे; लोट् प्या॑यस्व, प्या॑यताम्; प्या॑यन्ताम् ; शानजन्त प्या॑यमान । लुङ् सिष् : वि०लि० प्यासिषीमहि (अथर्व०) । क्तान्त प्याता॑ । ण्यन्त प्याययति । क० वा० प्याय्य॑ते (ब्रा०) ।

प्रछ् *पूछना* तुदादि० : लट् पृच्छ॑ति, पृच्छ॑ते ; लेट् पृच्छात्; पृच्छा॑न्; आत्मने० पृच्छे॑ । लिट् पप्र॑च्छ; पप्रच्छु॑र् (ब्रा०) । लुङ् स् : अ॑प्राक्षम्, अ॑प्राट् ; अ॑प्राक्षीत् । लृट् प्रक्ष्य॑ति (ब्रा०)। क० वा० पृच्छ्य॑ते । क्तान्त पृष्ट॑। कृत्य पपृक्षे॑ण्य । तुम० —पृ॑च्छम्, —पृ॑च्छे; प्र॑ष्टुम् ।

प्रथ् *फैलना* भ्वादि० आत्मने० : लट् प्र॑थते । लिट् म० पु० पप्र॑थ (= पप्र॑त् थ ?); आत्मने० पप्रथे॑ और प॑प्रथे (प्र० पु० एक०); लेट् पप्र॑थस्, पप्र॑थत् ; पप्र॑थन्; लु० लो० पप्रथन्त; कानजन्त पप्रथान॑ । लुङ् धातु : शानजन्त प्रथान॑; इष् : प्र० पु० एक० आत्मने० अ॑प्रथिष्ट; प्र॑थिष्ट । ण्यन्त प्रथ॑यति, प्रथ॑यते ।

प्रा *भरना* अदादि० परस्मै० : लट् प्रा॑सि । लिट् पप्रा॑थ, पप्रा॑ और पप्री॑; पप्र॑थुर्, पप्र॑तुर; पप्रु॑र्; आत्मने० पपृषे॑, पप्रे॑; क्वस्वन्त पपृवां॑स् । लुङ्

यान्त : अप्रान् ; लेट् प्रास् ; स् : प्र० पु० एक० अप्रास् । क० वा० लुङ् अप्रापि । क्तान्त प्रातं ।

प्री प्रसन्न करना क्र्यादि० : लट् प्रीणाति; प्रीणीते; शत्रन्त प्रीणन्त्; शानजन्त प्रीणानं । लङ् अप्रीणात् । लिट् पिप्रिये; लेट् पिप्रयस्, पिप्रयत्; लोट् पिप्रीहि; पिप्रयस्व; शानजन्त पिप्रियाणं । लिट्प्र० अपिप्रयम्, अपिप्रेन् (ब्रा०); अपिप्रयन् । लुङ् स् : अप्रैषीत् (ब्रा०); लेट् प्रेषत् । क्तान्त प्रीतं । क्त्वान्त प्रीत्वा (ब्रा०) । सन्नन्त पिप्रीषति ।

प्रुथ् नाक से घर्घर शब्द करना भ्वादि० : लट् प्रोथति; शत्रन्त प्रोथन्त् ; शानजन्त प्रोथमान । क्त्वान्त –प्रुथ्य । यङ्लुगन्त शत्रन्त पोप्रुथत् ।

प्रुष् छिड़कना स्वादि० : लट् प्रुष्णुवन्ति; प्रुष्णुते; लेट् प्रुष्णवत् । तुदादि० परस्मै० : लोट् प्रुष; शत्रन्त प्रुषन्त् । दिवादि० परस्मै० : लङ् अप्रुष्यत् (ब्रा०) । क्र्यादि० परस्मै० : शत्रन्त प्रुष्णन्त् (ब्रा०) । लृट्-शत्रन्त प्रोषिष्यन्त् । क्तान्त प्रुषितं ।

प्लु तैरना भ्वादि० : लट् प्लवते; प्लवति (ब्रा०) । लिट् पुप्लुवे (ब्रा०) । लुङ् साभ्यास : अपिप्लवन् (ब्रा०) ; स् : अप्लोष्ट (ब्रा०) । लृट् प्लोष्यति, प्लोष्यते (ब्रा०) । क्तान्त प्लुतं । क्त्वान्त –प्लुय (का०) । ण्यन्त प्लावयति (ब्रा०) । यङन्त पोप्लूयते (ब्रा०) ।

प्सा निगलना अदादि० परस्मै० : लट् प्साति । क० वा० अप्सीयत (ब्रा०) । क्तान्त प्सातं । क्त्वान्त –प्साय (ब्रा०) ।

फण् उछलना : ण्यन्त फाणयति । यङ्लुगन्त शत्रन्त पनीफणत् ।

बन्ध् बांधना क्र्यादि० : लट् बध्नामि; बध्नीमस्, बध्नन्ति; आत्मने० बध्नते, (प्र० पु० बहु०); लोट् बधान, बध्नातु; बध्नन्तु ; आत्मने० बध्नीताम् (प्र० पु० एक०) । लङ् अबध्नात्; अबध्नन् ; आत्मने० अबध्नीत (प्र० पु० एक०) । लिट् बबन्ध; बेधुर् । लृट् भन्त्स्यति । क० वा० बध्यते । क्तान्त बद्धं । क्त्वान्त बद्ध्वा; बद्ध्वाय (ब्रा०); –बध्य । तुम०-बधे । ण्यन्त –बन्धयति (ब्रा०) ।

बाध् *पीड़ित करना, दबाना* **भ्वादि०** आत्मने० : लट् बा॑धते। लिट् बबाधे॑। लुङ् इष् : लु० लो० **बाधिष्ट**। क्तान्त बाधि॑त। क्त्वाद्यन्त -बा॑ध्य। तुम० बा॑धे। ण्यन्त बाध॑यति। सन्नन्त बि॑भत्सते; बि॑बाधिषते (ब्रा०)। यङन्त बाबधे (प्र०पु० एक०); बद्बधे॑; शानजन्त बा॑बधान; बद्बधान॑।

बुध् *जागना* **भ्वादि०** परस्मै० : लट् बो॑धति; लेट् बो॑धाति; लु० लो० बो॑धत्; लोट् बो॑धतु। **दिवादि०** : लट् बु॑ध्यते; वि० लि० बु॑ध्येम; लोट् बु॑ध्यस्व; बु॑ध्यध्वम्; शत्रन्त बु॑ध्यमान। लिट् बुबुधे॑; लेट् बुबोधस्, बु॑बोधति; बुबोधथ; कानजन्त बुबुधान॑। लुङ् धातु : आत्मने० प्र० पु० बहु० अ॑बुध्रन्, अ॑बुध्रम्; लोट् : बोधि॑ (म० पु० एक०); शानजन्त बुधान॑; अ : लु० लो० बुध॑न्त; साभ्यास : अ॑बूबुधत्; स् : आत्मने० अ॑भुत्सि; अ॑भुत्स्महि, अ॑भुत्सत; इष् : लेट् बो॑धिषत्। लृट् भोत्स्य॑ति (ब्रा०)। क० वा० लुङ् अ॑बोधि। क्तान्त बुद्ध॑। क्त्वाद्यन्त -बुध्य (ब्रा०)। तुम० -बु॑धे। ण्यन्त बोध॑यति; बोध॑यते (ब्रा०)। यङ्लुगन्त बो॑बुधीति (ब्रा०)।

बृह् *बड़ा बनाना* **तुदादि०** परस्मै०: लट् बृह॑ति। **भ्वादि०** : लट् बृं॑हति, बृं॑हते (ब्रा०)। लिट् बबर्ह॑। कानजन्त बबृहाण॑। लुङ् इष् : लु० लो० ब॑र्हीस्, ब॑र्हीत्। ण्यन्त बर्ह॑य। यङ्लुगन्त लेट् ब॑र्बृहत्; लोट् बर्बृ॑हि।

ब्रू *कहना* **अदादि०** : लट् ब्र॑वीमि, ब्र॑वीषि, ब्र॑वीति; ब्रूम॑स्, ब्रुव॑न्ति; आत्मने० ब्रुवे॑, ब्रूषे॑, ब्रूते॑ और ब्रुवे॑; ब्रुवा॑ते; ब्रुव॑ते; लेट् ब्र॑वाणि और ब्र॑वा, ब्र॑वसि और ब्र॑वस्, ब्र॑वत्; ब्र॑वाम, ब्र॑वाथ (अथर्व०), ब्र॑वन्; आत्मने० ब्र॑वावहै, ब्र॑वैते; ब्र॑वामहै; वि०लि० ब्रूया॑त्; ब्रूया॑तम्; आत्मने० ब्रुवीत॑; ब्रुवीम॑हि; लोट् ब्रूहि॑ और ब्रूता॑त्, ब्र॑वीतु; ब्रूत॑म्; ब्रूत॑ और ब्र॑वीतन, ब्रुव॑न्तु; शत्रन्त ब्रुव॑न्त्; शानजन्त ब्रुवाण॑। लङ् अ॑ब्रवम्, अ॑ब्रवीस्, अ॑ब्रवीत्; अ॑ब्रूताम्; अ॑ब्रवीत, अ॑ब्रुवन्।

भक्ष् *खाना* : लुङ् साभ्यास : अ॑बभक्षत् (ब्रा०); ण्यन्त भक्ष॑यति; भक्ष॑यते (ब्रा०)। क० वा० भक्ष्य॑ते (ब्रा०)।

भज् *बांटना* **भ्वादि०** : लट् भंजति, भंजते । **अदादि०** परस्मै० : लट् भंक्षि (=लोट्) । लिट् म० पु० एक० बभंक्थ (ब्रा०), प्र० पु० एक० बभाज; आत्मने० भेजे; भेजाते ; भेजिरे ; कानजन्त भेजान । लुङ् साभ्यास : अबीभजुर् (ब्रा०); स् : अभाक् और अभाक्षीत् ; आत्मने० अभक्षि, अभक्त; लेट् भक्षत्; लु० लो० भाक् (म० और प्र० पु० एक०); वि०लि० भक्षीय, भक्षीत; भक्षीमहि ; आशी० भक्षीष्ट । लृट् भक्ष्यति, भक्ष्यते(ब्रा०) । क० वा० भज्यते । क्तान्त भक्त । क्त्वाद्यन्त भक्त्वा; भक्त्वाय; –भज्य (ब्रा०) । ण्यन्त भाजयति ; क० वा० भाज्यते ।

भञ्ज् *तोड़ना* **रुधादि०** परस्मै० : लट् भनक्ति ; लोट् भङ्ग्धि, भनक्तु; शत्रन्त भञ्जन्त् । लङ् अभनस् (अथर्व० के अभनक् के स्थान पर) । लिट् बभञ्ज । क० वा० भज्यते ।

भन् *बोलना* **भ्वादि०** : लट् भनति; भनन्ति ; लु० लो० भनन्त । लङ् भनन्त ।

भस् *निगलना* **जुहोत्यादि** : लट् बभस्ति; बप्सति ; लेट् बभसत् ; बप्सथस्; शत्रन्त बप्सत् । **तुदादि०** परस्मै० : लट् भसथस् । **भ्वादि०** परस्मै० : लु० लो० भसत् ।

भा *चमकना* अदादि० परस्मै० : भासि, भाति; भान्ति; लोट् भाहि ; शत्रन्त स्त्री० भाती । लृट् भास्यति (ब्रा०) ।

भिक्ष् *मांगना* **भ्वादि०** आत्मने० : लट् भिक्षते; लु० लो० भिक्षन्त ; वि०लि० भिक्षेत ; शानजन्त भिक्षमाण । लिट् बिभिक्षे (ब्रा०) ।

भिद् *फाड़ना* रुधादि० : लट् भिनद्मि, भिनत्सि, भिनत्ति; भिन्दन्ति; लेट् भिनदस्, भिनदत् ; लु० लो० भिनत् (म० और प्र० पु० एक०); वि०लि० भिन्द्यात्; लोट् भिन्धि, भिनत्तु; भिन्तत; शत्रन्त भिन्दन्त् ; शानजन्त

भिन्दान ; लङ् भिनत् (म० और प्र० पु० एक०); अभिनत् (प्र० पु० एक०); अभिन्दन् । लिट् बिभेद; बिभिदुर् । लुङ् धातु : अभेदम्, भेत् (म० और प्र० पु० एक०); अभेत् (प्र० पु० एक०); लेट् भेदति; लु० लो० भेत् (म० पु० एक०); शत्रन्त भिदन्त्; अ : वि०लि० भिदेयम्; स् : लु० लो० भित्त्यास्। लृट् भेत्स्यते (ब्रा०)। क० वा० भिद्यते (ब्रा०); लुङ् अभेदि (ब्रा०)। क्तान्त भिन्न । क्त्वाद्यन्त भित्त्वा; –भिद्य । तुम० भेत्तवै (ब्रा०); भेत्तुम् (ब्रा०)। सन्नन्त बिभित्सति ।

भी डरना जुहोत्यादि० परस्मै० : लट् बिभेति; बिभ्यति; लु०लो० बिभेस्; वि०लि० बिभीयात्; लोट् बिभीत, बिभीतन; शत्रन्त बिभ्यत्; लङ् बिभेस्, अबिभेत् । भ्वादि० आत्मने० : लट् भयते ; लेट् भयाते ; लोट् भयताम् (प्र० पु० एक०) ; लङ् अभयन्त ; शानजन्त भयमान । लिट् बिभय (उ० पु० एक०), बिभाय (ब्रा० में बीभाय रूप भी उपलब्ध होता है); बिभ्यतुर्; बिभ्युर्; क्वस्वन्त बिभीवांस् । आमन्त लिट् बिभयाञ्चकार । लुङ् धातु : लु० लो० भेस् (तं० सं०); भेम; शानजन्त भियान; साभ्यास : बीभयत् ; अबीभयुर् (खि०); अबीभयन्त; स् : भैषीस् (अथर्व०); अभैष्म, अभैषुर्; शानजन्त भियसान (अथर्व०) । लृङ् अभेष्यत् (ब्रा०)। क्तान्त भीत । तुम० भियसे । ण्यन्त भीषयते (ब्रा०); लुङ् बीभिषस् ; बीभिषथास् ।

१. भुज् उपभोग करना रुधादि० आत्मने०: लट् भुङ्क्ते; भुञ्जते और भुञ्जते ; लेट् भुनजामहै; शत्रन्त स्त्री० भुञ्जती । लिट् बुभुजे; बुभुज्महे, बुभुज्रिरे । लुङ् धातु : लेट् भोजते; लु० लो० : भोजम्; अ : वि०लि० भुजेम; लोट् भुज (तं० सं०) । क० वा० भुज्यते (ब्रा०)। तुम० भुजे; भोजसे । ण्यन्त भोजयति ।

भुज् मोड़ना तुदादि० परस्मै० : लु० लो० भुजत्; लोट् भुज (वा० सं०)। लिट्प्र० अबुभोजीस् । क्त्वाद्यन्त –भुज्य (ब्रा०) ।

भुर् *हिलना* तुदादि० : लु० लो० भुरंन्त; लोट् भुरंन्तु; शानजन्त भुरंमाण।
यङ्लुगन्त जर्भुरीति ; शत्रन्त जर्भुरत्; यङन्त-शानजन्त जर्भुराण।

भू *होना* भ्वादि० : लट् भंवति; भंवते (ब्रा०)। लिट् बभू́व, बभू́थ और बभू́विथ, बभू́व; बभूवंथुर्, बभूवंतुर्; बभूविमं, बभूवं, बभूवु́र्; वि०लि० बभूयांस्, बभूयांत्; लोट् बभू́तु; क्वस्वन्त बभूवांस्। लुङ् धातु : अंभुवम्, अंभूस्, अंभूत्; अंभूतम्, अंभूताम्; अंभूम, अंभूत और अंभूतन, अंभूवन्; लेट् भु́वानि, भु́वस्, भु́वत्; भूंथास्, भूतस्; भु́वन्; लु० लो० भु́वम्, भू́स्, भू́त्; भूम; वि०लि० भूयास्, भूयात्; भूयांम; आशी० भूयांसम्, प्र० पु० भूयांस् ; भूयांस्म, भूयांस्त; लोट् बोधि (भूधि के स्थान पर), भूतु; भूतंम्; भूतं और भूतंन; अ : भु́वस्, भु́वत्; साभ्यास : अंबूभुवत्। लृट् भविष्यंति। लुट् भवितां (ब्रा०)। क्तान्त भूतं। कृत्य भंव्य और भाव्यं; भंवीत्व। क्त्वाद्यन्त भू́त्वी́, भूत्वां; -भू́य। तुम० भुवे́, -भु́वे, -भ्वे́; भूषंणि; भंवितुम् (ब्रा०); भंवितोस् (ब्रा०)। ण्यन्त भावंयति। सन्नन्त बु́भूषति। यङ्लुगन्त बोंभवीति।

भृ *धारण करना* भ्वादि० : लट् भंरति, भंरते। जुहोत्यादि० : लट् बिंभर्मि, बिंभर्षि, बिंभर्ति; बिभृथंस्, बिभृतंस् ; बिभृमंसि और बिभृमंस् बिभृथं, बिंभ्रति ; लेट् बिंभराणि, बिंभरत् ; वि०लि० बिभृयात् ; लोट् बिभृहिं, बिंभर्तु; बिभृताम् ; बिभृतां (द्वि० म०) ; शत्रन्त बिं́भ्रत् ; लङ् अंबिभर्। लिट् जभंर्थ, जभांर; जभ्रु́र् ; आत्मने० जभृषे́, जभ्रे́; जभ्रिरे́; बभा́र (ब्रा०); आत्मने० बभ्रे́; कानजन्त बभ्राणं; लेट् जभंरत्। लिट्प्र० अंजभर्तन। लुङ् धातु : आशी० भ्रियांसम् ; लोट् भृतंम्; स् : अंभार्षम्, प्र० पु० अंभार्; अंभार्ष्टम्; लेट् भंर्षत्; लु० लो० प्र० पु० एक० भांर् ; इष् : अंभारिषम्। लृट् भरिष्यंति। लुट् भर्तां (ब्रा०)। लृङ् अंभरिष्यत्। क० वा० भ्रियंते; लेट् भ्रियाते; लुङ् भांरि। क्तान्त भृतं। क्त्वाद्यन्त -भृत्य। तुम० भंर्तुम् ; भंर्तवे, भंर्तवै́; भंरध्यै; भंर्मणे। सन्नन्त बुभूर्षति (ब्रा०)। यङ्लुगन्त

जर्भृतस् ; भरिभ्रति (प्र० पु० बहु०) ; लेट् भरिभरत् ; शत्रन्त भरिभ्रत् ।

भ्रंश् *गिरना* **भ्वादि०** : लट् –लु० लो० भ्रंशत् । लुङ अ : लु० लो० भ्रशत् । क्तान्त –भृष्ट; भ्रष्ट । ण्यन्त शत्रन्त भ्राशयन्त् ।

भ्राज् *चमकना* **भ्वादि०** आत्मने० : लट् भ्राजते ; शानजन्त भ्राजमान । लुङ धातु : अभ्राट् ; आशी० भ्राज्यासम् । क० वा० लुङ अभ्राजि ।

मह्, मह् *बड़ा होना* **भ्वादि०** : लट् मंहते; मंहे (प्र० पु० एक०) ; वि०लि० मंहेम, मंहेत; लोट् मंहतम्; शानजन्त मंहमान । लङ अमंहत । लिट् मामहे (उ० पु० और प्र० पु०) । लेट् मामहस् ; लु० लो० मामहन्त; लोट् मामहस्व, मामहन्ताम् ; कानजन्त मामहान । क्तान्त महित (ब्रा०) । तुम० महे, महये । ण्यन्त महयति, महयते; लु० लो० महयम्; शत्रन्त महयन्त् ; शानजन्त महयमान ।

मज्ज् *डूबना* **भ्वादि०** परस्मै० : मज्जति । लुङ धातु : वि०लि० मज्ज्यात् (ब्रा०) । लृट् मंक्ष्यति, मंक्ष्यते (ब्रा०)। क्त्वाद्यन्त –मज्ज्य । ण्यन्त मज्जयति (ब्रा०) ।

मथ्, मन्थ् *मथना* **क्र्यादि०** : लट् मथ्नामि; मथ्नीते (ब्रा०) ; लोट् मथ्नीत, मथ्नन्तु ; शत्रन्त मथ्नन्त् ; लङ अमथ्नात् । **भ्वादि०** मन्थति, मन्थते; मथति (अथर्व०) । लिट् ममाथ; मेथुर् (ब्रा०); आत्मने० मेथिरे (ब्रा०) । लुङ धातु : लेट् मथत् ; इष् : अमन्थिष्टाम् (प्र० पु० द्वि०) ; अमथिषत (ब्रा०); लु० लो० मथीस्, मथीत् । लृट् मन्थिष्यति (ब्रा०) ; मथिष्यति, मथिष्यते (ब्रा०) । क० वा० मथ्यते । क्तान्त मथित । क्त्वाद्यन्त मथित्वा (ब्रा०) ; –मथ्य (ब्रा०) । तुम० मन्थितवै; मथितोस् (ब्रा०) ।

मद् *मस्त होना* **भ्वादि०** : लट् मदति, मदते । **जुहोत्यादि०** परस्मै० : लट् ममत्ति । **अदादि०** परस्मै० : लट् मत्ति (=लोट्) । **दिवादि०** परस्मै० :

लट् माद्यति (ब्रा०)। लिट् ममाद; लेट् ममदस्, ममदत्; ममन्; लोट् ममद्धि, ममत्तु; ममत्तन। लिट्प्र० अममदूर्। लुङ धातु: लोट् मत्स्व; साभ्यास: अमीमदस्; आत्मने०: अमीमदन्त; स्: अमत्सुर्; आत्मने० अमत्त (प्र० पु० एक०); अमत्सत (प्र० पु० बहु०); लेट् मत्सति और मत्सत्; मत्सथ; लु० लो० मत्सत (प्र० पु० बहु०); इष्: अमादिषुर्। क० वा० शानजन्त मद्यमान। क्तान्त मत्त। कृत्य -माद्य। तुम० मदितोस् (ब्रा०)। ण्यन्त मदयति; मादयति, मादयते; लेट् मादयासे, मादयाते; मादयैते; मादयाध्वे और मादयध्वै; तुम० मादयध्यै; क्तान्त मदित।

मन् *सोचना* **दिवादि०** आत्मने०: लट् मन्यते। **तनादि०** आत्मने०: लट् मन्वे; मन्महे, मन्वते; लेट् मनवै. मनवते; लु० लो० मन्वत (प्र० पु० बहु०); वि०लि० मन्वीत; लोट् आत्मने०: मनुताम् (प्र० पु० एक०); शानजन्त मन्वान; लङ अमनुत (प्र० पु० एक०); अमन्वत (प्र० पु० बहु०)। लिट् मेने (ब्रा०); मम्नाथे, मम्नाते; वि०लि० ममन्यात्; लोट् ममन्धि। लिट्प्र० अममन् (प्र० पु० एक०)। लुङ धातु: अमत; अमन्महि; लेट् मनामहे; मनन्त; शानजन्त मनान; स्: आत्मने० अमंस्त; अमंसाताम्; अमंसत; लेट् मंसै, मंससे, मंसते और मंसतै (तै० सं०); मंसन्ते; लु० लो० मंस्थास्, मंस्त और मांस्त (अथर्व०); वि०लि० मंसीय, मंसीष्ठास्, मंसीष्ट; मंसीमहि; मंसीरत; लोट् मन्स्वम् (ब्रा०)। लृट् मनिष्ये; मंस्यते (ब्रा०)। क्तान्त मत। क्त्वाद्यन्त -मत्य (ब्रा०)। तुम० मन्तवे, मन्तवै; मन्तोस् (ब्रा०)। ण्यन्त मानयति; वि०लि० मानयेत्। सन्नन्त मीमांसते (अथर्व०), मीमांसति (ब्रा०); लुङ इष्: अमीमांसिष्ठास् (ब्रा०), क्तान्त मीमांसित (अथर्व०)।

मन्द् *मस्त करना* **भ्वादि०**: लट् मन्दति, मन्दते। लिट् ममन्द; लेट् ममन्दत्। क्वस्वन्त स्त्री० ममन्दुषी। लिट्प्र० अममन्दुर्। लुङ धातु: मन्दुर्; शानजन्त मन्दान; इष्: अमन्दीत्; अमन्दिषुर्; मन्दिष्ट

(प्र० पु० एक० आत्मने०); अ॑मन्दिषाताम् (प्र० पु० द्वि० आत्मने०); वि० लि० मन्दिषीम॑हि (वा० सं०)। तुम० मन्द॑ध्यै। ण्यन्त मन्द॑यति; तुम० मन्दय॑ध्यै।

१. मा *मापना* जुहोत्यादि०: लट् मिमे, मि॑मीते; मिमाते; मिमीमहे, मिमते; वि०लि० मिमीयास्, मि॑मीयात्; लोट् मिमीहि॑, मि॑मातु; मिमीत॑म्, मिमीत॑म्; आत्मने० मिमीष्व; मि॑मायाम्; शानजन्त मि॑मान। लङ् अ॑मिमीयास्, अ॑मिमीत। लिट् मम॑तुर्; ममु॑र्; मम॑ (उ० और प्र० पु०); मम॑ते; ममिरे॑। लुङ् धातु: लोट् माहि॑; मास्व॑; शानजन्त मा॑न (तै० सं०); स्: अ॑मासि; लेट् मा॑साते (अथर्व०)। क० वा० लुङ् अ॑मायि। क्तान्त मित॑। कृत्य मे॑य (अथर्व०)। क्त्वाद्यन्त मित्वा॑; —मा॑य। तुम० —मे॑, —मै॑।

२. मा *रंभाना*: जुहोत्यादि० परस्मै०: लट् मि॑माति; मिमन्ति। लिट् मिमा॑य; लेट् मीमयत्। लिट्प्र० अ॑मीमेत्। तुम० मा॑तवै॑। यङ्लुगन्त शत्रन्त मे॑म्यत्।

मि *स्थिर करना*: स्वादि० परस्मै०: लट् मिनो॑मि, मिनो॑ति; लेट् मिन॑वाम; लु० लो० मिन्व॑न्; लोट् मिनो॑तु। लङ् मिन्व॑न्। लिट् मिमा॑य; मिम्यु॑र्। क० वा० मीय॑ते; शानजन्त मीय॑मान। क्तान्त मित॑। क्त्वाद्यन्त —मित्य (ब्रा०)।

मिक्ष् *मिश्रित करना*: लिट् मिमिक्ष॑थुर्, मिमिक्ष॑तुर्; मिमिक्षे॑; मिमिक्षिरे॑। लोट् मिमिक्ष्व॑। ण्यन्त मेक्ष॑यति (ब्रा०)।

मिथ् *विकल्पित करना* भ्वादि०: लट् मे॑थामसि; आत्मने० मे॑थेते। तुदादि० शत्रन्त मिथ॑न्त्। लिट् मिमे॑थ। क्तान्त मिथित॑।

मिश् *मिश्रित होना*: सन्नन्त मि॑मिक्षति; लोट् मि॑मिक्ष; मि॑मिक्षतम्, मि॑मिक्षताम्।

मिष् *आँख झपकना* **तुदादि०** परस्मै० : लट् मिषंति; मिषन्ति ; शत्रन्त मिषंन्त् । तुम० –मिषस् ।

मिह् *पानी बहाना* **भ्वादि०** : लट् मेहति ; शत्रन्त मेहन्त् ; शानजन्त मेघमान । लुङ् स : अमिक्षत् (ब्रा०) । लृट् मेक्ष्यति । क्तान्त मीढ । तुम० मिहे । ण्यन्त मेहयति । यङ्लुगन्त मेमिहत् (ब्रा०) ।

मी *क्षति पहुँचाना* **क्र्यादि०** : लट् मिनामि, मिनाति; मिनीमसि, मिनन्ति; लेट् मिनत् ; मिनाम; लु० लो० मिनीत् (अ० वे०); मिनन्; शत्रन्त मिनन्त्; शानजन्त मिनान । लङ् अमिनास्, अमिनात्; अमिनन्त । **दिवादि०** आत्मने० : लट् मीयसे, मीयते ; वि०लि० मीयेत (ब्रा०) । लिट् मिमाय । मीमय (अ० वे०) । लुङ् स् : लु० लो० मेषि, मेष्ठास्, मेष्ट । क० वा० मीयते; लुङ् अमायि (ब्रा०) । क्तान्त मीत । तुम० मेतोम् (ब्रा०); -मियम्, –मिये । यङन्त-शानजन्त मेम्यान ।

मीव् *धक्का देना* **भ्वादि०** परस्मै० : लट् मीवति; शत्रन्त मीवन्त् । क्तान्त –मूत, मीवित (ब्रा०) । क्त्वाद्यन्त मीव्य (ब्रा०) ।

मुच् *छोड़ना* **तुदादि०** : लट् मुञ्चति, मुञ्चते ; लेट् मुञ्चासि, मुञ्चात् ; लोट् मुञ्चतु; आत्मने० मुञ्चताम् ; शत्रन्त मुञ्चन्त् ; शानजन्त मुञ्चमान । लङ् अमुञ्चत् ; आत्मने० अमुञ्चत । **दिवादि०** आत्मने० : लट् मुच्यसे; लेट् मुच्यातै (अ० वे०) । लिट् मुमुच्महे, मुमुच्रे ; लेट् मुमुचस् ; ममोचति, ममोचत्, ममुचत् ; लोट् मुमुग्धि, मुमोक्तु; म० पु० द्विव० मुमुक्तम्, मुमोचतम्; मुमोचत; कानजन्त मुमुचान । लिट्प्र० अमुमुक्तम् । लुङ् धातु : अमोक्; अमुक्तम् ; आत्मने० अमुग्ध्वम्; आशी० मुचीष्ट ; अ : मुचस्, अमुचत् ; लेट् मुचाति; मुचति; लु० लो० मुचस्, मुचत्; लोट् मुच; आत्मने० मुचध्वम्; स् : अमौक् (ब्रा०); आत्मने० अमुक्षि, अमुक्थास् ; लु० लो० मौक् (वा० सं०); आत्मने० मुक्षत (प्र० पु० बहु०); वि०लि० मुक्षीय । लृट् मोक्ष्यति, मोक्ष्यते (ब्रा०) । क०वा० मुच्यते; लुङ् अमोचि; लु० लो०

मो॑चि। क्तान्त मुक्त॑। क्त्वाद्यन्त मुक्त्वा (ब्रा०);–मु॑च्य। तुम० मोक्तुम् (ब्रा०)। सन्नन्त मु॑मुक्षति, मु॑मुक्षते; मो॑क्षते (ब्रा०); शानजन्त मु॑मुक्षमाण।

मुद् *आनन्दित होना* **भ्वादि०** आत्मने०: लट् मो॑दते। लिट् **मुमो॑द**। लुङ् धातु: वि०लि० **मुदीर्महि**; इष्: आशी० आत्मने० **मोदिषीष्ठास्**। क० वा० लुङ् **अ॑मोदि**। तुम० **मुदे॑**। ण्यन्त **मोद॑यति**, **मोद॑यते**,(ब्रा०); सन्नन्त मु॑मोदयिषति (ब्रा०)।

मुष् *चुराना* **क्र्यादि०** परस्मै०: लट् **मुष्णाति**; शत्रन्त **मुष्णन्त्**; लङ् **अ॑मुष्णास्**, **अ॑मुष्णात्**; **अ॑मुष्णीतम्**। **भ्वादि०** परस्मै०: लट् **मो॑षथ**। लुङ् इष्: लु० लो० **मो॑षीस्**। क्तान्त **मुषि॑त**। क्त्वाद्यन्त **–मु॑ष्य**। तुम० **मुषे॑**।

मुह् *हक्का बक्का रह जाना* **दिवादि०** परस्मै०: लट् **मु॑ह्यति**। लिट् **मुमो॑ह** (ब्रा०)। लुङ् अ: **अ॑मुहत्** (ब्रा०); साभ्यास: **अ॑मूमुहत्**। लृट् **मोहिष्य॑ति** (ब्रा०)। क्तान्त **मुग्ध॑**; **मूढ** (अथर्व०)। तुम० **मुहे॑**। ण्यन्त **मोह॑यति**; क्त्वाद्यन्त **मोहयित्वा॑**।

मूर्छ्, मूर् *बढ़ना* **भ्वादि०** परस्मै०: लङ् **अ॑मूर्छत्**। क्तान्त **मूर्त॑** (ब्रा०)। ण्यन्त **मूर्छ॑यति** (ब्रा०)।

१. मृ *मरना* **भ्वादि०**: लट् **म॑रति**, **म॑रते**; **म॑रामहे**; लेट् **म॑राति**; **म॑राम**; आत्मने० **म॑रै**। लिट् **ममा॑र**; **मम्रु॑र्**; क्वस्वन्त **ममृवा॑स्**। लुङ् धातु: **अ॑मृत**; लु० लो० **मृथा॑स्**: वि०लि० **मुरीय**; साभ्यास: **अ॑मीमरत्** (ब्रा०)। लृट् **मरिष्य॑ति** (अथर्व०)। क०वा० **म्रिय॑ते**। क्तान्त **मृत॑**। क्त्वाद्यन्त **मृत्वा॑** (ब्रा०)। ण्यन्त **मारयति**।

२. मृ *कुचलना* **क्र्यादि०** परस्मै०: लोट् **मृणीहि॑**; शत्रन्त **मृण॑न्त्**। क० वा० **मूर्य॑ते** (ब्रा०)। क्तान्त **मूर्ण॑** (अथर्व०)। यङ्लुगन्त लोट् **मर्मर्तु॑**।

मृच् हानि पहुंचाना : लुङ् म् : आशी० मृक्षीष्ट । क्तान्त मृक्त । ण्यन्त मर्चयति; लेट् मर्चयात् ।

मृज् पोंछना अदादि० : लट् मार्ष्टि; मृजन्ति; मृजे; मृज्महे; लोट् मार्ष्टु; आत्मने० मृक्ष्व; मृड्ढ्वम् ; शानजन्त मृजान; लङ् मृष्ट (प्र० पु० एक० आत्मने०); अमृजत। रुधादि० : वि०लि० मृञ्ज्यात् (ब्रा०); लोट् मृणजानि (ब्रा०); लङ् मृञ्जत (प्र० पु० बहु०) । लिट् ममार्ज; मामृजुर्; ममृजे और मामृजे; वि०लि० मामृजीत। लुङ् स : अमृक्षत् ; अमृक्षाम; आत्मने० अमृक्षन्त; लोट् मृक्षतम्; साभ्यास : अमीमृजन्त (ब्रा०); म् : अमार्क्षीत् (ब्रा०) ; इष् : अमार्जीत् (ब्रा०) । लृट् म्रक्ष्यते (ब्रा०), मार्ज्यते (ब्रा०) । लुट् मार्ष्टा (ब्रा०)। क० वा० मृज्यते। क्तान्त मृष्ट; कृत्य० मार्ज्य; क्त्वाद्यन्त मृष्ट्वा; मार्जित्वा (ब्रा०) ; -मृज्य । तुम० -मृजस् (ब्रा०) । ण्यन्त मर्जयति, मर्जयते; मार्जयति, मार्जयते (ब्रा०) । यङन्त मर्मृज्यते; मरीमृज्यते (ब्रा०); लेट् मर्मृजत्; मर्मृजन्त ; शत्रन्त मर्मृजत्; मर्मृजान और मर्मृजान; मर्मृज्यमान; लङ् ममृज्म, ममृजत ।

मृद् मृदु होना तुदादि० : लट् मृळति; मृळते (ब्रा०); लेट् मृळाति और मृळात् ; लोट् मृळ और मृळतात् (अथर्व०), मृळतु । लिट् -वि० लि० ममृड्युर् । ण्यन्त मृळयति ।

मृण् कुचलना तुदादि० परस्मै० : लट् मृणति; लु० लो० मृणत् ; लोट् मृण । लङ् अमृणत् । लुङ् धातु : मृण्युर् (का०); साभ्यास : अमीमृणन् ।

मृद् मसलना : लुङ्-आशी० मृद्यासम् (ब्रा०); लृट् मर्दिष्यते (ब्रा०) । क० वा० मृद्यते (ब्रा०); क्तान्त मृदित। क्त्वाद्यन्त -मृद्य (ब्रा०) । तुम० मर्दितोस् (ब्रा०) ।

मृध् उपेक्षा करना भ्वादि० परस्मै० : लट् मर्धति । तुदादि० : लट्-लेट्

मृर्षाति । लुङ् धातु : वि० लि० मृर्ष्यास्; इष् : लेट् मर्विषत्; लु० लो० मर्वीस् ; मर्विष्टन् । क्तान्त मृड्ढ ।

मृश् स्पर्श करना तुदादि० : लट् मृशति, मृशति; लिट् मामृशुर्; ममृशे (ब्रा०)। लुङ स : अमृक्षत् ; लु० लो० मृक्षस् ; मृक्षत (म० पु० बहु०) । क्तान्त मृष्ट। क्त्वाद्यन्त –मृश्य। तुम० –मृशे। ण्यन्त मर्शयति (ब्रा०) । यङ्लुगन्त लेट् मर्मृशत्; यङन्त निर्दे० मरीमृश्यते (ब्रा०) ।

मृष् ध्यान न देना दिवादि० : लट् मृष्यते । लिट् मर्मर्ष । लुङ धातु : लु० लो० मृर्षास् ; अ : लु० लो० मृर्षन्त; साम्यास : लु० लो० मीमृषस्; इष् : लु० लो० मर्षिष्ठास् । तुम० –मृषे ।

मेद् मोटा होना दिवादि० परस्मै० : लोट् मेद्यन्तु । तुदादि० आत्मने० : लोट् मेदताम् (प्र० पु० एक०) । ण्यन्त मेदयति ।

म्यक्ष् सन्निविष्ट होना भ्वादि० परस्मै० : लोट् म्यक्ष । लिट् मिम्यक्ष; मिमिक्षुर्; आत्मने० मिमिक्षिरे । लुङ धातु : अम्यक्; क० वा० अम्यक्षि ।

म्रद् मसलना भ्वादि० : लट् म्रदते; लोट् म्रद । लृट् म्रदिष्यति, म्रदिष्यते । तुम० –म्रदे (ब्रा०) । ण्यन्त म्रदयति ।

म्रुच्, म्लुच् अस्त होना भ्वादि० परस्मै० : लट् म्रोचति; म्लोचति (ब्रा०); शत्रन्त म्रोचन्त् । लिट् मुम्लोच (ब्रा०) । लुङ अ : अम्रुचत् (ब्रा०) । शत्रन्त म्रुक्त (ब्रा०); म्लुक्त । तुम० म्रुच ।

म्ला ढीला पड़ना दिवादि० परस्मै० : लट् म्लायति (ब्रा०) । क्तान्त म्लात; म्लान (ब्रा०) । ण्यन्त म्लापयति ।

यज् यज्ञ करना भ्वादि० : लट् यजति, यजते; लेट् यजाति, यजाते; वि० लि० यजेत ; लोट् यजतु; यजन्ताम्; शत्रन्त यजन्त्; शानजन्त यजमान । लङ अयजत् ; अयजन्त । लिट् इजे (प्र० और उ० पु० एक०), येजे (प्र० पु० एक०) ; ईजाथे, ईजिरे; कानजन्त ईजान । लुङ धातु :

लोट् यक्ष्व; साभ्यास : अयीयजत् (ब्रा०); स् : अयास्, अयाट्; स : अयाक्षीत्; आत्मने० अयष्ट (प्र० पु० एक०); लेट् यक्षत्; म० पु० द्वि० यक्षतस्, प्र० पु० यक्षताम्; आत्मने० यक्षते; लु० लो० याट् (म० पु० एक०); आत्मने० यक्षि (उ० पु० एक०); वि०लि० यक्षीय; स : लोट् यक्षताम् (प्र० पु० द्वि०)। लृट् यक्ष्यते; यक्ष्यति (ब्रा०)। लुट् यष्टा (ब्रा०)। क्तान्त इष्ट। क्त्वाद्यन्त इष्ट्वा। तुम० यजध्यै; यजध्यै (नै० सं०); यष्टवे; यष्टुम्। ण्यन्त याजयति (ब्रा०)। सन्नन्त इयक्षति, इयक्षते; लेट् इयक्षान्; शत्रन्त इयक्षन्त्; शानजन्त इयक्षमाण।

यत् खींचना भ्वादि० : लट् यतति, यतते; लेट् आत्मने० यतैते (प्र०पु०द्वि०); वि०लि० यतेम; यतेमहि; लोट् यततम्; आत्मने० यतस्व; यतन्ताम्; शत्रन्त यतन्त्; शानजन्त यतमान। लिट् येतिरे। लुङ् धातु : शानजन्त यतान और यतान; इष् : अयतिष्ट (ब्रा०)। लृट् यतिष्यते (ब्रा०)। क्तान्त यत्त। क्त्वाद्यन्त –यत्य (ब्रा०)। ण्यन्त यातयति, यातयते; क० वा० यात्यते (ब्रा०)।

यम् अधिक खींचना भ्वादि० : लट् यछति, यछते; लेट् यछात्; वि०लि० यछेत्; लोट् यछ और यछतात्, यछतु। लङ् अयछत्; आत्मने० अयछ्यात्। लिट् ययन्थ, ययाम; येमथुर्, येमतुर्; येमिम, येम, येमुर्; आत्मने० येमे (प्र० पु० एक०); येमाते; येमिरे; कानजन्त येमान। लुङ् धातु : अयमम्; अयमुर्; लेट् यमस्, यमति और यमत्; यमन्; आत्मने० यमसे, यमते; वि०लि० यमीमहि; आशी० यम्यास् (प्र० पु० एक०); लोट् यन्धि; यन्तम्; यन्त और यन्तन; अ : वि० लि० यमेत्; स् : अयांसम्; अयान् (प्र० पु० एक०); आत्मने० अयांसि (ब्रा०), अयंस्त; अयंसत; लेट् यंसत्; यंसतस्; यंसन्; आत्मने० यंसते; लु० लो० आत्मने० यंसि; शानजन्त यमसान; इष् : यमिष्ट (प्र० पु० एक० आत्मने०)। लृट् यंस्यति (ब्रा०)। क० वा०

यन्य॑ति ; लुङ् अ॑यामि (ब्रा०); क्तान्त यत॑; कृत्य० यंसे॑न्य। क्त्वाद्यन्त —य॑त्य। तुम० य॑मितवै॑, यंन्तवे; य॑मम् ; य॑न्तुम् (ब्रा०)। ण्यन्त याम॑यति ; यम॑यति (ब्रा०)। सन्नन्त यि॑यंसति (ब्रा०)। यङ्-लुगन्त य॑ं यमीति।

यस् गरम होना जुहोत्यादि० परस्मै० : लोट् य॑यस्तु। दिवादि० परस्मै० : लट् य॑स्यति। क्तान्त यस्त॑; य॑सित॑ (ब्रा०)।

या जाना अदादि० परस्मै० : लट् या॑ति; या॑न्ति; वि०लि० याया॑म्; लोट् याहि॑, या॑तु; यात॑म्; यात॑ और यात॑न, या॑न्तु; शत्रन्त या॑न्त्। लङ् अ॑यास्, अ॑यात् ; अ॑यातम् ; अ॑याम, अ॑यातन, अ॑युर् (ब्रा०)। लिट् यया॑थ, ययौ॑; यय॑युर् ; यय॑, ययु॑र्; क्वस्वन्त ययिवा॑स्। लुङ् स् : अ॑यासम् ; अ॑यासुर् ; लेट् या॑सत् ; लु० लो० येषम् ; सिष् : अ॑यासिषम् , अ॑यासीत्; अ॑यासिष्टाम् ; अ॑यासिष्ट, अ॑यासिषुर्; लेट् या॑सिषत् ; आशी० आत्मने० यासिषीष्ठास्; लोट् यासिष्टम् ; यासिष्ट॑। लृट् यास्य॑ति। क्तान्त यात॑। क्त्वाद्यन्त यात्वा॑ (ब्रा०); —या॑य (ब्रा०)। तुम० या॑तवे, या॑तवै॑ (ब्रा०); या॑तय॑। ण्यन्त याप॑यति (ब्रा०)।

याच् माँगना भ्वादि० : लट् या॑चति, या॑चते। लिट् यया॑चे (ब्रा०)। लुङ् इष् : अ॑याचीत् ; अ॑याचिष्ट (ब्रा०) ; लेट् य॑ाचिषत् ; आत्मने० य॑ाचिषामहे। लृट् याचिष्य॑ते। क्तान्त याचित॑। क्त्वाद्यन्त याचित्वा॑ और य॑ाच्य (ब्रा०)। तुम० याचितुम्। ण्यन्त याच॑यति।

१. यु जोड़ना तुदादि० : लट् युव॑ति, युव॑ते। अदादि० यौ॑ति; आत्मने० युते॑ ; लेट् य॑वन्; लोट् युता॑म् (प्र० पु० एक० आत्मने०); शानजन्त युवान॑। लिट् युयुवे॑। लुट् युविता॑ (ब्रा०)। क्तान्त युत॑। क्त्वाद्यन्त —यू॑य। सन्नन्त यु॑यूषति। यङन्त योयुवे॑, यङलुगन्त शत्रन्त यो॑युवत् (अथर्व०) ; यङन्त-शानजन्त यो॑युवान।

२. यु जुदा करना जुहोत्यादि० : लट् युयो॑ति ; लेट् युय॑वत् ; लु० लो०

युयोयास् , युयोत; वि० लि० युयुयाताम् ; लोट् युयोधि, युयोतु; युयुतम् और युयोतम् ; युयोत और युयोतन । स्वादि० परस्मै० : लट् युछति; लोट् युछन्तु ; शत्रन्त युछन्त् । लुङ धातु : लेट् यवन्त; वि० लि० युयात् (ब्रा०) ,प्र० पु० द्वि० यूयाताम् (ब्रा०); आशी० यूयास् (प्र० पु० एक०); सामान्य : लु० लो० युयोत्; न् : योषति और योषत् ; योषतत्; लु० लो० यूषम् (अथर्व०); यौस् (म०पु० एक०); यौष्टम्; यौष्म, यौष्ट, यौषुर् ; आत्मने० योष्ठास् (ब्रा०); इष् : लु० लो० यावीस् । क० वा० लुङ अयावि । क्तान्त युत । तुम० योतवे ;योतवै; योतोस् । ण्यन्त यावयति; यवयति । यङ्लुगन्त यवन्त योयुवत् ; लङ अयोयवीत् ; लिट् योयाव ।

युज् जोड़ना रुधादि० : युनक्ति; युञ्जन्ति; युङ्क्ते; युञ्जते; लेट् युनजत्; युनजन् ; आत्मने० युनजते (प्र० पु० एक०) ; लु० लो० युञ्जत (प्र० पु० बहु०); लोट् युङ्ग्धि, युनक्तु; युनक्त, युञ्जन्तु ; आत्मने० युङ्क्ष्व, युङ्क्ताम् ; म० पु० द्वि० युञ्जाथाम् ; युङ्ग्ध्वम् ;शत्रन्त युञ्जन्त्; शानजन्त युञ्जान; लङ अयुनक् और आयुनक् ; अयुञ्जन्; आत्मने० अयुञ्जत (प्र० पु० बहु०) । लिट् युयोज ; युयुज्म ; आत्मने० युयुजे; युयुज्रे ; लेट् आत्मने० युयोजते (प्र० पु० एक०); कानजन्त युयुजान । लुङ धातु : आत्मने० अयुजि, अयुक्थास्, अयुक्त; अयुज्महि, अयुग्ध्वम् , युजत और अयुजन्; लेट् योजते; लु० लो० योजम् ; आत्मने० युक्त (प्र० पु० एक०) ; वि० लि० युज्याव, युज्यातम् ; लोट् युक्ष्व; शानजन्त युजान; स् : अयुक्षि; अयुक्षाताम् (प्र० पु० द्वि०); अयुक्षत (प्र० पु० बहु०) । लृट् योक्ष्यति (ब्रा०); योक्ष्यते । लुट् योक्ता (ब्रा०) । क० वा० युज्यते; लुङ अयोजि; लु० लो० योजि, क्तान्त युक्त । क्त्वाद्यन्त युक्त्वा, युक्त्वाय । तुम० युजे ;योक्तुम् (ब्रा०) ।

युध् युद्ध करना दिवादि० : लट् युध्यति, युध्यते; लेट् युध्यै ; लोट् युध्य; शत्रन्त युध्यत् ; शानजन्त युध्यमान; लङ

अयुध्यस्, अयुध्यत्। भ्वादि० परस्मै० : लट् योधन्ति (अथर्व०)। अदादि० परस्मै० : योत्सि (=लोट्) ; लिट् युयोध; युयुधुर्; आत्मने० युयुधाते (प्र० पु० द्वि०)। लुङ धातु : लेट् योधत्; लोट् योधि ; शानजन्त योधानं; इष् : अयोधीत् ; लेट् योधिषत् ; लु० लो० योधीस् ; लोट् योधिष्टम्। लृट् योत्स्यति, योत्स्यते (ब्रा०)। क्तान्त युद्धं। कृत्य० योध्य, युधेन्य। क्त्वाद्यन्त –युद्ध्वी। तुम० युधे, युधये; युधम्। ण्यन्त योधयति। सन्नन्त युयुत्सति, युयुत्सते।

युप् रोकना : लिट् युयोप; युयोपिम। लुङ साभ्यास : अयूयुपन् (ब्रा०)। क्तान्त युपित। ण्यन्त योपयति। यङन्त योयुप्यते (ब्रा०)।

येष् गरम होना भ्वादि० परस्मै० : लट् येषति; शत्रन्त येषन्त्।

रंह् वेग से चलना भ्वादि० : लट् रंहते ; शानजन्त रंहमाण। लङ अरंहस् ; आत्मने० अरंहत (प्र० पु० एक०)। कानजन्त ररहाणं। ण्यन्त रंहयति, रंहयते।

रक्ष् रक्षा करना भ्वादि० : लट् रक्षति, रक्षते। लिट् ररक्ष; कानजन्त ररक्षाणं। लुङ इष् : अरक्षीत् ; अराक्षीत् (ब्रा०) ; लेट् रक्षिषस्, रक्षिषत्। क्तान्त रक्षित। ण्यन्त रक्षयते। (ब्रा०)।

रज् रंगना दिवादि० : लङ अरज्यत। क्तान्त रक्त (ब्रा०)। ण्यन्त रजयति। यङलुगन्त रारजीति।

रद् खोदना भ्वादि० : लट् रदति रदते; लु० लो० रदत् ; लोट् रद; रदन्तु; आत्मने० रदन्ताम् (प्र० पु० बहु०); शत्रन्त रदन्त्। लङ अरदत्, रदत्। अदादि० परस्मै० : रत्सि (=लोट्)। लिट् ररद। क्तान्त रदित।

रध्, रन्ध् अधीन करना दिवादि० परस्मै० : लोट् रध्य, रध्यतु। लिट् ररधुर्। लुङ धातु : लोट् रन्धि (=रन्द्धि); अ : लेट् रधाम; लु० लो० रधम् ; साभ्यास : लेट् रीरधा; लु० लो० रीरधस्, रीरधत् ;

रीरधतम् ; रीरधत; इष् : लु० लो० रंन्धीस्। क्तान्त रद्धं। ण्यन्त रन्धंयति; लेट् रन्धंयासि।

रन् *आनन्द मनाना, प्रसन्न होना* **भ्वादि०** : लट् रंणति; लु० लो० रंणन्त; लोट् रंण। **दिवादि०** परस्मै० : लट् रंण्यसि, रंण्यति; रंण्यथस्; रंण्यन्ति। लिट् रारंण (उ० पु० एक०); लेट् रारंणस्, रारंणत् ; ररांणता (म० पु० बहु०)। लु० लो० रारंन् (प्र० पु० एक०); लोट् रारन्धि ; रारन्त (म० पु० बहु०), रारंन्तु। लिट्प्र० अंरारणुर्। लुङ इष् : अंराणिषुर् ; लु० लो० रंणिष्टन। ण्यन्त रणंयति।

रप् *बक-बक करना* **भ्वादि०** परस्मै० : लट् रंपति; लु० लो० रंपत्; वि० लि० रंपेम। लङ अंरपत्। यङलुगन्त रांरपीति।

रप्श् *भरा होना* **भ्वादि०** परस्मै० : रंप्शते; रंप्शन्ते। लिट् ररप्शें।

रभ्, रम्भ् *पकड़ना,* **भ्वादि०** : लट् रंभते। लिट् ररम्भं; आत्मने० रारभें; रेभिरें ; कानजन्त रेभाणं। लुङ स् : प्र० पु० एक० आत्मने० अंरब्ध; शानजन्त रभसानं। क्तान्त रब्धं। क्त्वाद्यन्त –रंभ्य। तुम० –रंभम्; –रंभे। ण्यन्त रम्भंयति, रम्भंयते (ब्रा०)। सन्नन्त रिंप्सते। (ब्रा०)।

रम् *आनन्दित होना, रमण करना* **भ्वादि०** आत्मने० : लट् रंमते। **क्र्यादि०** परस्मै० : लङ अंरम्णास्, अंरम्णात्। लुङ साभ्यास : अंरीरमत् ; लेट् रीरमाम; लु० लो० रीरमन्; स् : आत्मने० अंरंस्त (प्र० पु० एक०); अंरंसत (प्र० पु० बहु०); लु० लो० रंस्थांस् ; सिष् : लु० लो० रंसिषम्। लृट् रंस्यंते, रंस्यंति (ब्रा०)। क्तान्त रतं (ब्रा०)। क्त्वाद्यन्त रत्वां (ब्रा०)। तुम० रंन्तोस् (ब्रा०)। ण्यन्त रमंयति और रामंयति।

१. रा *देना* **जुहोत्यादि०** : लोट् ररीहि; आत्मने० ररास्व (अथर्व०); ररायाम् (प्र० पु० द्विव०); ररीध्वम् ; लेट् रंरते; शानजन्त रंराण। **अदादि०** : लट् रांसि (=लोट्); रातें (ब्रा०) ; लिट् ररिमं;

ररे´ (उ० पु० एक०), ररिधे´; रराथे; क्वस्वन्त ररिवांस् ; कानजन्त रराण´। लुङ धातु: अ´राध्वम् ; लोट् रा´स्व; स् : अ´रास्म; अ´रासत (प्र० पु० बहु०); लेट् रा´सत् ; रा´सन् ; आत्मने० रासते (प्र० पु० एक०); वि० लि० रासीयं; लोट् आत्मने० रासताम् (प्र० पु० एक०); रासाथाम् (म० पु० द्वि०); रासन्ताम् (प्र० पु० बहु०)। क्तान्त रात´।

२. रा भौंकना, दिवादि० परस्मै० : लट् रा´यसि; लोट् रा´य; शत्रन्त रा´यन्त्।

राज् शासन करना भ्वादि० परस्मै० : लट् रा´जति। अदादि० परस्मै० : लट् रा´ष्टि ;लु० लो० रा´ट्। लुङ इष् : अ´राजिषुर्। तुम० राजसे। ण्यन्त राज´यति (ब्रा०), राजयते।

राध् सफल होना, दिवादि आत्मने० : लोट् रा´ध्यताम्; शानजन्त रा´ध्यमान। स्वादि० परस्मै० लट् राध्नो´ति (ब्रा०)। लिट् ररा´ध। लुङ धातु: अ´राधम् (ब्रा०); लेट् राधत् और राधति; राधाम; आशी० राध्या´सम् ; राध्या´स्म; साभ्यास : अ´रीरधत् (ब्रा०); स् : अ´रात्सीस्; इष् : लु० लो० राधिषि (उ० पु० एक०)। लृट् रात्स्यति। क० वा० लुङ अ´राधि; क्तान्त राद्ध´। कृत्य० राध्य। क्त्वाद्यन्त राद्ध्वा (ब्रा०) –राध्य (ब्रा०)। तुम० इर´ध्यै। ण्यन्त राधयति।

रि बहना, क्र्यादि : लट् रिणा´ति; रिणीथस्; रिणन्ति; आत्मने० रिणीते´; रिणते ; लु० लो० रिणास् ; रिणन्; शत्रन्त रिण´न्त्; शानजन्त, रिणान´। लङ रिणा´स्, अ´रिणात्; अ´रिणीतम् ;अ´रिणीत। दिवादि : लट् री´यते; री´यन्ते; शानजन्त री´यमाण।

रिच् छोड़ना, रुधादि० परस्मै० : लट् रिणक्ति; लेट् रिण´चाव; लु० लो० रिणक् (प्र० पु० एक०)। लङ अ´रिणक् (म० पु० एक०); रिण´क् (प्र० पु० एक०)। लिट् रिरे´च; रिरिचुर् ; आत्मने०

रिरिक्षे॑, रिरिच्रे॑; रिरिचा॑थे; रिरिच्रे॑; वि० लि० रिरिच्य॑ाम्, रिरिच्यात्; क्वस्वन्त रिरिक्व॑ांस्; कानजन्त रिरिचान॑। लिट्प्र० अ॑रिरेचीत। लुङ धातु: लु० लो० आत्मने० रिक्या॑स्; लोट् रिक्तम्; स्: आ॑रैक् (प्र० पु० एक०); आत्मने० अ॑रिक्षि; साभ्यास: अ॑रीरिचत् (ब्रा०)। लृट् रेक्ष्य॑ते (ब्रा०)। क० वा० रिच्य॑ते; लङ अ॑रिच्यत; लुङ अ॑रेचि। क्तान्त रिक्त॑। ण्यन्त रेचयति (ब्रा०)।

रिप् *लीपना*: लिट् रिरिपु॑र्। क्तान्त रिप्त॑ (तुलना कीजिये लिप् से)।

रिभ् *गाना* भ्वादि० परस्मै०: लट् रे॑भति; रे॑भन्ति; शत्रन्त रे॑भन्त्। लङ रे॑भत्। लिट् रिरे॑भ। क० वा० रिभ्यते।

रिश् *फाड़ना* तुदादि०: लट् रिशा॑महे; लोट् रिश॑न्ताम्; शत्रन्त रिश॑न्त्। क्तान्त रिष्ट॑।

रिष् *क्षत होना* दिवादि०: लट् रि॑ष्यति; लेट् रि॑ष्यास्, रि॑ष्याति और रि॑ष्यात्; वि० लि० रि॑ष्येत्; रि॑ष्येम। भ्वादि० परस्मै०: लेट् रे॑षात्; लु० लो० रे॑षत्। लुङ अ: अ॑रिषन्; लेट् रिषाम, रिषाथ और रिषायन; शत्रन्त रि॑षन्त् और री॑षन्त्; साभ्यास: लु० लो० रीरिषस्, रीरिषत्; रीरिषत (म० पु० बहु०); वि० लि० रीरिषेस्; आशी० आत्मने० रीरिषीष्ट और रिरिषीष्ट (प्र० पु० एक०)। क्तान्त रिष्ट॑। तुम० रिषे॑; रिष॑स्। ण्यन्त रेष॑यति; तुम० रिषयध्यै। सन्नन्त रि॑रिक्षति।

रिह् *चाटना* अदादि०: लट् रे॑ढि; रिह॑न्ति; प्र० पु० बहु० रिह॑ते और रिहते॑; शत्रन्त रिह॑न्त्; शानजन्त रि॑हाण (वा० सं०) और रिहाण॑। क्वस्वन्त रिरिह्वांस्। क्तान्त रीढ॑। यङन्त रेरिह्य॑ते; यङ्लुगन्त शत्रन्त रे॑रिहत्; यङन्त-शानजन्त रे॑रिहाण। (तुलना कीजिये लिह् से)।

१. रु *चिल्लाना* तुदादि० परस्मै०: लट् रुव॑ति; लु० लो० रुव॑त्; लोट् रुव॑; शत्रन्त रुव॑न्त्। अदादि० (ब्रा०) रौ॑ति; रुव॑न्ति। लिट्

रुरुविरे (ब्रा०)। लुङ इष् : अ॑रावीत् ; [अ॑राविषुर्। क्तान्त रुन॑।
यङलुगन्त रो॑रवीति; शत्रन्त रो॑रुवत्; यङन्त-शानजन्त रो॑रुवाण(ब्रा०)।
लङ अ॑रोरवीत्।

२. रु *तोड़ना* : लुङ इष् : रा॑विषम्। क्तान्त रुत॑। यङलुगन्त-शत्रन्त रो॑रुवत्।

रुच् *चमकना* **भ्वादि०** : लट् रो॑चते। लिट् रुरो॑च; रुरुच्॑र्; रुरुचे॑ (प्र० पु० एक०) ; लु० लो० रुरुचन्त; वि० लि० रुरुच्या॑स्; क्वस्वन्त रुरुक्वाँस्; कानजन्त रुरुचान॑। लुङ धातु: शानजन्त रुचान॑; साभ्यास : अ॑रूरुचत्; आत्मने० अ॑रूरुचत (प्र० पु० एक०, ब्रा०); इष् : आत्मने० अ॑रोचिष्ट (प्र० पु० एक०); वि० लि० रुचिषीय॑ (अथर्व०)और रोचिषीय॑ (ब्रा०)। क० वा० लुङ अ॑रोचि। क्तान्त रुचित॑ (ब्रा०)। तुम० रुचे॑। ण्यन्त रोच॑यति, रोच॑यते (ब्रा०)। यङन्त-शानजन्त रो॑रुचान।

रुज् *तोड़ना* **भ्वादि०** परस्मै० : लट् रुज॑ति। लिट् रुरो॑जिथ, रुरो॑ज। लुङ धातु: लु० लो० रो॑क्; साभ्यास : अ॑रूरुजतम् (म० पु० द्वि०)। क्तान्त रुग्ण॑। क्त्वाद्यन्त रुक्त्वा॑ (ब्रा०); –रु॑ज्य –(ब्रा०)। तुम० रु॑जे।

रुद् *रोना* **अदादि०** परस्मै० : लट् रो॑दिति; रुद॑न्ति; लेट् रो॑दात् (खि०); शत्रन्त रुद॑न्त्। लङ अ॑रोदीत् (ब्रा०)। लुङ अ: अ॑रुदत्। ण्यन्त रोद॑यति।

१. रुध् *रोकना* **रुधादि०** : लट् रुण॑ध्मि, रुण॑द्धि; आत्मने० रुन्धे॑ (=रुन्ध्‌धे॑); रुन्धते (प्र० पु० बहु०); लेट् आत्मने० रुण॑धामहै; लोट् रुन्धि॑ (=रुन्द्‌धि॑); आत्मने० रुन्धाम् (=रुन्द्‌धाम्, प्र० पु० एक०); शानजन्त रुन्धान॑; लङ आत्मने० अ॑रुन्धत (प्र० पु० बहु०)। लिट् रुरो॑धिथ; आत्मने० रुरुध्रे॑। लुङ धातु: अ॑रोधम्; अ॑रुध्म; अ: अ॑रुधत्; अ॑रुधन्; लु० लो० रुध॑त्; शत्रन्त रुध॑न्त्;

न् : अरौत् ; अरौत्सीत् (ब्रा०); आत्मने० अरुत्सि (ब्रा०), अरुद्ध (ब्रा०) । लृट् रोत्स्यति, रोत्स्यते (ब्रा०) । क० वा० रुध्यते । क्तान्त रुद्ध । क्त्वाद्यन्त –रुध्य । तुम० –रुधम्, रुधम् (ब्रा०), –रोधम् (ब्रा०); रोद्धोस् (ब्रा०) । सन्नन्त रुरुत्सते (ब्रा०) ।

२. रुध् बढ़ना भ्वादि० परस्मै० : लट् रोधति ; लु० लो० रोधत् ।

रुप् तोड़ना दिवादि० परस्मै० : लट् रुप्यति (ब्रा०) । लुङ् नान्यान : अरुरुपत् । क्तान्त रुपित । ण्यन्त रोपयति (ब्रा०) ।

रुह् चढ़ना भ्वादि० : लट् रोहति, रोहते । लिट् रुरोहिथ, रुरोह; रुरुहुः । लुङ् धातु : शानजन्त रुहाण; अ : अरुहम्, अरुहस्, अरुहत् ; अरुहाम, अरुहन्; लेट् रुहाव ; लु० लो० रुहम्, रुहत् ; वि० लि० रुहेम; लोट् रुह; रुहतम् ; स : रुक्षस्, अरुक्षत्; अरुक्षाम । लृट् रोक्ष्यति (ब्रा०) । क्तान्त रूढ । क्त्वाद्यन्त रूढ्वा, –रुह्य । तुम० –रुहम् ; रोहिष्यै (तै० सं०); रोढुम् (ब्रा०) । ण्यन्त रोहयति; रोहयते (ब्रा०); रोपयति (ब्रा०) । सन्नन्त रुरुक्षति ।

रेज् काँपना भ्वादि० : लट् रेजति, रेजते; लु० लो० रेजत्; रेजन्त (प्र० पु० बहु०); शानजन्त रेजमान; लङ् अरेजताम् (प्र० पु० द्वि०); अरेजन्त । ण्यन्त रेजयति ।

लप् बड़बड़ करना भ्वादि० परस्मै० : लट् लपति; शत्रन्त लपन्त् । लृट् लपिष्यति (ब्रा०) । क्तान्त लपित । ण्यन्त लापयति; लापयते (ब्रा०) । यङ्लुगन्त लालपीति ।

लभ् लेना, भ्वादि० आत्मने० : लट् लभते । लिट् लेभिरे; कानजन्त लेभान । लुङ् स् (ब्रा०) : आत्मने० अलब्ध ; अलप्सत । लृट् लप्स्यति, लप्स्यते (ब्रा०) । क० वा० लभ्यते (ब्रा०); क्तान्त लब्ध । क्त्वाद्यन्त लब्ध्वा; –लभ्य (ब्रा०) । ण्यन्त लम्भयति, लम्भयते (ब्रा०) । सन्नन्त लिप्सते; लीप्सते (ब्रा०); क० वा० लिप्स्यति (ब्रा०) ।

लिख् कुरेदना **तुदादि०** : लट् लिखति; लिखते (ब्रा०)। लिट् लिलेख (ब्रा०)। लुङ् साभ्यास : अलीलिखत् (ब्रा०); इष् : लु० लो० लेखीस्। क्तान्त लिखित। क्त्वाद्यन्त –लिख्य (ब्रा०)।

लिप् लीपना **तुदादि०** परस्मै० : लट् लिम्पति। लिट् लिलेप, लिलिपुर् (ब्रा०)। लुङ् स् : अलिप्सत (प्र० पु० बहु०)। क० वा० लिप्यते (ब्रा०); क्तान्त लिप्त। क्त्वाद्यन्त –लिप्य (ब्रा०)।

लिह् चाटना **अदादि०** : लट् लेढि (ब्रा०)। ण्यन्त लेहयति। यङ् क्तान्त लेलिहित (ब्रा०)।

ली चिपटना **स्वादि०** आत्मने० : लट् लयते; लोट् लयन्ताम्। लिट् लिल्ये (ब्रा०); लिल्युर्; –लयांचक्रे। लुङ् स् : अलेष्ट (ब्रा०)। क्तान्त लीन। ण्यन्त लापयति (ब्रा०)। यङ्लुगन्त लेलायति; लिट् लेलाय।

लुप् तोड़ना **तुदादि०** परस्मै० लट् : लुम्पति; वि० लि० लुम्पेत्। क० वा० लुप्यते। क्तान्त लुप्त। क्त्वाद्यन्त –लुप्य। ण्यन्त लोपयति, लोपयते (ब्रा०)।

लुभ् चाहना **दिवादि०** परस्मै० : लट् लुभ्यति। लुङ् साभ्यास : अलूलुभत् (ब्रा०)। क्तान्त लुब्ध (ब्रा०)। ण्यन्त लोभयति; सन्नन्त लुलोभयिषति (ब्रा०)।

लू काटना (ब्रा०) **क्र्यादि०** परस्मै० : लट् लुनाति। **स्वादि०** परस्मै० : लट् लुनोति। क्तान्त लून।

वक्ष् बढ़ाना (=२ उक्ष्) : लिट् ववक्षिथ, ववक्ष; ववक्षतुर्; ववक्षुर्; आत्मने० ववक्षे; ववक्षिरे। लिट्प्र० ववक्षत्। ण्यन्त वक्षयति।

वच् बोलना **जुहोत्यादि०** परस्मै० : लट् विवक्मि, विवक्ति; लोट् विवक्तन। लिट् उवक्थ, उवाच और ववाच; ऊचिम, ऊचुर्; आत्मने० ऊचिषे; कानजन्त ऊचान। लुङ् धातु : आशी० उच्यासम् (ब्रा०); साभ्यास : अवोचत्; लेट् वोचा, वोचासि, वोचाति और वोचति; वोचाम; आत्मने० वोचावहै; लु० लो० वोचम्, वोचस्, वोचत्; वोचन्;

आत्मने० वो॑चे; वो॑चन्त; वि० लि० वोचे॑यम्, वोचे॑स्, वोचे॑त्; वोचे॑तन्; वोचे॑म, वोचे॑युर्; आत्मने० वोचे॑य; वोचे॑महि; लोट् वोचतात्, वोचतु; वोचतम्, वोचत। लृट् वक्ष्य॑ति। लृङ् अ॑वक्ष्यत् (ब्रा०)। लुट् वक्ता॑ (ब्रा०)। क० वा० उच्य॑ते; लुङ् अ॑वाचि। क्तान्त उक्त॑। कृत्य० व॑च्य। क्त्वाद्यन्त उक्त्वा॑ (ब्रा०); –उ॑च्य (ब्रा०)। तुम० व॑क्तवे; –व॑चे; व॑क्तुम् (ब्रा०); व॑क्तोस् (ब्रा०)। ण्यन्त वाच॑यति (ब्रा०)। सन्नन्त वि॑वक्षति, वि॑वक्षते (ब्रा०)। यङ्-लङ अ॑वावचीत्।

वज् *सुदृढ़ होना*; ण्यन्त *सुदृढ़ बनाना*: लट् वाज॑यामस्, वाज॑यामसि; आत्मने० वाज॑यते; लोट् वाज॑य; शत्रन्त वाज॑यन्त्।

वञ्च् *टेढा चलना* भ्वादि० परस्मै०: लट् व॑ञ्चति। लिट् वावक्रे॑। क० वा० वच्य॑ते।

वत् *समझना* भ्वादि०: लट्–वि० लि० व॑तेम; शत्रन्त व॑तन्त्। लुङ साभ्यास: अ॑वीवतन्। ण्यन्त वार्त॑यति।

वद् *बोलना* भ्वादि०: लट् व॑दति, व॑दते; लेट् व॑दानि, व॑दासि और व॑दास्, व॑दाति; व॑दाथस्; व॑दाम, व॑दान्; लु० लो० व॑दत्; वि० लि० व॑देत्; आत्मने० व॑देत; लोट् व॑द, व॑दतु; आत्मने० व॑दस्व; व॑दध्वम्; शत्रन्त व॑दन्त्। लङ अ॑वदन्; आत्मने० अ॑वदन्त। लिट् ऊदि॑म; ऊदे॑ (ब्रा०)। लुङ धातु: आशी० उद्यासम् (ब्रा०); इष्: अ॑वादिषम्; अ॑वादिषुर्; आत्मने० अ॑वादिरन् (अथर्व०); लेट् वा॑दिषस्; लु० लो० वा॑दिषुर्। लृट् वदिष्य॑ति, वदिष्य॑ते (ब्रा०)। क० वा० उद्य॑ते। क्तान्त उदित॑। क्त्वाद्यन्त –उद्य (ब्रा०)। तुम० व॑दितुम् (ब्रा०); व॑दितोस् (ब्रा०)। ण्यन्त वाद॑यति, वाद॑यते (ब्रा०); क० वा० वाद्य॑ते (ब्रा०)। सन्नन्त वि॑वदिषति (ब्रा०)। यङ्लुगन्त वा॑वदीति; लोट् वावदीतु; शत्रन्त वा॑वदत्; यङन्त वावद्य॑ते (ब्रा०)।

वघ् मारना भ्वादि० परस्मै० : वि० लि० वंधेयम्, वंधेत् ; लोट् वंध। लुङ्
धातु : आशी० वध्यासम् ; वि० लि० वध्यात् (ब्रा०); इष् : अंवधिषम्
और वंधीम्, अंवधीस्, अंवधीत् और वंधीत् ; अंवधिष्म; लेट् वंधिषस्;
लु० लो० वंधीस्, वंधीत् ; वधिष्ट और वधिष्टन (म० पु० बहु०);
वधिषुर् ; आत्मने० वधिष्ठास् ; लोट् वधिष्टम् (म० पु० द्वि०)।

वन् जीतना तनादि० : लट् वनोंसि, वनोंति ; वनुर्यस्; आत्मने० वन्वें,
वनुतें; लेट् वर्नवत्; आत्मने० वनंवसे; लु० लो० वन्वन्; वि० लि०
वनुर्याम; लोट् वन्वन्तु; आत्मने० वनुष्व, वनुताम्; वनुध्वम्, वन्वताम्,
शत्रन्त वन्वन्त्; शानजन्त वन्वानं; लङ् अंवनोस्; अंवन्वन्; आत्मने०
अंवन्वत। तुदादि० और भ्वादि० : लट् वर्नति और वंनति; आत्मने०
वनसे, वंनते; लेट् वर्नाति; वंनास् ; वंनाव; आत्मने० वंनामहै ; लु०
लो० वनस् ; आत्मने० वन्त (=वनन्त); वि० लि० वनेंस् ; वनेंम;
वनेंमहि; लोट् वंनतम्; वनत; आत्मने० वनताम् (प्र० पु० एक०)।
लिट् वावंन्थ, वावान; ववन्म; आत्मने० ववनें; लेट् वावंनत्; लोट्
वावन्धि; क्वस्वन्त ववन्वांस्। लुङ् धातु : वंस्व; लेट् वंसत् ; वंसाम;
आत्मने० वंसते; लु० लो० वंसि; वि० लि० वंसीमहि और वसीमहि;
इष् : लेट् वंनिषत् ; आत्मने० वंनिषन्त। आशी० वनिषीष्ट; सिष् :
वि० लि० वंसिषीय। क्तान्त —वात। तुम० —वन्तवे। ण्यन्त वानयन्तु।
सन्नन्त विवासति ; लेट् विवासात्।

वन्द् नमस्कार करना भ्वादि० आत्मने० : लट् वंन्दते। लिट् ववंन्द; ववन्दिम;
आत्मने० ववन्दे; ववन्दिरे। लुङ् इष् : वि०लि० वन्दिषीमहि। क० वा०
लुङ् वंन्दि। क्तान्त वन्दितं। कृत्य० वंन्द्य। तुम० वन्दध्यै।

वप् बिखेरना भ्वादि० : लट् वंपति, वंपते। लिट् ऊपंयुर् ; आत्मने० ऊपिषें,
ऊपें (प्र० पु० एक०)। लुङ् स् : अंवाप्सीत् (ब्रा०)। लृट् वप्स्यंति
(ब्रा०)। क० वा० उप्यंते; लुङ् वांपि। क्तान्त उप्तं। क्त्वाद्यन्त
उंप्य। ण्यन्त वापंयति (ब्रा०)।

वम् *वमन करना* **अदादि० :** लेट् वॅमन् । लङ् अॅवमीत्; अॅवमत् (ब्रा०)। लिट् उवॅाम (ब्रा०) । लुङ् स् : अॅवान् (ब्रा०) । क्तान्त वान्तॅ (ब्रा०) ।

वल्ग् *छलांग लगाना* **भ्वादि०** परस्मै० : लट् वॅल्गन्ति । लङ् अॅवल्गत (म० पु० बहु०) । शत्रन्त वॅल्गन्त् ।

वश् *चाहना* **अदादि० :** लट् वॅश्मि, वॅक्षि, वॅष्टि; उश्मॅसि और श्मॅसि, उशॅन्ति ; लोट् वॅष्टु ; शत्रन्त उशॅन्त् ; शानजन्त उशानॅ। **भ्वादि०** परस्मै० : लट् वॅशन्ति ; लेट् वॅशाम; लु० लो० वॅशत्; लङ् अॅवशत् । **जुहोत्यादि०** परस्मै० : लट् ववॅक्षि; विवष्टि; लोट् विवष्टु । लिट् वावशॅुर् ; आत्मने० वावशॅे; शानजन्त वावशानॅ ।

१. वस् *चमकना* **तुदादि०** परस्मै० : लट् उच्छॅति; लेट् उच्छॅात् ; उच्छॅान्; लु० लो० उच्छॅत् ; वि० लि० उच्छेॅत्; लोट् उच्छॅ, उच्छॅतु; उच्छॅत, उच्छॅन्तु; शत्रन्त उच्छॅन्त्; लङ् औॅच्छस्, औॅच्छत् । लिट् उवाॅस; ऊषॅ (म० पु० बहु०), ऊषॅुर्; क्वस्वन्त स्त्री० ऊषॅुषी (तृ० सं०) । लुङ् धातु : अॅावस् (प्र० और म० पु० एक०); आत्मने० अॅवस्रन्; स् : अॅवात् (प्र० पु० एक०) । लृङ् अॅवत्स्यन् (ब्रा०) । क्तान्त उष्टॅ । तुम० वॅस्तवे । ण्यन्त वासॅयति ।

२. वस् *पहिनना* **अदादि०** आत्मने० : लट् वॅस्ते; वॅसाथे ; वॅसते (प्र० पु० बहु०); लु० लो० वॅस्त (प्र० पु० एक०); वॅसत (प्र० पु० बहु०); वि० लि० वसीमहि ; लोट् वॅसिष्व, वॅस्ताम् (प्र० पु० एक०) ; वॅसाथाम् (तृ० सं०); शानजन्त वॅसान; लङ् अॅवस्थास् ; अॅवस्त । लिट् वावसॅे; कानजन्त वावसानॅ। लुङ् इष् : अॅवसिष्ट (प्र० पु० एक०) । ण्यन्त वासॅयति ; वासॅयते; लृट् वासयिष्यॅते ।

३. वस् *रहना* **भ्वादि० :** लट् वॅसति; वॅसते (ब्रा०) । लिट् ऊषॅतुर् ; ऊषिमॅ; क्वस्वन्त ऊषिवॅांस् ; कानजन्त वावसानॅ; आमन्त लिट् –वासांचक्रे (ब्रा०) । लुङ् धातु : वॅसान; साभ्यास : अॅवीवसत्; स् : अॅवात्सीस् । लृट् वत्स्यॅति (ब्रा०) । क्त्वाद्यन्त उषित्वाॅ (ब्रा०); –उॅष्य (ब्रा०) ।

सन्नन्त विवत्सति (ब्रा०) । ण्यन्त वासयति, वासयते; क० वा० वास्यते (ब्रा०) ।

वह् ले जाना भ्वादि०: लट् वहति, वहते । लिट् उवाह; ऊहथुर्, ऊहतुर्; ऊहुर्; आत्मने० ऊहिषे; ऊहिरे । लुङ् धातु: वि० लि० उहित; लोट् वोळ्हम् (म० पु० द्विव०), वोळ्हाम्; आत्मने० वोढ्वम्; शानजन्त वहान; स्: अवाट्, वाट्; अवाक्षुर्; लेट् वक्षस्, वक्षति और वक्षत्; वक्षथस्, वक्षतस्; वक्षन्; लु० लो० वाक्षीत् । लृट् वक्ष्यति । लुट् वोढा (ब्रा०) । क० वा० उह्यते । क्तान्त ऊढ । क्त्वान्त ऊढ्वा (ब्रा०); उह्य । तुम० वोढुम्; वोढवे, वोढवै (ब्रा०); -वहे; वहध्यै । ण्यन्त वाहयति (ब्रा०); यङन्त वनीवाह्यते ।

१. वा बहना अदादि० परस्मै०: लट् वामि, वाति; वातस्; वान्ति; लोट् वाहि, वातु; शत्रन्त वान्त्; लङ् अवात् । दिवादि० परस्मै०: लट् वायति; वायतस्; वायन्ति । लिट् ववौ (ब्रा०) । लुङ् सिष्: अवासीत् (ब्रा०) । ण्यन्त वापयति ।

२. वा बुनना, दिवादि०: लट् वयति; वयते (ब्रा०): लोट् वय; वयत; शत्रन्त वयन्त्; लङ् अवयत्; अवयन् । लिट् ऊवुर् । लृट् वयिष्यति । क० वा० ऊयते (ब्रा०) । क्तान्त उत । तुम० ओतुम्; ओतवे, ओतवै; वातवे (अथर्व०) ।

वाजय् लूट का धन चाहना नाम०: शत्रन्त वाजयन्त् ।

वाञ्छ् चाहना, भ्वादि० परस्मै०: लोट् वाञ्छन्तु ।

वाश् रँभाना भ्वादि० परस्मै०: लट् वाशति । दिवादि० आत्मने०: लट् वाश्यते । लिट् ववाशिरे और ववाश्रे; कानजन्त वावशान । लिट्प्र० अवावशीताम् (प्र० पु० द्विव०); अवावशन्त । लुङ् सामान्य: अवीवशत्; अवीवशन्; आत्मने० अवीवशन्त; इष्: आत्मने० अवाशिष्टास् (ब्रा०) । यङ्लुगन्त-शत्रन्त वावशत् । ण्यन्त वाशयति ॥

विच् *विवेक करना* रुधादि॰ परस्मै॰ : लट् विञ्चन्ति ; लोट् विनक्तु; शत्रन्त विञ्चन्त्; लङ् अविनक्। जुहोत्यादि॰ परस्मै॰ : लट् विवेक्षि । क्वस्वन्त विविक्वांस्। क॰ वा॰ विच्यते । क्तान्त विक्त (ब्रा॰) ।

विज् *कांपना* तुदादि॰ : लट् विजन्ते; लोट् विजन्ताम् ; शानजन्त विजमान ; लङ् अविजे । लिट् विविज्रे । लुङ् धातु : लु॰ लो॰ आत्मने॰ विक्थास्, विक्त ; साभ्यास : लु॰ लो॰ वीविजस् । क॰ वा॰ विक्त । ण्यन्त वेजयति (ब्रा॰) । यङन्त वेविज्यते; यङन्त-शानजन्त वेविजान ।

१. *विद् जानना*, अदादि॰ परस्मै॰ : लट् विद्मस्; लेट् वेदस्, वेदति और वेदत् ; वेदयस् ; वि॰ लि॰ विद्याम्, विद्यात्; विद्यातम् ; विद्याम, विद्युर्; लोट् विद्धि और वित्तात्, वेत्तु; वित्तम् । लङ् अवेदम्, अवेत् और वेत् ; अविदुर् (ब्रा॰) । लिट् वेद (उ॰ पु॰, प्र॰ पु॰), वेत्थ; विदथुर् ; विद्म, विद, विदुर् ; आत्मने॰ विद्महे (ब्रा॰), विद्रे; आमन्त विदांचकार (ब्रा॰) । क्वस्वन्त विद्वांस् । लुङ् इष् : अवेदीत् (ब्रा॰); आमन्त विदामक्रन् (ब्रा॰) । लृट् वेदिष्यति, वेदिष्यते (ब्रा॰) । लुट् वेदिता (ब्रा॰) । क्तान्त विदित । क्त्वाद्यन्त विदित्वा । तुम॰ विद्मने; वेदितुम् (ब्रा॰); वेदितोस्, (ब्रा॰) । ण्यन्त वेदयति, वेदयते । सन्नन्त विविदिषति (ब्रा॰) ।

२. *विद् प्राप्त करना* तुदादि॰ : लट् विन्दति, विन्दते । अदादि॰ वित्ते, विदे (प्र॰ पु॰ एक॰); विद्रे; लोट् विद्धि; आत्मने॰ प्र॰ पु॰ एक॰ विदाम् (अथर्व॰) ; शानजन्त विदान और विदान । लिट् विवेदिथ, विवेद ; विविदथुर् ; विविदुर् ; आत्मने॰ विविदे, विवित्से; विविद्रे और विविद्रिरे; लेट् विविदत्; कानजन्त विविद्वांस् । लुङ् अ : अविदम्, अविदस् , अविदत् ; अविदाम, अविदन्; आत्मने॰ अविदन्त; लेट् विदास्, विदात् ; विदायस् ; विदाय; लु॰ लो॰ विदम्, विदस् , विदत् ; विदन् ; आत्मने॰ विदत (प्र॰ पु॰ एक॰); विदन्त;

वि० लि० विदे́यम्, विदे́त् ; विदे́म; आत्मने० विदे́य; आशी० विदेष्ट (अथर्व०) ; लोट् विदतम् ; शत्रन्त विदन्त्; स् : आत्मने० अविस्ति। लृट् वेत्स्यति, वेत्स्यते (ब्रा०) । क० वा० विद्यते; लुङ अ́वेदि, वे́दि। क्तान्त वित्त; विन्न । कृत्य० विदाय्य । क्त्वाद्यन्त वित्त्वा́, –वि́द्य (ब्रा०) । तुम० विदे́, वे́त्तवे; वे́त्तोस् (ब्रा०) । सन्नन्त विवित्सति (ब्रा०) । यङ-लेट् वे́विदाम ; शत्रन्त वे́विदत् ; शानजन्त वे́विदान ।

विध् *पूजा करना* **तुदादि०** : लेट् विधा́ति; लु० लो० विधत् ; विधन्; आत्मने० विधन्त; वि० लि० विधे́म; विधे́महि; शत्रन्त विधन्त् ; लङ अविधत् ।

विप् *काँपना* **भ्वादि०** : लट् वे́पते ; शानजन्त वे́पमान; लङ अ́वेपन्त । लिट् विविप्रे́ । लुङ धातु : शत्रन्त विपान; साभ्यास : अवीविपत् ; इष् : अवेपिष्ट (ब्रा०) । ण्यन्त वेपयति, विपयति ।

विश् *प्रवेश करना* **तुदादि०** : लट् विशति, विशते। लिट् विवे́श (प्र० पु० और उ० पु०), विवे́शिथ ; विविशु́र् और (एक बार) विवेशुर् ; आत्मने० विविश्रे́; वि० लि० विविश्या́स्; कानजन्त विविशिवांस् (तै० सं०) –विशिवांस् (अथर्व०) । लिट्प्र० अविवेशीस् । लुङ धातु : आत्मने० अविश्रन्; स् : अविक्ष्महि, अविक्षत (प्र० पु० बहु०); इष् : लु० लो० वे́शीत् ; स : अविक्षत् (ब्रा०) । लृट् वेक्ष्यति (ब्रा०) । क्तान्त विष्ट। क्त्वाद्यन्त –वि́श्य। तुम० –वि́शम् ; वे́ष्टवे́ (ब्रा०) । ण्यन्त वेशयति, वेशयते ।

विष् *सक्रिय होना* **जुहोत्यादि०** : लट् वि́वेक्षि, वि́वेष्टि; विविष्टस् ; विविष्मस् ; लेट् विवेषस् ; लोट् विविड्ढि; लङः अविवेस् और विवे́स् (म० पु० एक०), विवे́स् (प्र० पु० एक०) । **भ्वादि०** परस्मै० : शत्रन्त वे́षन्त् ; लङ अवेषन् । लिट् विवे́ष ; विविषु́र् । लिट्प्र० अविवेषीस् । लुङ इष् : वे́षिषस् । लृट् वेक्ष्यति, वेक्ष्यते (ब्रा०) । क० वा० विष्यते (ब्रा०) । क्तान्त विष्ट । क्त्वाद्यन्त विष्ट्वी́ ; –वि́ष्य । तुम०

–वि॑पे । यङ्लुगन्त वे॑वेत्मि; वेविष्यते (ब्रा०); वि० लि० वेवि-
ष्यात्; शत्रन्त वे॑विषत्; शानजन्त वे॑विषाण।

विष्ट्, वेष्ट् लपेटना भ्वादि० परस्मै०: लोट् वे॑ष्टताम् (प्र० पु० द्विव०)।
क्तान्त विष्टित। ण्यन्त वेष्टयति, वेष्टयते (ब्रा०)।

वी उपभोग करना अदादि०: वे॑मि, वे॑षि, वे॑ति; वीथस्; व्यन्ति; लेट्
वयति; लु० लो० वे॑स्; लोट् वीहि॑, विहि॑ और वीतात्, वे॑तु;
वीतम्; व्यन्तु; शत्रन्त व्यन्त्; शानजन्त व्यान। लङ् अ॑व्यन्।
लिट् विवा॑य; विव्ये॑। लुङ् न्: लेट् वे॑षत्। क० वा० वीयते। क्तान्त
वीत। तुम० वीतये। यङन्त और यङ्लुगन्त वे॑वेति; वेवीयते।

वीळ् सुदृढ़ बनाना: ण्यन्त लेट् वीळ्यासि; लोट् वीळयस्व। क्तान्त वी॑ळित।

१. वृ आच्छादित करना स्वादि०: लट् वृणो॑ति; आत्मने० वृण्वे॑; वृण्व॑ते
और वृण्वते॑; शत्रन्त वृण्वन्त्; लङ् अ॑वृणोस्, अ॑वृणोत्; आत्मने०
अ॑वृण्वत (प्र० पु० बहु०); लट् ऊर्णो॑मि, ऊर्णो॑ति; ऊर्णुथस्, ऊर्णुतस्;
आत्मने० ऊर्णु॑षे, ऊर्णुते॑; लु० लो० ऊर्णो॑त्; लोट् ऊर्णुहि॑ और ऊर्णु॑,
ऊर्णो॑तु; ऊर्णुत॑, ऊर्णु॑वन्तु; आत्मने० ऊर्णुष्व॑; शत्रन्त ऊर्णु॑वन्त्;
शानजन्त ऊर्ण्वान; लङ् औ॑र्णोस्, औ॑र्णोत्। भ्वादि०: लङ् व॑रथन्;
आत्मने० व॑रते; वरेथे; वरन्ते; लेट् वराते; लु० लो० व॑रन्त।
क्र्यादि०: लङ् अ॑वृणीध्वम् (अथर्व०)। लिट् ववर्थ, ववा॑र;
वव्रु॑र्; आत्मने० वव्रे॑; क्वस्वन्त वव्र्वा॑स्। लिट्प्र० अ॑वावरीत्।
लुङ् धातु: व॑र् (=वरम्), आ॑वर् और वर् (प्र० और म०
पु० एक०); अ॑व्रन्; आत्मने० अ॑वृत; लु० लो० व॑र् (प्र०
और म० पु० एक०); व्रन्; लोट् वृधि॑; वर्तम्; वर्त; व्राण;
माल्यान: अ॑वीवरन्; आत्मने० अ॑वीवरत (प्र० पु० एक०): स्:
लेट् वर्षथस्; इष्: अ॑वारीत् (ब्रा०)। क० वा० लुङ् अ॑वारि।
क्तान्त वृत। क्त्वान्त वृत्वा॑, वृत्वी॑; वृत्वा॑य;–वृ॑त्य। तुम० वर्तवे।
ण्यन्त वारयति, वारयते; सन्नन्त वि॑वारयिषते (ब्रा०)। यङ् अ॑वरीवर्।

२. वृ चुनना, क्र्यादि० आत्मने०: लट् वृणे॑, वृणीषे॑, वृणीते॑; वृणीमहे,

वृर्णते ; लु० लो० वृणीर्त (प्र० पु० एक० ; वि० लि० वृणीर्त ; लोट् वृणीष्वं ; वृणीध्वंम्, वृर्णताम् ; शानजन्त वृणार्न; लङ अंवृणि, अंवृणीत, अंवृणीमहि । लिट् ववृद्धे ; ववृमहे । लुङ धातु : अंत्रि, अंवृत; लेट् वंरस्, वंरत्; वंरन्त; लु० लो० वृर्त (प्र० पु० एक०); वि०लि० वुरीर्त (प्र० पु० एक०) ; शानजन्त उराणं; स् : अंवृषि ; अंवृढ्वम् (ब्रा०), अंवृषत । लृट् वरिष्यंते (ब्रा०) । क्तान्त वृत । कृत्य० वार्यं; वंरेण्य ।

वृज् मरोड़ना रुधादि० : लट् वृर्णक्षि, वृर्णक्ति; वृञ्जंन्ति ; आत्मने० : वृञ्जे, वृङ्क्ते; वृञ्जाते ; वृञ्जते; लेट् वृर्णजन्; लोट् वृङ्ग्धि, वृर्णक्तु ; वृङ्क्त, वृञ्जंन्तु; आत्मने० वृङ्क्ष्व । लङ अंवृणक् (प्र० और म० पु० एक०); अंवृञ्जन् । लिट् ववृर्जुर्; आत्मने० वावृजे; वि०लि० ववृज्युर्; लोट् ववृक्तम् । (म० पु० द्वि०); क्वस्वन्त स्त्री० ववर्जुषी ; (अं)वर्जुषी (अथर्व०) । लुङ धातु : वंर्क् (प्र० और म० पु० एक०), अंवृक् (अथर्व०); अंवृजन् ; आत्मने० अंवृक्त; लेट् वंर्जति; वंर्जते; लु० लो० वंर्क्; वि० लि० वृज्याम्; वृज्याम; आशी० वृज्यास् (प्र० पु० एक०); लोट् वर्क्तम् (म० पु० द्वि०); स् : अंवार्क्षीस् (ब्रा०) ; आत्मने० अंवृक्ष्महि ; लु० लो० आत्मने० वृक्षि; स : अंवृक्षम् । लृट् वर्क्ष्यंति, वर्क्ष्यंते (ब्रा०) । क० वा० वृज्यंते । क्तान्त वृक्तं । क्त्वाद्यन्त वृक्त्वी;—वृज्य । तुम० —वृंजे; वृर्जध्यै; वृञ्जसे । ण्यन्त वर्जंयति । सन्नन्त विंवृक्षते (ब्रा०) । यङलुगन्त-शत्रन्त वंरीवृजत्; ण्यन्त शत्रन्त वरीवर्जंयन्त् (अथर्व०) ।

वृत् मुड़ना भ्वादि० आत्मने० : वंर्तते । लिट् ववंर्त और वावंर्त; वावृतुर् ; आत्मने० वावृते; लेट् ववंर्तति, ववंर्तत् और ववृतत्; वि०लि० ववृत्याम्, ववृत्यास्, ववृत्यात् ; लोट् ववृर्त्तन (म० पु० बहु०); क्वस्वन्त ववृत्वंस् । लिट्प्र० अंववृत्रन् ; आत्मने० अंववृत्रन्त । लुङ धातु : अंवर्त् ; आत्मने० अंवृत्रन्; लेट् वंर्तत्; लोट् वर्त (=वर्त्त, म० पु० बहु०) ; अ : अंवृतत्; साभ्यास : अंवीवृतत् ; स् : आत्मने० अंवृत्सत । लृट् वर्त्स्यंति । लुट् वंर्तिता (ब्रा०) । लृङ अंवर्त्स्यत्

(ब्रा०)। क्तान्त वृत्त। क्त्वाद्यन्त —वृत्य। तुम० —वृते; —वृतस् (ब्रा०)। क्तान्त वृत्तं। क्त्वाद्यन्त —वृत्य। तुम० वर्त- (ब्रा०)। ण्यन्त वर्तयति, वर्तयते; क० वा० वर्त्यते (ब्रा०); तुम० वर्त- यध्यै। सन्नन्त विवृत्सति, विवृत्सते (ब्रा०)। यङ्लुगन्त वर्वर्ति (=वर्वर्त्ति) और वरीवर्ति (=वरीवर्त्ति); वर्वृतति (प्र० पु० बहु०); यङन्त वरीवृत्यते (ब्रा०); लङ् अवरीवर् (प्र० पु० एक०); अवरीवुर् (प्र० पु० बहु०)।

वृध् बढ़ना भ्वादि०: लट् वर्धति, वर्धते। लिट् ववर्ध; वावृधुर्; वावृधुर्; आत्मने० वावृधे; वावृधाते; लेट् वावृधाति; आत्मने० वावृधते; आत्मने० वि०लि० वावृधीयास्; लोट् वावृधस्व; क्वस्वन्त वावृध्वांस्; आत्मने० वावृधान। लिट्प्र० वावृधन्त। लुङ् अ: अवृधम्, अवृधत्; वृधाम, अवृधन्; शत्रन्त वृधन्त्; शानजन्त वृधान; साभ्यास: अवीवृधत्; अवीवृधन्; आत्मने० अवीवृधध्वम्, अवीवृधन्त; स्: शानजन्त वृधसान; इष्: वि०लि० वर्धिषीमहि। क्तान्त वृद्ध। तुम० वृधे; वर्धसे; वावृधध्यै (लिट्)। ण्यन्त वर्धयति, वर्धयते। यङन्त्य वावृधेन्य।

वृष् बरसना भ्वादि० परस्मै०: लट् वर्षति; लोट् वर्षन्तु; शत्रन्त वर्षन्त्। तुदादि० आत्मने० वृषस्व; वृषेथाम् (म० पु० द्वि०)। लिट्-लोट् वावृषस्व; कानजन्त वावृषाण। लुङ् स्: अवर्षीस्, अवर्षीत्। लृट् वर्षिष्यति (ब्रा०)। लुट् वर्ष्टा (मं० सू०)। क्तान्त वृष्ट। क्त्वाद्यन्त वृष्ट्वी; वृष्ट्वा (ब्रा०); —वर्ष्टोस् (ब्रा०)। ण्यन्त वर्षयति।

वृह् फाड़ना तुदादि० परस्मै०: लट् वृहति; लु० लो० वृहत्, वि०लि० वृहेव; लोट् वृह और वृहतात्; वृहतम्; वृहत; लङ् अवृहत्। लिट् ववर्ह। लुङ स: अवृक्षत् (ब्रा०)। क० वा० वृह्यते (ब्रा०); लुङ् वर्हि; क्तान्त वृढ (ब्रा०)। क्त्वाद्यन्त —वृह्य। तुम० —वृहस्।

वेन् चाहना भ्वादि० परस्मै०: लट् वेनति; लु० लो० वेनस्; लोट् वेनतम् (म० पु० द्वि०); शत्रन्त वेनन्त्। लङ् अवेनत्।

व्यच् व्यापक होना **जुहोत्यादि०** परस्मै० : लट् विविर्क्तस् (प्र० पु० द्विव०), लु० लो० विव्यक् (प्र० पु० एक०)। लङ् अविव्यक्; अविविक्ताम् (प्र० पु० द्विव०); अविव्यचुर्। लिट् विव्यच, विव्याच। लिट्प्र० विव्यचत्; आत्मने० विव्यचन्त।

व्यथ् डगमगाना **भ्वादि०** लट् व्यथते। लुङ् साभ्यास : विव्यथस् (ब्रा०); इष् : लेट् व्यथिषत्; लु० लो० व्यथिष्ठास्; व्यथिष्महि। क्तान्त व्यथित। तुम० व्यथिष्यै (ब्रा०) ण्यन्त व्यथयति; लुङ व्यथयीस् (अथर्व०)।

व्यध् बींधना **दिवादि०** परस्मै० : लट् विध्यति। लिट् विव्याध। (ब्रा०)। क्वस्वन्त विविध्वांस्। लुङ स् : व्यात्सीस् (ब्रा०)। क्तान्त विद्ध। तुम० –विधे। ण्यन्त व्याधयति (ब्रा०)। सन्नन्त विव्यत्सति (ब्रा०)।

व्या आच्छादित करना **दिवादि०** : लट् व्ययति, व्ययते; वि०लि० व्ययेयम्; लोट् व्ययस्व; शत्रन्त व्ययन्त्। लङ अव्ययम्, अव्ययत्। लिट् विव्युर्; आत्मने० विव्ये; कानजन्त विव्यान; आमन्त –व्ययांचकार (ब्रा०)। लुङ अ : अव्यत्; अव्यत (म० पु० बहु०); आत्मने० अव्यत (प्र० पु० एक०) और व्यत। क० वा० वीयते (ब्रा०); क्तान्त वीत। क्त्वाद्यन्त –वीय (ब्रा०)।

व्रज आगे बढ़ना **भ्वादि०** परस्मै० लोट् व्रजत (म० पु० बहु०); शत्रन्त व्रजन्त्। लिट् वव्राज। लुङ इष् : अव्राजीत् (ब्रा०)। लृट् व्रजिष्यति (ब्रा०)। क्तान्त व्रजित (ब्रा०)। क्त्वाद्यन्त –व्रज्य (ब्रा०)। ण्यन्त व्राजयति (ब्रा०)।

व्रश्च् टुकड़ों में काटना **तुदादि०** परस्मै० : लट् वृश्चति; लेट् वृश्चात् लु० लो० वृश्चस्; **दिवादि०** : वृश्च, वृश्चतु; शत्रन्त वृश्चन्त्। लङ अवृश्चत् और वृश्चत्। क०वा० वृश्च्यते; क्तान्त वृक्ण। क्त्वाद्यन्त वृष्ट्वा; वृक्त्वी।

शंस् *स्तुति करना* भ्वादि० : लट् शंसति शंसते । लिट् शशंस (ब्रा०); शशंसे (ब्रा०) । लुङ् धातु : लोट् शस्त (म० पु० बहु०); इष् : अशंसिषम्, अशंसीत् ; लेट् शंसिषस्, शंसिषत् ; लु० लो० शंसिषम् । लृट् शंसिष्यति (ब्रा०) । क०वा० शस्यते ;लुङ् शंसि ; क्तान्त शस्त ; कृत्य० शंस्य; शंस्तव्य(ब्रा०) । क्त्वाद्यन्त शस्त्वा (ब्रा०) । तुम० शसे ।

शक् *समर्थ होना* स्वादि० परस्मै० : लट् शक्नोमि, शक्नोति ; शक्नुवन्ति ; लेट् शक्नवाम । लङ् अशक्नुवन् । लिट् शशाक; शेकिम, शेक, शेकुर् । लुङ् धातु : लेट् शकस्, शकत्; वि०लि० शक्याम्; लोट् शग्धि, शक्तन्; अ : अशकम्, अशकत्; अशकन्; लु०लो० शकन् ; वि०लि० शकेयम्; शकेम । लृट् शक्ष्यति, शक्ष्यते (ब्रा०) । तुम० शक्तवे । सन्नन्त शिक्षति, शिक्षते ।

१. शद् *प्रबल होना* : लिट् शाशदुर् ; आत्मने० शाशद्महे, शाशद्रे ; कानजन्त शाशदान ।

२. शद् *गिरना* : लिट् शशाद (ब्रा०) ; शेदुर् (ब्रा०) । लृट् शत्स्यति

शप् *शाप देना* भ्वादि० : लट् शपति ; शपते (अथर्व०); लेट् शपातस् (प्र० पु० द्विव०) ; शत्रन्त शपन्त् । लङ् अशपत (म० पु० बहु०) । लिट् शशाप ; शेपे (प्र० और उ० पु० एक०), शेपिषे । लुङ् स् : लु० लो० शाप्त (म० पु० बहु०) । क्तान्त शप्त (ब्रा०) । ण्यन्त शापयति ।

१. शम्, शिम् *परिश्रम करना* दिवादि० परस्मै० : शम्यति (ब्रा०) ; शिम्यति ; लोट् शिम्यन्तु ; शत्रन्त शिम्यन्त् । लिट् शशमे ;लेट् शशमते (प्र० पु० एक०); कानजन्त शशमान । लुङ् इष् : आत्मने० अशमिष्ठास्, अशमिष्ट । क्तान्त शमित (ब्रा०) ।

२. शम् *शान्त होना* दिवादि० (ब्रा०) : लट् शाम्यति, शाम्यते । लिट् शशाम (ब्रा०) ; शेमुर् (ब्रा०) । लुङ् अ : अशमत् (ब्रा०) ; साभ्यास : अशीशमत् । क्तान्त शान्त । ण्यन्त शमयति ।

शा तेज करना जुहोत्यादि० : लट् शिशामि, शिशाति ; शिशीमसि ; आत्मने० शिशीते ; लोट् शिशाहि, शिशातु ; शिशीतम्, शिशीताम्; शिशीत (म० पु० बहु०); शानजन्त शिशान। लङ् शिशास्, अशिशात्; आत्मने० शिशीत (प्र० पु० एक०) । कानजन्त –शशान । क्तान्त शित । क्त्वाद्यन्त –शाय ।

शास् *आदेश देना* अदादि० : शास्मि, शास्सि ; आत्मने० शास्ते; शास्महे, शासते; लेट् शासन्; लोट् शाधि; शास्तन, शासतु ; शत्रन्त शासत् ; शानजन्त शसान लङ् अशासम्;आत्मने० अशासत (प्र० पु० बहु०) । लिट् शशास ; शशासुर् ; लु० लो० शशास् ; लोट् शशाधि । लुङ् आतु : लेट् शासस् ; अ : आत्मने० शिषामहि ; लु० लो० शिषत्; शत्रन्त शिषन्त् । क्तान्त शिष्ट ; क्त्वाद्यन्त –शिष्य (ब्रा०) ।

शिक्ष् (=शक् का सन्नन्त रूप) *सहायक होना* : लट् शिक्षति, शिक्षते; लेट् शिक्षास्, शिक्षात् ; शिक्षान् ; लु० लो० शिक्षत् ; वि०लि० शिक्षेयम् ; शिक्षेम; लोट् शिक्ष, शिक्षतु ; शिक्षतम् ; शत्रन्त शिक्षन्त्; आत्मने० शिक्षमाण । लङ् अशिक्षस् ; अशिक्षतम् ।

शिष् (*बाकी*)*छोड़ना* रुधादि० परस्मै० : लट् शिनष्टि (ब्रा०) । लिट् शिशिषे (ब्रा०) । लुङ् अ : शिषस् । लृट् शेक्ष्यति, शेक्ष्यते (ब्रा०) क०वा० शिष्यते ; लुङ् शेषि; क्तान्त शिष्ट । क्त्वाद्यन्त –शिष्य (ब्रा०) ।

शी *लेटना* अदादि० आत्मने० : लट् शेषे, शये (प्र० पु० एक०); शयाते प्र० पु० द्वि०); शेमहे, शेरे और शेरते; वि०लि० शयीय, शयीत (प्र० पु० एक०); लोट् प्र० पु० एक० शेताम् और शयाम् (अथर्व०); शानजन्त शयान। लङ् अशेरन् । भ्वादि० : लट् शयते ; शयध्वे, शयन्ते; लङ् अशयत् ; अशयतम् ; आत्मने० अशयत (प्र० पु० एक०) । लिट् शिश्ये (ब्रा०) ; शिश्यिरे (ब्रा०) ; कानजन्त शशयान । लुङ् स् : लेट् शेषन्; इष् : आत्मने० अशयिष्ठास् । लृट् शयिष्यति, शयिष्यते (ब्रा०) । लुट् शयितासे (ब्रा०) । तुम० शयध्यै ।

शुच् चमकना भ्वादि० : लट् शोचति, शोचते । लिट् शुशोच; वि०लि० शुशुच्यात् (प्र० पु० एक०); लोट् शुशुग्धि; क्वस्वन्त शुशुक्वांस्; आत्मने० शुशुचीत; लुङ् अ : अशुचत् ; शत्रन्त शुचन्त् ; शानजन्त कानजन्त शुशुचान । शुचमान ; नाम्यास : शूशुचस् ; लु० लो० शूशुचस् ; शूशुचन् ; इष् : लु० लो० शोचीस् ; क०वा० अशोचि । तुम० शुचध्यै । ण्यन्त शोचयति; शत्रन्त शुचयन्त् । यङ्लुगन्त लेट् शोशुचन् ; यङन्त लेट् शोशुचन्त ; यङ्लुगन्त शत्रन्त शोशुचत् ; यङन्त शानजन्त शोशुचान ।

शुध्, शुन्ध् शुद्ध करना भ्वादि० परस्मै० : लट् शुन्धति; लोट् शुन्धत (म० पु० बहु०) । दिवादि० परस्मै० : लट् शुध्यति (ब्रा०) । क्तान्त शुद्ध । ण्यन्त शुन्धयति; शोधयति (ब्रा०) ।

शुभ्, शुम्भ् सुन्दर बनाना भ्वादि० आत्मने० ; लट् शोभते ; शानजन्त शोभमान; ; शुम्भते ; शानजन्त शुम्भमान ; तुदादि० परस्मै० : लट् शुम्भति ; लेट् शुम्भाति ; लोट् शुम्भ ; शुम्भत, शुम्भन्तु ; शानजन्त शुम्भमान । लुङ् धातु : शानजन्त शुभान, शुम्भान; नाम्यास : अशूशुभन्; अशुशुभन्त (ब्रा०) । क्तान्त शुम्भित; शुभित; (ब्रा०) । तुमर्थ० शुभे; शोभसे; शुभम् । ण्यन्त शुभयति, शुभयते ; शोभयति ।

शुष् सूखना दिवादि० परस्मै० : लट् शुष्यति ; लोट् शुष्य, शुष्यतु ; शुष्यन्तु । क्त्वान्त —शुष्य (ब्रा०) । ण्यन्त शोषयति ।

शू, श्वा सूजना दिवादि० परस्मै० : शत्रन्त श्वयन्त् । लिट् शूशुवुः ; आत्मने० शूशुवे ; लेट् शूशुवत्; शूशवाम ; वि०लि० शूशुयाम ; क्वस्वन्त शूशुवांस्; कानजन्त शूशुवान । लुङ अ : अश्वत् (ब्रा०); स् : शानजन्त शवसान । तुम० शूषणि; श्वयितुम् (ब्रा०) ।

शृध् आज्ञा न मानना, उद्धत होना भ्वादि० : लट् शर्धति; शर्धते (ब्रा०); लु० लो० शर्धत् ; लोट् शर्ध; शत्रन्त शर्धन्त् । ण्यन्त शर्धयति ।

शॄ शीर्ण करना क्र्यादि० : लट् शृणामि, शृणासि, शृणाति; शृणीमसि; लोट् शृणीहि, शृणातु; शृणीतम् ; शृणन्तु; शानजन्त शृणान । लङ

अशृणात्। लिट् शश्रे। लुङ् इप् : अशारीत्। लृट् शरिष्यते (ब्रा०)। क०वा० शीर्यते; लुङ् शारि; क्तान्त शीर्ण; –शीर्त। क्त्वाद्यन्त –शीर्य (ब्रा०)। तुम० शरीतोस्।

श्नथ् *बींधना* **अदादि०** परस्मै० : लट् श्नथत्; लोट् श्नथिहि। लुङ् साभ्यास : शिश्नथम्, अशिश्नथत् और शिश्नथत्; लु०लो० शिश्नथस्; इप् : लोट् श्नथिष्टम्, श्नथिष्टन। क्तान्त श्नथित। तुम० –श्नथस्। ण्यन्त श्नथयति, श्नथयते।

श्या *जमाना* **दिवादि०** : लट् श्यायति (ब्रा०)। क०वा० शीयते (ब्रा०); क्तान्त शीत; शीन। ण्यन्त श्याययति (ब्रा०)।

श्रथ् *ढीला करना* **क्र्यादि०** : लट् श्रथ्नीते; ; शानजन्त श्रथ्नान। लङ् श्रथ्नास्; अश्रथ्नन्। लिट् शश्रथे। लुङ् साभ्यास : शिश्रथत्, शिश्रथत्। लोट् शिश्रथन्तु। क्तान्त श्रथित। ण्यन्त श्रथयति, श्रथयते।

श्रम् *थकना* **दिवादि०** परस्मै० : लट् श्राम्यति। लिट् शश्रमुर्; कानजन्त शश्रमाण। लुङ् अ : अश्रमत्; लु० लो० श्रमत्; इप् : आत्मने० अश्रमिष्ठास्; लु० लो० श्रमिष्म। क्तान्त श्रान्त। क्त्वाद्यन्त –श्रम्य (ब्रा०)।

श्रा (*श्री, श्रृ*) *उबलना पकना* **क्र्यादि०** : लट् श्रीणन्ति; श्रीणीषे; लोट् श्रीणीहि; श्रीणीत और श्रीणीतन; शत्रन्त श्रीणन्त्; शानजन्त श्रीणान। लङ् आत्मने० अश्रीणीत (प्र० पु० एक०)। क्तान्त श्रात; श्रृत। ण्यन्त श्रपयति; क०वा० श्रप्यते। (ब्रा०); लुङ् अशिश्रपत् (ब्रा०)।

श्रि *आश्रय लेना* **भ्वादि०** : लट् श्रयति, श्रयते। लिट् शिश्रय, प्र० पु० शिश्राय; आत्मने० शिश्रिये; वि०लि० शिश्रीत (प्र० पु० एक०); कानजन्त शिश्रियाण। लिट् प्र० अशिश्रेत्; अशिश्रयुर्। लुङ् धातु : अश्रेत्, अश्रेत्; अश्रियन्; साभ्यास : अशिश्रियत्; स् : अश्रैत्

(अथर्व०)। लृट् श्रयिष्यंति, श्रयिष्यंते (ब्रा०)। क०वा० श्रीयंते (ब्रा०); क्तान्त श्रितं; लुङ् अश्रायि। तुम० श्रयितवै (ब्रा०)। ण्यन्त श्रापयति (वा० सं०)।

श्रिष् पकड़ना स्वादि०: लेट् श्रेषाम। लुङ् अ: लु० लो० श्रिषत्। तुम० –श्रिषस्।

श्री मिलाना क्र्यादि०: लट् श्रीणाति, श्रीणीते। क्तान्त श्रीतं। तुम० श्रियसे।

श्रु सुनना स्वादि०: लट् शृणोमि, शृणोति; शृण्वन्ति; आत्मने० शृण्विषे, शृणुते और शृण्वे; शृण्विरे; लेट् शृणवस्, शृणवत्; शृणवाम, शृणवन्; वि०लि० शृणुयात्; शृणुयाम; लोट् शृणुधि, शृणुहि, और शृणु, शृणोतु; शृणुतम्; शृणुत और शृणोत, शृणोतन, शृण्वन्तु; शृणुष्व; शत्रन्त शृण्वन्त्; लङ् अशृणवम्, अशृणोस्; अशृण्वन्। लिट् शुश्रव (उ० पु०), शुश्राव (प्र० पु०); आत्मने० शुश्रुवे (प्र० पु० एक०); लेट् शुश्रवत्; वि०लि० शुश्रूयास्; शुश्रूयातम्; क्वस्वन्त शुश्रुवांस्। लिट्प्र० अशुश्रवुर्; आत्मने० अशुश्रवि (उ० पु० एक०)। लुङ् धातु: अश्रवम्, अश्रोत्; अश्रवन् (अथर्व०); लेट् श्रवत्; श्रवयस्, श्रवतन्; आशी० श्रूयासम्, श्रूयास् (प्र० पु० एक०); लोट् श्रुधि, श्रोतु; श्रुतम्; श्रुत और श्रोत, श्रुवन्तु; अ: लु० लो० श्रुवत्; सन्यास: अशुश्रवत्; अशुश्रुवत् (ब्रा०); स्: अश्रौषीत् (ब्रा०)। लृट् श्रोष्यंति (ब्रा०)। क० वा० श्रूयंते; लुङ् अश्रावि, श्रावि। क्तान्त श्रुतं; कृत्य श्रुत्य; श्रवाय्य। क्त्वाद्यन्त श्रुत्वा; –श्रुत्य। ण्यन्त श्रवयति, श्रावयति। सन्नन्त शुश्रूषते।

श्रुष् सुनना स्वादि०: लु० लो० श्रोषन्; लोट् श्रोषन्तु; शानजन्त श्रोषमाण।

श्वञ्च् फैलना स्वादि०: आत्मने० लोट् श्वञ्चस्व। लिट् आत्मने० लेट् शश्वचै। ण्यन्त श्वञ्चयस्।

श्वस् फूंक मारना, बहना अदादि०: लट् श्वसिति; आत्मने० शुषे; लोट्

श्वसिहिं; शत्रन्त श्वसन्त् और शुषन्त्; आत्मने० शुषाणं; लङ अश्वसीत् (ब्रा०)। भ्वादि०: लट् श्वसति, श्वसते (अथर्व०)। क्तान्त श्वसित (ब्रा०।) तुम० —श्वसस्। ण्यन्त श्वासयति। यङलुगन्त-शत्रन्त शाश्वसत्।

श्वित् चमकीला होना लुङ धातु: अश्वितन्; शानजन्त श्वितानं; साभ्यास: अशिश्वितत्; स्: अश्वैत्।

ष्ठीव् उगलना भ्वादि० परस्मै०: लट् ष्ठीवति। लङ अष्ठीवन्। लिट् तिष्ठेव (ब्रा०)। क्तान्त ष्ठ्यूत (ब्रा०)।

सघ् बराबर होना स्वादि०: परस्मै०: लङ् असघ्नोस्। लुङ धातु: लेट् सघत्; आशी० सघ्यासम् (ब्रा०)।

सच् साथ देना भ्वादि० आत्मने०: लट् सचते। जुहोत्यादि०: लट् सिषक्षि; सिषक्ति; सश्चति (प्र०पु० बहु०); लु० लो० आत्मने० सश्चत (प्र० पु० बहु०); लोट् सिषक्तु; सिषक्त; शत्रन्त सश्चत् और सश्चत्। भ्वादि०: लट् सश्चसि; आत्मने० सश्चे (उ० पु० एक०); लु० लो० सश्चत्; लोट् सश्चत (म० पु० बहु०); लङ असश्चतम् (म०पु०द्विव०)। लिट् सश्चिम, सश्चुर् आत्मने० सश्चिरे सेचिरे; (अथर्व०); क्वस्वन्त सश्चिवांस्। लुङ धातु: लोट् सक्ष्व; शानजन्त सचानं; स्: आत्मने० असक्षत (प्र०पु० बहु०); लेट् सक्षत्; लु० लो० सक्षत (प्र० पु० बहु०); वि० लि० सक्षीमहि। तुम० सचध्यै; सक्षणि।

सज्, सञ्ज् लटकना भ्वादि० परस्मै०: लट् सजति। लङ असजत्। लिट् ससञ्ज (ब्रा०); सेजुर् (ब्रा०)। लुङ स्: आत्मने० असक्त। क० वा० सज्यते (ब्रा०); लुङ असञ्जि (ब्रा०); क्तान्त सक्त। क्त्वाद्यन्त —सज्य (ब्रा०)। तुम० सङ्क्तोस् (ब्रा०)। सन्नन्त सिसङ्क्षति (ब्रा०)।

सद् बैठना भ्वादि० परस्मै०: लट् सीदति; लु० लो० सीदन्; वि० लि० सीदेम; लोट् सीदतु; शत्रन्त सीदन्त्। लङ असीदत्। लिट् ससत्थ, ससाद; सेदथुर्, सेदतुर्; सेदिम, सेद, सेदुर्; आत्मने० सेदिरे; वि० लि०

ससद्या॑त्; क्वस्वन्त सेदु॒॑प्- । लुङ् अ : अ॑सदत्; अ॑सदन् ; लु० लो० स॑दस्, स॑दत्; वि०लि० स॑देम; लोट् स॑द, स॑दतु; स॑दतम्, स॑दताम्; स॑दत, स॑दन्तु; आत्मने० स॑दन्ताम्; शत्रन्त स॑दन्त् ; साभ्यास : अ॑सीषदन्; स् : लेट् स॑त्सत् । लृट् सत्स्य॑ति (ब्रा०) । क० वा० सद्य॑ते (ब्रा०); लुङ अ॑सादि, सा॑दि; क्तान्त सत्त॑; सन्न॑ (अथर्व०); कृत्य० स॑द्य । क्त्वाद्यन्त –स॑द्य । तुम० –स॑दे; –स॑दम्; स॑त्तुम् (ब्रा०) । ण्यन्त साद॑यति साद॑यते; क० वा० साद्य॑ते (ब्रा०) ।

सन् *प्राप्त करना* **तनादि०** परस्मै० : लट् सनो॑ति; लेट् सन॑वानि, सन॑वत्; सन॑वथ; वि०लि० सनुया॑म्; सनुया॑म; लोट् सनुहि॑, सनो॑तु ; सन्व॑न्तु । लङ अ॑सनोस्, अ॑सनोत्; अ॑सन्वन् । लिट् ससा॑न; क्वस्वन्त ससवां॑स् । लुङ अ : अ॑सनम्, अ॑सनत् ; अ॑सनाम, अ॑सनन् ; लु० लो० स॑नम्, स॑नत्; वि०लि० सने॑यम्, सने॑त्; लोट् स॑न; शत्रन्त स॑नन्त्; इष् : अ॑सानिषम्; लेट् स॑निषत्; आत्मने० स॑निषामहे, स॑निषन्त ; लोट् स॑निषन्तु । लृट् सनिष्य॑ति । क्तान्त सात॑ । कृत्य० स॑नित्व । तुम० सन॑ये; सात॑ये। सन्नन्त सि॑षासति । यङन्त सनिष्णत (प्र०. पु० बहु०) ।

सप् *सेवा करना* **भ्वादि०** : लट् स॑पति, स॑पते । लिट् सेपु॑र् । लुङ साभ्यास : लु० लो० स॑षपन्त ।

सपर्य॑ *सम्मान करना* नाम० : लट् सपर्य॑ति; लेट् सपर्य॑ात्; वि० लि० सपर्ये॑म; लोट् सपर्य॑; शत्रन्त सपर्य॑न्त् । लङ, अ॑सपर्यन् । लुङ, अ॑सपर्य॑त् (अथर्व०) । कृत्य० सपर्ये॑ण्य ।

सस् *सोना* **अदादि०** परस्मै० : लट् स॑स्ति; सस्त॑स्; लोट् स॑स्तु; सस्ता॑म्; सस॑न्तु; शत्रन्त सस॑न्त्; लङ अ॑सस्तन । **जुहोत्यादि०** परस्मै०: लट् स॑सस्ति और सस॑स्ति ।

सह् *अभिभव करना* **भ्वादि०** : लट् स॑हते; शत्रन्त स॑हन्त् और सा॑हन्त्; शानजन्त स॑हमान । लिट् सास॑ाह; आत्मने० ससाहिषे॑, ससाहे॑; लेट् सास॑हस्, सास॑हत्;

वि० लि० सासह्यात्; सासह्याम; आशी० आत्मने० सासहीष्ठास्; क्वस्वन्त सासह्वांस् और साह्वांस्; आत्मने० सासहानं और सेहानं। लुङ धातु वि० लि० सह्यास्; साह्याम; आशी० सह्यास् (प्र० पु० एक०); शानजन्त सहानं; स् : असाक्षि और साक्षि; सक्ष्महि (ब्रा०); लेट् संक्षति और संक्षत्; साक्षाम; आत्मने० साक्षते; वि० लि० साक्षीय; लोट् सोक्ष्व; शत्रन्त संक्षन्त्; शानजन्त सहसानं; इष् : असहिष्ट; वि० लि० सहिषीवहि; सहिषीमहि और साहिषीमहि। लृट् सक्ष्यंते (ब्रा०)। क्तान्त सार्ढ। क्त्वाद्यन्त –संह्य। तुम० संहध्यै; –संहम् (ब्रा०)। सन्नन्त शीक्षति, शीक्षते।

सा बाँधना तुदादि० : लट् स्यति, स्यते; लोट् स्य, स्यतु; स्यतम्, स्यताम्; आत्मने० स्यस्व; स्यध्वम्। लङ अस्यत्। लुङ धातु : असात्; लेट् सात्; वि० लि० सीमहि; लोट् साहि; अ : वि० लि० सेत् (वा० सं०)। क्तान्त सितं। क्त्वाद्यन्त –साय। तुम० –सै, सातुम् (ब्रा०)।

साध् सफल होना भ्वादि० : लट् साधति साधते। लुङ साभ्यास : लेट् सीष-धाति; सीषधाम; लु० लो० सीषधस्। ण्यन्त साधयति।

सि बांधना क्र्यादि० परस्मै० : लट् सिनोति; सिनीर्यस्; लोट् सिनातु। लिट् सिषाय; लु० लो० सिषेत्। लुङ धातु : लोट् सितम्। तुम० सेतवे।

सिच् उँडेलना तुदादि : लट् सिञ्चति, सिञ्चते। लिट् सिषेच; सिषिचतुर्; सिसिचुर्; सिसिचे। लुङ अ : असिचत्; असिचन्; लेट् सिचामहे। लृट् सेक्ष्यति (ब्रा०)। क० वा० सिच्यते; लुङ असेचि (ब्रा०)। क्तान्त सिक्त। क्त्वाद्यन्त सिक्त्वा (ब्रा०)–सिच्य। तुम० सेक्तवै (ब्रा०)।

१. सिध् पीछे हटाना भ्वादि० परस्मै० : लट् सेधति। लिट् सिषेध। लुङ इष् : असेधीस्। क्तान्त सिद्ध (ब्रा०)। क्त्वाद्यन्त –सिध्य। तुम० सेद्धुम् (ब्रा०)। यङ लुक्-शत्रन्त सेषिधत्।

२. सिध् सफल होना दिवादि० परस्मै० : लट् सिध्यति। क्तान्त सिद्ध (ब्रा०)।

सीव् *सीना* **दिवादि०** : लट्-लोट् सी॑व्यतु; आत्मने० सी॑व्यध्वम्; शत्रन्त सी॑व्यन्त् । क्तान्त स्यूत॑ । क्त्वाद्यन्त –सी॑व्य ।

सु *निचोड़ना* **स्वादि०** : लट् सुनो॑ति; सुनुत॑स्; सुनुथ॑, सुन्वन्ति॑; आत्मने० सुन्वे॑; सुन्विरे॑; लेट् सुन॑वत्; सुन॑वाम; आत्मने० सुन॑वै; लोट् सुनु॑, सुनो॑तु; सुनुत॑ और सुनो॑त, सुनो॑तन; आत्मने० सुनुध्व॑म्; शत्रन्त सुन्वन्त्॑; शानजन्त सुन्वान॑ । लिट् सुषा॑व; सुषुम॑; क्वस्वन्त सुषुवां॑स्; कानजन्त सुष्वाण॑ । लिट्प्र० असुषवुर् और असुषुवुर् (ब्रा०) लुङ् धातु : लोट् सो॑तु; सुत॑म्; सो॑त, सो॑तन; शानजन्त सुवान॑, स्वान॑ । लृट् सविष्य॑ति (ब्रा०) । लुट् सोता॑ (ब्रा०) । क० वा० सूय॑ते; लुङ् अ॑सावि । क्तान्त सुत॑ । कृत्य० सो॑त्व । क्त्वाद्यन्त –सु॑त्य (ब्रा०) । तुम० सो॑तवे; सो॑तोस् ।

सू *उत्पन्न करना, प्रेरित करना* **तुदादि०** परस्मै० : लट् सुव॑ति; लेट् सुवा॑ति; लोट् सुव॑, सुव॑तात्, सुव॑तु; सुव॑ताम् ; सुव॑न्तु; शत्रन्त सुव॑न्त्; लङ् अ॑सुवत् । **अदादि०** : आत्मने० : लट् सु॑वे, सू॑ते; सु॑वाते; (प्रथम पु० द्वि०); सु॑वते (प्र० पु० बहु०); लु० लो० सू॑त (प्र० पु० एक०); शान० सुवान॑; लङ अ॑सूत । लिट् ससू॑व; सुषुवे॑ । लिट्प्र० अ॑सुषोत् (मं० सं०); अ॑सुषवुर् (ब्रा)० । लुङ इष् : अ॑सावीत्; अ॑साविषुर्; लेट् सा॑विषत्; लु० लो० सा॑वीस् । लृट् सोष्य॑ति, सोष्य॑ते (ब्रा०); शत्रन्त सू॑ष्यन्त् । क० वा० सूय॑ते । क्तान्त सूत॑ । क्त्वाद्यन्त सूत्वा॑ (ब्रा०); –सु॑त्य (ब्रा०) । तुम० सू॑तवे, सू॑तवै; स॑वितवे । यङ्लुगन्त सो॑षवीति ।

सूद् *क्रमबद्ध करना* : लिट् सुषूदिम॑; लेट् सु॑षूदस्, सु॑षूदत् और सु॑षूदति; सुषूदथ; लोट् सुषूद॑त (म० पु० बहु०) । लुङ साभ्यास : असूषुदन्त॑ । ण्यन्त सूद॑यति, सूद॑यते; लेट् सूद॑याति ।

सृ *बहना* **जुहोत्यादि०** : लट् सि॑सर्षि, सि॑सर्ति; आत्मने० सि॑स्रते (प्र० पु० बहु०); लोट् सिसृत॑म्; आत्मने० सि॑स्रताम् (प्र० पु० बहु०) । शत्र० सि॑स्रत् । लिट् ससा॑र; ससर्व (ब्रा०); सस्रु॑र्; आत्मने० सस्रे॑; सस्रा॑थे; क्वस्वन्त सस्रिवां॑स्; कानजन्त सस्राण॑ । लुङ अ : अ॑सरम्,

अ॑सरस्, अ॑सरत्; अ॑सरन्; लोट् स॑र; न्: लेट् स॑र्दत्। लृट् सरिष्यति।
क० वा० लुङ अ॑सारि (ब्रा०)। क्तान्त सृत॑ (ब्रा०)। क्त्वाद्यन्त सृत्वा॑
(ब्रा०); सृ॑त्य (ब्रा०)। तुम० स॑र्तवे, स॑र्तवै॑। ण्यन्त सारयति,
सारयते। सन्नन्त सिसीर्षति (ब्रा०)। यङन्त सस्रे॑ (प्र० पु० एक०);
कानजन्त सस्राण।

सृज् बाहिर निकालना तुदादि०: लट् सृजति, सृजते। लिट् ससर्ज; आत्मने०
ससृजे॑; ससृज्महे, ससृज्रिरे॑; वि० लि० ससृज्यात्; कानजन्त ससृजान॑।
लिट्प्र० अ॑ससृग्रम् (प्र० पु० बहु०)। लुङ धातु: अ॑सृग्रन्, अ॑सृग्रम्;
कानजन्त सृजान॑; स्: स्रा॑त् (म० पु० एक० अथर्व०), अ॑स्राक् (प्र०
पु० एक०), अ॑स्राट् (ब्रा०); अ॑स्राष्टम् (म० पु० द्वि०); आत्मने०
अ॑सृक्षि, अ॑सृष्ट; अ॑सृक्ष्महि, अ॑सृक्षत; लेट् स्रक्षत्; लु० लो० स्राष्टम्;
आत्मने० सृक्षायाम् (म० पु० द्वि०)। लृट् स्रक्ष्यति (ब्रा०)। क०वा०
सृज्यते; लुङ अ॑सर्जि। क्तान्त सृष्ट॑। क्त्वाद्यन्त सृष्ट्वा; —सृ॑ज्य
(ब्रा०)। ण्यन्त सर्ज॑यति, सर्ज॑यते (ब्रा०)। सन्नन्त सिसृक्षति, सिसृक्षते
(ब्रा०)।

सृप् रेंगना भ्वादि० परस्मै०: लट् स॑र्पति। ससर्प॑ (ब्रा०)। लुङ अ:
अ॑सृपत्; लु० लो० सृपत्; स्: आत्मने० अ॑सृप्त (ब्रा०)। लृट् स्रप्स्यति
(ब्रा०) और सर्प्स्य॑ति (ब्रा०)। क्तान्त सृप्त॑ (ब्रा०)। क्त्वाद्यन्त
सृप्त्वा॑ (ब्रा०); —सृ॑प्य। तुम० सृ॑पस् (ब्रा०)। सन्नन्त सिसृप्सति।
यङन्त सरीसृप्यते (ब्रा०)।

सेव् सेवा करना भ्वादि०: आत्मने० लट् से॑वे, से॑वते; लोट् से॑वस्व।

स्कन्द् कूदना भ्वादि० परस्मै०: लट् स्क॑न्दति; लेट् स्क॑न्दात्; लोट् स्क॑न्द;
शत्रन्त स्क॑न्दन्त्; लङ अ॑स्कन्दत्। लिट् चस्क॑न्द। लुङ धातु: स्क॑न्
(प्र० पु० एक०); स्: अ॑स्कान् (ब्रा०) और अ॑स्कान्त्सीत् (ब्रा०)।
लृट् स्कन्त्स्यति (ब्रा०)। क्तान्त स्कन्न॑। क्त्वाद्यन्त —स्क॑न्द्य (ब्रा०) और
—स्क॑द्य (ब्रा०)। तुम० —स्क॑दे, —स्क॑दस्। ण्यन्त स्कन्द॑यति। यङलुगन्त
लेट् चनिष्कदत्; लङ क॑निष्कन् (प्र० पु० एक०)।

स्कभ् अथवा स्कम्भ् *थामना* क्र्यादि० : लट् स्कभ्नाति; शत्रन्त स्कभ्नन्त्, शानजन्त स्कभान (ब्रा०)। लिट् चास्कम्भ; स्कम्भतुर्; स्कम्भुर्; कानजन्त चस्कभानं। क्तान्त स्कभितं। क्त्वाद्यन्त स्कभित्वी। तुम० –स्कभे।

स्कु *विदीर्ण करना* अदादि० परस्मै० : लट् स्कौति (ब्रा०)। स्वादि० परस्मै० : लट् स्कुनोति। क० वा० स्कूयते। क्तान्त स्कुत। यङन्त चोष्कूर्यते।

स्तन् *गरजना* अदादि० परस्मै० : लोट् स्तनिहि; लु० लो० स्तन् (प्र० पु० एक०)। भ्वादि० परस्मै० : लोट् स्तन। लुङ् इष् : अस्तानीत्। क० वा० स्तनयति। यङ्लुगन्त लोट् तंस्तनीहि।

स्तभ् अथवा स्तम्भ् *थामना* क्र्यादि० : स्तभ्नामि; लोट् स्तभान; लङ अस्तभ्नास्, अस्तभ्नात्। लिट् तस्तम्भ; तस्तभुर्; क्वस्वन्त तस्तभ्वांस्; कानजन्त तस्तभानं। लिट्प्र० तस्तम्भत्। लुङ स् : अस्ताम्भीत् (ब्रा०); इष् : अस्तम्भीत्, स्तम्भीत्। क्तान्त स्तभितं; स्तब्ध (ब्रा०)। क्त्वाद्यन्त स्तब्ध्वा, –स्तभ्य।

स्तु *स्तुति करना* अदादि० : लट् स्तौमि (अथर्व०); स्तोषि, स्तौति (अथर्व०); स्तुमसि, स्तुवन्ति; आत्मने० स्तुषे; लेट् स्तवत्; स्तवाम, स्तवय; आत्मने० स्तवै; लु० लो० स्तौत्; वि० लि० आत्मने० स्तुवीत; स्तुवीमहि; लोट् स्तुहि; स्तौतु; शत्रन्त स्तुवन्त्, शानजन्त स्तुवानं, स्तवान और स्तवानं; लङ अस्तौत्। भ्वादि० आत्मने० : स्तवते और स्तवे (प्र० पु० एक०); लु० लो० स्तवन्त; वि० लि० स्तवेत; शानजन्त स्तवमान। लिट् तुष्टाव; तुष्टुवुर्; आत्मने० तुष्टुवे; लेट् तुष्टवत्; क्वस्वन्त तुष्टुवांस्; कानजन्त तुष्टुवानं। लिट्प्र० अतुष्टवम्। लुङ स् : अस्तौषीत् (ब्रा०); आत्मने० अस्तोषि, अस्तोष्ट; अस्तोढ्वम्, अस्तोषत; लेट् स्तोषाणि, स्तोषत्; स्तोषाम; लु० लो० स्तोषम्; इष् : अस्तावीत् (ब्रा०)। लृट् स्तोष्यति, स्तोष्यते (ब्रा०); स्तविष्यति,

स्तविष्यंते। लृङ अंस्तोष्यत्। क० वा० स्तूयते; लुङ अंस्तावि। क्तान्त स्तुतं; कृत्य० स्तुषेंण्य। क्त्वाद्यन्त स्तुत्वां; –स्तुंत्य (ब्रा०)। तुम० स्तवंध्यै, स्तोंतवे; स्तोंतुम् (ब्रा०)। ण्यन्त स्तावंयति (ब्रा०)।

स्तुभ् *स्तुति करना* भ्वादि० परस्म०: लट् स्तोंभति; लोट् स्तोंभत, स्तोंभन्तु; शत्रन्त स्तोंभन्त्। अदादि० आत्मने०; शानजन्त स्तुभानं। क्तान्त स्तुब्धं (ब्रा०)। ण्यन्त स्तोभंयति।

स्तृ *बिखेरना* क्र्यादि०: लट् स्तृणांमि; स्तृणीथंन, स्तृणंन्ति; आत्मने० स्तृणीतें; लु० लो० स्तृणीमंहि; लोट् स्तृणीहिं; स्तृणीतंम् (म० पु० द्विव०); स्तृणीतं; आत्मने० स्तृणीतांम् (प्र० पु० एक०); शत्रन्त स्तृणंन्त्; शानजन्त स्तृणानं; लङ अंस्तृणात्; अंस्तृणन्। स्वादि०: लट् स्तृणोंषि; स्तृणुतें। लिट् तस्तांर (ब्रा०); तस्तरुंर् (ब्रा०); आत्मने० तिस्तिरे (प्र० पु० एक०); तस्त्रिरें; कानजन्त तिस्तिराणं। लुङ धातु: अंस्तर्; आत्मने० अंस्तृत (ब्रा०); लेट् स्तंरते; स्तंरामहे; लु० लो० स्तंर् (म० पु० एक०); स्: अंस्तृषि (ब्रा०); वि० लि० स्तृषीयं; इष्: अंस्तरीस्। लृट् स्तरिष्यंति, स्तरिष्यंते (ब्रा०)। क० वा० स्त्रियंते (ब्रा०); लुङ अंस्तारि। क्तान्त स्तृतं; स्तीर्णं। क्त्वाद्यन्त स्तीर्त्वा (ब्रा०); –स्तीर्यं। तुम० –स्तिरे स्तृणीषंणि; स्तंरीतवे (अथर्व०); स्तंतवे (ब्रा०), स्तंर्तवै (ब्रा०), स्तंरितवै (ब्रा०), –स्तरीतवै (ब्रा०)। सन्नन्त तिस्तीर्षते (ब्रा०); तुस्तूर्षते (ब्रा०)

स्था *खड़ा होना* भ्वादि०: लट् तिंष्ठति, तिंष्ठते। लिट् तस्थौं; तस्थंथुर्, तस्थंतुर्; तस्थिमं, तस्थुंर्; आत्मने० तस्थें, तस्थिषें, तस्थे; तस्थिरें; क्वस्वन्त तस्थिवांस्; कानजन्त तस्थानं। लुङ धातु: अंस्थाम्, अंस्थास्, अंस्थात्; अंस्थाम, स्थात, अंस्थुर्; आत्मने० अंस्थिथास्, अंस्थित; अंस्थिरन्; लेट् स्थांस्, स्थांति और स्थांत्; स्थांतस्; लु० लो० स्थाम्, स्थांत्; स्थुंर्; वि० लि० स्थेयांम; लोट् स्थातम् (म० पु० द्विव०); स्थात; शत्रन्त स्थांन्त्; अ: अंस्थात् (अथर्व०); स्: अंस्थिषि (ब्रा०);

अस्थिपत (प्र० पु० बहु०); लु० लो० स्थेषम् (वा० सं०)। लृट् स्थास्यति। क० वा० स्थीयते (ब्रा०); क्तान्त स्थित। क्त्वाद्यन्त –स्थाय। तुम० स्थातुम् (ब्रा०); स्थातोस् (ब्रा०)। ण्यन्त स्थापयति, स्थापयते; लुङ् अतिष्ठिपम्, अतिष्ठिपस्, अतिष्ठिपत्, लु० लो० तिष्ठिपत्। सन्नन्त तिष्ठासति (ब्रा०)।

स्ना *स्नान करना* **अदादि०** परस्मै०: लट् स्नाति; लोट् स्नाहि, शत्रन्त स्नान्त्। क्तान्त स्नात। कृत्य० स्नात्व। क्त्वाद्यन्त स्नात्वा; –स्नाय। तुम० स्नातुम् (ब्रा०)। ण्यन्त स्नापयति; स्नापयते (ब्रा०); स्नपयति (अथर्व०)।

स्पश् *देखना*: लिट् पस्पशे; कानजन्त पस्पशान। लुङ् धातु: अस्पष्ट (प्र० पु० एक०)। क्तान्त स्पष्ट। ण्यन्त स्पाशयते।

स्पृ *जीतना* **स्वादि०** लट् स्पृण्वते; लेट् स्पृणवाम; लोट् स्पृणुहि। लिट् पस्पार (ब्रा०)। लुङ् धातु: अस्पर् (म० पु० एक०); लेट् स्परत्; लु० लो० स्पर् (म० पु० एक०); लोट् स्पृधि; स्: अस्पार्षम्। क्तान्त स्पृत। क्त्वान्त स्पृत्वा। तुम० स्परसे।

स्पृध् *स्पर्धा करना* **भ्वादि०** आत्मने०: लट् स्पर्धते; शानजन्त स्पर्धमान लिट् आत्मने० पस्पृधाते (प्र० पु० द्विव०); पस्पृध्रे; कानजन्त पस्पृधान। लिट्प्र० अपस्पृधेथाम् (म० पु० द्विव०)। लुङ् धातु: आत्मने० अस्पृध्रन्; शानजन्त स्पृधान। क्त्वाद्यन्त –स्पृध्य। तुम० स्पर्धितुम्।

स्पृश् *स्पर्श करना* **तुदादि०**: लट् स्पृशति, स्पृशते। लिट्–लेट् पस्पर्शत्। लुङ् साभ्यास: लेट् पिस्पृशति; लु० लो० पिस्पृशस्; स्: अस्प्राक्षम् (ब्रा०); स: अस्पृक्षत्। क्तान्त स्पृष्ट। क्त्वाद्यन्त स्पृष्ट्वा (ब्रा०); –स्पृश्य (ब्रा०)। तुम० –स्पृशे; स्पृशस् (ब्रा०)। ण्यन्त स्पर्शयति (ब्रा०), स्पर्शयते।

स्पृह् *उत्सुक होना*: ण्यन्त स्पृहयन्ति; वि० लि० स्पृहयेत्। लङ् अस्पृहयम्। कृत्य० स्पृहयाय्य।

स्फुर् झटका लगना तुदादि० : लट् स्फुरति; आत्मने० स्फुरते (ब्रा०); लेट् स्फुरान्; लु० लो० स्फुरत्; लोट् स्फुर; स्फुरतम् (म० पु० द्वि०); शत्रन्त स्फुरन्त् । लङ् अस्फुरत्; लुङ् इष् : स्फरीस् (√स्फृ) ।

स्फूर्ज् गड़गड़ाना भ्वादि० परस्मै० : लट् स्फूर्जति । ण्यन्त स्फूर्जयति ।

स्मि मुस्कराना भ्वादि० : लट् आत्मने० स्मयते; लु० लो० स्मयन्त; शानजन्त स्मयमान । लिट् सिष्मिये; कानजन्त सिष्मियाण ।

स्मृ स्मरण करना भ्वादि० : लट् स्मरति, स्मरते । क० वा० स्मर्यते (ब्रा०) । क्तान्त स्मृत ।

स्यन्द् बहते जाना भ्वादि० आत्मने० : लट् स्यन्दते । लिट् सिष्यदुर्; आत्मने० सिष्यदे । लुङ् साभ्यास : असिष्यदत्; असिष्यदन्त; स् : अस्यान् (प्र० पु० एक०) । लृट् स्यन्त्स्यति (ब्रा०) । क० वा० लुङ् स्यन्दि (ब्रा०) । क्तान्त स्यन्न । क्त्वान्त स्यन्त्त्वा (ब्रा०); स्यत्त्वा (ब्रा०), –स्यद्य (ब्रा०) । तुम० –स्यदे; स्यन्त्तुम् (ब्रा०); ण्यन्त स्यन्दयति (ब्रा०); तुम० स्यन्दयध्यै । यङ्लुगन्त शत्रन्त सनिष्यदत् ।

स्रस्, स्रंस् गिरना भ्वादि० आत्मने० : लट् स्रंसते (ब्रा०) । लिट् सस्रंसुर् (ब्रा०) । लुङ् धातु : अस्रत् (वा० सं०); अ : वि० लि० स्रसेम; साभ्यास : असिस्रसन्; इष् : अस्रंसिषत (ब्रा०) । क्तान्त स्रस्त । क्त्वान्त –स्रस्य (ब्रा०) । तुम० स्रसस् । ण्यन्त स्रंसयति ।

स्रिव् स्थूल प्रमाद करना भ्वादि० परस्मै० : लट् स्रेधति; लोट् स्रेधत; शत्रन्त स्रेधत् । लङ् अस्रेधन् । लुङ् अ : लु० लो० स्रिधत्; शानजन्त स्रिधान ।

स्रु बहना भ्वादि० : लट् स्रवति । लिट् सुस्राव; सुस्रुवुर्; लु० लो० सुस्रोत्; लिट्प्र० असुस्रोत् । लुङ् इष् : अस्रावीस् (ब्रा०) । क्तान्त स्रुत । तुम० स्रवितवे; स्रवितवै : ण्यन्त स्रावयति; स्रावयते (ब्रा०) ।

स्वज् *आलिंगन करना* भ्वादि० : लट् स्वंजते; लेट् स्वंजाते, स्वंजातै (अथर्व०) लु० लो० स्वंजत्; लोट् स्वंजस्व; स्वंजध्वम्। लिट् सस्वजे; सस्वजाते (प्र० पु० द्वि०); कानजन्त सस्वजानं। लिट्प्र० असस्वजत्। क्तान्त स्वक्तं (ब्रा०)। तुम० –स्वंजे।

स्वद्, स्वाद् *मधुर बनना* भ्वादि० : लट् स्वंदति, स्वंदते; आत्मने० स्वांदते; लेट् स्वंदाति; लोट् स्वंद; स्वंदन्तु; आत्मने० स्वंदस्व। लुङ् साभ्यास : लु० लो० सिष्वदत्। क्तान्त स्वात्तं। तुम० –सुंदे। ण्यन्त स्वदंयति, स्वदंयते; क्तान्त स्वदितं।

स्वन् *शब्द करना* : लुङ् इष् : अंस्वनीत्; लु० लो० स्वनीत्। ण्यन्त स्वनंयति; क्तान्त स्वनितं। यङ्लुगन्त लेट् सनिष्वणत्।

स्वप् *सोना* अदादि० परस्मै० : लट्–लोट् स्वंप्तु; शत्रन्त स्वपंन्त्। भ्वादि० परस्मै० : लट् स्वंपति। लिट् सुषुपुंर्; लु० लो० सुषुप्यास् (ब्रा०); क्वस्वन्त सुषुप्वांस्; कानजन्त सुषुपाणं। लुङ् साभ्यास : सिष्वपस् और सिष्वप् (म० पु० एक०)। लृट् स्वप्स्यंति (ब्रा०); स्वपिष्यामि। क्तान्त सुप्तं। क्त्वान्त सुप्त्वा। तुम० स्वंप्तुम् (ब्रा०)। ण्यन्त स्वापंयति।

स्वर् *शब्द करना* भ्वादि० परस्मै० : लट् स्वंरति। लिट् लु० लो० सस्वंर् (प्र० पु० एक०)। लुङ् स् : अंस्वार् (प्र० पु० एक०); अंस्वार्ष्टाम् (प्र० पु० द्वि०); इष् : अंस्वारीस् (ब्रा०)। तुम० स्वंरितोस् (ब्रा०)। ण्यन्त स्वरंयति।

स्विद् *पसीना आना* भ्वादि० आत्मने० : लट् स्वेंदते। कानजन्त सिष्विदानं। क्तान्त स्विन्नं। ण्यन्त स्वेदंयति (ब्रा०)।

हन् *प्रहार करना* अदादि० : लट् हंन्मि, हंसि, हंन्ति; हथंस्, हतंस्; हन्मंस्, हथं, घ्नंन्ति; लेट् हंनस्, हंनति और हंनत्; हंनाव; हंनाम; हंनाथ (अथर्व०), हंनन्; लु० लो० हंन् (प्र० पु० एक०); वि० लि० हन्यात्,

हन्याम; लोट् जहिं, हन्तु; हतम्, हताम्; हत और हन्तन, घ्नन्तु; शत्रन्त घ्नन्त्। भ्वादि० : लट् जिघ्नते; जिघ्नति (ब्रा०)। लिट् जघन्य, जघान; जघ्नयुर्; जघ्निम, जघ्नुर्; आत्मने० जघ्ने (ब्रा०); लेट् जघनत्; क्वस्वन्त जघन्वांस्; जघ्निवांस् (ब्रा०)। लुङ इप्: अहानीत् (ब्रा०)। लृट् हनिष्यति; हनिष्यते (ब्रा०)। क० वा० हन्यते, क्तान्त हत। कृत्य० हन्त्व। क्त्वाद्यन्त हत्वा, हत्वी; हत्वाय; –हत्य। तुम० हन्तवे, हन्तवै; हन्तुम्। ण्यन्त घातयति (ब्रा०)। सन्नन्त जिघांसति; लुङ अजिघांसीस् (ब्रा०)। यङलुगन्त जङ्घन्ति; लेट् जङ्घनानि, जङ्घनस्, जङ्घनत्; जङ्घनाव; लोट् जङ्घनीहि; शत्रन्त जङ्घनत्; घनिघ्नत्। यङन्त लेट् जङ्घनन्त।

हर् *परितुष्ट होना* **दिवादि०**: लट् हर्यति; लेट् हर्यासि और हर्यास्; लोट् हर्य; शत्रन्त हर्यन्त्। लङ अहर्यत्; आत्मने० अहर्यथास्।

१. हा *छोड़ना* **जुहोत्यादि०** परस्मै० : लट् जहामि, जहासि, जहाति; जहति; लेट् जहानि; जहाम; वि० लि० जह्यात्; जह्युर्; लोट् जहीतात्, जहातु; जहीतम्; जहीत; शत्रन्त जहत्। लङ अजहात्; अजहातन, अजहुर्। लिट् जहा; जहतुर्; जहुर्। लुङ धातु : अहात् (ब्रा०); स् : अहास् (प्र० पु० एक०); आत्मने० अहासि, अहास्थास्; लु० लो० ह्रासीस्; सिष् : लु० लो० हासिष्टम्, हासिष्टाम्; हासिष्ट, हासिषुर्। लृट् हास्यति; हास्यते (ब्रा०)। क० वा० हीयते; लुङ अहायि। क्तान्त हीन; हान (ब्रा०); जहित। क्त्वाद्यन्त हित्वा, हित्वी, हित्वाय; –हाय (ब्रा०)। तुम० हातुम् (ब्रा०)। हातुम् (ब्रा०)। ण्यन्त लुङ जीहिपस्।

२. हा *आगे बढ़ना* **जुहोत्यादि०** आत्मने० : लट् जिहीते; जिहाते; जिहते; लु० लो० जिहीत; लोट् जिहीष्व, जिहीताम् (प्र० पु० एक०); जिहाथाम् (म० पु० द्विव०); जिहताम् प्र० पु० बहु० शानजन्त जिहान। लङ आत्मने० अजिहीत; अजिहत। लिट् जहिरे। लुङ साभ्यास : जीजनन्त; स् : आत्मने० अहासत। (प्र० पु० बहु०); लु० लो० हास्यास्। लृट् हास्यते (ब्रा०)। क्तान्त हान (ब्रा०)। क्त्वाद्यन्त –हाय। तुम० हातुम्। ण्यन्त हापयति। सन्नन्त जिहीषते।

हि *प्रेरित करना* **स्वादि०** : लट् हिनो´मि, हिनो´षि, हिनो´ति; हिन्मस् और हिन्मसि, हिन्वन्ति; आत्मने० हिन्वे´ (उ० और प्र० पु०); हिन्वते और हिन्विरे´; लेट् हिनवा; लु० लो० हिन्वन्; लोट् हिनुहि, हिनुतात्, हिनु´; हिनो´तम्; हिनुत, हिनो´त और हिनो´तन, हिन्वन्तु; शत्रन्त हिन्वन्त्; शानजन्त हिन्वान; लङ् अहिन्वन्। लिट् जिघाय (ब्रा०); जिघ्यु´र् (ब्रा०)। लुङ् धातु: अहेम, अहेतन, अह्यन्; लोट् हेत; शानजन्त हियान; अ: अह्यम्; स्: अहैत् (प्र० पु० एक०, अथर्व०); अहैषीत् (ब्रा०); आत्मने० अहेषत (प्र० पु० बहु०)। क्तान्त हित। कृत्य० हेत्व। तुम० –ह्यै।

हिंस् *हानि पहुंचाना* **रुधादि०** : हिनस्ति; हिंसन्ति; आत्मने० हिंस्ते (अथर्व०); लोट् हिनस्तु; वि० लि० हिंस्यात् (ब्रा०); शानजन्त हिंसान; लङ् अहिनत् (प्र० पु० एक०, ब्रा०)। **भ्वादि०** : लट् हिंसति, हिंसते (ब्रा०)। लिट् जिहिंसिम। लिट्प्र० जिहिंसीस्। लुङ् इष् : लु० लो० हिंसिषम्, हिंसीस्, हिंसीत्, हिंसिष्टम् (म० पु० द्वि०); हिंसिष्ट, हिंसिषुर्। लृट् हिंसिष्यति, हिंसिष्यते (ब्रा०)। क० वा० हिंस्यते। क्तान्त हिंसित। कृत्य० हिंसितव्य। क्त्वान्त हिंसित्वा। तुम० हिंसितुम् (ब्रा०), हिंसितोस् (ब्रा०)। सन्नन्त जिहिंसिषति (ब्रा०)।

हीड् *विरोध होना* **भ्वादि०** : शत्र० हेळन्त्; शानजन्त हेळमान; हीडमान (ब्रा०)। लिट् जिहीळ (उ० पु० एक०), जीहीड (अथर्व०); आत्मने० जिहीळे; जिहीळिरे; कानजन्त जिहीळान। लुङ् साभ्यास: अजीहिडत्; इष्: आत्मने० हीडिषाताम् (तै० आ०)। क्तान्त हीडित। ण्यन्त शत्रन्त हेळयन्त्।

हु *आहुति डालना* **जुहोत्यादि०** : लट् जुहो´मि, जुहो´ति; जुहुमस्; जु´ह्वति; आत्मने० जुह्वे´, जुहुते´; जु´ह्वते; लेट् जुहवाम; वि० लि० जुहुयात्; जुहुयाम; जुहुधि (ब्रा०), जुहो´तु; जुहुत और जुहो´त, जुहो´तन; आत्मने० जुहुध्वम्; शत्रन्त जु´ह्वत्; शानजन्त जु´ह्वान; लङ् अजुहवुर्; आत्मने० अजुह्वत। लिट् जुहवे´; जुहुरे´; जुह्विरे´ (ब्रा०); आमन्त: जुहवांचकार (ब्रा०।) लुङ् स्: अहौषीत् (ब्रा०)। लृट् होष्यति। क०

वा० हूयते; लुङ् अहावि । क्तान्त हुत । क्त्वाद्यन्त हुत्वा (ब्रा०) । तुम० होतवै; होतुम् (ब्रा०), होतोस् (ब्रा०) ।

हू बुलाना **भ्वादि०** आत्मने० : लट् हवते; लु० लो० हवन्त; शानजन्त हवमान । **तुदादि०** : लट् हुवे (उ० और प्र० पु०); हुवामहे; लु० लो० हुवत्; वि० लि० हुवेम; आत्मने० हुवेय; शत्रन्त हुवन्त्; लङ् अहुवे; अहुवन्त । **जुहोत्यादि०** : लट् जूहूमसि और जूहूमस् । **अदादि०** : लट् हूते; हूमहे । लिट् जुहाव; आत्मने० जुह्वे; जुहूरे; जुहुविरे (ब्रा०) । लुङ् धातु : आत्मने० अह्वि; अहूमहि; लु० लो० होम; अ : अह्वम्, अह्वत्; अह्वाम; आत्मने० अह्वे, अह्वन्त, स् : आत्मने० अहूषत (प्र० पु० बहु०) । क० वा० हूयन्ते । क्तान्त हूत । कृत्य० हव्य । क्त्वाद्यन्त –हूय (ब्रा०) । तुम० हवीतवे; हुवध्यै । सन्नन्त जुहूषति (ब्रा०) । यङ्लुगन्त जोहवीमि, जोहवीति; लोट् जोहवीतु; लङ् अजोहवीत्; अजोहवुर्; यङन्त लेट् आत्मने० जोहुवन्त । (ब्रा०) ।

१. हृ लेना **भ्वादि०** : लट् हरति, हरते; लेट् हराणि, हरात्, हराम, हरान्; वि०लि० हरेत्; हरेम; लोट् हर; हरत, हरन्तु; शत्रन्त हरन्त् । लङ् अहरत् । लिट् जहार, जहर्थ (ब्रा०); जह्रुर्; आत्मने० जह्रे (ब्रा०) । लुङ् धातु : अह्रियास् (ब्रा०) –स् : अहार्षम्, अहार् (प्र० पु० एक०) । आत्मने० अहृषत (प्र० पु० बहु०) । लृट् हरिष्यति, हरिष्यते (ब्रा०) । लुट् हर्ता (ब्रा०) । लृङ् अहरिष्यत् (ब्रा०) । क० वा० ह्रियते । क्तान्त हृत क्त्वाद्यन्त हृत्वा (ब्रा०); –हृत्य । तुम० हरसे; हर्तवै (ब्रा०); हर्तोस् (ब्रा०); हर्तुम् (ब्रा०) । ण्यन्त हारयति, हारयते (ब्रा०) । सन्नन्त जिहीर्षति ।

२. हृ क्रुद्ध होना **क्र्यादि०** आत्मने० : लट् हृणीषे, हृणीते; लु० लो० हृणीथास्; लोट् हृणीताम् (प्र० पु० एक०); शानजन्त हृणान ।

हृष् उत्तेजित होना **भ्वादि०** : लट् हर्षते; लोट् हर्षस्व; शत्रन्त हर्षन्त्; शानजन्त हर्षमाण । कानजन्त जाहृषाण । क्तान्त हृषित । ण्यन्त हर्षयति, हर्षयते । यङन्त लेट् जर्हृषन्त; शानजन्त जर्हृषाण ।

ह्नृ छिपना अदादि० : लट् ह्नृतस्; आत्मने० ह्नृवे। क्तान्त ह्नृत। कृत्य० ह्नर्वाय्य।

ह्नी लज्जित होना जुहोत्यादि० परस्मै० : लट् जिह्रेति। लुङ् धातु : शानजन्त -ह्नयाण। क्तान्त ह्नीत (ब्रा०)।

ह्वा बुलाना दिवादि० : लट् ह्वयति; ह्वये; लेट् ह्वयामहै; वि०लि० ह्वयेताम् (प्र० पु० द्विव०); लोट् ह्वय, ह्वयतु; ह्वयन्तु; आत्मने० ह्वयस्व; ह्वयेयाम् (म० पु० द्विव०); ह्वयन्ताम्; ह्वयिष्ये शानजन्त ह्वयमान। लङ् अह्वयत्; अह्वयन्त। लुङ् अह्वालीत् (ब्रा०)। लृट् ह्वयिष्यति, ते। तुम० ह्वयितवै (ब्रा०)। ह्वयितुम् (ब्रा०)।

ह्वृ अनृजु होना भ्वादि० आत्मने० : लट् ह्वरते। क्र्यादि० परस्मै० : लट् ह्नृणाति। जुहोत्यादि० : लेट् जुहुरस्; आत्मने० जुहुरन्त; लु० लो० जुहूर्यास्; शानजन्त जुहुराण। लुङ् साभ्यास : जिह्वरस्; लु० लो० जिह्वरस्; जिह्वरतम् (म० पु० द्विव०); स् : लु० लो० ह्वार् (म० पु०ए क०), ह्वार्षीत्; इष् : ह्वारिषुर्। क्तान्त ह्वृत, ह्नृत। ण्यन्त ह्वारयति।

परिशिष्ट २

वैदिक छन्द

१. वैदिक छन्द[1] का मुख्य नियामक सिद्धान्त (जोकि समस्त उत्तरवर्ती भारतीय पद्य रचना का स्रोत है[2]) अक्षर गणनाद्वारक मान (माप) है।[3] छन्द के एकांश से यहां ग्रीक छन्दःशास्त्र में प्रसिद्ध 'फुट' (पाद) अभिप्रेत नहीं है अपितु वह **पाद** अथवा चतुर्थांश[4] जो कि ऋचा की एक पंक्ति अथवा घटक अवयव होता है। इस प्रकार के पादों में आठ, ग्यारह, बारह या (अनतिप्राचुर्येण) पांच अक्षर पाये जाते हैं। किञ्च पाद का नियमन बहुत कुछ सङ्ख्याजन्य लय के द्वारा किया जाता है (सङ्गीतमय स्वर उदात्तादिक के प्रभाव से अछूते रहकर) जहां कि लघु और गुरु अक्षरों का एक दूसरे के बाद आने का क्रम पाया जाता है। लगभग सभी छन्दों में एक सामान्य 'आयम्बिक' (iambic) क्रम (⏑—⏑ अथवा ⏓—⏓—⏓) पाया जाता है चूंकि पाद के छोटा होने की बजाय बड़ा होने की दशा में उनके (छन्दों का) झुकाव समाक्षरों

---

१. जिसे कि स्वयं ऋग्वेद में ही छन्दस् इस नाम से कहा गया है।

२. आर्या और वैतालीय इन दो छन्दों के सिवाय जिनमें कि मात्राओं की गणना पाई जाती है।

३. ऐसा प्रतीत होता है कि भारत-ईरानी काल में छन्द का यही एकमात्र सिद्धान्त था चूंकि अवेस्ता में पाद का स्वरूप इसमें (पाद में) पाये जाने वाले अक्षरों पर ही केवल निर्भर है; इसके किसी भी अंश में सङ्ख्यासम्बन्धी नियम नहीं पाया जाता।

४. एक औपचारिक अर्थ (जिसका उद्भव चौपाये के पाद = एक पांव या चौथा भाग से हुआ) जो यहाँ इसलिये चरितार्थ है कि सामान्यतया ऋचा में चार पंक्तियां पाई जाती हैं।

(दूसरा, चौथा, आदि) की ओर पाया जाता है। प्रत्येक छन्द में पाद के उत्तरभाग (अन्तिम चार या पांच अक्षर) की लय का जिसे 'केडेन्स्' (cadence) कहा जाता है पूर्वभाग की अपेक्षा अधिक कठोरता से नियमन किया जाता है । एकादशाक्षर अथवा द्वादशाक्षर पादों में न केवल लय ही पाया जाता है अपितु चतुर्थ अथवा पञ्चम अक्षर के बाद यति भी जबकि पञ्चाक्षर अथवा अष्टाक्षर पादों में यह यति उपलब्ध नहीं होती।

. पादों के मिलने से एक पद्य अथवा ऋचा बनती है जो कि सूक्त का एकांश होती है। सूक्त में सामान्यतया तीन से कम या पन्द्रह से अधिक इस प्रकार के एकांश पाये जाते हैं। ऋग्वेद में सामान्यतया उपलभ्यमान ऋचाएं चार चार अक्षरों के बढ़ाने से बीस अक्षरों (४×५) से लेकर अड़तालीस अक्षरों (४×१२) तक की पाई जाती है।[1] ऋचा में एक ही छन्द के अथवा भिन्न भिन्न छन्दों के पाद हो सकते हैं एवञ्च दो या तीन ऋचाओं को मिलाकर एक युग्मक या कुलक भी बन सकता है।

(अ) छन्द के निम्नलिखित सामान्य नियमों पर ध्यान अपेक्षित हैं : (१) जब एक पाद पूरा होता है तो उसके साथ ही साथ नियमतः पद भी पूरा हो जाता है[2] क्योंकि ऋचा का प्रत्येक पाद रचना की दृष्टि से अन्य पादों से स्वतन्त्र होता है। (२) पाद के प्रथम अथवा अन्तिम अक्षर गुरु हों या लघु इससे कोई विशेष अन्तर नहीं आता। (३) संयुक्त व्यञ्जन परे रहने पर अनु संयोगवशात् गुरु हो जाता है। इन व्यञ्जनों में से एक या ये दोनों के दोनों ही उत्तरवर्ती पद का अङ्ग भी हो सकते हैं। तालव्य महाप्राण छ् और मूर्धन्य महाप्राण ळ्ह् (ढ्) को व्यञ्जन

---

१. इनके अतिरिक्त अनेक बड़ी बड़ी ऋचाएँ भी हैं जिनमें कि पादों की संख्या बढ़ा दी जाती है और जिनमें कि ५२, ५६, ६०, ६४, ६८ और ७२ अक्षर पाये जाते हैं पर ये सभी के सभी विरल हैं; ऋग्वेद में ६८ अक्षरों की दो और ७२ अक्षरों की दो ऋचाएं पायी गई हैं।

२. ऋग्वेद के किसी भी छन्द में इस नियम का व्याघात उपलब्ध नहीं होता सिवाय अपेक्षाकृत विरल द्विपदा विराज् (४×५) के जिसमें कि तीन अपवाद पाये जाते हैं।

द्य समझा जाता है । (४) एक अच् को अन्य से पूर्व ह्रस्व कर दिया जाता है;[1] एवञ्च ए और ओ को अ से पूर्व ऍ और ऑ की तरह उच्चारित किया जाता है। (५) सन्धि में एवञ्च पद के मध्य में य् और व् इन अन्तःस्थों को प्रायः इ और उ की तरह उच्चारण करना होता है । यथा **स्याम** के स्थान पर **सिआम; स्वर्** के स्थान पर **सुअर्; व्युषाः** के स्थान पर **वि उषाः; विदथेष्वर्ज्जन्** के स्थान पर **विदथेषु अर्ञ्जन्** (६) एकादेशजन्य अचों (विशेषकर ई और ऊ) में एकादेश को हटा दिया जाता है एवञ्च अच् पुनः अपने मूल स्वरूप में आ जाते हैं। यथा— **चाग्नये** के स्थान पर **च अग्नये; वीन्द्रः** के स्थान पर **वि इन्द्रः ; अवतूतये** के स्थान पर **अवतु ऊतये; ऐन्द्र** के स्थान पर **आ इन्द्र**। (७) ए और ओ से परे लुप्त आदि अ को निश्चितरूप से लगभग सदैव अपने मूल स्वरूप में लाना होता है। (८) षष्ठी बहु० प्रत्यय **आम्** एवञ्च **दास, शूर** आदि शब्दों का दीर्घ अच् और ए (जैसे **ज्येष्ठ** के स्थान पर **ज्य इष्ठ**) या ऐ (जैसे **ऐकुस्** के स्थान पर **अ इकुस्**) को निश्चय ही अनेक बार दो लघु अक्षरों के समान उच्चारण करना होता है। (९) कुछेक शब्दों की वर्णानुपूर्वी नियमतः छन्दोऽनुसारी क्रम के विपरीत होती है, जैसे **पावकं** को सदैव (छन्द में) **पवाकं** की तरह उच्चारण करना होता है। इसी प्रकार **मृलय** का उच्चारण **मृलय** की तरह और **स्वर्ण** का उच्चारण लगभग सदैव **सुवर्ण** की तरह करना होता है ।

१ सामान्य ऋचाएं

२. वैदिक सूक्तों में मुख्य रूप से सामान्य ऋचाएं ही पाई जाती हैं, अर्थात् वे जिनमें छन्द की दृष्टि एक से पाद होते हैं। तीन, चार, पाँच या छः एक से पादों को मिलाकर भिन्न भिन्न ऋचाओं की रचना की जाती है। नीचे भिन्न भिन्न प्रकार के पादों और उनसे बनने वाली भिन्न भिन्न सामान्य ऋचाओं का वर्णन दिया जा रहा है।

(य) **अष्टाक्षर पाद**—यह एक इस प्रकार का द्विखण्डात्मक पाद है जिसमें चार-चार अक्षरों के दो बराबर के खण्ड पाये जाते हैं : आदि का और अन्त का । आदि के खण्ड में प्रथम और तृतीय अक्षर कैसे भी हो सकते हैं जब कि

---

१. प्रगृह्य दशा (२५, २६) में ई, ऊ और ए ये स्वर (अन्य) स्वरों से पूर्व दीर्घ ही बने रहते हैं। जब अन्तिम दीर्घ अच् सन्धिजन्य हो तो वह भी दीर्घ ही रहता है । उदाहरणार्थ **तस्मै अदात्** का स्थानापन्न **तस्मा अदात्** ।

द्वितीय और चतुर्थ में गुरु होने की प्रवृत्ति अधिक है। जब द्वितीय लघु रहता है तब तृतीय लगभग नियमेन गुरु होता है। अन्तिम खण्ड में लय में विशेष रूप से 'आयम्बिक' क्रम पाया जाता है, जहां कि प्रथम और तृतीय अक्षर लगभग सदैव लघु होते हैं जब कि द्वितीय प्रायः गुरु होता है (यद्यपि यह बहुत बार लघु भी होता है)। इस स्थिति में समूचे पाद का अधिकतर क्रम इस प्रकार उपलब्ध होता है ⏓—⏓—। ⏑—⏑⏓।

(ख) प्रत्येक सम्भव अक्षर-प्रत्यापत्ति के बाद भी इस प्रकार की पर्याप्त ऋचाएँ हैं जिनमें एक अक्षर विशेष की अल्पता रूप अव्यवस्था पाई जाती है (जो कि मूल पाठ का हनन किये बिना नहीं हटाई जा सकती)। यथा—तं त्वा वयं पितो। अथ च यहां एक या दो अक्षरों की अतिप्रचुरता के भी अत्यल्प उदाहरण उपलब्ध हैं। यथा—अग्निम् ईळे। युवां धियं। एवम् और वयम् तद् अस्। य सं नूतं। वंसु।

३ (क) गायत्री[1] ऋचा में तीन[2] अष्टाक्षर पाद[3] पाये जाते हैं। यथा—

अग्निम् ईळे। पुरोहितम्।—⏑——। ⏑—⏑⏑।
यज्ञस्य दे। वम् ऋत्विजम्।——⏑—। ⏑—⏑⏑।
होतारं र। त्नधातमम्॥————। ⏑—⏑⏑।

---

१. त्रिष्टुभ् के बाद ऋग्वेद में यही सर्वाधिक प्रचुर छन्द है। इस संहिता का लगभग एक चौथाई भाग इसी में ही लिखा गया है। इस पर भी यह लौकिक संस्कृत में लगभग पूरी तरह लुप्त हो गया है। अवेस्ता में इसके समान ही ३×८ अक्षरों की ऋचा पाई जाती है।

२. गायत्री के पहिले दो पादों को संहिता पाठ में सम्भवतः अनुष्टुभ् और त्रिष्टुभ् के अनुकरण पर ही अर्धर्च मान लिया जाता है पर इस मान्यता का कोई कारण नहीं है कि मूल पाठ में द्वितीय पाद प्रथम पाद की अपेक्षा तृतीय पाद से अधिक स्पष्ट रूप से भिन्न था।

३. सामान्य प्रकार से कहीं अधिक प्रचुर भेद वह है जहां कि अन्त्य भाग का द्वितीय अक्षर लघु होता है (⏑⏑⏑⏓)। यह गायत्रियों के प्रथम पाद में लगभग उतना ही प्रचुर है जितना कि द्वितीय और तृतीय पादों में कुल मिला कर।

(क) गायत्री का एक अपेक्षाकृत विरल पर पर्याप्त स्पष्ट प्रकार[1] सामान्य रूप से पाये जाने वाले प्रकार से इस अंश में भिन्न है कि इसमें अन्त्य भाग में निश्चित रूप से ट्रोकेक (trochaic) (—⏑—⏓) क्रम पाया जाता है[2] जबकि आदि भाग में 'आयम्बिक' सामान्यतया उपलब्ध 'आयम्बिक' क्रम की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट है। यथा—

तुअं नो अग् । ने मंहोभिः ।⏑—⏑— —⏑—⏑।
पाहिं विश्व । स्या अंरातेः ।——⏑—— —। —⏑— —।
उतं द्विषंः । मंर्तिअस्य ।।⏑—⏑—। —⏑—⏑।।

(ख) अनुष्टुभ्[3] ऋचा में चार अष्टाक्षर पाद पाये जाते हैं जिन्हें कि पूर्वार्ध और उत्तरार्ध इन दो भागों में विभक्त कर दिया जाता है। यथा—

आं यंस् ते सर् । पिरासुते।— — — —। ⏑—⏑—।
अंग्ने शंम् अंस् । ति धायसे।— —⏑—। ⏑—⏑—।।
एं षु द्युम्नंम् । उतं श्रंवः।—— — ——⏑। ⏑—⏑⏑।
आं चित्तं मंर् । तिएषु धाः।।—— — — —। ⏑—⏑—।।

(अ) ऋग्वेद के अर्वाचीनतम सूक्तों में अनुष्टुभ् के अर्धर्च में प्रथमपाद को द्वितीय पाद से भेद करने की प्रवृत्ति का प्रारम्भ पाया जाता है। वहां प्रथम पाद भाग को 'ट्रोकेक' बना दिया जाता है जबकि द्वितीयपाद के आदि भाग में ठीक 'आयम्बिक' क्रम ही पाया जाता है। यद्यपि इन सूक्तों में प्रथमपाद का 'आयम्बिक' क्रम सभी भेदों की अपेक्षा सर्वाधिक प्रचुर है (२५ प्रतिशत) तो भी इसके बाद का सर्वाधिक प्रचुर भेद (२३ प्रतिशत) लगभग बहुत कुछ इसके बराबर हो पहुँच चुका है। इस भेद का क्रम काव्यों के अनुष्टुभ् (श्लोक) के प्रथमपाद के अन्तिम भाग के

---

१. इन 'ट्रोकेक' गायत्रियों की केवल मात्र लम्बी शृंखलाएँ ऋग्वेद के ८, २, १-३६ में ही पाई जाती हैं।

२. १ से ८ मण्डलों में 'ट्रोकेक' गायत्री का प्रयोग प्रचुरतम है। इनकी संख्या कुल मिलाकर ऋग्वेद में उपलब्ध उदाहरणों की संख्या का दोतिहाई भाग है।

३. ऋग्वेद में इस छन्द का प्रयोग गायत्री के प्रयोग का एक तिहाई है पर उत्तर वैदिक काल में यह मुख्य छन्द बन गया है। अवेस्ता में एतत्तुल्य ४ × ८ आठ अक्षरों की एक ऋचा पाई जाती है।

सामान्य व स्वाभाविक क्रम से अभिन्न है[१]। इस नवीन पद्धति[२] से समूचे अर्धर्च का क्रम इस प्रकार होगा ⏑—⏑—।⏑——⏑॥⏑—⏑—।⏑—⏑⏑॥

यथा—केशी॑ वि॒षस्य॒ पात्रे॑ण ॥ यद्रु॒द्रेणा॑पि॑बत् स॒ह ॥

(ग) पङ्क्ति छंद में पांच अष्टाक्षर पाद[३] पाये जाते हैं जिन्हें कि क्रमशः दो और तीन पादों के दो अर्धर्चों में विभक्त कर दिया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका उद्भव अनुष्टुभ् के साथ पांचवां पाद और लगा देने से हुआ है। उन सूक्तों में जिनमें केवल पङ्क्ति छन्द ही पाया जाता है प्रत्येक ऋचा के पांचवे पाद (सिवाय १.८१) के नियमेन टेक (refrain) होने के कारण इसका पता चलता है। नीचे पङ्क्ति छन्द का एक उदाहरण दिया जा रहा है :—

इ॒त्था हि सोम॒ इन्मदे॑। ब्र॒ह्मा च॒कार॒ वर्ध॑नम् ॥
शवि॑ष्ठ वज्रि॒न्नोज॑सा। पृ॒थि॒व्या निः श॑शा॒ अहि॑म्।
अर्च॒न्ननु॑ स्व॒राज्य॑म् ॥

(घ) ऋग्वेद की पचास ऋचाओं में अष्टाक्षर पादों की संख्या सामान्यतया अनुष्टुभ् (यथा ८.४७) या पङ्क्ति (यथा १०.१३३, १-३) के साथ दो पादों की टेक को जोड़ने से बढ़ाकर छः तक और लगभग २० अन्य में सात तक पहुँचा दी जाती है। पहिले को महापङ्क्ति (४८) कहा जाता है और दूसरे को शक्वरी (५६)।

४. (र) एकादशाक्षर पाद अष्टाक्षर पादों से इस रूप से भिन्न हैं कि इनमें तीन भाग (आदि, मध्य और अन्त) पाये जाते हैं। दो अन्य बातों में

---

१. जहां कि प्रथम पाद का 'आयम्बिक' क्रम सर्वथा लुप्त हो गया है।

२. अथर्व० में इस प्रकार का अनुष्टुभ् ही नियमेन पाया जाता है।

३. अवेस्ता में ५ × ८ अक्षरों की इससे मिलती जुलती एक ऋचा पाई जाती है।

भी इनका अष्टाक्षर पादों से भेद है: इनके अन्त्य भाग में 'ट्रोकेक'[1] क्रम पाया जाता है (—⏑—⏓ति)। य का नियम भी इनमें है जोकि चौथे[2] या पाँचवे अक्षर के बाद पाई जाती है। यति से पूर्व के अक्षरों का क्रम अधिकतर 'आयम्बिक' होता है: ⏓—⏓—[3] या ⏓—⏓—⏓।[4] यति और अन्त्य भाग के मध्यवर्ती अंश का क्रम नियमित रूप से इस प्रकार होता है: ⏑⏑— या ⏑⏑।[5] इस प्रकार एक समूची स्वाभाविक एकादशाक्षर ऋचा का क्रम इस प्रकार होगा :

(क) ⏓—⏓—, ⏑⏑—|—⏑—⏓ । या

(ख) ⏓—⏓—⏓, ⏑⏑|—⏑—⏓।

(अ) पाठभ्रंश या प्रतीयमान अनियमितताओं के अतिरिक्त (जिनका कि अच् प्रत्यापत्ति के द्वारा परिहार किया जा सकता है) इस प्रकार के अनेक पादों में एक ही अक्षर या तो बहुत अधिक बार पाया जाता है या बहुत कम बार।[6] यथा तां नो विद्वांसा, मंन्म वो। चेतम् अर्द्य[6] (१२), तंमीं गिरो जंन। यो नं

---

१. यहाँ एकमात्र व्यभिचार यह है कि अन्त्यभाग का आद्यक्षर पदान्त होने पर ह्रस्व हो सकता है।

२. ऐसा प्रतीत होता है कि यति की मूलस्थिति यही थी चूंकि एतत्तुल्य अवेस्ता की ऋचा में वह वहां पाई जाती है और कभी भी पाँचवे अक्षर के बाद उपलब्ध नहीं होती।

३. अष्टाक्षर पाद के आदि से अभिन्न।

४. चौथा अक्षर यहाँ कभी-कभी लघु होता है। उस दशा में पाँचवाँ सदैव गुरु होता है।

५. ऋग्वेद के प्राचीन सूक्तों में इन दो अक्षरों में पहिला कभी-कभी, पर विरलतया, गुरु होता है, उत्तरवर्ती सूक्तों में यह स्थिति और भी कम है और ब्राह्मण-ग्रंथों में तो शायद ही कभी उपलब्ध होती है।

५. यह अव्यवस्था उत्तरवर्ती वैदिक ग्रन्थों एवञ्च पालि काव्यों में भी पाई जाती है।

६. इन स्थलों में अतिरिक्त अक्षर सम्भवतः इस कारण से है कि इनमें पाद को अनवधानवश पञ्चमाक्षरयति के बाद भी चतुर्थाक्षरयति ही मानकर जारी रखा जाता है।

पत्नीः[1] (10) । यदा कदा यति के बाद दो अक्षरों की कमी पाई जाती है या अन्त में 'ट्रोकी' (trochee) के लग जाने से पाद अधिक लम्बा हो जाता है । यथा—र्तं ऊ पु॑ गो, [..] म । हो यजत्राः (६); अयं॑ स॑ हो॑ता, [⌣⌣] यो॑ द्विजन्मा (६); र॑थेभिर्याति, ऋष्टि । म॑द्भिर॑श्व । पर्णैः (२) ।

५. ऋग्वेद में सर्वाधिक प्रचुर त्रिष्टुभ्[2] में चार एकादशाक्षर[3] पाद पाये जाते हैं जिन्हें कि दो अर्धर्चों में विभक्त कर दिया जाता है । दोनों ही प्रकार के अर्धर्च नीचे दिये जा रहे हैं :

(क) अनागास्त्वे॑, अदिति । त्वे॑ तुरा॑सः । इमं॑ यज्ञं॑, दधतु । श्रो॑षमाणाः ।।

(ख) अस्मा॑कं सन्तु, भु॑व । नस्य गो॑पाः । पिब॑न्तु सो॑मम्, अव । से नो॑ अद्य ।।

(अ) कतिपय दो पादों की (द्विपदा) त्रिष्टुभ् ऋचाएँ भी पाई जाती हैं (यथा ७.१७) । त्रिपदा (विराज्) ऋचाएँ कहीं अधिक प्रचुर हैं । (गायत्री की तरह ही) इनके पहिले दो पादों को संहिताओं में एक अर्धर्च मान लिया जाता है, कुछेक पूरे के पूरे सूक्त ही इस त्रिपद छन्द में रचे गये हैं (यथा १.२५) किन्तु पञ्चपदा त्रिष्टुभ् ऋचाएँ भी पर्याप्त प्रचुर हैं[4] । इन्हें क्रमशः दो और तीन पादों के अर्धर्चों में प्रविभक्त कर दिया जाता है । ये कहीं इक्के दुक्के ही दीख जाती हैं और सामान्यतया (त्रिष्टुभ्) सूक्तों के अन्त में पाई जाती हैं पर पूरा का पूरा सूक्त इनमें कभी भी नहीं रचा गया ।

---

१. इन स्थलों में एक अक्षर की कमी का कारण अंशतः दशाक्षरा द्विपदा विराज् (८) के साथ साम्य भी हो सकता है जिनका कि त्रिष्टुभ् के पादों से बहुत बार विनिमय पाया जाता है ।

२. ऋग्वेद का लगभग दो तिहाई भाग इस छन्द में रचा गया है ।

३. अवेस्ता में ४ × ११ अक्षरों की एतत्तुल्य एक ऋचा पाई जाती है जिसमें यति चतुर्थाक्षर के बाद रहती है ।

४. जब पञ्चमपाद चतुर्थ का आवृत्ति रूप ही हो तो प्राचीन छन्दःशास्त्री इन्हें अतिजगती (५२) और शक्वरी ऋचाएँ ही मानते हैं । यदि यह आवृत्ति रूप न हो तो संहिता पाठ में इसे एक पृथक् पाद (जैसे ५.४१, २०; ६.६३, ११) मान लिया जाता है और छन्दःशास्त्रियों द्वारा इसे एकपदा यह संज्ञा दे दी जाती है ।

६ (ख) द्वादशाक्षर पाद सम्भवतः त्रिष्टुभ् पाद का एक अक्षर के द्वारा उपबृंहणमात्र[1] ही है जोकि त्रिष्टुभ् के 'ट्रोकेक' क्रम को आयम्बिक क्रम[2] का स्वरूप प्रदान कर देता है। इसलिये अन्तिम पांच अक्षरों का क्रम इस प्रकार होता है:— ⏑—⏑⏑̲। उपबृंहित अक्षर के ही एक मात्र भेद होने के कारण समूची ऋचा का क्रम (इस छन्द में) इस प्रकार होगा—

(क) ⏓—⏓—, ⏑⏑—।—⏑—⏑⏓ या

(ख) ⏓—⏓—⏓, ⏑⏑। —⏑—⏑⏓।

(ग) (त्रिष्टुभ् के समान ही) इस प्रकार के पाद के अनेक ऐसे उदाहरण पाये जाते हैं जिनमें एक या कभी-कभी दो अक्षर या तो बहुत अधिक बार पाये जाते हैं या बहुत कम बार। यथा—**मा नो मर्ताय, रिपवे वाजिनीवसू (१२); रोदसी आ वद। ता गणश्रियः (११): सं हव्हे चित् अभि त। गन्ति वाजम् अर्। वता (१४): पिबा सोमम्, [⏑ ⏑] ए। ना शतक्रतो (१०)।**

७. ऋग्वेद में प्रयोगप्राचुर्य के क्रम से तीसरे स्थान पर आने वाले जगती छन्द में चार द्वादशाक्षर पाद पाये जाते हैं जिन्हें कि दो अर्धर्चों में विभक्त किया जाता है। निम्नलिखित अर्धर्च दोनों ही प्रकार के पादों का उदाहरण प्रस्तुत करता है:

अनानुदो, वृषभो। दोधतो वधः।
गम्भीरे ऋष्वो, असम्। अष्टकाविशः॥

(क) जगती ऋचा का एक एकादशाक्षर भेद भी पाया जाता है जिसका स्वरूप इतना पर्याप्त स्पष्ट है कि ऋग्वेद में दो सूक्तों (१०.७७,७८) की पूरी की पूरी ऋचाएँ ही इसमें रची गई हैं। इसमें पांचवें और सातवें अक्षर के बाद यति पाई जाती है।

---

१. सम्भवतः यह भारतीय-ईरानी काल का नहीं है, कारण, यद्यपि अवेस्ता में १२ अक्षरों की एक ऋचा पाई जाती है,तो भी वहाँ इसे भिन्न रूप से प्रविभक्त किया जाता है (७+५)।

२. चूंकि सामान्यरूपेण कभी भी गायत्री के पाद का त्रिष्टुभ् के पाद के साथ संयोग उपलब्ध नहीं होता—जबकि जगती के पाद के साथ वह प्राधिक है—अतः यह सम्भव प्रतीत होता है कि गायत्री के आयम्बिक क्रम के प्रभाव ने जगती को जन्म दिया जिसके साथ कि इसका सजातीय संयोग हो सकता था।

इसका क्रम इस प्रकार होता है :⏑̲—⏑̲—⏑, — —, ⏑—⏑⏑̲। निम्न-लिखित अर्धर्च इसका एक उदाहरण है :

अश्रप्रु॑षो न॑, वा॒चा, प्रुषा व॒सु ।
ह॒विष्म॑न्तो न॑, य॒ज्ञा, विजानु॑षः ॥

८ (ब) लय की दृष्टि से पञ्चाक्षर पाद का त्रिष्टुभ् के अन्तिम पञ्चाक्षरों से साम्य है। इसका प्रचुरतम स्वरूप है⏑—⏑—⏑̲। इसके बाद का सर्वाधिक प्रचुर स्वरूप है: ——⏑—⏑̲[1]

द्विपदा विराज् ऋचा[2] में ऐसे चार पाद पाये जाते हैं जिन्हें कि दो अर्धर्चों में विभक्त किया जाता है।[3] यथा—

प॑रि प्र॒ ध॑न्व । इन्द्रा॑य सोम ।
स्वा॒दु॑र् मि॒त्राय॑ । पू॒ष्णे॑ भगा॑य ॥

(क) अन्त्य भाग के साम्य के कारण एक ही ऋचा में द्विपदा अर्धर्च[4] का त्रिष्टुभ् पाद के साथ बहुत बार परस्पर विनिमय पाया जाता है।[5] यथा—

प्रि॒या वो नाम॑ । हु॒वे[6] तु॒राणा॑म् ।
आ य॒त् तृ॒पन्, मरुतो । वावसा॒नाः ।

---

१. अर्थात् इसका प्रथम अक्षर लघु होने की अपेक्षा कम बार गुरु होता है।

२. यह ऋचा कुछ-कुछ विरल है और ऋग्वेद में सौ से बहुत अधिक बार उपलब्ध नहीं होती।

३. वैसे तो यह सामान्य नियम है कि पादान्त के साथ-साथ पद भी पूरा हो जाय पर इस नियम का इस छन्द में (प्रथम और तृतीय पादों के अन्त में) तीन बार उल्लंघन किया गया है।

४. इस छन्द के साथ दशाक्षर दोषपूर्ण (४क) त्रिष्टुभ् पाद की तुलना कीजिये।

५. यह परस्पर विनिमय विशेषकर ऋग्वेद के ७.३४ और ५६ में पाया जाता है।

६. यहां क्रियापद पादादि में आने पर भी निहत होता है (परिशिष्ट ३, १९ ख), कारण, इस छन्द में प्रथम और ततीय पादान्तों को अक्खण्ड न मानने के स्थान पर उन्हें यति मानने की प्रवृत्ति है। तुलना कीजिये टिप्पण २।

(ख) द्विपदा अर्धर्चों के त्रिष्टुभ् पादों से संमिश्रण के कारण एक पूरा का पूरा सूक्त (४.१०) एक विचित्र से छन्द में रचा गया जिसमें कि तीन से पञ्चाक्षर पाद[1] थे जिनके बाद त्रिष्टुभ् आता था । यथा—

अ॑ग्ने त॑म॒द्य । अश्वं॒ न स्तोमैः॑ । क्रतुं॒ न भ॒द्रम् । हृ॒दि॒स्पृश॑म्, ऋ॒ध्यामा॑ । त॒ ओहैः॑ ॥

II मिश्रितछन्दस्क ऋचाएं

१. गायत्री और जगती ही वे एकमात्र भिन्न-भिन्न वृत्त हैं जिनका ऋचाओं में सम्मिश्रण पाया जाता है। इस प्रकार बनने वाले मुख्य छन्द हैं :

(क) २८ अक्षरों वाली त्रिपदा ऋचाएं जिनमें पहिले दो पादों को एक अर्धर्च माना जाता है :

१. उष्णिह् : ८ ८ १२; यथा—

अ॑ग्ने॒ वाज॑ । स्य॒ गोम॑तः ।
ईशा॑नः स । हसो यहो ॥
अ॒स्मे धे॑हि जातवे । दो॒ महि॒ श्रवः॑ ॥

२. पुरउष्णिह् १२ ८ ८; यथा—

अ॒प्सु॒ अ॒न्तर् अ॒मृत॑म् । अ॒प्सु भे॑ष॒जम् ।
अ॒पाम् उ॒त । प्रश॑स्तये ॥
देवा भव॑ । त वा॒जिनः॑ ॥

३. ककुभ् ८ १२ ८; यथा—

अ॒वा हि इ॒न् । द्र गिर्व॑णः ।

---

१. संहितापाठ में इन तीन पादों को अर्धर्च माना जाता है।

२. क्रियापद स्वरयुक्त रहता है क्योंकि संहितापाठ में इसे पृथक् पाद का आदिपद मान लिया जाता है।

उ॑प त्वा कामा॑न्, मर्न॑: । ससृज्म॑हे ॥
उदे॑व यन्॒ । त उर्द॑भि: ॥

(ख) ३६ अक्षरों की चतुष्पदा ऋचाएं जिन्हें दो अवर्चों में प्रविभक्त किया जाता है : बृहती ८ ८ १२ ८; यथा—

शचीभिर्॒ न: । शचीवसू॒ ।
दे॑वा नक्त॑ं । दशस्यतम्॒ ॥
मा वां रा॒त्रिर्॒, उ॑प द । सत्॒ कदा चन॑ ।
अस्मद्राति॑: । कदा चन॑ ॥

(ग) चालीस अक्षरों की चतुष्पदा ऋचाएँ जिन्हें दो अवर्चों में प्रविभक्त किया जाता है :

सतोबृहती १२ ८ १२ ८; यथा—

ज॑नासो अ॒ग्नि॑, दधि । रे सहोवृ॑धम्॒ ।
हविष्मन्तो । विधेम ते ॥
स त्वं॑ नो अद्य, सुम॑ । ना इहाविता॑ ।
भवा वाजे । पु सन्तिअ ॥

१०. इनके अतिरिक्त सात पादों की बहुत बड़ी मिश्रित ऋचाएँ भी हैं[१] जिनमें कि सात पादों को संहिता पाठ में क्रमश: तीन दो और दो पादों के तीन खण्डों में विभक्त कर दिया जाता है।

(क) ६० अक्षरों की ऋचाएँ जिनमें छ: पाद गायत्री के होते हैं और एक जगती का : अतिशक्वरी ८ ८ ८, ८ ८, १२, ८[२]; यथा—

सुषुमा या । तम॑द्रिभि: ।
गो॑श्रीता मत्॒ । सरा इमे॑ ।
सो॑मासो मत्॒ । सरा इमे॑ ॥

---

१. ये अत्यल्प पृथक्-पृथक् कवियों की रचनाएं हैं।
२. ऋग्वेद में इस छन्द के केवल दस के लगभग उदाहरण पाये जाते हैं।

आ राजाना । दिविस्पृशा ।
अस्मत्रा गन् । तम् उप नः ॥
इमे वां मित्रा, –वरु । णा गवाशिरः ।
सोमाः शुक्रा । गवाशिरः ॥

(ज) ६८ अक्षरों की ऋचाएँ जिनमें चार पाद गायत्री के और तीन पाद जगती के पाये जाते हैं : अत्यष्टि[1] १२ १२ ८, ८ ८, १२ ८; यथा—

स नो नेदिष्ठं, ददृश् । आन आ भर ।
अग्ने देवेभिः, सच । नाः सुचेतुना ।
महो रायः । सुचेतुना ॥
महि शवि । ष्ठ नस् कृधि ।
संचक्षे भु । जे अस्यै ॥
महि स्तोतृभ्यो, मघ । वन् सुवीरियम् ।
मथीर् उग्रो । न शवसा ॥

(झ) उपरिनिर्दिष्ट मिश्रित छन्दों के अतिरिक्त गायत्री और जगती के पादों के अनेक अन्य पर इक्के दुक्के समवाय भी ऋग्वेद में पाये जाते हैं विषेषकर अलग अलग सूक्तों में । इस प्रकार की ऋचाएँ हैं जिनमें २० (१२ ८);[2] ३२ (१२ ८, १२);[3] ४० (१२ १२, ८ ८);[4] ४४ (१२ १२, १२ ८);[5] और ५२, (१२ १२, १२ ८ ८)[6] अक्षर पाये जाते हैं ।

(ञ) (१) जगती ऋचाओं में बहुत बार त्रिष्टुभ् के पादों का सङ्कर पाया जाता है पर इस प्रकार कभी नहीं कि उनके कारण ऋचा का एक विशेष स्वरूप सुनिश्चित

---

१. ऋग्वेद में अपेक्षाकृत यही एकमात्र लम्बा छन्द (४८ अक्षरों से अधिक का) पाया जाता है जहां कि ८० से ऊपर अत्यष्टि छन्द की ऋचाएँ पाई जाती हैं ।

२. ऋग्वेद ८. २६.

३. „ ९. ११०.

४. „ १०. ९३.

५. „ ८. ३५.

६. „ ५. ८७.

किया जा सके या ऋचाके जगती छन्द[1] में होने में सन्देह होने लगे। इस प्रकार की पद्धति का प्रचलन सम्भवतः एक ही सूक्त में समूची त्रिष्टुभ और जगती ऋचाओं के परस्पर विनिमय से हुआ जिसका परिणाम यह भी हुआ कि एक ऋचा में भी इस प्रकार का छन्दः सम्मिश्रण होने लगा। (२) एक क्वाचित्क निरङ्कुशता यह है कि एक ही ऋचा में त्रिष्टुभ् का गायत्री के पाद के साथ संयोग कर दिया जाता है। एक समूचे के समूचे सूक्त में (ऋग्वेद १०.२२)[2] यह छन्दःसंयोग एक नियमित मिश्रित ऋचा (११ ८, ८ ८) के रूप में पाया जाता है। त्रिष्टुभ् पाद का द्विपदा विराज् अर्धर्च के साथ संयोग का उल्लेख पहिले ही किया जा चुका है (८ क)।

III संग्रन्थनद्वारा एकीकृत ऋचाएं

११. ऋग्वेद में दो या तीन ऋचाओं का अनेक बार संग्रन्थन द्वारा एकीकरण पाया जाता है जिसके कारण द्व्यृच और तृच बनते हैं।

(य) (तृच कही जाने वाली) तीन समानछन्दस्क सामान्य ऋचाओं को बहुत बार इस प्रकार परस्पर संबद्ध कर दिया जाता है। गायत्री तृच सर्वाधिक प्रचुर हैं; उनसे कम प्रचुर हैं उष्णिह्, बृहती और पङ्क्ति के तृच; जब कि त्रिष्टुभ् के तृच विरल हैं। अनेक तृचों वाले सूक्त की परिसमाप्ति पर बहुत बार भिन्न छन्द की एक अतिरिक्त ऋचा पाई जाती है।

(अ) यह अपने ही ढंग की एक पद्धति है कि समूचे सूक्त का छन्द एक होने पर भी उसकी परिसमाप्ति एक अन्य छन्द से की जाती है। जगती छन्द के सूक्त के अन्त में त्रिष्टुभ् छन्द की ऋचा प्रचुरतम है, गायत्री छन्द के सूक्तों के अन्त में एक अनुष्टुभ् छन्द की ऋचा एतदपेक्षया कहीं कम प्राधिक है। पर सभी प्रचलित छन्दों का कुछ अंश में इसी प्रकार प्रयोग किया जाता है सिवाय गायत्री के जिसे कि कभी भी इस प्रकार प्रयुक्त नहीं किया जाता।

---

१. पर त्रिष्टुभ् ऋचा में जगती के पादों का प्रवेश ऋग्वेद में अपवादरूपेण ही पाया जाता है पर अथर्व० और उसके बाद यह बहुत प्रचुर है।

२. सिवाय ७ और १५ इन ऋचाओं के जो क्रमशः शुद्ध अनुष्टुभ् और त्रिष्टुभ् हैं।

(२) भिन्न-भिन्न छन्दों की दो मिश्रित ऋचाओं को प्रायः परस्पर मिला दिया जाता है। ऋग्वेद में इस प्रकार के २५० संग्रन्थन हैं। इस प्रगाथ कहे जाने वाले दोहरे सम्मिश्रण वाले संग्रन्थन द्वारा एकीकृत छन्द के दो मुख्य भेद हैं :

१. काकुभ प्रगाथ कहीं कम प्रचुर, संग्रन्थन द्वारा एकीकृत छन्द है। ऋग्वेद में पचास से थोड़े ही अधिक बार यह प्रयुक्त हुआ है। यह ककुभ् और सतोबृहती ऋचाओं के योग से बनता है :

८ १२,८+१२ ८, १२ ८; यथा—

> आ नो अश्वा। वद् अश्विना।
> वर्तिर्यासिष्टं, मधु। पातमा नरा॥
> गोमद् दस्रा। हिरण्यवत्॥
> सुप्रावर्गं, सुवीर्यं। सुष्ठु वारिअम्।
> अनाधृष्टं। रक्षस्विना॥
> अस्मिन्ना वाम्, आयाने। वाजिनीवसू।
> विश्वा वामा। नि धीमहि॥

२. बार्हत प्रगाथ एक बाहुल्येन प्रयुक्त संग्रन्थन द्वारा एकीकृत ऋचा है। ऋग्वेद में यह लगभग दो सौ बार पाई जाती है। यह बृहती और सतोबृहती पादों के योग से बनती है : ८ ८, १२ ८+१२ ८, १२ ८; यथा—

> द्युम्नी वां। स्तोमो अश्विना।
> क्रिविर्न से। क आ गतम्॥
> मध्वः सुतस्य, स दि। वि प्रियो नरा।
> पातं गौराव्। इवेरिणे॥

पिंबतं घर्मं मधु । मन्तमश्विना ।
आ बर्हिः सी । दतं नरा ॥
ता मन्दसाना, मनु । षो दुरोण आ ।
नि पातं वे । दसा वयः ॥

(अ) इन दो भेदों के पृथक् ऋचाओं में अनेक भेदोपभेद उपलब्ध होते हैं, विशेषकर एक (८), दो (१२ ८), तीन (१२ ८ ८) या एक बार (७. ६६. १-३) चार पादों (१२ १२ ८ ८) तक की परिवृद्धि के द्वारा।

परिशिष्ट ३

वैदिक स्वर

१. चारों वेदों की सभी संहिताओं एवंच दो ब्राह्मणग्रन्थों, तैत्तिरीय (इसमें इसका आरण्यक भी शामिल है) और शतपथ (इसमें बृहदारण्यक उपनिषद् भी शामिल है) में स्वर अङ्कित किया गया है।

वैदिक स्वर, प्राचीन ग्रीक स्वर की तरह गानात्मक था और मुख्यरूप से स्वरमान (pitch) पर निर्भर करता था जैसा कि इसके छन्द के लय को न प्रभावित करने एवंच मुख्य स्वर उदात्त इस नाम से ज्ञापित होता है जिसका अर्थ है *ऊपर उठाया गया*। किञ्च प्राचीन भारतीय ध्वनि-शास्त्रियों ने जैसा इसका वर्णन किया है उससे भी इसके इसी स्वरूप का पता चलता है। स्वरमान के तीन भिन्न-भिन्न स्तर पाए जाते हैं—उच्च, जिसका सम्यक् प्रतिनिधित्व उदात्त करता है, मध्य, जिसका सम्यक् प्रतिनिधित्व स्वरित करता है एवं नीच, जिसका सम्यक् प्रतिनिधित्व अनुदात्त (*ऊपर न उठा हुआ*) करता है। पर ऋग्वेद में उदात्त (*उठता हुआ स्वर*) ने गौणरूपेण मध्य स्वरमान को अपना लिया है जो कि स्वरित के पूर्वभागीय स्वरमान की अपेक्षा अधिक नीचा होता है। स्वरित एक निम्नगामी ध्वनि होती है जो कि उदात्त स्वरमान से एकश्रुति की ओर के अवरोह का प्रतिनिधित्व करती है। ऋग्वेद में यह नीचे को जाने से पूर्व उदात्त स्वरमान से तनिक ऊपर उठ जाती है: इसलिये यहां उसकी प्रकृति कुछ-कुछ सर्कमफ्लेक्स (Circumflex, ग्रीक भाषा के स्वर की संज्ञा) की होती है। वस्तुत: यह सदैव उदात्त के अनन्तर आने वाला एक पराश्रित स्वर होता है यद्यपि यह पूर्ववर्ती उदात्त के सन्धि के द्वारा अच् के अन्तःस्थ में बदल दिये जाने से लुप्त हो जाने के कारण स्वतन्त्र

स्वर का स्वरूप धारण कर लेता है (यथा क्वे=कुंअें)। उस स्थिति में इसे जात्य स्वरित कहा जाता है। अनुदात्त उदात्त से पूर्व आने वाले अक्षरों की नीची ध्वनि की संज्ञा है।

२. वैदिक ग्रन्थों में स्वराङ्कन की चार भिन्न-भिन्न पद्धतियां हैं। ऋग्वेदीय पद्धति जिनका अनुसरण अथर्ववेद, वाजसनेयि संहिता, तैत्तिरीय संहिता एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण में किया गया है। इसकी यह विशेषता है कि इसमें मुख्य स्वर को अङ्कित किया ही नहीं जाता। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि ऋग्वेद में उदात्त का स्वरमान अन्य दो ध्वनियों के बीच में रहता है। अतः पूर्ववर्ती अनुदात्त कम स्वरमान का होने के कारण अक्षर के नीचे तिर्यग्रेखा द्वारा सूचित किया जाता है जबकि उत्तरवर्ती स्वरित जोकि पहिले तो तनिक सा और ऊपर उठता है और फिर नीचे को आता है अक्षर के ऊपर दण्डाकार रेखा द्वारा सूचित किया जाता है। यथा--अ॒ग्निना॑=अग्निना; वीर्य॑म्=वीर्य॑म् (वीरिअम् का स्थानापन्न)। अर्धर्च के आदि में एक दूसरे के बाद आने वाले उदात्तों को अनङ्कित रहने दिया जाता है जब तक कि कोई पराश्रित स्वरित अथवा अनुदात्त (पराश्रित स्वरित को हटा कर) एक अन्य उदात्त (अथवा एक जात्य स्वरित) का स्थान बनाने के लिये उनमें से सबसे अन्त्य के बाद न आये। यथा- तावा यातम् =तावा यातम्; तवेत्तत्सत्यम्[१]=तवे॑त्तत्सत्यम्। दूसरी ओर अर्धर्च के आदि में एक दूसरे के बाद आने वाले सभी अनुदात्त अक्षरों को अङ्कित किया जाता है। यथा- वै॒श्वा॒न॒रम्=वैश्वानरम्। पर स्वरितोत्तरवर्ती सभी अनुदात्त अक्षरों को उदात्त से (अथवा जात्य स्वरित से) अव्यवहित पूर्ववर्ती अनुदात्त तक अचिह्नित रहने दिया जाता है। यथा-- इ॒मं मे॑ गङ्गे यमुने सरस्वति शुतु॑द्रि=इमं॑ मे गङ्गे यमुने सरस्वति शु॑तुद्रि।

---

१. यहां पराश्रित स्वरित के जोकि उत्तरवर्ती अक्षर के अनुदात्त होने पर स पर रहता है स्थान पर अनुदात्त आ जाता है जो उत्तरवर्ती अक्षर त्यम् के उदात्तत्व को सूचित करने के लिये अपेक्षित है।

(क) चूंकि दो या अधिक पादों के अर्धर्च को उदात्त और अनुदात्त अक्षरों की अविच्छिन्न शृंखला रूप एकांग माना जाता है जिसमें पादच्छेद की उपेक्षा की जाती है इसलिये पूर्ववर्ती अनुदात्त और उत्तरवर्ती स्वरित का अङ्कन केवल उस पद तक ही सीमित नहीं रहता है जिसमें कि उदात्त पाया जाता है अपितु न केवल उस किन्तु उत्तरवर्ती पाद के आसपास के पदों तक भी बढ़ जाता है। यथा—अ॒ग्निना॑ र॒यिम॑श्नव॒त् पोष॑मे॒व दि॒वे-दि॑वे=अग्निंना रयिंमश्नवत् पोंषमेवं दिवें-दिवे; स नः॑ पि॒तेव॑ सू॒नवेऽग्ने॑ सूपाय॒नो भ॑व=स नः पिते॑व सून॑वे॑ ऽग्ने सूपायनो॑ भव।[१]

(ख) जब जात्य स्वरित[२] उदात्त से अव्यहित पूर्व हो तो अच् के ह्रस्व होने पर संख्या १ और दीर्घ होने पर संख्या ३ के साथ उसे अङ्कित किया जाता है। उस स्थिति में संख्या पर दोनों ही प्रकार के चिह्न आते हैं स्वरित का भी और अनुदात्त का भी। यथा— अ॒प्स्व् १ अन्तः=अप्सु॑ अन्तः; रा॒यो ३ वनिः= रायो॑ वनिः (देखिये १७, ३)।

३. मैत्रायणी और काठक इन दोनों संहिताओं में समान रूप में उदात्त को दण्डाकार रेखा द्वारा अंकित किया जाता है (जैसे ऋग्वेद में स्वरित को) जिससे यह सूचित करना प्रतीत होता है कि यहां उदात्त उच्चतम स्वरमान तक उठता था यथा—अग्निना। पर स्वरित के अङ्कन में इन दोनों में भेद है। मैत्रायणी संहिता में जात्य स्वरित को (अक्षर के) नीचे वक्र रेखा द्वारा अंकित किया जाता है; यथा वीर्य॒म्=वीर्य॑म्; पर पराश्रित स्वरित को एक तिर्यग् रेखा द्वारा जो कि अक्षर के बीच में से हो कर निकल जाती है या उस (अक्षर) के ऊपर तीन दण्डाकार रेखाओं

---

१. दूसरी ओर पदपाठ में प्रत्येक पद का समीपवर्ती पदों से अप्रभावित अपना निजी स्वर ही होता है। ऊपर के दो अर्धर्चों का पाठ वहां इस प्रकार है: अ॒ग्निना॑ र॒यिम् अ॒श्न॒व॒त् पोष॑म् ए॒व दि॒वेऽदि॑वे; सः नः॒ पि॒ताऽइ॑व सू॒नवे॑ अग्ने॑ सु॒ऽउ॒पा॒य॒नः भ॒व।

२. जैसा कि क्वे=कुं॑वे, वीर्य॑म्=वीरि॑यम् में

द्वारा जबकि काठक संहिता में जात्य स्वरित को वक्ररेखा द्वारा तभी अंकित किया जाता है जबकि उसके आगे कोई अनुदात्त अक्षर आता हो, यदि आगे आने वाला अक्षर उदात्त हो तो उसे (जात्य स्वरित को) वहां कांटे (hook) से अंकित किया जाता है; यथा वीर्य॑=वीर्य॑ बध्नाति; वीर्य॑=वीर्य॑ व्याचष्टे; पराश्रित स्वरित में स्वरयुक्त अक्षर के नीचे बिन्दु आ जाता है।[1] अनुदात्त को इन दोनों ही संहिताओं में नीचे तिर्यग्रेखा द्वारा अंकित किया जाता है (जैसा कि ऋग्वेद में)।[2]

४. सामवेद में स्वरमान के तीन स्तरों का प्रतिनिधित्व करने वाले उदात्त स्वरित और अनुदात्त को अङ्कित करने के लिये अक्षरों के ऊपर क्रमशः १ २ और ३ की संख्या लिख दी जाती है। यथा—बर्हिषि (३ १ २)=बर्हिषि (बर्हि॑षि)। २ इस संख्या को तो स्वरित परे न रहने पर उदात्त को अङ्कित करने के लिये भी प्रयोग में लाया जाता है यथा—गिरा (३ २)=गिरा (गिरा॑)। जब एक दूसरे के बाद दो उदात्त आयें तो दूसरे को अङ्कित नहीं किया जाता पर उत्तरवर्ती स्वरित पर २र् लिख दिया जाता है। यथा द्विषो मर्त्यस्य (३ १ २र्)(द्विषो॑ मर्त्य॑स्य)। जात्य स्वरित को भी २र् से अङ्कित किया जाता है। (इससे) पूर्ववर्ती अनुदात्त को ३क् से अङ्कित किया जाता है। यथा—
३क्२र्
तन्वा=तन्वो।

५. शतपथ ब्राह्मण में केवल उदात्त को ही अङ्कित किया जाता है।

---

१. इन दोनों संहिताओं के एल. वी. श्रोडर सम्पादित संस्करणों में उदात्त एवं जात्य स्वरित को ही अङ्कित किया जाता है।

२. किसी संहिता के पाठ को जब रोमन लिपि में लिखा जाता है तो अनुदात्त एवं पराश्रित स्वरित के अङ्कन को अनावश्यक समझ उसका परिहार किया जाता है। क्योंकि वहां स्वयं उदात्त को एक्यूट (acute) के चिह्न द्वारा अङ्कित कर दिया जाता है: उदाहरण के लिये अ॒ग्निना॑ वहां अग्निना बन जाता है।

यह अङ्कन ऋग्वेद में अनुदात्त की तरह) नीचे तिर्यग्रेखा द्वारा किया जाता है। यथा—पुरुषः=पु॑रुषः। एक दूसरे के बाद आने वाले दो या अधिक उदात्तों में से केवल अन्तिम का ही अङ्कन किया जाता है। यथा—अग्निर्हि वै सूर्य=अग्नि॑र्हि वै॑ सू॑र्य॑। जात्य स्वरित को उदात्त के रूप में पूर्व अक्षर पर डाल दिया जाता है। यथा मनुष्येषु=मनुष्ये॑षु के स्थान पर मनु॑ष्येषु। अन्तःस्थ रूप में परिवर्तन, एकादेश अथवा पूर्वरूप के द्वारा उत्पन्न स्वरित के साथ भी यही किया जाता है। यथा—एवैतद्=ए॑वैतद् जोकि एवै॑तद् (=एवं एतद्) का स्थानापन्न है।

६. असमस्तपदों का स्वर। प्रत्येक वैदिक पद नियमेन स्वरयुक्त होता है और उसका एक मुख्य स्वर होता है। ऋग्वेद के मूल पाठ में केवल मात्र मुख्यस्वर उदात्त था जोकि, जैसा कि तुलनात्मक भाषा विज्ञान से पता चलता है, सामान्यतया उसी अक्षर पर रहता है जिस पर कि यह भारोपीय काल में रहता था। यथा—ततस् *विस्तारित*, ग्रीक ततो॑स्; जानु (नपुं०) *घुटना*, ग्रीक गो॑नु; अदृशत्, ग्रीक हे॑द्रके; भरत ग्रीक फे॑रेते[1]। पर ऋग्वेद के लिखित पाठ में कतिपय शब्दों में स्वरित मुख्य स्वर प्रतीत होता है। उस अवस्था में यह य् और व् के बाद आता है जोकि मूल उदात्त इ और उ का प्रतिनिधित्व करते हैं। रथ्येम्=रथि॑अम्[2]; स्वर्=सु॑अर्[3] नपुं० *प्रकाश*; तन्वम्=तनु॑अम्।[4] यहां उच्चारण में निवाय अत्यन्त अर्वाचीन सन्दर्भों के मूल उदात्त अच् की प्रत्यापत्ति करनी पड़ती है।

७. दोहरा स्वर। एक चतुर्थी प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त रूप एवञ्च दो वाक्यरचनानिर्भर समासों में दोहरा स्वर पाया जाता है। तवै वाले तुमर्थ

---

१. पर ग्रीक के गौण स्वर-नियम से रूप होता है फेरो॑मेनोस् (भरमाणस्)। यह नियम पदान्त से स्वराघात को तीसरे अक्षर से अधिक पूर्व नहीं जाने देता।

२. तात्पर्यर्थक रथी॑ का द्वि० का रूप।

३. जोकि तै० सं० में सदैव सु॑वर् इस रूप में लिखा जाता है।

४. शरीरार्थक तनू॑ का द्वितीया का रूप।

कृदन्त रूप में, जिनके कि अनेकानेक उदाहरण संहिताओं और ब्राह्मणग्रन्थों में पाये जाते हैं, प्रथम और अन्तिम इन दोनों ही अक्षरों पर स्वर आता है। यथा—एतवै *जाने के लिये; अपभर्तवै परे ले जाने के लिये।* उन समासों में जिनमें कि पूर्वपद और उत्तरपद दोनों ही द्विवचन में होते हैं (१८९ य १) या जिनमें पूर्वपद षष्ठ्यन्त होता है (१८७ य ६ क) दोनों ही पदों (पूर्वपद और उत्तरपद) में स्वर रहता है। यथा—मित्रावरुणा *मित्र और वरुण;* बृहस्पति *प्रार्थना का स्वामी।* ब्राह्मणग्रन्थों में वाव इस निपात में भी दोहरा स्वर पाया जाता है।

८. स्वराभाव। कतिपय शब्दों में स्वर कभी होता ही नहीं, अन्य शब्दों में वह कतिपय स्थितियों में लुप्त हो जाता है।

(य) सदैव निहत शब्द हैं—

(क) इन सर्वनामों के विभक्तिरूप—एन वह (पुरुष), वह (स्त्री), वह (वस्तु), त्व *अन्य,* सम *कुछ;* एवञ्च उत्तम और मध्यम पुरुषों के पुरुषवाचक सर्वनामों के निम्नलिखित रूप—मा, त्वा; मे, ते; नौ वाम्; नस्, वस् (१०९ क) एवञ्च निर्देशक प्रकृतियों इ और स के निम्नलिखित रूप: ईम् (१११ टि० ३) और सीम् (१८०)।

(ख) च *और,* उ *भी,* वा *या,* इव *की तरह,* घ, ह, *अभी अभी,* चिद् *सर्वथा,* भल *निस्सन्देह,* समह *किसी भी तरह,* स्म *अभी अभी निस्सन्देह,* स्विद् *सम्भवतः।*

(र) वाक्य में स्थिति की दृष्टि से जिनमें स्वरलोप की सम्भावना है:

(क) आमन्त्रित शब्द यदि वे वाक्य अथवा पाद के आदि में न आते हों।

(ख) मुख्य वाक्यांशों के पुरुषवचनपरिच्छिन्न क्रियापद यदि वे वाक्य अथवा पाद के आदि में न आते हों।

(ग) अ इस सर्वनाम के प्रथमा एवं द्वितीया से इतर विभक्तियों में रूप यदि वे बलयुक्त न हों (पूर्ववर्ती संज्ञा शब्द का स्थान लेते हुए) एवञ्च वाक्य या पाद के आदि में न आते हों। यथा—अस्य जनिमानि उसके (अग्नि के) जन्म (पर अस्या उषसः उस उषःकाल का)।

(घ) यथा (जैसे) लगभग नियमेन जबकि वह तुल्यार्थक इव के अर्थ में पादान्त में आता हो। यथा—तायवो यथा चोरों की तरह; निस्सन्देहार्थक कम् मदैव जब वह नु, सु और हिं से परे आता हो।

१. नामिक प्रकृतियों का स्वर

९. यहां सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ध्यान देने योग्य बातें निम्नलिखित हैं—

(य) अविकृत प्रत्यय :

(क) यदि असन्त प्रातिपदिक नपुं० भावार्थक नाम हों तो उनमें स्वर धातु पर रहता है पर यदि वे पुंलिङ्ग कर्त्रर्थक नाम हों तो उनमें स्वर प्रत्यय पर रहता है। यथा अपस् नपुं० *काम* पर अपस् *सक्रिय*। यहां कभी-कभी एक ही संज्ञापद में अर्थ परिवर्तन के बिना ही लिङ्गभेद के कारण स्वरभेद हो जाता है। यथा—रक्षस् नपुं०, रक्षस् पुं० *राक्षस*।

(ख) अतिशयार्थक इष्ठ प्रत्यय के लगने से बने प्रातिपदिकों में स्वर धातु पर रहता है। यथा—यजिष्ठ *सर्वश्रेष्ठ याजक*। इसमें केवलमात्र अपवाद हैं ज्येष्ठ (वय में) *सबसे बड़ा* पर ज्येष्ठ *सबसे महान्* और कनिष्ठ (वय में) *सबसे छोटा* (पर कनिष्ठ *अल्पिष्ठ*)।[१] प्रकृति का उपसर्ग के साथ समास होने पर उपसर्ग पर स्वर रहता है। यथा—आगमिष्ठ *उत्तम रूप से आता हुआ*।

(ग) ईयांस् इस तुलनार्थक प्रत्यय के लगने से बने प्रातिपदिकों में स्वर नियमेन धातु पर रहता है। यथा—जवीयांस् *अधिक वेगवान्*। प्रातिपदिक के

---

१. केवल दोनों के अर्थ में विवेक करने की इच्छा से ही इन अपवादों का उद्भव होता है। (देखिये आगे १६ पा०टि० २)।

उपसर्ग से समास होने पर स्वर उपसर्ग पर रहता है। यथा—प्र॑ति-च्यवीयांस् *के साथ जोर लगाता हुआ*।

(घ) तर् लगने से बने प्रातिपदिकों में स्वर सामान्यतया धातु पर रहता है जब कि अर्थ कालकृदन्त का रहता है पर उसके शुद्ध नामिक होने पर वह प्रत्यय पर रहता है। यथा—दा॑तर् *देता हुआ* (द्वितीया के साथ) पर (नामिक अर्थ होने पर) दात॑र् *दाता*।

(ङ) भावार्थक (नपुं०) नाम होने पर मन्नन्त प्रातिपदिकों में स्वर धातु पर रहता है पर उनके (पुं०) कर्त्रर्थक नाम होने पर वह प्रत्यय पर रहता है। यथा—क॑र्मन् नपुं० *कर्म* पर दर्म॑न् पुं० *दारयिता*। एक ही संज्ञापद यहां अर्थ एवं लिङ्ग भेद से स्वरदृष्ट्या भी भिन्न होता है (तुलना कीजिये ऊपर ९ (य) क)। इसके अनेक उदाहरण हैं। यथा—ब्र॑ह्मन् नपुं० *प्रार्थना*, ब्रह्म॑न् पुं० *प्रार्थयिता*; स॑द्मन् नपुं० *आसन*, सद्म॑न् पुं० *आसिता* (*बैठने वाला*)। उपसर्गों के साथ समस्त होने पर इन प्रातिपदिकों में स्वर लगभग सदैव उपसर्ग पर रहता है।यथा— प्र॑भर्मन् नपुं० *उपहार*।

(र) विकृत प्रत्यय :

(क) इन्नन्त प्रातिपदिकों में स्वर सदैव प्रत्यय पर रहता है। यथा—अश्वि॑न् *घोड़ों वाला*।

(ख) तम प्रत्ययान्त प्रातिपादिकों के अतिशयवाची होने पर वहां स्वर शायद ही कभी प्रत्यय पर रहता हो (इसमें अपवाद हैं पुरुत॑म *बहुत से*, उत्तम॑ *उच्चतम*, शश्वत्तम॑ *अतिप्रायिक*। पर यदि वे पूरणार्थक हों तो स्वर प्रत्यय के अन्तिम अक्षर पर रहता है। यथा—शततम॑ *सौवां*।

(ग) म प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों में चाहे वे अतिशयार्थक हों या पूरणार्थक स्वर नियमेन प्रत्यय पर रहता है। यथा—अधम॑ *सबसे नीचे का*; अष्टम॑ *आठवां*। इसमें अपवाद है अ॑न्तम *आगे का* (पर दो बार अन्तम॑ भी मिल जाता है।

२. समास स्वर

१०. सामान्य रूप से यदि कहा जाय तो नियम यह है कि आम्रेडित, मत्वर्थीय और नियामक समासों में स्वर पूर्वपद में रहता है जबकि सम्बन्धावच्छेदक (कर्मधारय और तत्पुरुष) एवञ्च नियमानुकूल बने उभयपद प्रधान (द्वन्द्व) समासों में स्वर उत्तरपद (वहाँ भी प्रायः अन्तिम अक्षर) पर रहता है। असमस्त पदों का स्वर समस्त होने पर भी सामान्यतः तदवस्थ रहता है पर कुछेक में यह सदैव परिवर्तित हो जाता है; उदाहरणतः विश्व नियमेन विश्वं बन जाता है; अन्य शब्दों में विशिष्ट पदों के साथ योग होने पर ही यह (परिवर्तन) होता है। यथा—पूर्वं *पूर्ववर्ती* पूर्वंचित्ति स्त्री० *पहिला विचार*, पूर्वंपीति स्त्री० *पहिला घूंट*, पूर्वंहूति *पहिली पुकार* में पूर्वं बन जाता है; मेध *यज्ञ* मेधपति *यज्ञपति* और मेधसाति स्त्री० *यज्ञ के अभिनन्दन* में एवञ्च वीरं *शूर* पुरुवीर *बहुपुरुषवान्* और सुवीर *वीरतापूर्ण* में अपना स्वर परिवर्तित कर देते हैं। विशेषण समास के विशेष्य अथवा संज्ञा विशेष बनने पर स्वर पूर्वपद से उत्तरपद अथवा उत्तरपद से पूर्वपद पर चला जाता है : यथा—सुकृत *अच्छी तरह किया गया*, परसुकृत नपुं० *अच्छा काम*; अराय *कृपण* पर अराय पुं० एक असुर विशेष की संज्ञा।

(क) आम्रेडित समासों में स्वर केवल पूर्वपद पर रहता है। पदपाठ में इसके दो पदों को अन्य समासों के पदों की तरह अवग्रह से पृथक् किया जाता है। यथा—अहरहर् *दिन पर दिन*; यद्-यद् *जो भी*; यथा-यथा *जैसे जैसे*; अद्य-अद्य, श्वः-श्वः *हर आज के दिन, हर कल के दिन*; प्र-प्र *आगे और पुनः*; पिब-पिब *बार बार पियो*।

(ख) नियामक समासों में पूर्वपद धातुज नामपद होने पर (सिवाय शिक्षा-नरं *लोगों की सहायता करता हुआ* के) नियमेन स्वरयुक्त होता है। यथा—त्रसं-दस्यु *शत्रुओं को त्रस्त करता हुआ*, व्यक्तिविशेष की संज्ञा; लडादेश अथवा लृडादेश शतृ-शानच् जिनके अन्त में आते हैं उनमें स्वर, मूल

में वह भले ही कहीं पर क्यों न हो, अन्तिम अक्षर पर आता है। यथा—तर्रद्-द्वेषस् *शत्रुओं का अभिभव (तरत्) करता हुआ।* उपसर्ग के पूर्वपद के रूप में आने पर या तो स्वर उस पर रहता है या समास के अन्तिम अक्षर पर यदि वह अकारान्त हो। यथा—अभिद्यु *द्यु लोक के अभिमुखीकृत,* पर (समास के अकारान्त होने पर) अधस्पर्दं *पांव के नीचे;* अनुकामं इच्छानुसार (काम)।

(ग) बहुव्रीहि समासों में स्वर सामान्यतः पूर्वपद पर रहता है। यथा—राँज-पुत्र राजा *जिसके पुत्र हैं* (पर बहुव्रीहि न होने पर) राज-पुत्रं *राजा का पुत्र;* विश्वतो-मुख *सभी दिशाओं के अभिमुख;* सह-वत्स *अपने बछड़े के साथ।*

(ङ) पर बहुव्रीहि समास के सभी उदाहरणों में से १/८ में स्वर उत्तरपद (मुख्यरूपेण अन्तिम अक्षर) पर रहता है। ऐसा प्रायः तब है जब पूर्वपद एक इकारान्त अथवा उकारान्त द्व्यक्षर विशेषण होता है। जब यह (विशेषण) पुरुं या बहुं (अधिक) हो तो ऋग्वेद में यह स्थिति नियमेन पाई जाती है। यथा—सुविद्युर्नं महाविभूतिशाली: विभु-क्रँतु महाशक्तिशाली; पुरुपुत्रं अनेक पुत्रवान्; बहुन्नं बहुत अन्न वाला।[1] पूर्वपद यदि द्वि दो, त्रि तीन, दुस् बुरा, सु अच्छा या अभावार्थक निपात अ या अन्[2] हो तो भी स्वर नियमेन यही होता है। यथा द्विपंद् दो पाँव वाला, त्रिनाँभि तीन नाभियों वाला, दुर्मन्मन् अननुकूल, सुभंग ईश्वरदत्त गुणोपेत, अदंन्त् दन्तहीन, अफलं फलहीन (फल)।

(घ) सम्बन्धावच्छेदक समासों में स्वर उत्तरपद (विशेषकर अन्तिम अक्षर) पर रहता है।

१. सामान्य कर्मधारयों में स्वर अन्तिम अक्षर पर रहता है। यथा—प्रथमजां *प्रथमोत्पन्न,* प्रातर्युंज् *प्रातः जोता गया.* महाधनं *लटका महान्*

---

१. उत्तरवर्ती संहिताओं में सामान्य नियम का अनुसरण करने की प्रवृत्ति है। यथा—पुरुंनामन् (सा० वे०) अनेक नामों वाला।

२. अ या अन् लगकर बने बहुव्रीहियों में कर्मधारयों से (जिनमें कि सामान्यतः प्रथमाक्षर पर स्वर आता है, यथा—अंमनुष अमानव) भेद करने के लिये नियमेन अन्त्य अक्षर पर स्वर आता है। यथा—अमात्रं जिसका कोई माप नहीं।

धन। पर जब उत्तरपद इकारान्त, मन्नन्त या वन्नन्त हो या कृत्यप्रत्ययान्त (जिसका कि नपुं० विशेष्य की तरह प्रयोग हो) हो तो स्वर उपोत्तम (=उपान्त्य) अक्षर पर रहता है। यथा—दुर्गृ॑भि *पकड़ा जाने में कठिन;* सुतर्मन् *अच्छी तरह पार करने वाला;* रघुप॑त्वन् *द्रुतगति से उड़ने वाला;* पूर्वपे॑य नपुं० *पीने में प्राथम्य।*

(अ) हां, पूर्वपद निम्नलिखित स्थितियों में स्वरयुक्त होता है: जब यह न या न प्रत्ययान्त शब्द अथवा निप्रत्ययान्त धातुज नामपद को विशेषित करते हुए एक क्रियाविशेषणीभूत शब्द होता है तो यह सामान्यतया स्वरयुक्त होता है। यथा—दु॑र्हित दुरवस्थ; स॑र्वस्तुति सामूहिक स्तुति। जब यह कालकृदन्त, विशेषण या विशेष्य से समस्त कोई अभावार्थक अ या अन्[1] यह निपात होता है तो यह लगभग नियमेन स्वरयुक्त होता है। यथा—अ॑नदन्त् न खाता हुआ, अ॑विद्वांस् न जानता हुआ, अ॑कृत न किया गया, अ॑तन्द्र न थका हुआ, अ॑कुमार जो कुमार नहीं। समासार्थ के निषेधक अभाववाची निपात पर भी नियमेन स्वर रहता है। यथा—अ॑नश्वदा घोड़ा न देने वाला, अ॑नग्निदग्ध अग्नि से न जला हुआ।

२. सामान्य तत्पुरुषों में स्वर अन्तिम अक्षर पर रहता है। यथा—गोत्रभि॑द् *बाड़ों को खोलता हुआ,* अग्निमि॑न्ध *अग्नि को प्रज्वलित करता हुआ,* भद्रवादि॑न् *मङ्गल शब्दों का उच्चारण करता हुआ;* उदमे॑घ *पानी की बौछार।* पर यदि उत्तरपद अन-प्रत्ययान्त कर्त्रर्थक नामपद, यप्रत्ययान्त भाववाची नामपद या इप्रत्ययान्त अथवा वन् प्रत्ययान्त विशेषण हो तो उसका धात्वक्षर स्वरयुक्त होता है। यथा—देवमा॑दन *देवताओं को मस्त करता हुआ;* अहिह॑त्य नपुं० *अजगर की हत्या;* पथिर॑क्षि *मार्ग रक्षक;* सोमपा॑त्वन् *सोमपाता।*

(अ) त और न प्रत्ययान्त कालकृदन्त और निप्रत्ययान्त भाववाची नामपदों पर निर्भर होने की स्थिति में पूर्वपद पर स्वर रहता है। यथा—दे॑वहित देवताओं द्वारा विहित, ध॑नसाति धनप्राप्ति। प॑ति पर निर्भर होने पर भी वह प्रायः स्वरयुक्त होता है। यथा—गृ॑हपति गृहस्वामी। प॑ति वाले इन कतिपय समासों में उत्तरपद

---

१. पर कभी कभी उत्तरपद का प्रथमाक्षर स्वरयुक्त होता है। यथा—अज॑र जराहीन; अमि॑त्र पुं० शत्रु, (मित्र नहीं : मि॑त्र); अमृ॑त अमर (मृ॑त से)।

३. सुवन्त रूपों में स्वर

११ (क) सम्बोधन में यदि कभी स्वर आये भी (१८) तो नियमेन प्रथमाक्षर पर ही आता है। यथा—पि॑तर् (प्र० पि॒ता॑), दे॑व (प्र० दे॒वस्)। द्यु॑ (द्यव्) का नियमित सम्बोधन रूप द्यौ॑स् होता है अर्थात् दि॑औस् (जिसमें प्रथमा का स् अनियमित रूप से तदवस्थ रहता है : तुलना कीजिये ग्रीक ज़िउ से) पर प्रथमा का स्वर द्यौ॑स् उसके स्थान पर प्रायः उपलब्ध हो जाता है।

(ख) अकारान्त और आकारान्त रूपों में स्वर निरन्तर अ या आ पर रहता है (सिवाय सम्बोधन के)। यथा—दे॒वस्, दे॒वस्य, दे॒वाना॑म्। इस नियम में एकाच् प्रातिपदिकों, सर्वनामों, संख्यावाची द्वि और धातुरूप आकारान्त प्रातिपदिकों का भी समावेश है। यथा—म॑ से : म॑या, म॑-ह्यम्, म॑-यि; त॑ से : त॑-स्य ते॑-षाम्, ता॑-भिस्; द्वि॑ से : द्वा॑-भ्याम्, द्व॑-योस्; जा॑ पुं० स्त्री० *सन्तान* से : जा॑-भ्याम्, जा॑-भिस्, जा॑-भ्यस्, जा॑-सु।

(अ) अकारान्त सामान्यसंख्यावाची प्रातिपदिकों प॑ञ्च, न॑व, द॑श (एवञ्च इनसे बने समासों) में स्वर हट कर भिस्, भ्यस्, सु इन विभक्तिप्रत्ययों से पूर्व के अच् पर आ जाता है अथ च षष्ठी विभक्ति प्रत्यय नाम् पर चला जाता है। किञ्च अ॒ष्ट॑ से यह हटकर सभी विभक्ति प्रत्ययों पर एवं स॒प्त॑ से यह हटकर से षष्ठी विभक्ति प्रत्ययों पर चला जाता है। यथा—प॒ञ्च॒भिस्, प॒ञ्चाना॑म्; स॒प्त॒भिस्, स॒प्ताना॑म्; अ॒ष्टाभि॑स्, अ॒ष्टाभ्य॑स्, अ॒ष्टाना॑म्।

(आ) यह इस अर्थ का वाचक अ सर्वनाम यदा कदा इस नियम का अनुसरण करने पर भी (यथा—अ॑-स्मै, अ॑-स्य, आ॑-भिस्) प्रायः अनकारान्त एकाच् पदों की तरह मान लिया जाता है। यथा—अ-स्य॑, ए-षा॑म्, आ-सा॑म्।

(ग) प्रातिपदिक के अन्तिम अक्षर के स्वरयुक्त होने पर उदात्त की (सिवाय अकारान्त शब्दों के रूपों के) दुर्बल विभक्ति रूपों में (प्रातिपदिक से) हटकर विभक्ति प्रत्ययों पर जाने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

१. एकाच् प्रातिपदिकों (सिवाय अकारान्तों के) में यही नियम है।[१] यथा--धी́ स्त्री० *विचार* : धिया́, धीभि́स्, धी-ना́म्; भू́ स्त्री० *पृथिवी* : भुव́स्, भुवो́स् ; नौ́ स्त्री० *नौका* : नावा́, नौ-भि́स्, नौ-षु́ (ग्रीक नउसि́); द́न्त् पु० दांत : दता́, दद्-भि́स् ।

इस नियम के लगभग एक दर्जन अपवाद हैं : गो́ गाय, द्यो́ आकाश; नृ́ नर; स्तृ́ तारा; क्ष́म् पृथिवी; त́न् उत्तराधिकारिता, र́न् आनन्द, व́न् जंगल; वि́ पु० पक्षी; वि́प् दण्ड; स्व́र् प्रकाश । यथा—ग́वा, ग́वाम्, गो́भिस्; द्य́वि, द्यु́भिस्; न́रे, नृ́भिस्, नृ́षु (पर नराम् और नृणाम्): स्तृ́भिस्; क्ष́मि; त́ना, (तना भी); र́णे, र́सु; व́सु (पर वनाम्); वि́भिस्, वि́भ्यस् पर वीनाम्); प० वि́पस्; सू́रस् (पर सूरे́); एवञ्च चतुर्थीप्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त बा́धे दबाने के लिये और बा́हे पहुँचाने के लिये । कतिपय अन्य एकाच् प्रातिपदिकों का अनियमित स्वर इस कारण है कि वे मूलतः द्व्यच् प्रातिपदिकों के अपकृष्ट रूप हैं । ऐसे एकाच् प्रातिपदिक हैं—द्रु́ लकड़ी (दा́रु), स्नु́ चोटी (सा́नु), श्व́न् कुत्ता (ग्रीक कु́नो), यू́न् (यु́वन् जवान की दुर्बल प्रकृति) । यथा—द्रु́णा; स्नु́षु; शु́ना, श्व́भिस्; यू́ना ।

२. जब अन्तिम सस्वर अक्षर के अच् का मध्यस्वरलोप अथवा यण् सन्धि द्वारा लोप हो जाता है तो उदात्त को आगे सरका कर अजादि विभक्ति प्रत्यय पर डाल दिया जाता है। यथा— महि́मन् *महिमा* : महिम्ना́; अग्नि́ *आग* : अग्न्यो́स्; धेनु́ *गाय* : धेन्वा́; वधू́ : वध्वै́ (अथर्व०); पितृ́ *पिता* : पित्रा́ ।

(अ) ईकारान्त, उकारान्त, ऋकारान्त और ऋग्वेद में प्रायः ईकारान्त भी अनेकाच् प्रतिपदिक उदात्त को षष्ठी बहुवचन पर भी डाल देते हैं यद्यपि यहां प्रातिपदिक के अन्तिम अच में अपना अक्षरत्व स्वरूप अक्षत रहता है। यथा—अग्नीना́म् धेनूना́म्, दातॄणा́म, बह्वीना́म् (तुलना कीजिये ९९ ख अ) ।

३. अ́त् और अ́न्त् वाले शत्रन्त रूपों में दुर्बल विभक्तियों में उदात्त आगे सरकाकर अजादि विभक्ति प्रत्ययों पर डाल दिया जाता है। यथा—

---

१. समास के अन्त में एकाच् प्रातिपदिक का यह स्वर लुप्त हो जाता है। यथा--सुधी́ बुद्धिमान्, सुधी́नाम् ।

तुदन्त् *प्रहार करता हुआ* : तुदता´ (पर (हलादि विभक्ति प्रत्यय परे रहने पर) तुदद्भिस्)। पुराने शत्रन्त रूपों महा´न्त् *महान्* और बृहन्त् *उत्तुङ्ग* में भी इस नियम का अनुसरण किया जाता है। यथा—महता´ (पर (हलादिविभक्ति परे रहने पर) महद्भिस्)।

४. ऋग्वेद में अन्तिम अक्षर के संकुचित हो कर ईच् और ऊच् रूप में परिवर्तित होने पर दुर्बल विभक्तियों में उदात्तयुक्त अञ्च् लगकर बने तद्भव शब्दों में उदात्त को आगे सरकाकर अजादि विभक्तिप्रत्ययों पर डाल दिया जाता है। यथा—प्रत्यञ्च् *की ओर मुड़ा* : प्रतीचा´ (पर (हलादि विभक्ति प्रत्यय परे रहने पर) प्रत्यक्षु); अन्वञ्च् *अनुसरण करता हुआ* : अनूचस्; पर आगे इस अर्थ के प्रा´ञ्च् का रूप प्रा´चि´ होना।

४. *क्रियापदों का स्वर*

१२. (क) क्रियापद जब भी स्वरयुक्त हो (१९) तो उदात्त नियमेन (अट्, आट्) आगम पर रहता है। यथा—लङ् अ´भवत्; लुङ् अ´भूत् लिट्प्र० अ´जगन्; लृङ् अ´भरिष्यत्। उन रूपों का जिनमें कि (अट् आट्) आगम का लोप हो जाता है (जिन्हें कि लु० लो० की तरह भी प्रयोग किया जाता है) स्वर निम्न प्रकार से होता है—लङ् में उसी अक्षर पर स्वर आता है जिस पर कि लट् में। यथा—भ´रत् : भ´रति; भिन´त् : भिन´त्ति। लिट्प्र० में स्वर धातु पर रहता है। यथा—चाक´न् (प्र० पु० एक०); नम´मस्, तस्त´म्भत्; तत´नन्त; पर प्र० पु० बहु० में चाक्र´पन्त और द´घृषन्त ये रूप भी पाये जाते हैं।

लुङ् के विषय में नाना प्रकार का व्यवहार है—स्-लुङ् और इष् लुङ् के रूपों में स्वर धातु पर रहता है। यथा—वं´सि (वन् *जीतना*),

---

१. पर अन्य संहिताओं में स्वर सामान्यतया पूर्ववत् प्रातिपदिक पर बना रहता है। उदाहरण के लिये अथर्व० में स्त्री० प्रातिपदिक रूप है प्रती´ची (ऋग्वेद में प्रतीची´)।

शं॑सिषम् । धातु-लुङ् में (इसमें कर्मवाच्य का रूप भी शामिल है) परस्मै० एक० में धात्वच् पर स्वर रहता है जबकि अन्यत्र वह प्रत्ययों पर रहता है। यथा—प्र० पु० एक० वर्क् (√वृज्); कर्मवाच्य वे॑दि; म० पु० एक० आत्मने० नुत्थाः॑स् । अ॑-लुङ् और स-लुङ् में स्वर अ और स पर रहता है । यथा—रुहंम्, विदंत्; वृधंन्त; धुक्षंन्त । साभ्यास लुङ में स्वर या तो अभ्यास पर रहता है, यथा—नी॑नशत्, पी॑परत्, जी॑जनम् या धातु पर, यथा—पीपंरत्, शिश्नंथत् ।

(ख) सविकरणक रूप । अकारान्ताङ्गक रूपों में (अकारान्त प्रातिपदिकों की रूपावली के समान) स्वर निरन्तर अ पर रहता है: भ्वादि० और दिवादिगणों में धात्वक्षर पर और तुदादिगण में विकरण पर (१२५) । यथा—भंवति ; नंह्यति; तुदंति ।

क्रमबद्ध धातुरूपावली में सबल रूपों मे स्वर प्रकृति पर रहता है (१२६) पर दुर्बल रूपों में प्रत्ययों पर । सबल रूपों में अदादिगण[1] में स्वर धात्वक्षर पर रहता है और जुहोत्यादिगण[2] में अभ्यास पर । स्वादि, रुधादि, तनादि और क्र्यादि गणों में स्वर विकरण पर रहता है । यथा—अंस्ति, अंसत्, अंस्तु; विंभर्ति; कृणो॑ति, कृणंवत्; मनंवते; युनंज्मि, युनंजत्; गृह्णा॑ति,

---

1. अ-लुङ् में अनेक रूपों में स्वर धातु पर पाया जाता है यथा—अंरन्त, संदतम्, संनत् ।

2. इस गण के ग्यारह क्रियापदों में स्वर निरन्तर धातु पर पाया जाता है: आस् बैठना, ईड् स्तुति करना, ईर् गतिशील बनाना, ईश् शासन करना, चक्ष् देखना, तक्ष् घड़ना, त्रा रक्षा करना, निंस् चूमना, वस् पहनना, शी लेटना, सू जन्म देना; यथा—शंये इत्यादि ।

. यदा कदा लोट् आत्मने० म० पु० एक० में अन्य क्रियापदों में भी स्वर धातु पर पाया जाता है । यथा यंक्ष्व (√यज्) ।

3. चि ध्यान से देखना, मद् मस्त होना, यु जुदा करना हु आहुति डालना में धात्वक्षर पर स्वर आता है । यथा—जुहो॑ति । किन्हीं इक्के-दुक्के रूपों में कतिपय अन्य क्रियापदों में भी यही स्थिति है । यथा—बिंभर्ति (प्रायिक रूप बिभंर्ति) ।

गृभ्णास् (लेट् म० पु० एक०), पर वृङ्धि, अद्युर्; बिभृमसि;[1] कृण्वे, कृणुहि; वनुयाम, वन्वन्तु; युङ्क्ते, युङ्क्ष्व; गृणीमसि, गृणीहि।

(ग) लिट्। सबल रूपों (निर्देशक उ० म० प्र० पु०, परस्मै० लोट् प्र० पु० एवं सारे के सारे लेट्) में स्वर धात्वक्षर पर रहता है जबकि दुर्बल रूपों में (तुलना कीजिये १४०) वह प्रत्ययों पर रहता है। यथा—चकार; जभरत्, ववर्तति; मुमोक्तु; पर (दुर्बल रूपों में) चक्रुर्, चकृमहे; ववृत्याम्; मुमुग्धि। क्वस्वन्त और कानजन्त रूपों में स्वर (क्वसु और कानच्) प्रत्ययों पर रहता है। यथा—चकृवांस्, चक्राण।

(घ) लुङ्। स्वर में (एकरूप रूप में) लु० लो० आगमरहित निर्देशक (देखिये ऊपर १२) से अभिन्न होता है।

(अ) लेट् के धातुलुङ् में स्वर धात्वक्षर पर रहता है। यथा—करत्, श्रवतस्, गमन्ति, भजते पर विधिलिङ्, लोट् (सिवाय परस्मै० प्र० पु० एक० के)[3] शत्रन्त और शानजन्त रूपों में प्रत्यय पर रहता है। यथा—अश्याम्, अशीमहि; कृधि, गतम्, भूत (पर प्र०पु०एक० में श्रोतु), कृण्व; भिदन्त, बुधान।

(आ) लेट् स् और इष् लुङ् के रूपों में स्वर धातु पर रहता है पर लिङ् और लोट् के लुङ् रूपों में प्रत्ययों पर। यथा—यक्षत् (√यज्), बोधिषत्; पर (लिङ् और लोट् में) भक्षीय (√भज्), धुक्षीमहि (√दुह्), एधिषीय (अथर्व०);

---

१. जुहोत्यादिगण में प्रत्यय के अनादि होने पर दुर्बल रूपों में भी अभ्यास पर ही स्वर आता है। यथा—बिभ्रति।

२. अदादि, स्वादि, रुधादि, तनादि और क्र्यादिगणों के रिहते (अन्य रूप रिहते); कृण्वते, वृण्वते, स्पृण्वते, तन्वते, मन्वते; भुञ्जते (अन्य रूप भुञ्जते); पुनते, कृणते इन रूपों में आत्मने० प्र० पु० बहु० के अन्तिम अक्षर पर अनियमित स्वर आता है।

३. अनेक स्थलों में परस्मै० म० पु० बहु० में (अपने सबल रूप में स्थित) धात्वक्षर भी स्वरयुक्त होता है। यथा—कर्त, अन्य रूप कृत; गन्त, गन्तन, अन्य रूप गत आदि।

४. शानजन्त रूपों में अनेक स्थलों में स्वर धातु पर आता है। यथा—द्युतान।

अविड्ढि, अविप्टम्।[1] स-लुङ् शत्रन्त रूपों में स्वर धातु पर रहता है पर अनियमिततया बने शानजन्त रूपों में वह लगभग सदैव प्रत्यय (शानच्) पर पाया जाता है।[2] यथा—दृक्षन्त् (√दह्), अर्चसानं।

(इ) प्रकारों में (जैसे कि आगमरहित निर्देशक में) एवञ्च शतृशानजन्त रूपों में अ-लुङ् में निरन्तर विकरण पर स्वर आता है। यथा—विदात्; विदेयम्; रुहतम्; तपन्त्, गुहमान।[3]

(ई) स-लुङ् के लोट् रूप में प्रत्यय पर स्वर आता है: धक्ष्स्व (√दह्)। इसी प्रकार का स्वर निस्सन्देह लोट् और विधिलिङ् के लुङ् रूपों में भी होगा पर उन प्रकारों (एवञ्च शतृशानजन्त रूपों के) कोई उदाहरण नहीं मिलते।

(उ) साभ्यास लुट् में लेट् और विधिलिङ् का स्वरव्यवहार अनिश्चित है। क्योंकि विधिवत् निष्पन्न कोई भी स्वरयुक्त उदाहरण उपलब्ध नहीं होते; पर लोट् में प्रत्यय पर स्वर आता है। यथा—जिगृतम्, दिधृत।[4]

(ऊ) लृट्। इस लकार के सभी रूपों में स्वर स्यं या इष्यं प्रत्यय पर रहता है। यथा—एष्यामि; करिष्यति; करिष्यन्त्।

(च) प्रक्रियाएँ। चूंकि इन सभी में (सिवाय यङलुगन्त के) अकारान्तात्मक रूपावली पाई जाती है (इसलिये) इनमें निरन्तर उसी अक्षर [अकार] पर स्वर पाया जाता है। ण्यन्त रूपों में (१६८) प्रकृति के उपोत्तम (=उपान्त्य) अक्षर पर स्वर रहता है। यथा—क्रोधयति *क्रुद्ध करता है*; कर्मवाच्य, यङन्त (१७२) एवञ्च नामधातु प्रक्रियाओं (१७५) मे स्वर यं प्रत्यय पर रहता है। यथा—पन्यते *स्तुति किया जाता है*; रेरिह्यते *बार-बार चाटता है*; गोपायन्ति *वे रक्षा करते हैं*।[5] सन्नन्त प्रक्रिया (१६९)

---

१. स्—लुङ् में कोई भी स्वरयुक्त लोट् रूप उपलब्ध नहीं होते। सिष्-लुङ् में एकमात्र उपलभ्यमान प्रकाराभिधायी रूप है लोट् का यासिष्टम्।

२. न ही इष्-लुङ् के शतृशानजन्त रूप बनते हैं और न ही सिष्-लुङ् के।

३. पर अनेक लोट् और शतृशानजन्त रूपों में स्वर धातु पर आता है। यथा—सन, सदतम्, स्पृत, सदन्त्, दसमान।

४. इस लङ् में कोई भी शतृ-शानजन्त रूप नहीं पाये जाते।

५. हां, कुछ ऐसे रूप हैं जिनके नामधातु रूप में कोई भ्रम नहीं हो सकता, पर वहां स्वर ण्यन्त का पाया जाता है। यथा—मन्त्रयति सलाह करता है (मन्त्र)।

में स्वर अभ्यास पर आता है। यथा—पि॑प्रीषति प्रसन्न करना चाहता है। यङ्लुगन्त प्रक्रिया का जुहोत्यादिगण से इन दिनों में साम्य है कि इसमें भी स्वर निर्दे० परस्मै० में सबल रूपों में अभ्यास पर रहता है पर दुर्बल रूपों में हलादि प्रत्ययों पर। यथा—जो॑हवीति, जर्भृ॒तस् पर प्र० पु० बहु० में ब॑र्भृतति; आत्मने० निर्देशक में अभ्यास स्वरयुक्त अधिक देखा जाता है और अस्वर कम। यथा—ते॑तिक्ते; कम बार नेनिक्ते॑। लेट् और शतृशानजन्त रूपों में अभ्यास पर नियमेन स्वर आता है। यथा—ज॑ङ्घनत्, जे॑ङ्घनन्त; चे॑कितत्, चे॑कितान। लोट् का स्वर[1] भी सम्भवतः वही था जो कि जुहोत्यादिगण के लट् का (१२ ख) पर केवलमात्र सस्वर रूप जो उपलब्ध होते हैं वे हैं परस्मै० म०पु०एक० के हैं, यथा—जागृहि॑, चर्कृता॑त्।

५. नामिक क्रियापदों का स्वर

१३ (क) कालबोधक शत्राद्यन्त रूपों के एक या एकाधिक उपसर्गों से सनन्त होने पर अपना मूल स्वर (प्रकृति स्वर) तदवस्थ रहता है (जबकि उपसर्ग अपना स्वर खो बैठते हैं)। यथा—अपग॑च्छन्त् परे जाता हुआ, विप्रय॑न्तः आगे बढ़ते हुए, पर्यावि॑वृत्सन् घूम जाना चाहते हुए; अपग॑च्छमान, अवजगन्वांस्, अपजग्मान॑।

(ख) (१) उपसर्ग एवं क्रियापद के बीच, (२) दो उपसर्गों के बीच और दूसरे के पश्चात् एक या एकाधिक पदान्तर आने से, एवञ्च (३) शत्राद्यन्त रूपों के बाद उपसर्ग के आने से उपसर्ग को क्रियापद से पृथक् किया जाता है। उस स्थिति में उसे एक स्वतन्त्र पद मान लिया जाता है और वह (अपने खोये हुए) स्वर को पुनः वापिस पा लेता है। यथा—अ॑प दृळ्हानि द॑र्दत् दृढ स्थानों को फाड़कर अलग करता हुआ; आ॑ च प॑रा च पथि॑भिश्च॑रन्तम् अपने रास्तों पर इधर उधर चक्कर काटता हुआ; म॑धु बि॑भ्रत उ॑प माधुर्य को निकट लाता हुआ; प्र वयामुज्जिहानाः ऊपर उड़कर एक शाखा तक पहुँचते हुए; अव-सृजन्नु॑प वितरण करता हुआ। यदा कदा अव्यवहित पूर्व उपसर्ग का शत्राद्यन्त रूपों

---

१. विधिलिङ् का कोई स्वरयुक्त रूप उपलब्ध नहीं होता।

के साथ समास नहीं होता और तब वह स्वरयुक्त भी हो जाता है। यथा—अभि द्रंहत् चारों ओर जलता हुआ; वि विद्वान्[1] विवेक करता हुआ; अभि आ चरन्तः पास पहुँचते हुए।

(ख) दूसरी ओर क्तान्त रूप[2] एक या एकाधिक उपसर्गों के साथ समस्त होने पर सामान्यतः अपना स्वर खो देता है। यथा—नि॑हित न्यस्त, न्यास किया गया।[3] जब दो उपसर्ग हों तो पहिला स्वरहीन रहता है। यथा—सर्माकृतम् सञ्चित; या पहिले को पृथक् किया जा सकता है और उसका स्वतन्त्र स्वर हो सकता है। यथा—प्र॑ यःसमुद्र आहितः जब समुद्र की ओर प्रस्थापित किया गया।

(ख) यप्रत्ययान्त (या त्यप्रत्ययान्त) और त्वप्रत्ययान्त कृत्यरूपों में स्वर धातु पर रहता है। यथा—च॑क्ष्य दर्शनीय, श्रु॑त्य श्रोतव्य, चर्कृ॑त्य स्तोतव्य, व॑क्त्व कथनीय; आय्य, एन्य और अनीय प्रत्ययान्त कृत्यरूपों में स्वर प्रत्यय के उपोत्तम (=उपान्त्य) [अक्षर] पर रहता है। यथा—पना॑य्य स्तोतव्य, ई॑क्षेण्य द्रष्टव्य, उपजीवनी॑य (अथर्व०) वृत्यर्थ आश्रयणीय; तव्य प्रत्ययान्त कृत्यरूपों में स्वर अन्तिम अक्षर पर रहता है: जनितव्य॑ (अथर्व०) जिसे उत्पन्न होना है। उपसर्गों के (यहां सदैव अपृथग्भूत) के साथ समस्त होने पर कृत्यप्रत्ययान्त रूपों में लगभग सदैव असमस्तावस्था का स्वर तदवस्थ रहता है। यथा—परिच॑क्ष्य घृणा के योग्य; अन्यार्यसे॑न्य समीप लाने योग्य; आमन्त्रणी॑य (अथर्व०) सम्बोधित करने के योग्य।

१४. तुमर्थक कृदन्तों का स्वर नियमतः उसी प्रकृति से बनने वाले सामान्य विभक्त्यन्त रूपों के स्वर के समान होगा।

---

[1] सम्भवतः प्राप्त्यर्थक विद् के सामान्य क्वस्वन्त रूप विविद्वान् से भेद में।

[2] जिसके स्वयं के अन्तिम अक्षर पर सदैव स्वर आता है। यथा—गर्त, पतित, छिन्न।

[3] पर अनेक स्थलों में इसका स्वर तदवस्थ रहता है। यथा—निष्कृत तैयार। यह उन उपसर्गों की स्थिति है जिनका कि स्वतन्त्र रूप में प्रयोग नहीं किया जाता है।

(क) इकारान्त, ति-कारान्त, असन्त एवञ्च वन्नन्तप्रकृतिक चतुर्थीप्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त रूपों में स्वर प्रत्यय पर रहता है। ध्यै अन्तवालों में वह पूर्ववर्ती व पर रहता है एवञ्च धातु से बनने वालों में वह प्रत्यय पर रहता है। यथा—दृशये देखने के लिये, पीतये पीने के लिये, चरसे[1] चलने के लिये, दावने[2] देने के लिये, तुर्वणे[3] अभिभव करने के लिये; इयध्यै[4] जाने के लिये, दृशे[5] देखने के लिये।

(अ) धातुरूप तुमर्थ कृदन्त रूपों के उपसर्गों के साथ समस्त होने पर स्वर धातु पर रहता है। यथा—समिधे प्रज्वलित करने के लिये, अभिप्रचक्षे[6] देखने के लिये।

(क) मन्नन्त प्रकृतियों से बने चतुर्थी प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त, धातुओं से बने पञ्चमी और षष्ठीप्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त एवञ्च त्वन्त (तु जिनके अन्त में आता है) प्रकृतियों से बने सभी तुमर्थ कृदन्त रूपों में स्वर धातु पर रहता है। यथा—दामने देने के लिये, शुभम् चमकने के लिये, आ-सदम् बैठने के लिये; अवपदस् गिरने के लिये; दातुम् देने के लिये, गन्तोस् जाने के लिये, भर्तवे भरण करने के लिये, गन्तवै[7] जाने के लिये।

(अ) त्वन्त प्रकृतियों से बने तुमर्थ कृदन्तों में समस्त होने पर स्वर उपसर्ग

---

१. इनमें धातु कभी-कभी स्वरयुक्त होती है। यथा चक्षसे देखने के लिये।

२. यह तुमर्थ कृदन्त रूप स्वतन्त्र स्वर वाले उपसर्गों के साथ भी पाया जाता है: प्र दावने और अभि प्र दावने।

३. हानि पहुँचाने के लिये इस अर्थ वाले धूर्वने इस अकेले रूप में धातु स्वरयुक्त होती है।

४. इनमें धातु कभी कभी स्वरयुक्त होती है। यथा—गमध्यै।

५. समस्त होने पर एकाच् प्रातिपदिकों के नियमित स्वर के विषय में देखिये ११ ग १.

६. पर विद्मने जानने के लिये।

७. यहां अन्त्याक्षर पर गौण स्वर तदवस्थ रहता है। तुलना कीजिये पूर्वोक्त ७ से।

पर रहता है।[1] यथा—सं॑कर्तुम् इकट्ठा करने के लिये; निधातोस् नीचे रखने के लिये; अ॑पिधातवे ढँकने के लिये; अ॑पभर्तवै॑ अपहरण के लिये। उपसर्गद्वय होने पर पहिले को पृथक् किया जा सकता है और उस पर स्वतन्त्र रूप से स्वर आ सकता है। यथा—अ॑नु प्र॑ वोळ्हुम् साथ आगे बढ़ने के लिये, वि॑ प्र॑सर्तवे फैलने के लिये।

१५. त्वी, त्वा और त्वाय प्रत्ययान्त क्त्वाद्यर्थक रूपों में स्वर प्रत्यय पर रहता है पर इनका उपसर्गों (यहां सदैव अपृथग्भूत) के साथ समास हो जाने पर एवञ्च य या या अथवा त्य या त्या लगने से बनने पर वह धातु पर रहता है। यथा—भूत्वी॑ होकर, गत्वी॑ और गत्वा॑य *जाकर*; संगृ॑भ्या *सङ्गृहीत कर*, उपश्रु॑त्य (अथर्व०) *अभिभव कर*।

१६. क्रियाविशेषण रूप में प्रयुक्त विभक्त्यन्त रूपों में स्पष्ट रूप में अर्थ परिवर्तन को सूचित करने के लिये प्रायः स्वरसंक्रमण होता रहता है।[2] नपुं० द्वि० रूप यहां प्रचुरतम है। यथा—द्र॑वत् *जल्दी से* पर द्रव॑त् *दौड़ता हुआ*; अपर॑म् *बाद का* पर अ॑परम् नपुं० विशेषण, उत्तर॑म् *अधिक ऊंचा* पर उ॑त्तरम् नपुं० विशेषण; वत् वाले क्रियाविशेषण; यथा—प्रत्नव॑त् *पहले की तरह* पर वन्त् वाले द्वितीयान्त नपुं० विशेषणों में प्रत्यय पर स्वर नहीं आता। अन्य विभक्तियों के उदाहरण हैं: दि॑वा *दिन के समय* पर दिवा॑ *द्युलोक में से*; अपरा॑य *भविष्य के लिये* पर अ॑पराय *बाद वाले को*; सना॑त् *पुराने कालसंबद्ध (पदार्थ) से* पर स॑नात् *पुराकाल से*।

---

१. उपसर्ग के पृथक् कर दिये जाने पर तुमर्थ कृदन्त पर अपना निजी स्वर तदवस्थ रहता है। यथा—प्र॑ दाशु॑षे दा॑तवे पूजक को अर्पित करने के लिये।

२. अन्त्याक्षर पर गौण स्वर को पूर्ववत् लिये हुए।

३. इस प्रकार का स्वरसंक्रमण या तो सामान्य अर्थपरिवर्तन, यथा—ज्ये॑ष्ठ सबसे बड़ा, ज्येष्ठ॑ (उमर में) सबसे बड़ा या जाति परिवर्तन, यथा—गो॑मती गायों से भरपूर, गोमती॑ एक नदी विशेष का नाम; राजपुत्र॑ राजा का पुत्र, रा॑जपुत्र जिसके पुत्र राजा हैं को द्योतित करने के लिये किया जाता है।

सन्धि स्वर

१७.१. जब दो अच् मिलकर एक दीर्घ अच् या एच् (सन्ध्यक्षर) रूप में परिणत हो जाते हैं तो उदात्त उस एक दीर्घ अच् या एच् पर आ जाता है यदि मूल के एक या दोनों ही अचों पर वह रहा हो। यथा— अ॑गात्=आ॑ अगात्; नु॒दस्वा॑य=नु॒दस्व अ॑य; वरे॑त्=वर ई॑त्[१]; नान्तरः =न॑ अन्तरः।

(अ) पर ई और इ का एकादेश ई॑[२] होता है; यहां पराश्रित स्वरित (ई॑ इ) ने पूर्ववर्ती उदात्त को हटा दिया है। यथा—दि॒वी॑व[३]=दि॒वि॑ इ॒व।[४]

२. उदात्त इ, ई, और उ, ऊ के य् और व् रूप में परिवर्तित होने पर उत्तरवर्ती अनुदात्त अच् पर स्वरित आ जाता है।[५] यथा—व्या॑नट्=वि॑ आनट्। यहां स्वरित जात्य स्वरित का स्वरूप अपना लेता है पर ऋग्वेद में लगभग नियमेन उदात्तयुक्त अनपकृष्ट रूप को ही उच्चारित करना होता है।

३. उदात्त अ॑ के लुप्त होने पर इसका उदात्त पूर्ववर्ती अनुदात्त ए और ओ पर डाल दिया जाता है। यथा—सून॒वे॑ऽग्ने=सून॒वे अ॑ग्ने; वो॑ऽवसः=वो अ॑वसः। पर जब अनुदात्त अ लुप्त होता है तो यह पूर्ववर्ती उदात्त को स्वरित में परिवर्तित कर देता है।[६] यथा—सो॑ऽधर्मः=सो॑ अधर्मः।[७]

---

१. पर जब अन्त्य अच् पर आने वाले स्वरित से परे अनुदात्त आदि अच् आता है तो वह तदवस्थ रहता है। यथा—क्वे॑यथ=क्व इयथ।

२. ऋग्वेद और अथर्व० में न कि तैत्तिरीय संहिता के पाठों में जहां कि सामान्य नियम का पालन किया जाता है।

३. ऋग्वेद और अथर्व० में पर तै० पाठों में दि॒वी॑व।

४. यही प्रातिशाख्यों का प्रश्लिष्ट स्वरित है।

५. यही प्रातिशाख्यों का क्षैप्र स्वरित है।

६. यही प्रतिशाख्यों का अभिनिहित स्वर है।

७. यहां स्वरित ने (ओ॑ अ) पूर्ववर्ती उदात्त को हटा दिया है।

७. वाक्य स्वर

१८. समस्त एवञ्च असमस्त सम्बोधन रूपों में प्रथमाक्षर पर ही स्वर आ सकता है।

(क) वाक्य अथवा पाद के आदि में ही इसका स्वर तदवस्थ रह सकता है,[1] अर्थात् जब विभक्ति का पूरा बल इसमें होने के कारण इसका स्थान सबलतम होता है। यथा—अ॑ग्ने सूपायनो॑ भव हे *अग्नि तुम सुखाभिगम्य हो जाओ;* ऊ॑र्जो नपात् सहसावन्[2] हे *शक्तिशाली ऊर्जा के पुत्र।* यह नियम, द्विस्वरयुक्त द्वन्द्व समासों में भी चरितार्थ है। यथा—मि॑त्रावरुणा[3] हे *मित्र और वरुण।* वाक्यादि में दो या दो से अधिक सम्बोधनों में सभी के सभी स्वरयुक्त होते हैं। यथा—अ॑दिते, मि॑त्र, व॑रुण हे *अदिति, हे मित्र, हे वरुण।* दो स्वरयुक्त सम्बोधन कभी-कभी एक व्यक्ति से सम्बन्ध रखते हैं। यथा—ऊ॑र्जो नपाद् भ॑द्रशोचिषे हे *ऊर्जा के पुत्र, हे मङ्गलप्रकाशवान्।* (दोनों में ही अग्नि को सम्बोधित किया गया है)।[4]

(ख) वाक्य अथवा पाद के आदि में न आने पर सम्बोधन बलहीन होने के कारण अपना स्वर खो देता है। यथा—उ॑प त्वा॒ अग्ने दिवे॑-दिवे। दो॑षावस्त॑र्धिया॑ वय॑म्। न॑मो भ॑रन्त ए॑मसि हे *अन्धकार को प्रकाशित*

---

१. यह अर्धर्च के द्वितीय अथच प्रथम पादों के विषय में चरितार्थ है और यह सूचित करता है कि दोनों का अन्योन्यदृष्ट्या स्वतन्त्र स्वरूप था जोकि अर्धर्च के पादों के भीतरी सन्निकर्ष होने पर सन्धि के कठोरतया पालन एवञ्च स्वराङ्कन में किसी भी प्रकार का व्यवधान न होने के कारण धूमिल हो जाता है।

२. इसी का प्रथमा का रूप होगा ऊर्जो॑ न॑पात् स॑हसावा।

३. प्रथमान्त रूप है मित्रा॑-व॑रुणा।

४. यहां द्वितीय सम्बोधन को समानाधिकरण मानकर स्वरयुक्त किया जाता है जब कि यदि इसे विशेषणतया प्रयुक्त किया जाता तो वह स्वररहित होता। यथा—हो॑तर्यविष्ठ सुक्रतो हे सबसे छोटे बुद्धिमान् होता।

५. पादादि में होने के कारण स्वरयुक्त।

करने वाली अग्नि हम दिन प्रतिदिन प्रार्थनापूर्वक नमस्कार करते हुए तेरे पास आते हैं; आ राजाना मह ऋतस्य गोपा[1] हे महान् ऋत के महाप्रभु गोप्ताओ तुम दोनों इधर (आओ); ऋते॑न मित्रावरुणाव् । ऋतावृधाऋतस्पृशा ऋतप्रेमी ऋत स्पृहावान् हे मित्र और वरुण ऋत से;[2] यदिन्द्र ब्रह्मणस्पते।[3] अभिद्रोहं॑ चरामसि हे इन्द्र, हे ब्रह्मणस्पति यदि हम कोई अपराध करें।

१९. वाक्य के स्वरूप के अनुसार क्रियापद का स्वर भिन्न-भिन्न होता है।

(य) मुख्य वाक्य में पुरुषवचनपरिच्छिन्न क्रियापद स्वरयुक्त नहीं होता है। यथा अग्नि॑मीळे पुरो॑हितम् मैं पुरोहित अग्नि की स्तुति करता हूँ। इस सामान्य नियम के निम्नलिखित प्रतिबन्धक हैं:

(क) चूं॑कि वाक्य में केवल एक ही क्रियापद हो सकता है इसलिये प्रथम क्रियापद के कर्ता के साथ अन्वित सभी अन्य क्रियापदों को नये वाक्यों के प्रारम्भक मानकर स्वरयुक्त किया जाता है।[4] यथा—ते॑षां पाहि, श्रुधि हवम् उन्हें पीओ, हमारी पुकार सुनो; तर॑णिरि॒ज्जयति, क्षे॑ति, पु॑ष्यति शक्तिशाली नर जीतता है, शासन करता है, समृद्ध होता है; जहि प्रज॑ां नयस्व च सन्तान को मारो और (इसे) इधर ले आओ।

---

१. हो सकता है कि ये एक ही व्यक्ति के लिये कहे गये दो सम्बोधन हों; उनका स्वरयुक्त रूप तब होगा: रा॑जाना, म॑ह ऋतस्य गोपा।

२. सारा का सारा समस्त सम्बोधन अवश्यमेव स्वररहित हो यह नियम उस नियम का बाधक है जिसके अनुसार पाद का आदि पद स्वर युक्त होता है अर्थात् यहां ऋ॑तावृधाव् ।

३. दो स्वतन्त्र स्वररहित सम्बोधन पदों का उदाहरण।

४. दो ऐसे क्रियापदों के बीच आने वाला कर्ता या कर्म सामान्यतः पहले के साथ लिया जाता (सम्बद्ध किया जाता) है।

(ख) वाक्यादि में आने पर, अथवा वाक्यादि में न आकर भी पादादि में आने पर क्रियापद स्वरयुक्त होता है। यथा–शये वव्रिश्, चरति जिह्वयादन्। रेरिह्यते युवतिं विश्पतिः सन् *आवरण (वहां) पड़ा है; वह (अग्नि) अपनी जिह्वा से खाता हुआ चलता है; वह गृहस्वामी होते हुए युवति को चूमता है;* अया ते अन्तमानाम्। विद्याम सुमतीनाम् *तो हम तुम्हारे उत्तम प्रसादों का भाजन बनें।*

(ग) सम्बोधनों को वाक्यबहिर्भूत मानने के कारण आदि के सम्बोधन के अव्यवहित अनन्तर आने वाले क्रियापद को वाक्य का आदि पद मानकर स्वरयुक्त किया जाता है। यथा–अग्ने, जुषस्व नो हविः *हे अग्नि हमारी हवि का सेवन करो।* एवमेव इन्द्र, जिव; सूर्य, जिव; देवा जिवत (*हे इन्द्र जियो, हे सूर्य जियो, हे देवताओ जियो*) इस वाक्य में वाक्यादि में माने जाने वाले तीन स्वरयुक्त क्रियापद हैं जब कि उनके पूर्व के तीन सम्बोधनों को वाक्यादि में आने के कारण स्वरयुक्त कर दिया जाता है यद्यपि वाक्यरचना की दृष्टि से वे वाक्य से बहिर्भूत हैं।

(क) कभी-कभी क्रियापद बलयुक्त होने पर वाक्यादि में न आने पर भी युक्तस्वर होता है यदि उसके परे इद् या चन ये निपात आयें। यथा—अव स्मा नो मघवञ्चर्कृतादित् *तो हे बहुप्रद! हमारा ध्यान रखना;* न देवा भसथश्चन *हे देवताओ! आप दोनों (उसे) नहीं जलाते हो।*

(र) अवान्तर वाक्यांश (जिसका प्रारम्भ सम्बन्धवाचक य अथवा उससे बने रूपों से हो या जिसमें च, चेद् यदि; नेद् *ऐसा न हो,* हि *क्योंकि,* कुविद् *क्या* ये निपात हों) का क्रियापद सदैव स्वरयुक्त होता है। यथा—यं यज्ञं परिभूरसि *जिस हवि की तुम रक्षा करते हो;* गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथा असः *घर जाओ, ताकि तुम गृहपत्नी बन जाओ;* इन्द्रश्च मृळयाति नो, न नः पश्चादघं नशत् *यदि इन्द्र हम पर दयालु हो तो अब के बाद कोई अनिष्ट हम तक नहीं पहुंच सकता;* त्वं हि बलदा असि *चूंकि तुम शक्तिदायक हो।* संयोजक पद दो क्रियापदों से कारकरूपेण सम्बद्ध हो सकता है।

यथा—येना सूर्य ज्योतिषा बाधसे तमो, जगच्च विश्वमुदियर्षि भानुना हे सूर्य वह प्रकाश जिससे तुम अन्धकार को भगाते हो और अपनी किरण से समस्त संसार को जगाते हो।

इस नियम में इतना और अधिक कहा जा सकता है कि स्वरूपतः मुख्य पर अर्थतः अवान्तर वाक्यों मे निम्नस्थितियों में (क्रियापद पर) स्वर आता है।

(अ) दो वाक्यांशों में पहिला यदि अथवा यदा से प्रारम्भ होने वाले वाक्यांश के उनका होने पर यदा कदा स्वरयुक्त होता है। यथा—सर्मश्वपर्णाश्चरन्ति नो नरो, अस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु जब हमारे आदमी अश्वरूपी पंख लगाये साथ-साथ आते हैं तो हे इन्द्र! हमारे रथ योद्धाओं की विजय हो।

(आ) विरुद्धार्थक दो वाक्यांशों में पहिला बहुत बार स्वरयुक्त रहता है[1] विशेषकर तब जबकि विरोध अन्यं-अन्यं, एक-एक, च-च, वा-वा इन विरोधार्थक पदों के द्वारा स्पष्ट रूप से प्रकट किया जाता है। यथा—प्र-प्र‿अन्ये यन्ति, पर्यन्यं आसते जबकि कुछ चलते रहते हैं दूसरे बैठ जाते हैं; सं च‿इध्यस्व अग्ने, प्र च बोधय‿एनम् हे अग्नि तुम दोनों ही करो प्रज्वलित भी हो जाओ और इस व्यक्ति के ज्ञान को भी जगा दो। जब इन प्रकार के दो वाक्यांशों का एक ही क्रियापद हो तो वह प्रथम (वाक्यांश) में ही (स्वरयुक्त) पाया जाता है। यथा—द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष, चतुष्पाद्यच्च नः स्वम् हमारे प्रत्येक द्विपाद (दो पावों वालों) की एवञ्च जो भी चौपाया हमारा अपना है इन दोनों की रक्षा करो।

(इ) द्वितीय वाक्यांश का क्रियापद उ० पु० लेट् का या वाक्यपरिसमाप्त्यर्थक म० पु० लोट् का रूप[2] होने पर एवञ्च प्रथम वाक्यांश का क्रियापद आ + इ, गम् या गत्यर्थक या का लोट् का म० पु० का रूप होने पर स्वरयुक्त होता है। यथा—एत, धियं कृणवाम आओ, हम प्रार्थना करेंगे; तूयमा गहि, कण्वेषु सु सचा पिब शीघ्र आओ, कण्वों के संग जी भर पियो। ब्राह्मणग्रन्थों में प्रथम वाक्यांश का क्रियापद या आ + इ या प्र + इ का लोट् का रूप होता है। यथा—एहि‿इदं

---

१. इस स्वर का वेदों की अपेक्षा ब्राह्मणग्रन्थों है अधिक कठोरता से पालन किया जाता है और संहिताओं में से ऋग्वेद में कम कठोरता से।

२. ब्राह्मणग्रन्थों में स्वरयुक्त पद या तो लेट् का रूप होता है या लट् का।

पताव (श०ब्रा०) आओ हम अब उस ओर उड़ेंगे; प्रेत तदंप्यांमो यत्र—इमाः मंसुरा विभंजन्ते आओ, हम उस ओर जायेंगे जहां कि असुर पृथ्वी का भाग कर रहे हैं (श० ब्रा०)। पर एतादृश सन्दर्भों में द्वितीय क्रियापदों को ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुत बार स्वरहीन ही रहने दिया जाता है।

क्रियायुक्त उपसर्ग

७०. (य) मुख्य वाक्यांशों में उपसर्ग जोकि (क्रियापद) से पृथक् कर दिया जाता है और प्रायः क्रियापद से पूर्व रहता है पर कभी-कभी परे भी आता है स्वरयुक्त होता है। यथा—आ गमत् *वह आये*; गवार्मप व्रजं वृधि *गायों का बाड़ा खोल दो*; जयेम सं युधि स्पृधः *हम युद्ध में अपने प्रतिद्वन्द्वियों पर विजय पायेंगे*; गमद्वाजेभिरा स नः *वह लूट का धन लिये हमारे पास आये*।

(क) जब दो उपसर्ग हों तो दोनों स्वतन्त्र और स्वरयुक्त होते हैं। यथा—उप प्र याहि *आगे आओ*; परि स्पशो नि षेदिरे *गुप्तचर घेरे में बैठ गये हैं*; अग्ने वि पश्य बृहता अभि राया हे *अग्नि विपुल धन से हमारी ओर दृष्टि डालो*।

(अ) (इकारान्त भिन्न) अन्य उपसर्ग के आ से अव्यवहित पूर्व आने पर इसी [आ] पर स्वर आता है जबकि दोनों ही उपसर्गों का क्रियापद से समास रहता है। उदाहरण—समाकृणोषि जीवसे *तुम उन्हें जीने के योग्य बनाते हो*; प्रत्युदाहरण—अभ्या तनुष्व *तुम (अपना धनुष उनके) विरोध में खींचो*।

(र) अवान्तर वाक्यांशों में ठीक उलटा हो जाता है, उपसर्ग का सामान्यतः समास कर दिया जाता है, और उस पर स्वर नहीं आता। यथा—यद् निषीदथः *जब तुम दोनों बैठ जाते हो*। जब यह सामान्यतया पादादि में आता है या अनतिप्राचुर्येण क्रियापद के बाद आता है तो इसके और क्रियापद के बीच अन्य पदों का व्यवधान पाया जाता है। यथा—वि यो ममे रजसी *जिसने दोनों विस्तारों को नापा*; यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् *जिसने अपने बल से पृथ्वी के किनारों को जुदा जुदा थाम रखा*। यदाकदा क्रियापद से अव्यवहित पूर्व उपसर्ग को भी उससे (क्रियापद से) पृथक् कर

स्वरयुक्त कर दिया जाता है। यथा—यं आहुतिं परि वेद नमोभिः जो भक्ति के साथ आहुति को पूर्णतया जानता है।

(क) दो उपसर्ग होने पर या तो दोनों को ही समस्त किया जाता है और स्वरहीन रहने दिया जाता है या पहिले को पृथक् कर उसे स्वरयुक्त किया जाता है। यथा—यूयं हि देवीः परि-प्र-यार्थ चूंकि हे देवियो तुम परिक्रमण करती रहो; यत्र अग्निं सं नवामहे जहां हम एक साथ उसे पुकारते हैं; सं यम् आन्यन्ति धेनवः जिसके पास गायें एक साथ आती हैं।

(ख) अतिविरलतया दोनों ही उपसर्गों को क्रियापद से पृथक् कर स्वरयुक्त कर दिया जाता है। यथा—प्र यः स्तोता...उप गीर्भिरीट्टे जब स्तोता स्तुतिगीतों से उसकी स्तुति करता है।

अर्पय, गमनार्थक ऋ का ण्यन्त रूप, साम्यास लुङ् १४९ अ ३.

अर्पित, र्अर्पित, गमनार्थक ऋ का ण्यन्त क्तान्त १६०, ३.

र्अर्बुद सख्या० *दस करोड़*, १०४.

अर्यमन्, पुल्लिङ्ग, एक देवताविशेष की संज्ञा ९०.

अर्वाञ्च्, विशे० *अब से*, ९३ ख.

अर्ह्, के योग्य होना. लिट्, १३९, ६.

र्अलम् = र्अरम्, क्रि० विशे०, वाक्य में प्रयोग, १८०.

अललाभवन्त्, शवन्त. *प्रसन्नता से शब्द करते हुए*, १८४, घ.

अल् लृ क गुणरूप, ५क.

र्अल्प, विशे० *छोटा*, तुलना० अतिशय० रूप, १०३, २ ख.

अव, निर्दे० सर्व०, *यह* ११२ क आ.

र्अव, उप० *नीचे*, पंचमी के साथ प्रयोग, १७६, ३.

अवग्रह, पुंल्लिग पृथक्करण का चिह्न, पृ० ६०५ क.

र्अवत्त, *काटा गया*; दा का क्तान्त रूप, १६०, २ ख.

अवनि, स्त्री० *धारा* पृ० ११०. पा० टि० ४.

अवम, अतिशय० *नीचैस्तम*, १२० ग. १.

अवयाज्, स्त्री० *आहुतिओं का भाग*, ७९, ३ क अ.

र्अवर तुलना० *नीचे*, १२० क १.

र्अवरेण, क्रि० विशे०, उप० *नीचे*, पंचमी के साथ प्रयोग, पृ० २७८, पा० टि० १.

अवस्, क्रि० विशे० *नीचे की ओर*; उप० *से नीचे*, *नीचे*, पंचमी के साथ प्रयोग, १७७, ३; तृतीया के साथ प्रयोग, १७७, २.

अवस्ताद्, क्रि० विशे० *नीचे*, षष्ठी के साथ प्रयोग २०२ व.

अवाञ्च्, विशे० *नीचे की ओर*. ९३ ख.

र्अवाद्, *चमका है*. ३, वस् का स्-लुङ् का प्र० पु० एक०का रूप, १४४, २.

र्अवि, पुंल्लिङ्ग *भेड़*, पृ० १०८. पा० टि० १.

१. अश्, *पहुंचना*, देखो र्अश्.

२. अश्, *खाना*, सविकरणक प्रकृति, १३४ ङ ४.

अशितावन्त्, क्तान्त रूप, *खा चुकने पर*, १६१

अशीति, सख्या. *अस्सी*, १०४

र्अश्मन्, पुंल्लिङ्ग, *पत्थर*, ९०, १. २ (रूप०).

केवल, विशे० *अकेला*, १२० ग ३.
क्रन्द, *चिल्लाना*, लिट्, १३७, २ घ; अ-लुङ् १४७ ख; साभ्यास लुङ्, १४९, १; स्-लुङ्, १४४, ५.
क्रम्, *डग भरना*, सविकरणक रूप, १३३ य १; वातु लुङ्, १४८, १ घ; लु० लो० १४८, ३; इष् लुङ्, १४५, १ (रूप०).
कुञ्च्, पुंल्लिङ्ग, *घुंघराला*, ७९, १.
क्रुध्, *क्रोध करना* साभ्यास लुङ् लु० लो० १४९, ३.
क्रुश्, *चिल्लाना*, स्-लुङ्, १४१ क.
क्षप्, स्त्री० रात्रि, ७८, १, षष्ठी क्रि० विशे० *रात का*, पृ० २०२ ब ३ अ.
क्षम्, स्त्री० पृथ्वी, ७८, ३; स्वराङ्कन पृ० ६१० ग १.
क्षर् *बहना*, स्-लुङ्, १४४, ५.
क्षा, स्त्री० *घर*, ९७, २.
क्षिप्, *फेंकना*, साभ्यास लुङ् लु० लो० १४९, ३.
क्षिप्, स्त्री० *उंगली*, ७८, १.
क्षुध्, स्त्री० *भूख* ७७, ४.
क्षुभ्, स्त्री० *धकेलना*, ७८, २.
क्षेप्र, विशे० पृ० ६११, पा० टि० ५.
क्ष्णु *तेज करना*, सविकरणक रूप १३४, १ क.
खं, नपुं०, *छिद्र*, ९७, ३.
खन्, *खोदना*, लिट्, १३७, २ ख; क० वा० प्रकृति, १५४ घ.
खलु, बलावायक निपात, १८०.
खां, स्त्री० *कुंआ*, ९७.२
खिद्वांस्, *तंग करता हुआ*, १५७ ख.
ख्या, *देखना*, अ-लुङ्, १४७ अ १.
गम्, *जाना*, सविकरणक रूप, १३३ य २; लिट् १३७, २ ख; १३८, ७; १४०, ३, क्वस्वाद्यन्त, १५७; आमन्त लिट्०, १३९, ९ क; अ-लुङ्, १४७ अ २ (परिवर्तन); स्-लुङ्, १४४, ३; वातु-लुङ् १४८, विधिलिङ् १४८, ४ १ क; आशीर्लिङ्, १४८ ४ क, लोट् १४८, ५, शत्राद्यन्त, १४८, ६; क० वा० लुङ् १५५; क्त्वा०, १६५ अ.
ग्मम्, स्त्री० पृथ्वी, ७८, ३.
गमध्यै, चतुर्थी तुम० *जाने के लिये*, १६७ ख ७ अ.
गा, *गाना*, सिप्-लुङ्, १४६.
गाथिन्, पुंल्लिङ्ग, *गायक*, ८७.
गायत्री *मन्त्र*, पृ० ५८४.
ट्रोकेक पृ० ५८५.
गिर्, स्त्री० *स्तुति*, ८२, पा० टि०

त्वंयोनि, विशे० *तुझ से उद्भूत*, १०९ ख.

—त्वन, वि० नामिक प्र०, १८२, २.

त्वम्, पुरुष० सर्व० *तुम*, १०९ (रूप०)

त्वंयत, तत्पु० समास, *तुम्हारे द्वारा अर्पित किया हुआ*, १०९ ख.

त्वा, निपात, त्वम् का द्वितीया एक वचन, १०९ अ; पृ० ६०२. च य क

त्वा, क्त्वा० प्र०, १६३, २; २१०.

—त्वाय, क्त्वा० प्र०, १६३, ३; २१०; ण्यन्त प्रकृति के साथ संयोजित, पृ० २४९, पा० टि० १.

त्वावं, वशवाचक निपात, १८०

त्वावन्त्, सार्व० तद्भव *तुम्हारी तरह*, ११८ ग.

त्विष्, *वेगयुक्त होना*, सविकरणक रूप, १३४ य ४ ग.

त्विष्, स्त्री० *उत्तेजना*, ८०.

—त्वी, क्त्वा० प्र०, १६३, १; २१०.

त्वै, निपात, १८०.

त्सर्, *चोरी से पास पहुंचना*, स्-लुङ्, १४४, ५.

—थ अवि० नामिक प्र०, १८२, १ ख; वि० नामिक प्र०, १८२, २.

—थम्, क्रि० वि० प्र०, १७९, १ अ.

—था, अवि० नामिक प्र०, १८२, १ ख.

—था, प्रकारार्थक (=तृतीया का) क्रि० वि०, प्र०, १७९, १.

दंश्, *काटना*, सविकरणक रूप, १३३ य ४.

दंक्षन्, दह् का लुङ का शत्रन्त रूप, ८५ ख.

दक्षिणतस्, क्रि० विशे० *दाहिनी ओर, से*, १७९, ३; षष्ठी के साथ प्रयोग, २०२ व.

दक्षिणत्रा, क्रि० विशे० *दाहिनी ओर* १७९, ३.

दक्षिणेन, क्रि० विशे० *दाहिनी ओर*, द्वितीया के साथ प्रयोग, १९७ र ग आ; पृ० २७८, पा० टि० १.

दभ्, *पहुंचना*, धातु लुङ लु० लो०, १४८, ३; लोट् १४८, ५; आशीर्लिङ १४८, ४ क.

दत्त, दा का क्तान्त रूप, १६०, २ अ; १३४ र ३ आ.

ददत्, दा का शत्रन्त रूप, ८५ ख.

दधि, नपुं०, *दही*, ९९, ४.

दधृक्, क्रि० विशे० *साहसपूर्वक* ८०.

दधृष्, विशे० *साहसी* ८०.

दन्त्, पुंल्लिङ्ग *दांत*, ८५ क.

दभ्, *हानि पहुँचाना*, लिट्, १३७, २ क.

दम्, नपुं० (?) *घर*, ७८, ३.

–दम्, क्रि० विशे० कालिक प्र०, १७९, ३.

दम्पति, पुंल्लिङ्ग *गृहस्वामी*, ७८, ३ क; पृ० ३५८ पा० टि० ४.

दवीयांस्, *दूरतर* १०३, २ अ.

दश, संख्या० *दस*, १०६ ग (रूप०)

दशतय, संख्या० *दस का समूह*, १०८ ग.

दशम, पूरण० *दसवां*, १०७.

दस्यवे वृक, पुंल्लिङ्ग. *दस्यु के लिए भेड़िया*, नाम विशेष, २०० य २ क इ.

दह् *जलाना*, स्-लुङ, १४४, ५; स्-लुङ का शत्रन्त रूप १४३ ख; १५६ क; लृट्, १५१ क; लृट् का शत्रन्त रूप १५१ ख २.

१. दा, *देना*, सविकरणक रूप, १३४ र १ ख; १३४ र ३ आ; क्वस्वाद्यन्त १५७; १५७ ख अ; स्-लुङ, १४४, ३; अ-लुङ १४७ क १; धातु-लुङ लु० लो० १४८, ३; विधि-लिङ, १४८, ४; लृट्, १५१ क; क्तान्त १६०, २ ख.

२. दा *काटना*, स्-लुङ १४४, ३; विधि-लिङ, १४३ ४.

दा, पुंल्लिङ्ग, *देने वाला*, ९७, २.

–दा, क्रि० विशे० कालिक प्र०, १७९, ३.

दातृ, पुल्लिङ्ग, *देने वाला*, १०१, २ (रूप०)

–दानीम्, क्रि० विशे० कालिक प्र० १७९, ३ आ.

दामन्, नपुं० *देना*, ९०, २.

दारु, नपुं० *लकड़ी* ९८ क (पृ० ११२).

दावन्, नपुं० *देना* ९०, ३.

दाश्, स्त्री० *पूजा*, ७९, ४.

दाशत्, शत्रन्त रूप, *पूजा करते हुए*, ८५ ख; १५६ क.

दाशिवांस्, द्वित्वरहित क्वस्वन्त रूप, १५७ ख.

दाश्वांस्, द्वित्वरहित क्वस्वन्त रूप, १५७ख.

दिदृक्षेण्य, सन्नन्त कृत्य० *देखने योग्य*, १६२, ३.

दिव्, *खेलना* दिवादि०, १२५, ३.

दिव्, पुंल्लिङ्ग, स्त्री०, *आकाश*, ९९, ५ (पृ० ११४, पा० टि० १).

दिवा, तृतीया० क्रि० विशे० *दिन में*, १७८, ३.

दिवेदिवे, आम्रे० समास *हर रोज़*,

१८९ ल क; २०० र ३ अ.

दिंश्, स्त्री० *दिशा*, ६३ ख (पा० टि० १); ७९, ४.

दीप्, चमकना, अनिय० साभ्यास लुङ्, १४९ अ १, पृ० २३०.

दीर्घ, विशे० *लम्बा*, १०३, २ अ.

दु॑घान, दुह् का आत्मने० शानजन्त रूप, १५८ अ २.

दुष्, दूषित करना, ण्यन्त लृट्, १५१ क अ.

दुष्टंर, विशे० *कठिनाई से पार करने योग्य* ५० ख.

दुःषंह, विशे० *बहुत कठिनाई से सहने योग्य* ५० ख.

दुस्–, समासों में क्रि० विशे०, की सन्धि, ४९ ग; स्वराङ्कन, पृ० ६०६ अ.

दुह्, दुहना, सविकरणक रूप, १३४ य ४ ख; १३४ य ४ ग अ; स-लुङ्, १४१ क; स्-लुङ् विविलिङ्, १४३, ४.

दु॑हान, दुह् का शानजन्त रूप, १५८ अ २.

दुहितंर्, स्त्री० *पुत्री*, १०१, २.

दू॑, स्त्री० उपहार, १०० II क.

दूडंभ, विशे०, *जिसे आसानी से धोखा दिया नहीं जा सकता*, ४९ ग.

दूडांश्, विशे० *पूजा न करने वाला*, ४९ ग.

दूढी॑, विशे०, *अशुभचिन्तक*, ४९ ग.

दूणंश, विशे० *जिसे कठिनाई से प्राप्त किया जा सके*, ४९ ग.

दूणाश, विशे० *जिसे कठिनाई से नष्ट किया जा सके*, ४९ ग.

दूती॑, स्त्री० पृ० ११८.

दूरं, विशे० दूर, का तुलना०, १०३, २ घ.

दूरंम्, क्रि० विशे० *दूर*, १७८, २.

दूरा॑त्, पंचमी, क्रि० विशे० *दूर से*, १७८, ५.

दूरे॑, सप्तमी० क्रि०विशे० *दूर*,१७८,७.

दॄ, *फाड़ना* स्-लुङ्, विधिलिङ्, १४३ ४, धातु-लुङ्, १४८. १ घ.

–दृक्ष, सार्व० समासों में प्रत्यय,=*के समान*, ११७.

दृश्, देखना, क्त्वाद्यन्त, १५७; धातु-लुङ् लु० लो०, १४८, ३; शत्राद्यन्त, १४८, ६; अ-लुङ्, १४७ ग; क० वा० लुङ्, १५५.

दृंश्, स्त्री० देखना, ६३ ख (पा० टि० १); ७९, ४.

–दृश्, सार्व० समासों का प्रत्यय,=*के समान*, ११७.

दृशे॑, देखने के *लिये*, चतुर्थी तुम०, क (पृ० १६७ २५३).

दृषद्, स्त्री० *पाताल की चक्की*, ७७, ३ ख.

दृह्, *दृढ़ करना*, सविकरणक रूप, १३३ ल १.

दे॑य क्त्वा० *देने योग्य*, १६२, १ ख.

देवता-द्वन्द्व, समास, स्वराङ्कन, पृ० ६०८.

देवतात् स्त्री० *दैवत अर्चा*, ७७, १.

देवत्त, तत्पु० समास *देवताओं द्वारा दिया गया*, १६० २ ख.

देवद्र्यञ्च्. विशे० *देवताओं की ओर*, ९३ (पृ० ९७, पा० टि० २).

देवशॅस्, क्रि० विशे० *देवों में हरेक को*. १७९, १.

देवाञ्च्. विशे० *देवताओं की ओर*, ९३ ख.

देवी॑, स्त्री०, १०० I ख (रूप०).

देवृ॑, पुंल्लिङ्ग *देवर*, १०१. १.

'देहि, दा-का लोट् परस्म० म० पु० एक०, १३४ र १ ख.

'दो॑स्, नपुं० *भुजा*, ८३ १.

द्यव्, पुंल्लिङ्ग, स्त्री०, *आकाश*, ९९, ५ (पृ० ११४, पा० टि० १).

द्या॑वः, प्रथमा बहु० (*तीन*) *द्युलोक*, १९३, ३ क.

द्या॑वा, (द्विवचन) *द्युलोक और पृथ्वी* १९३, २ क; १८६ र ३ क.

द्यु॑, पुंल्लिङ्ग *दिन*, ९८ घ; पुंल्लिग; स्त्री० आकाश, ९९, ५ (रूप०)

द्युत्, *चमकना*, लिट् १३९, ८; स्-लुङ्, १४४, ५; साभ्यास लुङ्, १४९, १; अनिय० साभ्यास लुङ्, १४९ अ १, पृ० २३०.

द्यु॑त्, स्त्री० *चमक*, ७७, १.

द्यो॑ पुंल्लिग, स्त्री०, *आकाश*; १०२; १०२, ३ (रूप०); स्वराङ्कन, पृ० ६०१, ग १.

द्यौ॑स्. पुंल्लिङ्ग, द्यो का प्रथमा एकव०, ९९, ५; सम्बो०, स्वराङ्कन; पृ० ६०९, ११ क.

द्राघ्मन्, पुंल्लिङ्ग *लम्बाई*, ९० २.

द्रा॑घिष्ठ. अतिशय० *दीर्घतम*, १०३, २ अ.

द्रा॑घीयांस्, तुलना० *दीर्घतर*, १०३, २ अ.

द्रु॑, नपुं० *लकड़ी*, स्वराङ्कन, पृ० ६१० ग १.

द्रु॑ह्, पुंलिङ्ग *राक्षस*, ८१.

द्व॑, संख्या० *दो*, १०४; १०५, २ (रूप०).

नक्तम्, द्वितीया० क्रि० विशे० रात को, १३८, २; १३७ घ ५ क.

नक्तया तृतीया० क्रि० विशे० रात को, १३८, ३ ख.

नदी, स्त्री० नदी, १००, १ क; १००, १ ख अ.

नध्, स्त्री० बन्धन, ७७, ४.

ननान्दृ, पुंल्लिङ्ग ननद, १०१, १.

ननु, क्रि० विशे० किसी तरह नहीं, १८०.

नपात्, पुंल्लिङ्ग पौत्र, १०१, २, पा० टि० १; १०१, २ क.

नप्तृ, पुंल्लिङ्ग पौत्र, १०१, २; १०१, २ क.

नभ्, स्त्री० नाशक, ७८, २.

नम्, झुकना, लिट् १३७, २ अ.

नमस्, नपुं० नमन करना, कृ के साथ प्रयोग, १८४ ग.

नमस्य, नाम०, १७५ र (रूप०).

नमी, पुंल्लिङ्ग व्यक्तिवाचक संज्ञा, १००, १ ख.

नव, विशे० नवीन, तुलना०, अतिशय० १०३, २ आ.

नव, संख्या० नौ, १०४; १०६ ग (रूप०).

नवति, संख्या० नव्वे, १०४, १०६ घ (रूप०).

नवदश, संख्या० उन्नीस; १०४ १०६ ग (रूप०)

नवधा, संख्या० क्रि० विशे० नौ प्रकार से १०८ ख.

नवम, पूरण० नौवां, १०७.

नविष्ठ, अतिशय० नवीनतम १०३, २ आ.

नवेदस्, विशे० समझता हुआ, ८३, २ क अ.

नवीयांस्, तुलना० नवीनतर १०३, २ आ.

नव्यसा, तृतीया० क्रि० विशे० नई तरह से, १३८, ३.

नव्यांस्, तुलना० नवतर, १०३, २ क.

१. नश्, पहुंचना, धातु लुङ्, १४८, १ घ, लु० लो०, १४८, ३, विधि-लिङ्, १४८, ४.

२. नश्, खो जाना, सान्यास लुङ्, १४९, १; अनिय०, १४९ अ १.

नश्, स्त्री० रात्रि, ७९, ४.

नस्, सर्व० हमें, द्वितीया, चतुर्थी, षष्ठी बहुवचन, १०९ क; पृ० ६०२, ८ घ क.

नहि, क्रि० विशे० निश्चय ही नहीं, कभी नहीं, १८०.

नहुस्, पुंल्लिङ्ग पड़ोसी, ८३, २ ग.

—ना, गण का विकरण, १२७, ५.

—ना, अवि० नामिक प्र०, १८२ १ ख.
नानाधी, विशे० *नाना प्रकार के सङ्कल्पों वाला*, १००, १ क.
नाम, क्रि० विशे० *नाम से*, १७८, २; १८०; १९७ य ५ क.
नामँथा, क्रि०विशे० *नाम से*, १७९,१.
नास्, स्त्री० *नाक*, ८३, १.
—नि, अवि० नामिक प्र०, १८२, १ ख.
निज्, *शोधन*, स्-लुङ्, १४४, २; तृ०, १७४ (रूप०).
नित्यम्, क्रि०विशे० *निरन्तर*, १७८, २.
निंद्, स्त्री० *घृणा*, ७७, ३ क.
निधि, पुंल्लिङ्ग *खजाना*, ९८ घ.
निम्रुच्, स्त्री० *सूर्यास्तमय*, ७९, १.
नियुत, नपुं०, *एक सौ हजार*, १०४.
निर्णिज्, स्त्री० *उजला वस्त्र*, ७९, ३ क.
निंह्, स्त्री० *विध्वंसक*, ८१.
नी, *अगवाई करना*, लिट्, १३८, ४; स-लुङ् लोट्, १४३, ५; लृट्, १५१ क.
—नी, विकृत नामिक प्र०, १८२, २.
नु अथवा नू, क्रि० विशे० *अब*, वाक्य में प्रयोग, १८०.
—नु, अवि० नामिक प्र०, १८२, १ ख.
—नु, गण का विकरण, १२७, ३.
—नुद्, *धकेलना*, धातु लुङ लु० लो०, १४८, ३; लृट् लेट् १५१ ख १.
—नुदे, चतुर्थी तुम० *धकेलने के लिए*, १६७ क (पृ० २५३)
नू चिद्, क्रि० विशे० *कभी नहीं*, विधिलिङ के साथ प्रयोग, २१६, २ क (पृ० ४७६).
नूनम्, क्रि० विशे० *अब*, १७८, २ अ; १८०.
नृ, पुंलिङ्ग *नर*, १०१, १, स्वराङ्कन, पृ० ६१०, ग १.
नृत्, स्त्री० *नाच*, ७७, १.
नेद्, निषेध० निपात *निश्चित ही नहीं, ऐसा न हो*, १८०; लेट् के साथ प्रयोग, २१५ (पृ०४६७, क); क्रिया को स्वर-युक्त बनाता है, पृ० ६२२, १९ ९.
नेदिष्ठ, अतिशय० *निकटतम*, १०३, २ ख.
नेदिष्ठम्, क्रि० विशे० *निकटतम*, षष्ठी के साथ प्रयोग, २०२ व.
नेदीयस्, क्रि० विशे० *निकटतर*, षष्ठी के साथ प्रयोग, २०२ व.
नेदीयांस्, तुलना० *निकटतर*, १०३, २ ख.

---

१. इस सङ्केत पर मूल ग्रन्थ में यह शब्द नहीं है।

मस्मर्षा-कृ, चकना चूर करना, १८४ घ.

–मस्, सम्बो० में, ८६.

–मसि, उत्तम पुरुष बहु०निर्दे० प्रत्यय, पृ० १६६, पा० टि० २.

मस्मसा–कृ चूर चूर करना, १८४ घ.

मह्, विशे० *महान्*, ८१.

महन्त्, विशे० *बड़ा*, ८५ क (रूप०); स्वराङ्कन पृ० ६११.

महस्, विशे० *महान्*, ८३, २ क अ.

महा, विशे० *महान्*, ९७, २ क; बहुव्री०, कर्मधा० में महत् का आदेश रूप, पृ० ३६०, पा० टि० १.

महापङ्क्ति, एक छन्दोविशेष की संज्ञा, पृ० ५८६, घ.

महिमन्, पुंल्लिङ्ग *महिमा*, ९०, २.

महे, तुम० *प्रसन्न होने के लिए*, १६७ क (पृ० २५३).

१. मा, *नापना*, सविकरणक रूप, १३४ ग १ क; धातु लुङ् लोट्, १४८, ५.

२. मा *रंभाना*, सविकरणक रूप, १३४ ग ३ आ; साभ्यास लुङ् लु० लो०, १४९, ३.

३. मा *विनिमय करना*, सविकरणक रूप, १३३ ग १.

मा, स्त्री० *माप*, ९७, २.

मा, निपात, पुरुषवा० सर्व०, द्वितीया एक० *मुझे*, १०९ अ; पृ० ६०२, य क.

मा, निषेध० निपात, *नहीं*, १२८ ग; १८०; लु० लो० के साथ, २१५ ग २ अ; लोट् के साथ कभी नहीं, २१५ ख स.

माकिस्, निषेध० सर्व० निपात *कोई भी नहीं, कभी भी नहीं*, ११३, पा० टि० २; १८०.

माकीम्, निषेध० सर्व० निपात *कोई भी नहीं*, १८०.

मातर्, स्त्री० *माता*, १०१, २ (रूप०).

मातरा, स्त्री० द्विव० *माता और पिता* १८६ ग ३ क.

मातरिश्वन्, पुंल्लिङ्ग एक *देवता-विशेष का नाम*, ९० अ.

मातली, पुंल्लिङ्ग *व्यक्ति वाचक संज्ञा*, १००, I ख.

मातृतमा, स्त्री० अतिशय० *सर्वाधिक मातृत्वयुक्त*, १०३, १ ङ.

–मान, मुगागमयुक्त शानच् प्रत्यय, १५८.

मामक, स्वामि० सर्व०, ११६ क.

---

१. मूलग्रंथ में निर्दिष्ट स्थान पर यह रूप उपलब्ध नहीं है।

---

१. ग्रन्थ में इस संकेत पर ऋहन्त् पाठ दिया है।

वह्, ले जाना, सविकरणक रूप, १३५, ४; लिट्, १३७, २ ग; स्-लुङ्, १४४, २; १४४, ५; धातु लुङ् लोट्, १४८, ५; क० वा० १५४, ६; क० वा० लेट्, १५४ ख; क० वा०, लुङ् १५५ ल १.

वहंत्, स्त्री० धारा, ८५ ख.

वा, की निम्न श्रेणी, ५ ख ल.

वा, बुनना, सविकरणक रूप, १३३ र १.

वा, संयोज० एकाच् निपात, अथवा, १८०; पृ० ६०२ ८ य ख.

–वांस्, क्वसु प्रत्यय, १५७; क्वस्वन्त, ८९ (रूप०).

वाच्, स्त्री० वाणी, ७९, १.

–वाचे, तुम० बोलने के लिए, १६७ क (पृ० २५३).

वाजसनेयि संहिता—स्वराङ्कन प्रकार, पृ० ५९८.

–वाट्, –वह् का प्रथमा एक०, ८१ क.

वार्तीकृत, नपुं० रोग का नाम, १८४ घ ल.

वाम् पुरुष० सर्व० द्विवचन, हम दोनों, १०९; पृ० ६०२ ८ य क.

वाम्, पुरुष० सर्व० निपात, द्वितीया, चतुर्थी, षष्ठी द्विवचन, तुम दोनों, १०९ क.

वार्, पुंल्लिङ्ग रक्षक, ८२, पा० टि० ४.

वार्, नपुं० जल, ८२, पा० टि० ५.

वार्कार्य, विशे० जल उत्पन्न करता हुआ, ४९ घ.

वाव, निपात, निश्चित ही, १८०.

वाश्, रँभाना, साभ्यास लुङ्, १४९, १.

वि, पुंल्लिङ्ग पक्षी, ९९, ३ ल; स्वराङ्कन, पृ० ६१०, ग १.

विंशति, संख्या०, बीस, १०४; १०६ घ (रूप०).

विच्, पृथक् करना, क्वस्वन्त, १५७ ख ल.

विज्, काँपना, धातु-लुङ् लु० लो०, १४८, ३.

विज् स्त्री० (?) पण, ७९, ३ क.

वितरम्, क्रि० विशे० अधिक विस्तार से, १७८, २.

१. विद्, जानना, द्वित्वरहित लिट्, १३९, ३; कर्मवाच्य लुङ्, १५५.

२. विद्, प्राप्त करना, सविकरणक रूप, १३३ ल १; १३४ घ ४ ग अ; अ-लुङ्, १४७, १ (रूप०); अ-लुङ् विधिलिङ्, १४७, ४ (रूप०).

विंद्, स्त्री० ज्ञान, ७७, ३ क.

विंदान, विदार्न, विद् का शानजन्त रूप, १५८ अ ४.

विदुं ष्टर, तुलना० *अधिक बुद्धिमान्,* १०३, १ ख.

विद्वां स्, क्वस्वन्त रूप, *जानता हुआ,* १५७ ख.

विधतृ ́ , विशे० *देने वाला,* १०१, २ ख.

—विधे, तुम० *बींधने के लिए,* १६७ क (पृ० २५३).

—विन्, वि० नामिक० प्र०, १८२ २; विन्नन्त प्रातिपदिक, ८७.

विं ना, उप० *सिवाय,* द्वितीया के साथ; १९७ ग अ (पृ० ३९७).

विंप्, स्त्री० *दण्ड;* ७८, १; स्वराङ्कन, पृ० ६१०, ग १.

विंपाश्, स्त्री० *नदी का नाम,* ६३ ख, पा० टि० १; ७९, ४.

विप्रुं ष्, स्त्री० *बूंद,* ८०.

विंभावसु, सम्बो० *चमकीला,* ९०, ३.

विभू ́, विशे० *प्रसिद्ध,* १००, II ख.

विंम्वन्. विशे० *दूर तक पहुँचने वाला,* ९०, १ अ.

विराज्, स्त्री० *त्रिपदा ऋचा,* पृ० ५८८.

विविशिवां स्, विश् का क्वस्वन्त रूप, ८९ क; १५७ क.

विंश्, स्त्री० *बस्ती,* ६३ ख, पा० टि० १; ७९, ४ (रूप०).

विशिवां स्, विश् का अभ्यासरहित क्वस्वन्त रूप, १५७ ख.

विशे ंविशे, आम्रे० समास, *हर घर में,* १८९ ल क.

विश्पं ति, पुं ल्लिङ्ग *गृहपति,* ४९ अ.

विंश्व, सर्व० विशे० *सभी,* १२० ख (रूप०); समास में स्वराङ्कन, पृ० ६०५, १०.

विश्वंत्र, क्रि० विशे० *सब जगह,* १७९, ३.

विश्वंथा, क्रि० विशे० *हर तरह से,* १७९, १.

विश्वदानीम्, क्रि० विशे० *हमेशा,* १७९, ३ आ.

विश्वंधा, क्रि० विशे० *बहुत तरह से,* १७९, १.

विश्वंह, विश्वंहा, क्रि० विशे० *हमेशा,* १७९, १.

विंष्टप्, स्त्री० *शिखर,* ७८, १.

विंष्वञ्च्, विशे० *सर्वव्यापी,* ९३ क.

विसर्जनीय, पुं ल्लिङ्ग ऊष्म, ३ घ; १४; १५; २७; ३१; ३२; ३७; ४३; ४३, ३, पा० टि० १; ४४; ४८; ४९ ग; ७६; पदान्त विसर्ज० की सन्धि, ४३;

१. ग्रन्थ में इस संकेत पर द् में परिवर्तन का उल्लेख है ।

सामान्य शब्द सूची

१. इस सङ्केत पर दीर्घीकृत आगम का उल्लेख नहीं है।
२. इस सङ्केत पर आद्यन्तविपर्यय का उल्लेख नहीं है।

---

१. इस सङ्केत पर तालव्य वर्णों का उल्लेख नहीं है।
२. इस सङ्केत पर तुलना की मात्राओं के अभिप्राय का उल्लेख नहीं है।
३. यह सङ्केत अशुद्ध प्रतीत होता है।

१. इस सङ्केत पर मैक्स मूलर का उल्लेख नहीं है।

पारिभाषिक शब्दसूची

अंग्रेजी—हिन्दी

Ablative	पञ्चमी विभक्ति
Ablative infinitive	पञ्चमीप्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त
Accusative case	द्वितीया विभक्ति
Accusative infinitive	द्वितीयाप्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त
Action noun	भावसंज्ञा
Active	परस्मैपद
Acute	उदात्त
Adnominal preposition	नामयोगी उपसर्ग, विशेषणीभूत उपसर्ग
Adverbial case-form	क्रियाविशेषणरूप विभक्त्यन्त पद
Adverbial preposition	क्रियायोगी उपसर्ग
Adversative particle	विरोधार्थक निपात
Agent noun	कर्त्रर्थक संज्ञा
Anacluthon	अपेक्षितक्रमविरह
Anaphoric use, Anaphorical use	अन्वादेश
A-Aorist	अ-लुङ्
Aorist	लुङ्
Apodosis	हेतुमद् वाक्यांश
Attribute	विशेषण पद
Attributive adjective	गुणवाचक विशेषण
Benedictive or Precative	आशीर्लिङ्

Cadence	पाद का अन्त्य भाग
Caesura	यति
Cardinal	सामान्य सङ्ख्यावाचक शब्द
Causal sense	हेत्वर्थ
Causative	ण्यन्त रूप
Changeable stem	परिवर्त्य प्रातिपदिक
Circumflex	सर्कम्फ्लेक्स
Clause	वाक्यांश
Cognate accusative	सजातीय द्वितीया
Cognate object	सजातीय कर्म
Comparatives	तुलनावाची शब्द
Comparative Suffix	तुलनावाची प्रत्यय
Concord	संवाद
Conditional	लृङ्
Conjugation	क्रिया रूप
Conjunctive and adverbial particles	संयोजक और विशेषणीभूत निपात
Co-ordinative compound	उभय प्रधान (द्वन्द्व) समास
Copula	संयोजक अवयव
Correlative use	संयोजक रूप में प्रयोग
Dative	चतुर्थी विभक्ति
Dative Infinitive	चतुर्थीप्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त
Deictic pronoun	उपलक्षक सर्वनाम
Declension	नामरूप
Declinable stem	रूपावतारयोग्य प्रातिपदिक
Definite article	निश्चयवाचक उपपद
Demonstrative pronoun	निर्देशक सर्वनाम

Denominative	नामधातु रूप
Dependent determinative compounds	परतन्त्र सम्बन्धावच्छेदक (तत्पुरुष) समास
Dependent svarita	पराश्रित स्वरित
Derivative noun	धातुज नाम
Derivative verbs	प्रक्रियाएँ
Descriptive compounds	वर्णनपरक (कर्मधारय) समास
Desiderative	सन्नन्त रूप
Determinative compounds	सम्बन्धावच्छेदक समास
Dimeter verse	द्विछन्दस्क पाद
Dipthong	सन्ध्यक्षर
Double accusative	द्विकर्मकता
Doublet	ईषद्भिन्न द्वितीयरूप (यथा अँव का ईषद्भिन्न द्वितीय रूप अव)
Emphasizing particle	बलाधायक निपात अथवा दृढ़ोक्ति सूचक निपात
Enclitic particle	निहत (सर्वानुदात्त) निपात
Enclitic svarita	पराश्रित स्वरित
Euphonic combination	सन्धि
Exclamations	उद्गारबोधक शब्द
External sandhi	बाह्य सन्धि
Falling accent	निम्नगामी ध्वनि
Final or consequentional sense	फलतः या परिणामतः अर्थ
Final dative	अन्तिम (प्राप्यार्थ-बोधिका) चतुर्थी
Finite verb	पुरुषवचनपरिच्छिन्न क्रियापद
First aorist	पहिली प्रकार का लुङ्

First conjugation	अकारान्ताङ्गक तिङ्रूप
Future participle passive	कर्मवाचक भविष्यत्काल कृदन्त
Genitive	षष्ठी विभक्ति
Genitive absolute	भावलक्षणा षष्ठी
Gerund	क्त्वान्त और क्त्वार्थक कृदन्त
Gerundive	कृत्यप्रत्ययान्त रूप
Governing compounds	नियामक समास
Graded conjugation	क्रमबद्ध तिङ्रूप
Guṇa series	गुणश्रेणियां
Haplology	समाक्षर लोप
Hemistich	अर्धर्च
Hiatus	सन्ध्यभाव अथवा प्रकृतिभाव
Historical sense	ऐतिहासिक अर्थ
Hypothetical sense	कल्पनार्थ
Iambic rhythm	आयम्बिक लय
Imperative	लोट्
Independent svarita	जात्य स्वरित
Imperfect	लङ्
Indefinite article	अनिश्चयवाचक उपपद
Indefinite pronouns	अनिश्चयवाचक सर्वनाम
Indicative	निर्देशक
Infinitive	तुमुन्नन्त अथवा तुमर्थ कृदन्त
Inflexion	रूपावली
Injunctive	लुङ्मूलक लोट्
Instrumental sense	करणार्थ
Intensives or Frequentatives	यङन्त अथवा यङ्लुगन्त रूप

Iṣ-aorist	इप्-लुङ्
Interjections	विस्मयादिबोधक शब्द या उद्गार-बोधक ध्वनियां
Internal sandhi	आन्तरिक सन्धि
Interrogative pronoun	प्रश्नवाचक सर्वनाम
Iterative compound	आम्रेडित समास
Local action	देशाविकरणक क्रिया
Local adjective	देशवाचक विशेषण
Local sense	स्थानार्थ
Locative	सप्तमी विभक्ति
Locative absolute	भावलक्षणा सप्तमी
Locative Infinitive	सप्तमीप्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त
Middle	आत्मनेपद
Middle participle	शानजन्त एवं कानजन्त रूप
Middle pitch	मध्य स्वर-मान
Mixed stanza	मिश्रितछन्दस्क ऋचा
Mood	प्रकार
Multiplicative adverb	अभ्यावृत्तिवाची क्रियाविशेषण
Negative particle	निषेधार्थक निपात
Neutral vowel	उदासीन स्वर
Nominal Derivative	नामज रूप
Nominal stem	नामरूप प्रकृति
Nominative case	प्रथमा विभक्ति
Nominal compounds	नामपदों के समास
Number	वचन
Objective -genitive	कर्मणि षष्ठी
Oblique cases	सम्बोधन एवं प्रथमा से अन्य विभक्तियां

Opening — पाद का आदि भाग
Optative — विधिलिङ
Ordinal — पूरणार्थक सङ्ख्यावाची शब्द
Paradigm — रूपनिदर्शन
Participle — कालबोधक कृदन्त अथवा शत्राद्यन्त रूप
Partitive genitive — अवयवावयविसम्बन्धवाचक षष्ठी
Participle — कानजन्त रूप
Passive — कर्मवाच्य
Passive force — कर्म को कहने का सामर्थ्य
Past passive participle — कर्मवाचक भूतकाल कृदन्त (क्तान्त रूप)
Patronymic — अपत्यार्थक शब्द
Pausa — विराम
Perfect — लिट्
Perfect passive participle — क्तप्रत्ययान्त रूप, पूर्णभूतार्थक कर्म-वाचक काल कृदन्त
Perfect tense — लिट् लकार
Periphrastic future — लुट्
Periphrastic perfect — आमन्त लिट्
Personal pronoun — पुरुषवाचक सर्वनाम
Phonetic — ध्वनि की दृष्टि से आवश्यक, मुखसुखार्थ,
Pitch (accent) — स्वरमान
Pleonastic — अनपेक्षित
Pleonastically — अनपेक्षिततया
Pluperfect — लिट्प्रतिरूपक
Possessive pronoun — स्वामित्वसूचक सर्वनाम

Possessive compound	मत्वर्थीय (बहुव्रीहि) समास
Possessive genitive	स्वस्वामिभावसम्बन्धवाचक षष्ठी
Precative	आशीर्लिङ्
Predicative adjective	विधेयरूप विशेषण
Predicative nominative	विधेयविषयक प्रथमा विभक्ति
Preposition	उपसर्ग
Prepositional adverb	उपसर्ग रूप क्रियाविशेषण
Present	लट्
Present participle	शत्राद्यन्त रूप
Present perfect	पूर्ण वर्तमान
Present sense	वर्तमान अर्थ
Present system	सविकरणक वर्ग
Present stem	सविकरणक रूप
Preterite sense	भूतकाल का अर्थ
Primary	अविकृत
Primary or radical stems	अविकृत अथवा धातुरूप प्रातिपदिक
Primary derivatives	कृदन्त व्युत्पन्न प्रातिपदिक
Primary intensives	यङ्लुगन्त रूप
Primary suffix	अविकृत प्रत्यय
Primitive word	प्रकृतिमूलभूत शब्द
Privative particle	अभावार्थक निपात
Prohibitive negative	प्रतिषेधद्योतक नकारार्थक पद
Pronominal adjective	सार्वनामिक विशेषण
Pronomnal compound	सर्वनामों के समास
Protasis	पूर्ववर्ती हेतुवाक्य
Quantitative rhythm	सङ्ख्याजन्य लय

Radical syllable	धात्वक्षर
Reduplication	द्वित्व
Reduplicative aorist	साभ्यास लुङ्
Reduplicative syllable	अभ्यास
Reduplicative vowel	अभ्यासाच्
Reflexive pronoun	निजवाचक सर्वनाम
Refrain	तुक
Relative pronoun	सम्बन्धवाचक सर्वनाम
Rhotacism	र् का ड़् की तरह उच्चारण
Rhythm	लय
S-aorist	स्-लुङ्
Samprasāraṇa series	सम्प्रसारण श्रेणियां
Second aorist	दूसरी प्रकार का लुङ्
Secondary	विकृत
Secondary or derivative stems	विकृत या धातुज प्रातिपदिक
Secondary intensives	यङ्लुगन्त
Second conjugation	अनकारान्ताङ्गक तिङ् रूप
Secondary nominal suffixes	द्वितीय नामिक प्रत्यय
Secondary suffix	विकृत प्रत्यय
Secondary word	विकृत प्रातिपदिक
Sibilant	ऊष्म
Simple future	लृट्
Siṣ—aorist	सिष्-लुङ्
Sociative sense	सहार्थ
Sonant nasal	स्वरोन्मुख अनुनासिक
Spirant	सङ्घर्षी
Strophic stanza	संग्रन्थन द्वारा एकीकृत ऋचा

Strong stem	*सबल प्रकृति*
Subjective genitive	कर्तरि षष्ठी
Subjunctive	लेट्
Substantive	संज्ञापद, विशेष्य
Superlative	अतिशयार्थक शब्द
Syntactical compounds	वाक्यरचनानिर्भर समास
Syncope	उपधालोप अथवा मध्यलोप
Syntax	वाक्यविन्यास
Temporal adjective	कालवाचक विशेषण
Temporal conjunction	कालसंयोजक
Temporal *sense*	*कालार्थ*
Thematic	वैकरणिक, विकरणबोधक (अट् या आट् आगम)
Third aorist	तृतीय प्रकार का लुङ् (जिसमें धातु को द्वित्व होता है)
Tonelessness	एकश्रुति
Trochaic	ट्रोकेक
Trochee	ट्रोकी
Unchangeable stem	अपरिवर्त्य प्रातिपदिक
Unphonetic	उच्चारणसौकर्य के सिद्धान्त के विपरीत
Verbal compounds	क्रियापदों के समास
Vocalic	स्वरीय
Vocative	सम्बोधन
Voiceless spirant	अघोष सङ्घर्षी
Vowel gradation	अपिश्रुति
Weak stem	दुर्बल प्रकृति

पारिभाषिक शब्दसूची

हिन्दी—अंग्रेजी

अकारान्ताङ्गक तिङरूप	First conjugation
अघोष सङ्घर्षी	Voiceless spirant
अतिशयार्थक शब्द	Superlative
अनकारान्ताङ्गक तिङरूप	Second conjugation
अनपेक्षित	Pleonastic
अनपेक्षिततया	Pleonastically
अनिश्चयवाचक उपपद	Indefinite article
अनिश्चयवाचक सर्वनाम	Indefinite pronouns
अन्तिम (प्राप्त्यर्थ-बोधिका) चतुर्थी	Final dative
अन्वादेश	Anaphoric use, anaphorical use
अपत्यार्थक शब्द	Patronymic
अपरिवर्त्य प्रातिपदिक	Unchangeable stem
अपिश्रुति	Vowel gradation
अपेक्षितक्रमविरह	Anacluthon
अभावार्थक निपात	Privative particle
अभ्यास	Reduplicative syllable
अभ्यासच्	Reduplicative vowel
अभ्यावृत्तिवाची क्रियाविशेषण	Multiplicative adverb
अर्धर्च	Hemistich
अ-लुङ	A-aorist
अवयवावयविसम्बन्धवाचक षष्ठी	Partitive genitive

अविकृत	Primary
अविकृत अथवा धातुरूप प्रातिपदिक	Primary or radical stem
अविकृत प्रत्यय	Primary suffix
आत्मनेपद	Middle
आन्तरिक सन्धि	Internal sandhi
आमन्त लिट्	Periphrastic perfect
आम्रेडित समास	Iterative compound
आयम्बिक लय	Iambic rhythm
आशीर्लिङ	Precative or Benedictive
इष्-लुङ	Iṣ-aorist
ईषद्भिन्न द्वितीय रूप (यथा अंब का ईषद्भिन्न द्वितीय रूप अम्ब)	Doublet
उच्चारणसौकर्य के सिद्धान्त के विपरीत	Unphonetic
उदात्त	Acute
उदासीन स्वर	Neutral vowel
उद्गारबोधक शब्द	Exclamations
उपधालोप अथवा मध्यलोप	Syncope
उपलक्षक सर्वनाम.	Deictic pronoun
उपसर्ग	Preposition
उपसर्गरूप क्रियाविशेषण.	Prepositional adverb
उभयप्रधान (द्वन्द्व) समास	Co-ordinative compounds
ऊष्म	Sibilant
एकश्रुति	Tonelessness
ऐतिहासिक अर्थ	Historical sense
कर्तरि षष्ठी	Subjective genitive
कर्त्रर्थक संज्ञा	Agent noun
करणार्थ	Instrumental sense

कर्म को कहने का सामर्थ्य	Passive force
कर्मणि षष्ठी	Objective genitive
कर्मवाचक भविष्यत्काल कृदन्त	Future participle passive
कर्मवाचक भूतकाल कृदन्त (क्तान्त रूप)	Past passive participle
कर्मवाच्य	Passive
कल्पनार्थ	Hypothetical sense
कालबोधक कृदन्त अथवा शत्राद्यन्त रूप	Participle
कालार्थ	Temporal sense
कालवाचक विशेषण	Temporal adjective
कालसंयोजक	Temporal conjunction
कृत्यप्रत्ययान्त रूप	Gerundive
कृदन्त, व्युत्पन्न प्रातिपदिक	Primary derivatives
क्तप्रत्ययान्त रूप, पूर्णभूतार्थक कर्मवाचक काल कृदन्त	Perfect passive participle
क्त्वान्त और क्त्वार्थक कृदन्त	Gerund
क्रमबद्ध तिङ्रूप	Graded conjugation
क्रियापदों के समास	Verbal compounds
क्रियायोगी उपसर्ग	Adverbial preposition
क्रियारूप	Corjugation
क्रियाविशेषणरूप विभक्त्यन्त पद	Adverbial case form
गुणवाचक विशेषण	Attributive adjective
गुणश्रेणियां	Guṇa series
चतुर्थीप्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त	Dative infinitive
चतुर्थी विभक्ति	Dative

जात्य स्वरित	Independent svarita
ट्रोकी	Trochee
ट्रोकेक	Trochaic
ण्यन्त रूप	Causative
तुक	Refrain
तुमुन्नन्त अथवा तुमर्थ कृदन्त	Infinitive
तुलनावाची प्रत्यय	Comparative suffix
तुलनावाची शब्द	Comparatives
तृतीय प्रकार का लुङ (जिसमें धातु को द्वित्व होता है)	Third aorist
दुर्बल प्रकृति	Weak stem
दूसरी प्रकार का लुङ	Second aorist
देशवाचक विशेषण	Local adjective
देशाधिकरणक क्रिया	Local action
द्विकर्मकता	Double accusative
द्विछन्दस्क पाद	Dimeter verse
द्वितीय नामिक प्रत्यय	Secondary nominal suffix
द्वितीयाप्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त	Accusative infinitive
द्वितीया विभक्ति	Accusative case
द्वित्व	Reduplication
धातुज नाम	Derivative noun
धात्वक्षर	Radical syllable
ध्वनि की दृष्टि से आवश्यक, मुखसुखार्थ	Phonetic
नामज रूप	Nominal derivative
नामधातु रूप	Denominative
नामपदों के समास	Nominal compounds

नामयोगी उपसर्ग अथवा विशेषणीभूत उपसर्ग	Adnominal preposition
नामरूप	Declension
नामरूप प्रकृति	Nominal stem
निजवाचक सर्वनाम	Reflexive pronoun
निम्नगामी ध्वनि	Falling accent
निर्देशक	Indicative
निर्देशक सर्वनाम	Demonstrative pronoun
नियामक समास	Governing compounds
निश्चयवाचक उपपद	Definite article
निषेधार्थक निपात	Negative particle
निहत (सर्वानुदात्त) निपात	Enclitic particle
पञ्चमीप्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त	Ablative infinitive
पञ्चमी विभक्ति	Ablative
परतन्त्र (तत्पुरुष) सम्बन्धावच्छेदक समास	Dependent determinative compound
परस्मैपद	Active
पराश्रित स्वरित	Enclitic svarita, dependent svarita
परिवर्त्य प्रातिपदिक	Changeable stem
पहिली प्रकार का लुङ्	First aorist
पाद का अन्त्य भाग	Cadence
पाद का आदि भाग	Opening
पुरुषवचनपरिच्छिन्न क्रियापद	Finite verb
पुरुषवाचक सर्वनाम	Personal pronoun
पूरणार्थक सङ्ख्यावाची शब्द	Ordinal
पूर्ण वर्तमान	Present perfect

पूर्ववर्ती हेतुवाक्य	Protasis
प्रकार	Mood
प्रकृतिमूलभूत शब्द	Primitive word
प्रक्रियाएँ	Derivative verbs
प्रथमा विभक्ति	Nominative case
प्रतिषेधबोधक नकारार्थक पद	Prohibitive negative
प्रश्नवाचक सर्वनाम	Interrogative pronoun
फलतः या परिणामतः अर्थ	Final or consequentional sense
बलाधायक निपात अथवा दृढोक्ति-सूचक निपात	Emphasizing particle
बाह्य सन्धि	External sandhi
भावलक्षणा षष्ठी	Genitive absolute
भावलक्षणा सप्तमी	Locative absolute
भाव संज्ञा	Action noun
भूतकाल का अर्थ	Preterite sense
मत्वर्थीय (बहुव्रीहि) समास	Possessive compounds
मध्य स्वरमान	Middle pitch
मिश्रितछन्दस्क ऋचा	Mixed stanza
यति	Caesura
यङन्त	Secondary intensives
यङन्त अथवा यङलुगन्त रूप	Intensives or frequentatives
यङलुगन्त रूप	Primary Intensives
र् का ड् की तरह उच्चारण	Rhotacism
रूपनिदर्शन	Paradigm
रूपावतारयोग्य प्रातिपदिक	Declinable stem
रूपावली	Inflexion

लङ्	Imperfect
लट्	Present
लय	Rhythm
लिट्	Perfect
लिट्प्रतिरूपक	Pluperfect
लिट् लकार	Perfect tense
लुङ्	Aorist
लुङ्मूलक लोट्	Injunctive
लुट्	Periphrastic future
लृङ्	Conditional
लृट्	Simple future
लेट्	Subjunctive
लोट्	Imperative
वचन	Number
वर्णनपरक (कर्मधारय) समास	Descriptive compounds
वर्तमान अर्थ	Present sense
वाक्यांश	Clause
वाक्यरचनानिर्भर समास	Syntactical compounds
वाक्यविन्यास	Syntax
विकृत	Secondary
विकृत प्रत्यय	Secondary suffix
विकृत प्रातिपदिक	Secondary word, derivative word
विकृत या धातुज प्रातिपदिक	Secondary or derivative sten
विधिलिङ्	Optative
विधेयरूप विशेषण	Predicative adjective
विधेयविषयक प्रथमा विभक्ति	Predicative nominative

विराम	Pausa
विरोधार्थक निपात	Adversative particle
विशेषण पद	Attribute
विस्मयादिबोधक या उद्गारबोधक ध्वनियां	Interjections
वैकरणिक, विकरणबोधक (अद् या आद् आगम)	Thematic
शत्राद्यन्त रूप	Present participle
शानजन्त एवं कानजन्त रूप	Middle participle
षष्ठी विभक्ति	Genitive
सङ्घर्षी	Spirant
सङ्ख्याजन्य लय	Quantitative rhythm
सङ्ग्रथन द्वारा एकीकृत ऋचा	Strophic stanza
सजातीय कर्म	Cognate object
सजातीय द्वितीया	Cognate accusative
संज्ञापद, विशेष्य	Substantive
सप्तमीप्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त	Locative infinitive
सबल प्रकृति	Strong stem
समाक्षर लोप	Haplology
सविकरणक वर्ग	Present system
सविकरण रूप	Present stem
संयोजक अवयव	Copula
संयोजक और क्रियाविशेषणीभूत निपात	Conjunctive and adverbial particle
संयोजकरूप में प्रयोग	Correlative use
संवाद	Concord
सन्धि	Euphonic combination

सन्ध्यभाव अथवा प्रकृतिभाव	Hiatus
सन्ध्यक्षर	Dipthong
सन्नन्त रूप	Desiderative
सप्तमी विभक्ति	Locative
सम्प्रसारण श्रेणियां	Samprasāraṇa series
सम्बन्धवाचक सर्वनाम	Relative pronoun
सम्बन्धावच्छेदक समास	Determinative compound
सम्बोधन	Vocative
सम्बोधन एवं प्रथमा से अन्य विभक्तियां	Oblique cases
सकम्प् लेखन	Circumflex
सर्वनामों के समास	Pronominal compound
सहार्थ	Sociative sense
स्-लुङ	S-aorist
स्थानार्थ	Local sense
स्वर-मान	Pitch (accent)
स्वरीय	Vocalic
स्वरोन्मुख अनुनासिक	Sonant nasal
स्व-स्वामिभावसम्बन्धवाचक षष्ठी	Possessive genitive
स्वामित्वसूचक सर्वनाम	Possessive pronoun
साभ्यास लुङ	Reduplicative aorist
सामान्य सङ्ख्यावाचक शब्द	Cardinal
सार्वनामिक विशेषण	Pronominal adjective
सिष्-लुङ	Siṣ-aorist
हेतुमद् वाक्यांश	Apodosis
हेत्वर्थ	Causal sense

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	६	उत्तरवर्ती युग उन गद्यलिखित	उत्तरवर्ती युग गद्यलिखित
२	पादटिप्पणी १ पंक्ति	आफ्रेश्त कृत	आफ्रेश्त एवं वेबर कृत
१०	९	मूर्धन्य.	८. मूर्धन्य
	१७	(—निज् दं)	(—निज् दं)[1]
	पादटिप्पणी १	दृड	दृड[2] ज़्प् (z) स् अथवा पुराना तालव्य ज़्श्(ह्) ष् का मृदु रूप द् और घ् को मूर्धन्य बना कर और पूर्ववर्ती अच् को दीर्घ कर सदैव लुप्त हो गया है।
	पादटिप्पणी २		ह्रस्व अच् के रूप में लिखे जाने पर भी ऋ छन्दोऽनुरोधात् दीर्घ होती है।
१२	४	अव्यवहितपूव	अव्यवहितपूर्व
१७	अन्तिम	अगों	अंशों
१९	५	संहितापा	संहितापाठ

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५	१४	यद्यपि	१६. यद्यपि
२९	पादटिप्पणी ६ठी पं०	छन्दोऽनुरोवान्	छन्दोऽनुरोवात्
३२	५	स्वरों	२४. स्वरों
६१	१६	पूर्व घ्	पूर्व व्
७७	पादटिप्पणी ७वीं पं०	यु´र, प्सु´र	यु´र्, प्सु´र्
	„ ९वीं पं०	स्तुति	स्तुतिकर्त्ता
		मुर	मुर्
७८	१५	माद्भिर्मस	माद्भिर्मस्
७९	१३	इस	इन्
८५	पादटिप्पणी १म पं०	बरबार	बराबर
९५	अन्तिम	त०	तृ०
९७	अन्तिम	ततीया	तृतीया
१०८	पादटिप्पणी १०वीं पं०	युवत्यास	युवत्यास्
११९	२	सामाञ्जस्य	सामञ्जस्य
१२१	पादटिप्पणी अन्तिम पं०	उर्त्रस	उर्त्रस्
१३६	९	नवदर्शमिस्	नवदशभिस्
		एकान्नविंशत्यै	
१४८	पादटिप्पणी १म पं०	त०	तृ०
१५६	पादटिप्पणी १म पं०	*सम्भवतः*	*सम्भवतः*
१५८	१२	लेट् लु०	लेट्, लु०
१६०	४	तुदादिग	तुदादिगण
१६२	१४	क्रयादिगण	क्र्यादिगण
१६५	१६	लृङ	लृङ्
	१९	तिङन्रूपों	तिङन्रूपों
१९०	२२	अनुपाता	अनुपात

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०५	८	प्रकारभिधायी	प्रकाराभिधायी
२०९	पादटिप्पणी २य पं०	द्रह्. चत्रता	द्रुह्. गत्रुता
२१८	२२	लुङ	लुङ
२२५	२१	प्र०	प्र० पु०
२३०	१५	(अ) दीप्त्यर्थक	(अ) १. दीप्त्यर्थक
२३८	३१	(न्-लुक)	(न्-लुङ)
		आगमरपित	आगमरहित
२३९	२२	सर्विर्वर्शां	सर्विर्वास्
२४०	१९	सदव अकारन्त	सदैव अकारान्त
२४३	पादटिप्पणी २य पं०	वात्वच	वात्वच्
२४९	अन्तिम	हाने पर	होने पर
२५०	२३	नियस्र्व्य	मियस्पृ'व्य
२५८	७	सो'तोस	सो'तोन्
२६४	२४	तीन वातुओं	६. तीन वातुओं
२६६	१३	मिवक्ति	विभक्ति
२६७	१५	यङलुगन्त	(क) यङ्लुगन्त
	२१	१७.१.	१७३.१.
२७१	पादटिप्पणी ३य पं०	ब्राह्मणग्रन्थों	ब्राह्मणग्रन्थों
२८०	१२	मार्श्.त	सार्श्.त्
३३५	११	२. कृदन्त	१. कृदन्त
३३६	५	वातु की	(ख) वातु की
३४४	१४	अकरान्त	अकारान्त
३५१	२	क्त्वाद्यन्त	क्त्वाद्यन्त
३६९	१०	विशेष्य	(क) विशेष्य-
३८०	१	२८०	३८०

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४१५	९	वंजेण	वज्रेण
४२४	३	प्रयुक्त शद	प्रयुक्त शब्द
४३०	१२	नक्षत्रेष	नक्षत्रेषु
४३३	१९	वेद में	(क) वेद में
४४४	१७	ब्राह्मणग्रन्थों	(ख) ब्राह्मणग्रन्थों
४५२	२१	लिट	लिट्
४५७	२५	(ई) लुट्लकार	२. लुट्लकार
५३२	२५	यङलगन्त	यङलुगन्त
५४८	२४	यङन्त	यङन्त
५८४	पादटिप्पणी ६ठी पं०	लर्वच	सर्वत्र
६२५	४	दानों	दोनों